॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

८०

पुराण-विमर्श

[पुराणविषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का प्रामाणिक समाधान]

लेखक—

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व संचालक—अनुसन्धान संस्थान,

श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

* आत्मा पुराणं वेदानाम् *

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-221001

१९७८

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

80

PURĀNAVIMARŚA

[Authentic Solution of the Fundamental Problems of Puranas.]

By

Acharya Baladeva Upadhyaya

Ex-Director, Research Institute

Sri Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

व्यास प्रशस्ति

(१)

जयति पराशरसूनुः
सत्यवती-हृदय-नन्दनो व्यासः ।
यस्यास्यकमलकोशे
वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥

—वायुपुराणे १।२

(२)

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥

—महाभारतस्य आदिपर्वणि

(३)

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्-तरङ्गा
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः
पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥

—सर्वज्ञात्ममुनेः संक्षेपशारीरके

(४)

दुस्तर्क जाल विसकण्टक वृक्षषण्ड-
पाषण्डवाद-बहु गुल्मलतोपरोधम् ।
निर्धूत-मुक्तिपथमुद्धृत-कण्टकं य-
श्चक्रे पराशर-सुताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

—ज्ञानघनाचार्यस्य तत्त्वशुद्धौ

(५)

प्रमाणजातैरवबुध्य यस्य
सारं पदं त्यक्तभवा भजन्ते ।
जना निजानन्द-पदेच्छवोऽलं
तं वासवी-सूनुमहं प्रपद्ये ॥

—प्रमादापद्धति भावविवरणे

पुराण प्रशस्ति

(१)

आत्मनो वेदविद्या च ईश्वरेण विनिर्मिता।
शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्रात्मिका तु या ॥
तिस्रो विद्या इमा मुख्याः सर्वशास्त्रविनिर्णये।
पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम् ॥
वेदा प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।
आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट्।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल ॥
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते।
पुराणं सर्वशास्त्राणा प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ॥

—स्कन्द, रेवाखण्ड १। १७–१८; २२–२३

(२)

यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनात्।
तथा पुराण-श्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥

—वामन ९५।८६

(३)

सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते ॥
तर्कस्तु वाद-हेतुः स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम्
पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि ॥
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः।
कथयेद्वा विधानेन नेह भूयः स जायते ॥

—नारदीय पु० १।१।६१–६२

(४)

वेदार्थादधिक मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—नारदीय पु० २।२४।१७

वक्तव्य

आज मुझे 'पुराण विमर्श' नामक यह नवीन पुस्तक वैदिक धर्म तथा साहित्य के तत्त्व जिज्ञासुओ के सामने प्रस्तुत करते समय अपार हर्ष हो रहा है। इसमें पुराण के विषय मे उत्पन्न होनेवाली नाना जिज्ञासा तथा समस्या का समाधान पौराणिक अनुशीलन के आधार पर उपस्थित करने का लघु प्रयत्न किया गया है।

पुराण के विषय में इधर प्रकाशित ग्रन्थो से इसका वैलक्षण्य साधारण पाठक को भी प्रतीत हो सकता है। आजकल पुराण के ऐतिहासिक पद्धति से विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न होकर अजायव घर मे रखने की एक चीज वन जाता है। उसके अंग-प्रत्यग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जाता है कि उसके मूल में कोई तत्त्व ही अवशिष्ट नही रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नही है। लेखक के एक हाथ मे श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ मे तर्क। वह श्रद्धा-विहीन तर्क का न तो आग्रही है और न तर्कविरहित श्रद्धा का पक्षपाती। इन दोनो के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है।

ध्यान देने की वात है कि पुराण के तथ्यों मे आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल मे, अन्तरंग मे यथार्थता विराजती है, परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, वहिरंग को हटाकर अन्तरंग को पहिचानने का प्रयास। पुराणो की दृष्टि में इस कलियुग मे शूद्र का ही माहात्म्य है। परन्तु आज भी जव चातुर्वर्ण्य का प्रासाद खडा ही है, तव इस मौलिक तथ्य का तात्पर्य क्या है? इस कथन का अर्थ यह नही है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सर्वथा लोप हो जावेगा और शूद्र ही एकमात्र वर्ण अवशिष्ट रह जावेगा। इसका तात्पर्य गम्भीर है। शूद्र का धर्म है सेवा। फलत. कलि मे सव लोग सेवक ही हो जावेंगे, कोई भी स्वामी या प्रभु न रह जावेगा, इस कथन का यही अर्थ है जो आज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था मे यथार्थ उतरता है। आज की दुनिया मे कोई भी स्वामी नही, सव

ही तो सेवक या दास है। 'राजा' का सर्वथा लोप ही हो गया संसार से और जहाँ वह बचा-खुचा भी है, वहाँ वह अपने को प्रजा का सेवक यथार्थतः मानता ही नही, प्रत्युत वह सेवक है भी। किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान का करोड़पति मालिक भी आर्थिक कठिनाइयो को दूर हटाने के लिए उसका मालिक नही होता, प्रत्युत वह नियमत तनख्वाह लेकर उसका मेवक होता है। किसी स्वतन्त्र देश का प्रधान मन्त्री (जिसका पद निश्चयरूपेण सर्वापेक्षया समुन्नत है) जनता का 'प्रथम सेवक' मानने मे गौरव बोध करता है और वस्तुत: उस जनता का सेवक है ही, जो इस लोकतान्त्रिक युग मे दो दिनों मे विरुद्ध मत देकर उसे आधिपत्य के पद से हटाने की शक्ति रखती है। संसार के इस वातावरण मे शूद्र की सार्वभौम स्थिति नही है, तो किसकी है ? फलत. कलियुग मे शूद्र की धन्यता तथा महत्ता का पौराणिक कथन सर्वथा सत्य है तथा गम्भीरता-पूर्वक सत्य है।

वर्तमान समय लौहयुग है, क्या इसे प्रमाणो से पुष्ट करने की आवश्यकता है। कल कारखानो के लिए ही लोहे का प्रयोग नही है, प्रत्युत वह 'स्टेनलेस स्टील' के रूप मे राजा से लेकर रंक तक के घरो मे भोजन-पात्र के रूप मे आज विराजता है। धर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध होने पर भी लोहे का पात्र आज सर्वत्र समादृत तथा प्रयुक्त होता है।

पुराण के माहात्म्य के प्रसंग मे रामकृष्ण परमहस का विशिष्ट कथन उल्लेखनीय है :—

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण से एक वार पूछा—क्या पुराणो के कथानक सत्य है ?

परमहस जी ने उत्तर मे कहा—क्या पुराणो के तथ्यो मे सत्यता है या नही ?

विवेकानन्द—हाँ उन तथ्यो मे सत्यता तो निश्चयरूपेण है।

रामकृष्ण—तव पुराणो के कथानको मे सत्यता वर्तमान है। परमहंस जी के उत्तर का निष्कर्ष यह है कि पुराणो के वहिरग पर हमे कभी ध्यान न देना चाहिए। उनका अन्तरग अर्थात् अन्त. वर्णित तथ्य वेदानुकूल होने से प्रमाण कोटि मे निश्चित रूप से आता है, तव हमे उनके वहिरंग की सत्यता के विषय मे संशयालु न होना चाहिए।

पुराणो की विशिष्ट शैली से परिचित न होने के कारण अन्तरंग की सत्यता में भी विद्वानो को सन्देह वना हुआ है। संस्कृत भाषा के त्रिविध साहित्य की शैली मे नितान्त पार्थक्य है—

वेद की शैली है **रूपकमयी**।

पुराण की शैली है **अतिशयोक्तिमयी**।

ज्योतिष की शैली है **स्वभावोक्तिमयी**।

ज्योतिष वैज्ञानिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। विज्ञान स्वभावोक्ति का उपयोग करता है अपने वर्णनो मे। वेद की शैली मे रूपक का प्राधान्य है, परन्तु इन दोनो से विलक्षण है पुराण की शैली जिसमे अतिशयोक्ति का साम्राज्य विराजता है। एक दृष्टान्त से इसे समझना चाहिये। वर्षा का वर्णन इन तीनों साहित्य मे विशिष्ट दृष्टि से किया गया है। ज्योतिष वर्षा का वर्णन स्वभावोक्ति मे करता है—किस नक्षत्र मे कैसी वायु वहती है और किस प्रकार के मेघ उत्पन्न होते है, किस प्रकार के मेघो से कितनी वृष्टि होती है, और वृष्टि के अवरोधक कौन हैं और उनका नाश कैसे होता है आदि आदि वेद इसी तत्व को इन्द्रवृत्र के युद्ध का रूपक प्रदान करता है। वृष्टि को निरोध करने वाला तत्व ही वृत्र है (जिसका अक्षरार्थ ही है सबको घेरनेवाला पदार्थ)। वृत्र अवर्षण का राक्षस है। इन्द्र वृष्टि का देवता है। दोनों तत्वों मे उत्पन्न संघर्ष इस इन्द्र-वृत्रयुद्ध के द्वारा संकेतित किया जाता है। पुराण मे यही तत्त्व अतिशयोक्ति के लपेट मे वर्णित है। इन्द्र है देवो का राजा तथा वृत्र है असुरों का अधिपति। दोनो अपना प्रामुख्य चाहते हैं। वृत्र इन्द्र को परास्त करने के उद्योग मे निमग्न रहता है, तो इन्द्र वृत्रको ध्वस्त करने के लिये उद्यमशील है। इन्द्र ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़ कर सग्राम मे उतरता है, तो वृत्र भी तदनुसार हाथी की सवारी पर आता है। दोनों के सहायक सैन्यो की संख्या गणनातीत है। पुराण इन देवासुर संग्राम का वडा ही रोचक तथा पुष्ट वर्णन करता है। ध्यान देने की वात यही है कि यहाँ तीनों ग्रन्थ एक ही अभिन्न तत्त्व का ही वर्णन करते है। ज्योतिष के द्वारा स्वभावोक्ति मे वर्णित तथा वेद में रूपक-द्वारा उद्भासित तथ्य ही पुराण की अतिशयोक्तियो के द्वारा अपनी अभिव्यञ्जना करता है। **शैलीभेदात् वर्णनभेदः न तु तथ्यभेदः**—यही यथार्थ है। फलतः जो व्यक्ति वेद मे आस्था रखता है, परन्तु पुराण मे श्रद्धा नही रखता,

वह वस्तुतः स्वतोविरुद्ध बाते करता है। दोनो मे अभिव्यक्त तत्त्व तो एक ही ठहरा। फलतः वेद मे श्रद्धा की तथा पुराण मे अश्रद्धा की समभावेन स्वीकृति नितान्त विरुद्ध होने से अपना मूल्य नही रखती।

पुराणो के कथनो मे सचाई है और गहरी सचाई है—यह किसी भी विवेकशील अध्येता के ध्यान मे आ सकती है, परन्तु इस अध्ययन के लिए चाहिऐ अनुसन्धाता मे सहानुभूति तथा इमानदारी। विना इनके पुराण का अनुशीलन भारतवर्ष के लोगो के लिए किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। लेखक ने पुराण के इस सार्वभौम पक्ष की यथासाध्य उपेक्षा नहीं की है। वह चाहता है कि वैदिक धर्म के तत्त्वो का जिज्ञासु पाठक पुराणो का गम्भीर अध्ययन कर उसके परिणाम को अपने जीवन मे उतारे; तभी पुराणो का यथार्थ उपयोग हो सकेगा। शुष्क छानवीन करने मे मस्तिष्क को कुछ क्षणो के लिए आराम भले ही मिले, परन्तु हृदय को चिर शान्ति नही मिल सकती। पुराण के अध्ययन के प्रति लेखक का यह दृष्टिकोण है जिसे उसने इस ग्रन्थ मे अपनाने का भरसक प्रयत्न किया है। आशा है ग्रन्थ के समीक्षक इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर इसके कथनो का परीक्षण करेंगे।

काशीनरेश महाराजा डाक्टर विभूतिनारायण सिंह का पुराण का प्रत्येक शोधक चिरऋणी रहेगा जिन्होंने 'अखिल भारतीय काशीराजनिधि, की स्थापना कर पुराणो के विशुद्ध संस्करण प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और जिनकी पुराण पत्रिका (६ वर्ष) का नियमत. प्रकाशन शोध-दृष्टि से नितान्त उपादेय है। लेखक काशीनरेश का विशेष आभार मानता है। उनके प्रकाशनो का व्यवस्थित उपयोग इस ग्रन्थ मे किया गया है।

मै उन विद्वानो का आभार मानता हूँ जिनके द्वारा उद्भावित तथ्यो का मैंने इस ग्रन्थ मे उपयोग किया है। इसका निर्देश पाद-टिप्पणियो मे स्थान-स्थान पर सर्वत्र कर दिया गया है। वे सज्जन भी हमारे धन्यवाद के पात्र है जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रता से प्रणीत हो सका है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के स्रोत है संस्कृत विद्या तथा विद्वानो के यथार्थ हितैषी, हमारे संस्कृत विश्वविद्यालय के कर्मठ उपकुलपति, श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी जी, जिनकी प्रेरणा से यह लिखा गया है और जिनके द्वारा उत्पादित विद्वत्तापूर्ण शान्त वातावरण इसकी रचना के निमित्त वरदान सिद्ध हुआ है।

अपने छात्रों—डा० बलराम श्रीवास्तव तथा डा० गंगासागर राय—को मैं आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने नाना-प्रकार से मेरी सहायता की है।

इस ग्रंथ में दिये गये पौराणिक भूगोल के प्रदर्शनकारी मानचित्र के लिए लेखक रायकृष्णदास जी का उपकार मानता है। पुराण तथा इतिहास के चित्रों के लिए वह साङ्गवेद विद्यालय, (रामघाट, काशी) के अधिकारियों का आभार स्वीकार करता है। ये चित्र श्रीतत्त्वनिधि (पृ० १००–१०१) में उद्धृत 'नृसिंह-प्रसाद' के वचनों के आधार पर बनाये गये हैं। 'श्रीतत्त्वनिधि' इस विषय का अपूर्व ग्रंथ है जिसका संकलन मैसूर के महाराज की आज्ञा से हुआ था और जिसका प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने किया है।

अन्त में, भगवान् विश्वनाथ से मेरी प्रार्थना है कि व्यासवाणी का यह विमर्श भारतवर्ष के निवासियों के घर-घर मे पहुँच कर वैदिक धर्म के महनीय तत्वों की अमर ज्योति जगाता रहे जिससे उनकी मानस तमिस्रा का अवसान होकर मंगलमय प्रभात का जन्म हो। तथास्तु

सज्जनाम्भोरुहपुषे वेदव्यासाभिधा-जुषे।
तमःस्तोममुषे तस्मै परस्मै ज्योतिषे नमः ॥

—(सुमतीन्द्रयतिः गीता-भाष्य-व्याख्या)

वाराणसी
वसन्तपंचमी, सं० २०२१
६–२–६५

बलदेव उपाध्याय

दो शब्द

(नवीन संस्करण)

पुराणविमर्श का यह परिष्कृत सस्करण पाठको के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थ अनेक वर्षों से अप्राप्य हो गया था और इसलिए जिज्ञासुजनो को इस सस्करण के लिए सातिशय आग्रह था। यह जानकर मुझे प्रसन्नता है कि पुराण के विद्वानो ने इसका विशेष आदर किया तथा पुराण सम्वन्धी सन्दर्भग्रन्थो मे यह सम्मान के साथ प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित तथा परिगणित किया जाता है। इस नवीन सस्करण मे इसका परिशोधन भली-भाँति किया गया है जिससे पूर्व सस्करण की अपेक्षा यह अनेक दृष्टियो से महनीय वन गया है—ऐसा मेरा पूरा विश्वास है। ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन मे मेरे सुयोग्य शिष्य **डॉ० नरेश झा** ने वहुत परिश्रम किया है जिससे यह स्वच्छ परिष्कृत रूप मे मुद्रित हो सका है। इसके लिए मै उन्हे आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि सरस्वती की सेवा मे वे इसी प्रकार संलग्न रहेंगे।

श्रावणी पूर्णिमा स० २०३५
वाराणसी
१८-८-७८

वलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

परिशिष्ट

षष्ठ परिच्छेद

परिशिष्ट

(नाचिकेतोपाख्यान का क्रम-विकास)

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

परिशिष्ट १ : पुराणों का विषयविवेचन

पुराण-विमर्श

पुराणं चम्पकाभासं शुकवक्त्रं च तुन्दिलम् ।
उपग्रन्थाश्रयं ज्ञेयं नानाभरणभूषितम् ॥

प्रथम परिच्छेद

पुराण की प्राचीनता

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है– वह आधार-पीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। इस परिच्छेद में उसकी प्राचीनता का अध्ययन किया जायगा। मन्त्र संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों जैसे वैदिक-साहित्य के ग्रन्थों में 'पुराण' की सत्ता है या नहीं ? तदनन्तर होनेवाले सूत्र ग्रन्थों में उसके श्लोक पाये जाते हैं या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न है। तात्पर्य यह है कि पुराण की प्राचीनता जानने के लिए इस अध्याय में सामग्री एकत्र की गयी है।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुरा भवम्' (प्राचीन काल में होनेवाला) इस अर्थ में 'सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुट्युलौ तुट् च' (पाणिनिसूत्र ४।३।२३)। इस पाणिनि के इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगमन होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों— 'पूर्वकालैक-सर्व-जरत्**पुराण**नव-केवलाः समानाधिकरणेन' ('२।१।४९) तथा '**पुराण**प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४।३।१०५) में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियम-प्राप्त 'तुट्' का आगम नहीं होता। 'पुराण' शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है, यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला। यास्क के निरुक्त (३।१९) के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है— **पुरा नवं भवति** (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है)। वायु-पुराण[1] के अनुसार यह व्युत्पत्ति है—पुरा अनति अर्थात् प्राचीनकाल में जो जीवित था। पद्मपुराण[2] के अनुसार यह निरुक्ति इससे किञ्चित् भिन्न है—

---

१. यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—वायु० १।२०३

२. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ॥

—पद्म० ५।२।५३

'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्डपुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है[1]—'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ।'

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का सम्बन्ध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास-पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किये गये हैं। 'इतिहास' के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक कल्पना से भी सर्वथा अपरिचित थे। परंतु यह धारणा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। यास्क के कथनानुसार ऋग्वेद में ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तर्गत 'इतिहास-मिश्र' मन्त्र पाये जाते हैं।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारद मुनि ने अपनी अधीत विद्याओं के अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है। इस संयुक्त नाम से स्पष्ट है कि उपनिषद् युग में दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध की भावना क्रियाशील थी। यास्क ने अपने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रंथों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, निरुक्त में वेदार्थ व्याख्या[3] के अवसर पर उद्धृत अनेक विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक पृथक् स्वतंत्र सम्प्रदाय था जिसका स्पष्ट परिचय 'इति ऐतिहासिकाः' निरुक्त के इस निर्देश से मिलता है। इस सम्प्रदाय के मंतव्यानुसार अनेक मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने स्थान-स्थान पर की है। 'इतिहास' की व्युत्पत्ति है—इति (इस प्रकार से) ह (निश्चयेन) आस (था, वर्तमान था) अर्थात् प्राचीन काल में निश्चय रूप से होनेवाली घटना 'इतिहास' के द्वारा

---

१. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—ब्रह्माण्ड १।१।१७३

२. त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहास-मिश्रमिङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति॥

—निरुक्त ४।६

३. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदाना वेदम्॥

—छान्दोग्य ७।१

निर्दिष्ट की जाती थी।[1] 'इतिहास' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राचीन काल में वास्तव रूप मे घटित होने वाली घटना का द्योतक है। अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द 'पुराण' से भिन्न स्वतन्त्र रूप मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त प्रतीत होता है। यास्क ने निश्चित रूप से देवापि और शन्तनु की कथा को इतिहास कहा है तथा विश्वामित्र को सुदास् पैजवन के पुरोहित होने की घटना को भी इतिहास कहा है।[2] पुराणों मे आगे चलकर 'इतिहास' शब्द का प्रयोग निःसंशय इस 'इतिवृत्त' अर्थ मे हम पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि काल्पनिक कथा या आख्यान को 'पुराण' नाम से और वास्तविक घटना को 'इतिहास' नाम से पुकारते थे,[3] और यही दोनो के प्राचीन अर्थों मे विभेद-सीमा है।

सामान्यतया आलोचकगण महाभारत को ही इतिहास कहते हैं, क्योंकि स्वयं महाभारत[4] भी अपने को इसी अभिधान से पुकारता है, परन्तु रामायण को भी इतिहास के अन्तर्गत मानना प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा की सीमा से बाहर नही है। राजशेखर के अनुसार 'इतिहास' दो प्रकार का होता है[5]—(१) **परिक्रिया** अर्थात् एकनायक वाली कथा जैसे रामायण तथा (२) **पुराकल्प** अर्थात् बहुनायक वाली कथा जैसे महाभारत। फलतः राजशेखर 'इतिहास' का क्षेत्र संकुचित तथा सीमित नही मानते। दोनों महाकाव्यो को इस शब्द के अभिधान के भीतर स्वीकार कर वे अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते है।

इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य

इन दोनो का पार्थक्य स्पष्टरीति से प्राचीन ग्रंथो मे नही दिया गया है। महाभारत, जो स्वयं अपने को 'इतिहास' ही नही प्रत्युत 'इतिहासोत्तम'

---

१. तुलना कीजिए—निदानभूतः 'इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहासः (निरुक्त २।३।१ पर दुर्गाचार्य की वृत्ति)

२. तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः (निरुक्त २।३।१) तथा तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव (निरुक्त २।७।२)

३. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। मत्स्य० ७२।६।

४. जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। उद्योग० १३६।१८
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। आदि० २।३८५

५. परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥

—काव्यमीमांसा

बतलाता है, अपने लिए 'पुराण' नाम का भी व्यवहार करता है[१] (आदि० १।१७)। उधर वायुपुराण पुराण होने पर भी अपने को 'पुरातन इतिहास'[२] बतलाता है। इस विरुद्ध संकेत से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन रेखा बड़ी धूमिल थी और धीरे-धीरे आगे चलकर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित कर दिया गया। पुराण तथा इतिहास का क्षेत्र विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। छान्दोग्य उप० (७।१) के भाष्य में आचार्य शंकर ने इन दोनों अभिधानों का पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया है। उनका कथन है कि इतिहास तथा पुराण दोनों ही वेद में उपलब्ध हैं। उर्वशी तथा पुरूरवा के संवाद को सूचित करने वाला 'उर्वशी हाप्सराः, पुरूरवसमैड चकमे' आदि शतपथ ब्राह्मण (११।५।१।१) तो इतिहास[३] है, परन्तु 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (आरम्भ में असद् ही वर्तमान था जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई) इत्यादि सृष्टि-प्रक्रिया-घटित विवरण पुराण है। शंकराचार्य की सम्मति में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका का सूचक भाग इतिहास है तथा सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन 'पुराण' है[४]। यह भेद प्राकट्य सप्तम शती में आचार्य शङ्कर ने किया, जब पौराणिक साहित्य वृद्धिगत हो चुका था, जैसा आगे दिखलाया जायेगा। प्राचीनतर ग्रंथों में दोनों की पार्थक्य रेखा नितान्त पतली

---

१ द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम्॥ —आदि० १।१७

२. इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
शृणुयाद् श्रावयेद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च समतम्।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना॥

—वायु० १०३।४८, ५१

ये ही श्लोक ब्रह्माण्ड ४।४।४७,५० में भी उपलब्ध होते हैं।

३. इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् 'असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि'। —शाङ्करभाष्य

४. सायण ठीक इससे विपरीत बात कहते हैं। वे 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास, (शत० ११।१।६।१) को इतिहास तथा उर्वशी-पुरूरवा के आख्यान को पुराण मानते हैं। द्रष्टव्य सायणभाष्य–शत० ११।५।६।८: आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शतपथ ११।१।६।१) इत्यादिकं सृष्टि-प्रतिपादकं ब्राह्मणमितिहासः। 'उर्वशी हाप्सरा. पुरूरवसमैडं चकमे' शत० ११।५।१।१ इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादकानि पुराणम्।

—सायणभाष्य शत० ११।५।६।८ भाष्ये

है। फलतः जब पञ्चम शती में अमरकोश ने 'पुराण' की पञ्चलक्षणात्मक व्याख्या की, तब उसने उपलब्ध पुराणों के वर्ण्य विषयों के आधार पर ही ऐसा किया। ये पञ्चलक्षण सर्वसम्मति से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ही थे। परन्तु आपस्तम्बधर्मशास्त्र के उल्लेख से पुराण तथा भविष्यपुराण की पूर्वकालिकी सत्ता का अनुमान लगाना युक्तिसंगत है। इस धर्मशास्त्र के द्वारा प्रदत्त निर्देशों की विस्तृत चर्चा इसी परिच्छेद में आगे की जायेगी, जिससे स्पष्ट होगा कि प्राचीनतम पुराण में सृष्टि तथा प्रलय के अतिरिक्त धर्मशास्त्र से सम्बद्ध विषयों की भी सत्ता अवश्यमेव थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (नाना ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली), मन्वन्तर (विशिष्ट काल-गणना) तथा वंशानुचरित (प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों का चरित्र) प्रायः उपलब्ध होते हैं; इतने ही नहीं, इनसे इतर भी विषय—जैसे दान, तीर्थ, व्रत तथा अवतार भी वर्णित हैं। इतिहास का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है। इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा लोक-व्यवहार के तत्त्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ॥

पुराण और इतिहास के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयोगों की तुलना कर कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं—

(१) अथर्ववेद तथा कतिपय पुराणों में 'पुराण' शब्द इतिहास को भी गतार्थ करता है। सर्वप्रथम केवल 'पुराण' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (११।७।२४) में 'उच्छिष्ट' से शास्त्रों की सृष्टि के प्रसंग में व्यवहृत है। व्रात्य के अनुगमन के अवसर पर इतिहास का पृथक् स्वतन्त्र रूप में प्रयोग उपलब्ध होता है। (अथर्व० १५।६।१०-१०)।

(२) इतिहास और पुराण का पृथक् प्रयोग अनेक अवान्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है।

(३) कभी इतिहास पुराण को गतार्थ करता था। (कौटिल्य ने इतिहास के क्षेत्र में पुराण को ग्रहण किया है—'पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेति इतिहासः।' अर्थशास्त्र १।५)।

(४) अन्तिम काल में 'पुराण' इतिहास को ही नहीं, प्रत्युत समस्त

वाङ्मय को अपने मे गतार्थ करता है जो मानव के कल्याण तथा हित के साधन होते हैं—

> शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम्।
> यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम्॥
>
> —नारदीय पुराण १।९२।२१

इस प्रकार 'पुराण'-'इतिहास' शब्दो की तारतम्य परीक्षा दोनो के स्वरूप तथा विकाश के निर्धारण मे सहायक हो सकती हैं।[१]

पुराणों के प्राचीन उल्लेख

पुराण के विषय मे दो दृष्टियाँ प्राचीनकाल मे देखी जाती है। एक अर्थ मे तो यह प्राचीनकाल के वृत्तो के विषय मे विद्या के रूप मे प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ मे यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। इसकी प्राचीनता खोजने के लिए वैदिक साहित्य का आलोडन आवश्यक है—संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदो का।

ऋग्वेद मे 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रो मे उपलब्ध होता है (ऋ० वे० ३।५४।९; ३।५८।६, १०।१३०।६), परन्तु इन स्थलो पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र (९।९९।४) 'पुराणी' शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण रूप मे प्रयुक्त मिलता है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग मे कुछ गाथाएँ ऐसी विद्यमान थी जिनका उदय किसी प्राचीन काल में हुआ था। ऋग्वेद के काल मे हम इससे अधिक कुछ नही कह सकते। अथर्ववेद मे हमे 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दो के साथ प्रयुक्त मिलता है जहाँ एक विशिष्ट विद्या के रूप मे ही उपलब्ध होता है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बतलाया गया है। अथर्व (११।७।२४) मंत्र का अर्थ है—ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से—यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से—उत्पन्न हुए तथा द्युलोक मे निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से पैदा हुए।

उद्धरण—

> (१) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
> उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥
>
> —अथर्व ११।७।२४

---

१. विशेषतः द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग षष्ठ, खण्ड २, जुलाई १९६४; पृ.४५१–४५७)

मन्त्र का अर्थ है कि उच्छिष्ट से ऋचाएँ, साम, छन्द (अथर्व) तथा पुराण यजुष् के साथ उत्पन्न हुए। इतना ही नही, दिव्लोक मे निवास करनेवाले देव भी उसी उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए। 'उच्छिष्ट' शब्द के तात्पर्य के विषय मे विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ 'यज्ञ का अवशेष' मानते हैं। सायण की दृष्टि मे 'उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषा भूतभौतिकानामवसाने शिष्ट उर्वरितः परमात्मा' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सब पदार्थों का अवसान होने पर शेष रहनेवाले परमात्मा की द्योतना इस शब्द के द्वारा होती है। उपनिषदों मे प्रयुक्त 'नेति-नेति' शब्द का अभिप्राय इससे भिन्न नही है[1]।

(२) स बृहती दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च
नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥
इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ॥ १२ ॥

—अथर्व, १५ काण्ड, १ अनुवाक, ६ सूक्त

व्रात्यस्तोम के अन्तर्गत पूर्वोक्त मन्त्रो की उपलब्धि होती है। व्रात्यपद से रुद्रावतार परमात्मा की यहाँ विवक्षा है। पैप्पलाद संहिता की 'व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्' यह उक्ति तथा विश्वसृष्टि की आद्यावस्था मे 'व्रात्य' के सबसे अग्रिम होने का यह निर्देश उसका परमात्म तत्त्व के साथ ऐक्य स्थापित कर रहे हैं। रुद्राध्याय मे 'नमो व्रात्याय' कहकर व्रात्य का रुद्र के साथ ऐक्य प्रतिपादन स्वयं कहा है। इसी रुद्र के प्रतिनिधि व्रात्य के अनुगमन का विधान इस सूक्त में देवादिकों तथा वेदादिको के द्वारा बतलाया गया है। फलतः अथर्व की दृष्टि मे इतिहास और पुराण ऋग्, साम तथा यजुष् के समान ही अभ्यर्हित है तथा पञ्चम वेद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

"व्रात्यस्तोम के प्रसंग मे इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी भी उसके पीछे-पीछे चली। जो व्यक्ति इसे जानता है वह इतिहास का, पुराण का,

---

१. पुराणो में भी परमात्मा इसी प्रकार 'निषेधशेष' विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। भागवत की गजेन्द्रस्तुति के अवसर पर यह शब्द प्रयुक्त है—

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥ —भाग० ८।३।२४

गाथाओ का तथा नाराशंसियों का प्रिय धाम—प्यारा घर—होता है।" यहाँ इतिहास, गाथा तथा नाराशसी के साथ 'पुराण' शब्द का सहप्रयोग इन सबके साहित्यिक रूप मे समान आकार का ओर इङ्गित करता है। मेरी दृष्टि मे ये चारो शब्द वैदिक साहित्य से पृथग्भूत किसी लौकिक साहित्य की सत्ता की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। वैदिक युग मे ही साहित्य की प्रवहमान दो धाराएँ प्रतीत होती है—एक धारा तो विशुद्ध धार्मिक है जिसमे किसी देवता की स्तुति तथा प्रार्थना ही मुख्य लक्ष्य है। दूसरी धारा विशुद्ध लौकिक है जिसमे लोक मे प्रख्याति पाने वाले महनीय व्यक्तियो का तथा लोकप्रसिद्ध वृत्त का वर्णन करना ही अभीष्ट तात्पर्य होता है। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक **दानस्तुति** तथा **नाराशसी** उपलब्ध होती है जिनसे मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रभूत दान देने वाले अपने किसी आश्रयदाता शासक की ऐतिहासिक वृत्त से सवलित स्तुति करता है। 'पुराण' का सम्बन्ध इसी द्वितीय धारा से मानना नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

(३) येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धा तय इद् विदुः
यो वै ता विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्।

—अथर्व ११।८।७

तात्पर्य—इस (दीखती हुई भूमि) से पहले (अर्थात् पहले कल्पवाली) जो भूमि थी, उस भूमि को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जो निश्चय करके उस प्रथम कल्पवाली भूमि को नामतः—यथार्थ रूप से—जान ले वह पुराण-वित् (अर्थात् पुराणो के वृत्तान्त का जानने वाला) माना जाना चाहिए।

इन उल्लेखो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अथर्व वेद के काल मे पुराण का तथा पुराणविद् व्यक्तियो का अस्तित्व अवश्यमेव विद्यमान था।

ब्राह्मण-साहित्य मे पुराण

ब्राह्मण-साहित्य मे भी 'पुराण' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणो मे 'पुराण' का बहुश. उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए। यहाँ इतिहास-पुराण का सम्बन्ध वेद से जोडा गया है। दूसरे मन्त्र मे गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदो के निर्माण की बात कहता है और ये वेदपचक हैं—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद।

(४) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः।

—गोपथ, पूर्वभाग २।१०

(५) पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिचाशवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्व्वायाश्च पुराणवेदम्।

—तत्रैव १।१०

स तान् पञ्चवेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः पञ्चमहाव्याहृतीर्निरभिमत वृधत् करत् गुहत् महत् तदिति। वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात् गुहदित्यसुरवेदात् महदितीतिहासवेदात् तदिति पुराणवेदात्।

—तत्रैव १।१०

इन वेदों के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्राची दिशा से सर्पवेद का निर्माण हुआ, दक्षिण दिशा से पिशाचवेद का, पश्चिम दिशा से असुरवेद का, उत्तर दिशा से इतिहास वेद का तथा ध्रुवा (पैरों से ठीक नीचे होने वाली दिशा) और ऊर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण हुआ। ये उस युग में स्वतन्त्र वेद या वेद के समान ही मान्य शास्त्र थे। ये पाँचों ही स्वतन्त्र थे; इसकी सूचना मिलती है व्याहृतियों की उत्पत्ति से। इसी सन्दर्भ में पाँच महाव्याहृतियों --वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तथा तत्—की उत्पत्ति निर्दिष्ट पाँचों वेदों से क्रमशः वर्णित है। भिन्न दिशाओं से उत्पन्न होने के कारण तथा भिन्न व्याहृतियों के उद्गमस्थल होने के हेतु गोपथ ब्राह्मण इतिहास और पुराण को विभिन्न विद्याओं के रूप में ग्रहण करता है। उस युग में दोनों का पार्थक्य निश्चित हो चुका था।

शतपथ ब्राह्मण अपने विशाल क्षेत्र में इतिहास पुराण के उदय की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण गाथा सुरक्षित रखे हुए है जिसका अनुशीलन अनेक नवीन उपलब्धियों को प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ है। इस ब्राह्मण के उद्धरण बड़े ही महत्त्व के हैं जिनके ऊपर विशेष विचार अगले परिच्छेद में किया जायेगा। यहाँ केवल सामान्य सूचना दी जाती है।

(६) मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंस्यः। य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते॥ मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।

—शतपथ ११।५।६।८

(७) क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवाँस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास-पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।

—तत्रैव ११।५।७।९

(८) ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचैव सम्राट् प्रजायते।
— तत्रैव १४।६।१०।६

(९) अथाष्टमेऽहन्‌·· मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीत। अथ नवमेऽहन्‌···तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत।
—तत्रैव १३।४।३।१२-१३

इन उद्धरणों का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए—

(६) ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग से यह सम्बन्ध रखता है। विभिन्न वेदों का स्वाध्याय विभिन्न फल प्रदान करता है। अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण गाथा तथा नाराशंसी के स्वाध्याय करने से वेदों को मधु से पूर्ण आहुतियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान देने की बात है कि शतपथ प्रथम तीनों उद्धरणों में 'इतिहासपुराण' समस्तपद के रूप में उल्लेख पा रहा है, परन्तु पारिप्लवाख्यान से सम्बद्ध अन्तिम उद्धरण में इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य स्पष्टतः निर्दिष्ट किया गया है। इतिहास का प्रवचन होता है अष्टम रात्रि में और पुराण का नवम रात्रि में। इस प्रकार उस युग में दोनों प्रकार की भावनाएँ क्रियाशील थीं—सम्मिलित भावना तथा पार्थक्य भावना। इस विषय का विवेचन विशदरूप में अगले परिच्छेद में किया गया है।

(७) 'यही जानकर विद्वान अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा, नाराशंसी के साथ प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करता है। इस स्वाध्याय के फल का भी यथोचित उल्लेख मिलता है। जो विद्वान् पूर्वोक्त अनुशासन आदि का नित्य स्वाध्याय का अध्ययन करता है, वह देवों को तृप्त करता है।

(८) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान तथा व्याख्यान सब वाङ्मय हैं। वाणी से ही सम्राट् होता है।

(९) शतपथ का कथन है कि यज्ञानुष्ठाता उन्हें उपदेश करे कि पुराण ही वेद है (तान् उपदिशति पुराणं वेदः, शतपथ १३।४।३।१३) तथा परिप्लव के नवम दिन में कुछ पुराण का पाठ करना चाहिए (अथ नवमेऽहनि किञ्चित् पुराणमाचक्षीत)।

इस प्रकार ब्राह्मण काल में पुराण की महत्ता का परिचय भलीभाँति मिलता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन से एक विशिष्ट तथ्य का उद्भव होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'इतिहासपुराणं' सम्मिलित रूप से एक ही समस्त पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रतीत होता है कि दोनों मे विषय का सादृश्य था। आगे चलकर दोनो पृथक् ग्रंथ के रूप में विभक्त हो गये। इसीलिए गोपथ पुराणवेद को इतिहासवेद से पृथक् निर्दिष्ट करता है। ऐसे विकाश क सम्पत्ति ब्राह्मणयुग में ही पुराण के गाढ़ अनुशीलन तथा आलोडन का तथ्य द्योतित करती प्रतीत होती है।

आरण्यक तथा उपनिषद् में पुराण

ब्राह्मणों के ही आरण्यक और उपनिषद् अन्तिम भाग है। श्रुति के इस अंश मे भी पुराण तथा इतिहास की स्थिति पर्याप्तरूपेण सिद्ध होती है— विकसित रूप मे अर्थात् ब्राह्मणों मे अपनी पूर्व स्थिति से विकसित रूप मे इतिहास पुराण का रूप हमें साहित्य मे उपलब्ध होता है।

(१०) ब्रह्मयज्ञप्रकरणे–यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्। ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाघ्नन्। अपहत-पाप्मानो देवाः स्वर्गं लोकमायन्। ब्रह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन् ॥

—तैत्तिरीय आरण्यक
२ प्रपाठक, ९ अनुवाक।

(११) स यथार्द्रेन्धनाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्।

—बृहदा० उप० २।४।११

(१२) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं………एतत् भगवोऽध्येमि।

छान्दोग्य० ७।१।२

(१३) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः।

—तत्रैव ७।१।४

(१४) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।

—तत्रैव ७।२।१

ऊपर उद्धरण (१०) मे तैत्तिरीय आरण्यक ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग मे 'पुराणानि' पद का व्यवहार करता है। इसमे बहुत ग्रन्थो की सत्ता मानना उचित नही होगा। यहाँ पुराणगत आख्यानो का ही बहुत्व अभीष्ट है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो पुराण के उदय को वेद के उदय के समान ही बतलाता है—इतिहास-पुराण उस महाभूत (परमेश्वर, सब स्रष्टा) के नि:श्वसित हैं—श्वासरूप हैं।

यहाँ 'नि:श्वसित' पद की व्याख्या शंकराचार्य ने यह कहकर की है कि जैसे श्वास बिना यत्न के ही पुरुष मे प्रकट होता है, वैसे ही वेद आदि उस परमात्मा मे बिना यत्न के ही प्रकट हुए। शतपथ का यह वचन पुराण को वेद के समकक्ष रखता है तथा वेद के समान पुराण को भी नित्य मानता है। इस आरण्यक के दूसरे मन्त्र (२।४।११) (उद्धरण ११) मे इसी तथ्य का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त के साथ किया गया है—गीली लकडी से जलायी गयी आग से धूम के बादल अलग अलग निकलते हैं, उसी प्रकार उस महान् सत्ता का नि:श्वसित ही है यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस तथा इतिहास पुराण है। छान्दोग्य उपनिषद् से भी पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि होती है। छान्दोग्य नारदजी के द्वारा अधीत तथा अभ्यस्त शास्त्रो मे 'इतिहासपुराण' का उल्लेख करता है तथा उसे पञ्चमवेद के नाम से अभिहित किया है (७।१।२; उद्धरण १२)। यही उपनिषद् अपने दूसरे मन्त्रो (७।१।४ तथा ७।२।१) मे 'इतिहासपुराण' को पंचमवेद के रूप मे उल्लेख कर ब्रह्मरूप से उपासना करने की शिक्षा देती है (उद्धरण १३ और १४)।

निष्कर्ष—वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कई तथ्य अभिव्यक्त होते हैं—(क) महाभूत परब्रह्म (या उच्छिष्ट) से वेद-चतुष्टय के समान ही इतिहास-पुराण की भी उत्पत्ति हुई, (ख) वेद के समान ही पुराण भी नित्य है, (ग) इतिहासपुराण इसीलिए पञ्चमवेद के नाम से अभिहित है, (घ) यह केवल मौखिक तत्त्व का द्योतक न होकर सम्भवत: ग्रन्थ के रूप मे सन्निविष्ट था क्योंकि वह अध्ययन का विषय था, (ङ) आरण्यक युग मे पुराणो के बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी—पुराण एक न होकर अनेक के रूप मे वर्तमान था, ग्रन्थरूप मे न सही, आख्यानरूप मे तो निश्चय ही।

सूत्रग्रन्थ तथा पुराण

(१५) अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति ॥ १ ॥

(१६) यदृचोऽधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति यद्य-जूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुति-

भिर्यद्ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृताहुतिभिः ॥ २ ॥

(१७) यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्याः यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः ॥ ३ ॥

— आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० ३, खण्ड ४

(१८) तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मतां कथाः कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहासपुराणानीत्याख्यापयमानाः ॥ ६ ॥

—तत्रैव, अ० ४, खण्ड ६

कल्पसूत्रों से पुराण के अस्तित्व का, उनके अध्ययन का तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का पूरा संकेत हमें उपलब्ध होता है—

(क) **आश्वलायनगृह्यसूत्र** में पुराण-पठन का उल्लेख अनेक बार मिलता है। एक मन्त्र (३।३।१) में इतिहास तथा पुराणों का (इतिहासः पुराणानि) अनुशीलन स्वाध्याय के अध्ययन के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। (उद्धरण १५)। दूसरे मन्त्र (४।६) में इतिहास और पुराणों के स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के देवों और पितरों को अमृत की कुल्या (नहर) प्राप्त होने का तथ्य उद्घाटित किया गया है। (उद्धरण १६ और १७)। अन्य स्थल (४।६) पर चिरंजीवी मनुष्यों की कथाएँ और माङ्गलिक इतिहास-पुराणों का पाठ करते हुए मथित अग्नि को दीप्त करने के समय को बताने का स्पष्ट निर्देश मिलता है (उद्धरण १८)।

यह तो हुआ पुराण का सामान्य निर्देश, परन्तु इसी युग के एक मान्य ग्रन्थ आपस्तम्ब धर्मसूत्र में किसी पुराण से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं और भविष्यपुराण का स्पष्ट ही नाम निर्दिष्ट किया गया है। ये उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं।

(ख) **आपस्तम्बधर्मसूत्र** (२।२३।३५) में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिनका अर्थ यह है—जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे, वे तो अर्यमा के दक्षिण मार्ग से चलकर श्मशान में पहुँचे, परन्तु जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना नहीं करते थे, उन्होंने अर्यमा के उत्तर मार्ग से चलकर अमृतत्व को प्राप्त किया। इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर संसार के जन्म-मरण के चक्कर में सदा घूमना पड़ता है और निवृत्ति मार्ग का आश्रय करने पर मानव मुक्ति को प्राप्त होता है।

वे महत्त्वपूर्ण श्लोक ये हैं—

(१७) अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि भेजिरे॥

—इत्यूर्ध्वरेतसा प्रशंसा। आप० धर्मसूत्र २।९।२३।३–६

श्री शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के अपने भाष्य (६।२।१५) में एक स्मृतिवचन उद्धृत किया है जो पूर्वोक्त अन्तिम श्लोक के साथ समता रखता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अष्टाशीति सहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे॥

विचारणीय है कि ये दोनो श्लोक कहाँ से उद्धृत किये गये हैं। मूल स्थान बतलाना तो नितान्त कठिन है, परन्तु इन्ही श्लोको के समान भावार्थक पद्य पुराणो मे अनेक स्थलो पर आज भी उपलब्ध होते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के दो स्थलो पर पितृयान तथा देवयान की चर्चा है।[1] इस पुराण के ६५ अध्याय के १०३–१०४ पद्य तो आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत श्लोको से नितान्त साम्य रखते हैं, परन्तु आपस्तम्ब को यही पुराण अभीष्ट था, यह कहना कठिन है। इसी पुराण के अनुषङ्ग पाद, अ० ५४, श्लोक १५९–१६६ मे इन्ही श्लोको का विशद भाष्य प्रस्तुत किया गया है[2]। विष्णुपुराण (३।८) तथा मत्स्यपुराण

---

१. अष्टाशीतिसहस्राणि प्रोक्तानि गृहमेधिनाम्।
अर्यम्णो दक्षिणा ये तु पितृयानं समाश्रिताः॥
गृहमेधिना तु संख्येयाः श्मशानान्याश्रयन्ति ये।
अष्टाशीतिसहस्राणि निहिता ह्युत्तरायणे॥
ये श्रूयन्ते दिवं प्राप्ता ऋषय ऊर्ध्वरेतसः॥

—ब्रह्माण्डपुराण अ० ६५।१०३–१०४

२. अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीना गृहमेधिनाम्।
सवितुर्दक्षिणं मार्गं श्रिता ह्याचन्द्रतारकम्॥
क्रियावता प्रसंख्यैषा ये श्मशानानि भेजिरे।
लोकसंव्यवहारेण भूतारम्भकृतेन च॥
इच्छाद्वेषरताच्चैव मैथुनोपगमाच्च वै।
तथाकामकृतेनेह सेवनाद्विषयस्य च॥
इत्येवैः कारणैः सिद्धाः श्मशानानीह भेजिरे।
प्रजैषिणस्ते मुनयो द्वापरेष्विह जज्ञिरे॥

(अ० १२४, श्लोक १०२–११०) में इसी प्रकार के श्लोक मिलते है। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड मे भी ऐसा ही श्लोक प्राप्त है[1]। प्रतीत होता है कि आपस्तम्व के समय मे कोई पुराण प्रचलित अवश्य था जिससे ये दोनो पद्य यहाँ उद्धृत है तथा वही से ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य ने एतद्–विषयक तत्समान श्लोकों को उद्धृत किया है; ऐसा तर्क करना अनुचित नही माना जा सकता।

आपस्तम्व धर्मसूत्र मे पितृगणो के विषय मे लिखा है—

(२०) आभूत—संप्लवास्ते स्वर्गजितः, पुनः सर्गे वीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।

—आप० ध० सू० २।६।२४।६

अर्थात् पितृगण ने प्रलयपर्यन्त स्वर्ग का जय किया है अर्थात् प्रलयपर्यन्त वे लोग स्वर्ग में निवास करते है। पुनः सर्ग अर्थात् फिर सृष्टि होने के समय वे स्वर्गादि लोकों के वीजभूत होते हैं, अर्थात् प्रलय के वाद नवीन सृष्टि के वे प्रजापति वनते है। यह वचन भविष्यत् पुराण का है।

नागवीथ्युत्तरे यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानस्तु स स्मृतः॥
यत्र ते विशिनः सिद्धाः विमला ब्रह्मचारिणः।
सन्तति ये जुगुप्सन्ते तस्मान्मृत्युर्जितस्तु तैः॥
अष्टाशीतिसहस्राणि तेषामप्यूर्ध्वरेतसाम्।
उदक्पन्थानमर्यम्णः श्रिता ह्याभूतसंप्लवात्॥
इत्येतैः कारणैः शुद्धैस्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।
आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं विभाव्यते॥

(ब्रह्माण्डपुराण अनुषङ्गपाद अ० ५४ श्लो० १५९-१६६)

ये ही पद्य विष्णु २।८।८९–९२ में भी उपलब्ध होते हैं।

१. अष्टाशीतिसहस्राणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं येषा तु तत् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम्॥

—पद्मपुराण सृष्टिखण्ड

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उदक् पन्थानमर्यम्णः स्थितान्याभूतसंप्लवम्॥

—विष्णु० २।८।९२

यह वचन श्रीशंकराचार्य द्वारा उद्धृत स्मृतिवचन से नितान्त साम्य रखता है। सम्भव है, आचार्य को यही वचन अभीष्ट हो।

आपस्तम्ब के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से भलीभाँति पता चलता है कि उस काल मे 'भविष्यत् पुराण' नामक कोई विशिष्ट पुराण अवश्य वर्तमान था, जिसके श्लोक या श्लोको का आशय .स गद्यात्मक वाक्य मे निर्दिष्ट है। 'भविष्यत् पुराण'–यह अभिधान भी महत्त्व रखता है। पुराण तो नाम्ना ही प्राचीन वृत्तो के संकलन का संकेत करता है, तब भविष्यत् से उसका समन्वय कैसा ? प्रतीत होता है कि इस पुराण मे भविष्य मे होने वाली घटनाओ का, राजाओ का तथा उनके ऐतिहासिक वृत्तो का वर्णन होना चाहिये। 'भविष्यत् पुराण' कलि मे होने वाले राजवंशो का परिचायक होना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र ईस्वी से पाच सौ या छः सौ वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। फलतः उस युग मे, आज से अढाई हजार साल पहिले 'भविष्यत्' नामधारी किसी पुराण की रचना अवश्य हो गयी थी जिसके मत .ा उल्लेख ऊपर उल्लिखित है। आजकल 'भविष्यपुराण' नामक पुराण का अस्तित्व और प्रचलन है। परन्तु आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत भविष्दत् पुराण यही है अथवा इससे भिन्न ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नही दिया जा सकता। सम्भवतः वह वर्तमान 'भविष्य पुराण' का सूत्र रूप था जिसमे नूतन आख्यानो के जोड़ने से लोक-प्रचलित यह वर्तमान आकार आज उपलब्ध है। पितृगण के विषय मे निर्दिष्ट तथ्य आज अन्य पुराणो मे भी उपलब्ध होता है। ब्रह्माण्ड पुराण मे इसका विस्तृत प्रसङ्ग आज भी देखा जा सकता है।

यही भाव याज्ञवल्क्य स्मृति के इस पद्य मे भी उपलब्ध होता है (३।१८४-१८६) :—

तत्राष्टाशीति-साहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।
पुनरावर्तिनो वीजभूता धर्म-प्रवर्तका.॥

आपस्तम्ब ध० सू० (१।१०।२९।७) मे ब्राह्मण के मारने के प्रसंग मे विभिन्नमतो का उल्लेख करते हुए कहा गया है :—

(२१) यो हिंसार्थमभिक्रान्त हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति, न तस्मिन् दोष इति पुराणे।

यह प्रसंग मनुस्मृति (८।३५०, ३५१) से समता रखता है जिसका दूसरा श्लोक आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत वचन के समान ही है—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाश वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥

मनु के श्लोको का अन्तिम पाद पूर्व उद्धरण के अन्तिम अंश से अक्षरशः मिलता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना काल ईस्वी पूर्व पञ्चम-षष्ठ शतक माना जाता है। उस समय पुराण का रूप आजकल उपलब्ध, पुराण के समान ही धर्मशास्त्रीय विषय से सम्पन्न था। 'पुराण' के सामान्य निर्देश के संग में 'भविष्य पुराण' का विशिष्ट निर्देश इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि उस युग में कम से कम एक पुराण का प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार ग्रन्थ रूप में पुराण का यह निर्देश निःसन्देह प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। इस कथन में कुछ आलोचकों को सन्देह है। इतने प्राचीन काल में अन्यत्र किसी विशिष्ट पुराण के उल्लेख के अभाव में यह सम्भावना जान पड़ती है कि यहाँ भी किसी विशेष पुराण का नाम निर्देश नहीं है। भविष्यपुराण के नाम से उद्धृत सिद्धान्त भविष्य जन्म से सम्बन्ध रखता है। इस शब्द का संकेत भविष्यकाल की घटना का वर्णन करने वाले सामान्य पुराण से ही है, तन्नामधारी किसी विशिष्ट पुराण से नहीं।

पुराण और महाभारत

महाभारत के तीन संस्करण माने जाते हैं—जय, भारत तथा महाभारत। आजकल का महाभारत भी नवीन ग्रन्थ नहीं है। गुप्तकालीन शिलालेखों में इसके लक्षश्लोकात्मक आकार का परिचय मिलता है। फलतः यह तृतीय शती से अर्वाचीन नहीं हो सकता। इसका मूल तो और भी प्राचीन होना चाहिए। महाभारत में पुराण का सामान्य रूप ही उल्लिखित नहीं है, प्रत्युत उनकी कथाओं के रूप तथा वैशिष्ट्य से तथा अठारह पुराणों से वह परिचय रखता है। इस सामग्री का अनुशीलन आवश्यक है :—

(क) पुराण मानव धर्म (अर्थात् मनुस्मृति), साङ्गवेद, चिकित्साशास्त्र—ये चारों ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वर्णन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खण्डन करना कथमपि उचित नहीं है—

(२२) पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

—अनुशासनपर्व

यह श्लोक पुराणों के प्रति महाभारतीय दृष्टिकोण का पर्याप्त परिचायक है। पुराण के तथ्यों का तर्कशास्त्र के सहारे खण्डन—हनन—कथमपि उचित नहीं है; यही है महाभारत का दृष्टिकोण।

(२३) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥

—आदिपर्व ५।२

(ख) यह श्लोक पुराण के वर्ण्य विषय का प्रतिपादक है। पुराणों में अनेक दिव्य कथाएँ होती हैं तथा विशिष्ट बुद्धिमानों के आदिवंशों का वर्णन भी रहता

है। यह श्लोक स्पष्टतः वंशानुचरित को तथा देवसम्बन्धी आख्यान को पुराण का अविभाज्य अंग मानता है।

(२४) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्य शौच दयार्जवम् ।
विद्वद्भि. कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥

—आदिपर्व १।२४०

पुराणो मे आस्तिक्य (=ईश्वर मे विश्वास, श्रद्धा), सत्य, शौच, दया तथा आर्जव श्रेष्ठ कवियो के द्वारा वर्णित है तथा उन्ही का आश्रय लेकर विद्वज्जन लोक मे इनका वर्णन करते है।

(ग) सत्यवती पुत्र व्यास जी ने प्रथमतः १८ पुराणो का प्रणयन किया और तदुपरान्त पुराणो के उपबृंहण रूप मे महाभारत की रचना की।

(२५) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

—आदिपर्व

महाभारत की स्पष्ट सम्मति है कि इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना चाहिए। इसीलिए वेद अल्पश्रुत—कम शास्त्र पढ़नेवाले—से सदा डरा करता है कि कही वह मुझे धोखा देकर ठग न डाले (अथवा मार न डाले) :—

(२६) इतिहासपुराणाभ्या वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

महाभारत के मत मे पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा के द्वारा श्रुतिरूपी चन्द्रिका छिटकी हुई है अर्थात् पुराण श्रुति के अर्थ को ही विस्तार से प्रकाशित करता है—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।

—आदिपर्व १।८६

(घ) यह तो हुआ पुराण का सामान्य परिचय। महाभारत मे वायुपुराण, का स्पष्ट उल्लेख किया गया है एक विशिष्ट पुराण के रूप मे, जिसमे प्राचीन राजाओ का वर्णन विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कहना व्यर्थ है कि आजकल प्रचलित 'वायुपुराण' मे राजाओ की वंशावली दी गयी है जिससे दोनो पुराणो की एकता स्वतः सिद्ध हो जाती है—

(२७) एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम् ॥

—वनपर्व, अ० १९१, श्लोक १६

(ङ) वाल्मीकीय रामायण मे भी पुराण तथा पुराणवित् का स्पष्ट निर्देश आज भी उपलब्ध होता है। यहाँ सुमन्त्र पुराण के वेत्ता (पुराणवित्) बतलाये गये है। वे सूत थे। फलतः पुराणो से परिचय रखने की बात उनके विषय मे स्वभावसिद्ध है। वे राजा दशरथ की सन्तानहीनता तथा उसके निवारण की बात पुराणों से सुन चुके है और इसलिए अवसर पाकर उसे सुनाने से पराङ्मुख नही होते :—

(२८) (१) इत्युक्त्वान्तः पुरद्वारमाजगाम पुराणवित्।

—अयोध्या १५।१८

(२) स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्।
प्रविभक्तां ततः कक्षामाससाद पुराणवित्॥

—अयोध्या १६।१

(३) इत्युक्त्वा तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयता यत् पुरावृत्तं पुराणेपु यथाश्रुतम्॥

—बाल ९।१

फलतः रामायण पुराण से परिचय रखता है तथा महाभारत भी। सामान्य परिचय से अतिरिक्त वह उसके विषय को भलीभाँति जानता है। वायुपुराण का आश्रयण लेकर महाभारत मे कथा का विस्तार किया गया है। महाभारत का यह स्पष्ट निर्देश है।

पुराण तथा कौटिल्य

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अनेक स्थलों पर पुराण तथा इतिहास का बहुमूल्य निर्देश किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वशाली नही है।—

(क) वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि साम, ऋक् तथा यजुः त्रयी कहलाते है। यह त्रयी, अथर्ववेद तथा इतिहासवेद—वेद के अन्तर्गत माने जाते है :—

(२९) सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः।

—अर्थशास्त्र १।३

इससे पता चलता है कि कौटिल्य के युग मे वेद के समान 'इतिहास' एक विशिष्ट ग्रन्थ का द्योतक था तथा वह उसी प्रकार पवित्र माना जाता था।

(ख) अन्यत्र उन्मार्ग पर चलने वाले राजा की शिक्षा के अवसर पर कौटिल्य का कथन है कि राजा का हित चाहने वाला अर्थशास्त्र का वेत्ता मन्त्री इतिवृत्त (प्राचीन काल के राजाओं के चरित्र) तथा पुराण के द्वारा राजा को उन्मार्ग मे चलने से रोके—

(३०) मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत् प्रियाश्रितः ।
इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित् ॥

—अर्थशास्त्र ५।६

इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय में पुराणो मे सदाचार सम्बन्धी विषय अवश्यमेव विद्यमान थे जिनका उपदेश देकर कुमार्ग से राजा को सुमार्ग में लाया जा सकता है।

(ग) राजा की दिनचर्या के प्रसंग मे कौटिल्य का कहना है कि राजा दिन के पूर्वार्ध को हस्ती, अश्व, रथ, प्रहरण विद्याओ के ग्रहण मे वितावे और उत्तरार्ध को इतिहास के श्रवण मे। इस प्रसंग मे इतिहास से महाभारत के समान ही कोई ग्रन्थ उन्हें अभीष्ट है जो अपने को अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र बतलाता है।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे पुराण की गणना 'इतिहास' के अन्तर्गत की है। कौटिल्य की दृष्टि मे इतिहास का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनका कथन है कि दिन के पिछले भाग को राजा इतिहास के सुनने मे बिताये। इतिहास क्या? पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—इन सब की गणना 'इतिहास' के भीतर माननी चाहिए। फलतः पुराण से कौटिल्य परिचय रखते हैं। अपने ग्रन्थ के भीतर पुराणो के वर्ण्य विषय से भी उनका परिचय कम नही है—

(३१) पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः॥

—अध्याय ५, १३–१४

(घ) राजा के द्वारा वेतनभोगी अधिकारियों के प्रसंग में कौटिल्य का कथन है कि राजा इन अधिकारियो को एक सहस्त्र पण का वेतन देकर अपने कार्य के लिए नियुक्त करे—कार्तान्तिक (फलित ज्योतिषी), नैमित्तिक (उत्पात से परिचय रखने वाला व्यक्ति), मौहूर्तिक (शोभन मुहूर्त बतलाने वाला विद्वान्), पौराणिक (पुराणवेत्ता), सूत, मागध तथा पुरोहित पुरुष :—

(३२) कार्तान्तिक–नैमित्तिक–मौहूर्तिक–पौराणिक–सूतमागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहस्राः।

—अर्थशास्त्र ५।३ (भृत्यभरणीयम्)

इस सूची का अनुशीलन बतलाता है कि ईस्वी पूर्व तृतीय शती मे पुराण का वक्ता पौराणिक राजा के द्वारा नियुक्त किया जाता था और उसका वेतन एक हजार पण होता था। उस युग मे पौराणिक एक महत्त्वशाली व्यक्ति माना जाता

था और विशिष्ट वेतन पर उसकी नियुक्ति उसके वैशिष्ट्य का द्योतक है। कौटिल्य का यह उल्लेख पुराण के प्रचार-प्रसार के महत्त्व का विशद द्योतक है।

पुराण तथा धर्मस्मृति

धार्मिक स्मृतियो तथा धर्मसूत्रो में 'पुराण' का उल्लेख बहुशः मिलता है। इनसे पुराण का विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित होता है—साधारण जन के ही लिए नही, प्रत्युत शासकवर्ग के लिए भी। 'वेदवित्' के लिए पुराण की जानकारी नितान्त आवश्यक इसलिए है कि पुराण वेद का उपबृंहक साहित्य है। जो वस्तु या तत्त्व वेद में संक्षिप्तरूपेण निर्दिष्ट है, उसी का विस्तार हम 'पुराण' में पाते है। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते है :—

(३३) (क) स एष बहुश्रुतो भवति लोक वेद-वेदाङ्गवित् वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः।

—(गौतमधर्मसूत्र ८।४–६)

यहाँ 'बहुश्रुत' की परिभाषा दी गयी है। 'बहुश्रुत' (बहुत सुनने वाला तथा शास्त्र का ज्ञाता) वह व्यक्ति होता है जो लोक (व्यवहार), वेद, वेदाङ्ग को जानता है तथा वाकोवाक्य, इतिहास तथा पुराण मे कुशल होता है। तात्पर्य यह है कि 'बहुश्रुतता' की सिद्धि के लिए पुराण की दक्षता एक आवश्यक साधन है।

(३४) (ख) तस्य (प्रजापालक नृपतेः) च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राणि अङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।

—(गौतमधर्मसूत्र ११।२१)

प्रजापालक नृपति का व्यवहार—वेद, धर्मशास्त्र, अङ्ग, उपवेद तथा पुराण पर आश्रित रहता है। इतने शास्त्रो का ज्ञान रखने वाला राजा व्यवहार-न्याय-करने को योग्यता से सम्पन्न होता है। फलतः पुराण का उपयोग राजा को व्यवहार की शिक्षा देने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(३५) (ग) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः॥

—(व्यासस्मृति ४।४५)

इस श्लोक मे 'वेदपारग' (वेद के पारंगत व्यक्ति) का लक्षण दिया गया है। वेदपारग होने के निमित्त विस्तारपूर्वक छः अंगो के साथ वेदों की मीमांसा ही आवश्यक नहीं है, प्रत्युत इतिहास-पुराणों की भी मीमांसा—(मनन = अनुशीलन) अपेक्षित है।

(३६) (घ) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोगस्तु नेतराः ॥
—(व्यासस्मृति १।५)

इस श्लोक मे अधिकारी की चर्चा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति के नाम से विख्यात है। श्रुति, स्मृति तथा पुराण मे प्रतिपादित धर्म का अधिकार इन्ही तीनो वर्णो को है; इनसे भिन्न वर्णो को नही। यहाँ पुराणोक्त धर्म का स्तर श्रुति तथा स्मृति मे प्रतिपादित धर्म के साथ निर्दिष्ट किया गया है। फलतः पुराण-प्रोक्त धर्म उसी प्रकार व्यवहार्य है जिस प्रकार श्रुतिधर्म तथा तदनुयायी स्मृतिधर्म।

(३७) (ङ) वेदं धर्मं पुराण च तथा तत्त्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत् ॥
—(उशनसस्मृति ३।३४)

इस श्लोक मे शिष्य को ज्ञान देने की चर्चा है। वेद, धर्म, पुराण तथा तत्त्वो का उपदेश किसी अपरीक्षित तथा अज्ञात कुलशील वाले शिष्य को नही देना चाहिए, प्रत्युत गुरु के पास एक साल तक निवास करने वाले (अर्थात् परीक्षण दिये जाने वाले) शिष्य को ही देने का विधान है। निष्कर्ष यह है कि पुराण का उपदेश अपनी गम्भीरता तथा मर्यादा रखता है और वह परीक्षित सुपात्र शिष्य को ही गुरु के द्वारा दिया जाना चाहिए।

(३८) (च) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यातानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥
—(मनुस्मृति ३।२३२)

यहाँ पुराण पाठ के समय तथा स्थान का निर्देश है। मनुमहाराज का कथन है कि पितृकर्म-श्राद्ध-के अवसर पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को यजमान वेद, धर्मशास्त्र, आख्यात, इतिहास, पुराण तथा खिल (श्रीसूक्त, शिवसंकल्प आदि) सुनावे। फलतः वेदपाठ के सदृश ही पुराण का पाठ तथा श्रवण भी पुण्यकार्य समझा जाता था और वह भी मनु जैसे प्रधान स्मृतिकार की दृष्टि मे। मनु के वचन वैदिक ऋषि की दृष्टि मे, औषध की भी औषध माने जाते है (यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः)

(३९) (छ) पुराण–न्याय–मीमांसा–धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥
—(याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात, श्लोक ३)

याज्ञवल्क्य स्मृति के इस उपोद्धात मे १४ विद्याओं के स्थान का संकेत है। ये विद्याएँ इस प्रकार हैं—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा, (४) धर्मशास्त्र, (५–१०) षडङ्ग, (११–१४) वेद। ये ही विद्याएँ धर्म के भी स्थान हैं—आधार हैं तथा स्थिति हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म को स्वाधार पर रखनेवाली विद्याओं में 'पुराण' अन्यतम है और वह वेदों के सदृश हो उपादेय तथा पवित्र है।

(४०) (ज) वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः।
इतिहासांस्तथा विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम्॥
मांसक्षीरौदनमधु तर्पणं स दिवौकसाम्।
करोति तृप्तिं च तथा पितृणां मधुसर्पिषा॥

—याज्ञ० स्मृ० १।४५-४६

यहाँ याज्ञवल्क्य स्मृति मे पुराण के पाठ से देवो तथा पितरों की विशेष तृप्ति होने का स्पष्ट निर्देश किया है। श्लोको का स्पष्ट अभिप्राय है कि वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी गाथा, इतिहास तथा विद्या को जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार नित्य पढ़ता है, वह मांस, खीर तथा मधु से देवताओ की तृप्ति करता है और पितरों की मधु, घी से तृप्ति करता है। फलतः देव तथा पितर दोनों की तृप्ति का एकमात्र साधन है—पुराण का दैनंदिन अध्ययन।

(४१) (झ) वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥

—या० स्मृति १।१०१

जप-यज्ञ की उत्कृष्ट सिद्धि के लिए साधक को चाहिए कि वह वेद, अथर्व, पुराण, इतिहास तथा आध्यात्मिकी विद्या (=वेदान्तशास्त्र) का अपनी शक्ति के अनुसार जप करे अर्थात् अध्ययन और मनन करे।

(४२) (ञ) यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत् किञ्चिद् वाङ्मयं जगत्॥

—या० स्मृ० ३।१८९

आशय यह है कि जिन मुनियो से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र तथा भाष्य—अर्थात् समस्त वाङ्मय जगत्—प्रचारित तथा प्रसारित हुआ, वे ही मुनि धर्मप्रवर्तक है।

अर्थशास्त्र पर आश्रित शुक्रनीति में भी पुराण का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसमे 'पौराणिक' का जो लक्षण दिया गया है, वह पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। 'पौराणिक' को केवल पञ्चलक्षण का ही ज्ञाता न होकर

साहित्यशास्त्रो मे निपुण, संगीत का वेत्ता तथा कोमल स्वरवाला भी होना चाहिए—

(४३) (ट) साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः।
सर्गादिपञ्चज्ञाता च स वै पौराणिकः स्मृतः॥
—शुक्रनीति २।१७८

मीमासा, तर्क, साख्य, वेदान्त, योग, स्मृति के संग मे इतिहास-पुराण की गणना बत्तीस विद्याओ के अन्तर्गत की गयी है जिसका अध्ययन करना राजा के लिए, शुक्रनीति की दृष्टि मे, नितान्त हितकारक होता है—

(४४) (ठ) मीमासा तर्कसाख्यानि वेदान्तो योग एव च।
इतिहासपुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम्॥
—शुक्रनीति ४।२६९

निष्कर्ष—स्मृतियो से ऊपर उद्धृत कतिपय वाक्य 'पुराण' के समधिक गौरव के विशद द्योतक है। वे वेद तथा धर्मशास्त्र के समकक्ष निःसंशय स्वीकृत किये गये है। वेद की पारगामिता की योग्यता तब तक किसी व्यक्ति मे सिद्ध नही मानी जाती, जब तक वह पुराण मे भी निष्णात नही हो जाता। राजा को अपने व्यवहार के संचालन के निमित्त पुराण का अध्ययन तथा मनन नितान्त अनिवार्य है। प्राचीन राजाओ के चरित का वर्णन प्रस्तुत कर पुराण भारतीय राजनीति के जिज्ञासुओ के लिए एक महनीय विषय प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 'पुराण' की महत्ता इस स्मृतियुग मे अक्षुण्ण बनी हुई रहती है।

दार्शनिक गण और पुराण

शास्त्रीय ग्रन्थो के टीकाकारो के ग्रन्थो के अनुशीलन से पता चलता है कि ईस्वी सन् के आरम्भिक वर्षो से लेकर अष्टम शती तक के व्याख्याकारो ने पुराण का निर्देश किया है और वे निर्देश आजकल प्रचलित पुराणो मे उपलब्ध होते है जिससे पुराणों का वर्तमान रूप उस प्राचीन रूप से भिन्न नही प्रतीत होता। ऐसे व्याख्याकार है—शबरस्वामी (२०० ई०–४०० ई० के मध्य) कुमारिल (सप्तम शती), शंकराचार्य (७०० ई० आसपास) तथा विश्वरूप (८००–८५० ई०)। शबरस्वामी जै० १०।४।२३ के भाष्य मे यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप का निर्णय करते समय लिखते है कि इस विषय मे इतिहास-पुराण मे उपलब्ध एक मत यह था कि देवता से तात्पर्य अग्नि आदिको से है जो स्वर्ग में निवास किया करते हैं। यह मत आज प्रचलित पुराणों में भी उपलब्ध होता ही है।

(४५) का पुनरियं देवता नाम। एकं तावन्मतं या एता इतिहास-पुराणेष्वग्न्याद्याः संकीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति।' ..

शवर जै० सू० १०।४।२३

कुमारिल और पुराण

कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में पुराणो के स्वरूप तथा विषय के सम्बन्ध में वहुत ही मूल्यवान वाते बतलायी हैं जिनमे से 'पुराण—प्रामाण्य' की चर्चा पृथक् रूप से अन्यत्र की गयी है। यहा अन्य संकेत दिये जाते हैं। जैमिनि सूत्र १।३।७ की व्याख्या में कुमारिल का कथन है कि पुराणो मे कलियुग के विषय मे कहा गया है कि शाक्य (गौतम बुद्ध) तथा अन्य लोग पैदा होंगे जो धर्म के विषय मे विप्लव उत्पन्न कर देंगे, इन लोगो के वचनों को कौन सुनता है ?" इस वर्णन से दो तथ्य स्पष्ट हैं कि कुमारिलयुगीन पुराणो मे कलियुग का वर्णन अवश्यमेव पाया जाता था तथा बुद्ध बड़ी ही निन्दा की दृष्टि से उन पुराणों में देखे जाते थे। यहां स्मरणीय है कि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द मे बुद्ध को अवतार मानकर दशावतारों के अन्तर्गत स्तुति की है तथा क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतारचरित' महाकाव्य मे बुद्ध के चरित को सम्मिलित किया है (र० का० १०६० ई०)। फलतः बुद्ध की अवतार—कल्पना कुमारिल के अनन्तर तथा क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती काल की घटना है लगभग नवम-दशम शती की। कुमारिल से पूर्ववर्ती किसी न किसी पुराण मे बुद्ध की निन्दा अवश्यमेव उपलब्ध थी जिसका संकेत कुमारिल ने अपने इस वाक्य मे किया है।

(४६) स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुति–हेतवः।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥

—तंत्रवार्तिक जै० १।३।७। पर

(४७) तथा स्वर्ग शब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक–प्रवाद–पौराणिक याज्ञिक–दर्शनेनोच्यते.....यदि वेतिहासपुराणोपपन्नं मेरुपृष्ठम् अथवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तं केवलमेव सुखम् ॥

—तंत्रवार्तिक जै सू १।३।३०

'स्वर्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर पर कुमारिल पूछते हैं कि 'स्वर्गः' शब्द का अर्थ क्या है ? क्या स्वर्ग ताराओं का कोई देश है अथवा इतिहास-पुराण की मान्यता के अनुसार यह मेरु का पृष्ठ है अथवा केवल सुख का संकेतवाची शब्द है ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल के परिचित पुराण आज कल प्रचलित पुराण से भिन्न नही थे, क्योंकि प्रचलित पुराणों मे स्वर्ग की स्थिति मेरुपर्वत के पृष्ठ पर बतलायी जाती है (मत्स्य ११।३७–३८; पद्म, पातालखण्ड, ८।७२–७३)

(४८) विमानेनागमत् स्वर्ग पत्या सह मुदान्विता ।
सावर्णोऽपि मनुर्मेरावद्याप्यास्ते तपोधनः ॥

—मत्स्य ११।३७

शंकराचार्य तथा पुराण

शकराचार्य ने शारीरक भाष्य के अनेक स्थलो पर पुराण तथा उसके विषय का निर्देश किया है। पुराण को 'स्मृति' शब्द के द्वारा ही सर्वत्र निर्दिष्ट किया है तथा उनके द्वारा उद्धृत श्लोक प्रचलित पुराणो मे उपलब्ध होते हैं जिससे स्पष्ट है कि शकर प्रचलित पुराणो से परिचय रखते थे। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते है। यहा स्मरणीय है कि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम नही लेते, यद्यपि उनके उद्धरण विशिष्ट पुराणो मे उपलब्ध होते है :—

(क) कल्पो की असंख्येयता। कल्पो के विषय के आचार्य का कथन है कि 'पुराणो मे स्थापित किया गया है कि बीते हुए और आगे होने वाले कल्पो का कोई परिमाण नही है'—

(४९) पुराणे चातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्—वे० सू २।१।३६ पर शाङ्करभाष्य की अन्तिम पक्ति। इसे मिलाइए ब्रह्माण्ड १।४।३०–३२ से जहा कल्प अनन्त बतलाये गये हैं।

(ख) शब्दपूर्विका सृष्टि के विषय मे आचार्य ने स्मृति का वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि स्वयम्भू ब्रह्मा ने अनादि तथा अनन्त, नित्य, दिव्य-रूप वेदमयी वाणी को सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न किया। इसी से जगत् की समस्त प्रवृत्तिया निकली :—

(५०) स्मृतिरपि—

अनादि—निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

शां० भा० १।३।२८

यह वचन कूर्मपुराण मे उपलब्ध होता है (१।२।२८) अन्तर इतना ही है कि कूर्म० का पाठ है 'आदौ वेदमयी भूतामतः' जो स्पष्टतः अशुद्ध प्रतीत होता है।

(ग) इसी प्रसङ्ग मे आचार्य ने एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि महेश्वर ने वेद के शब्दो से ही भूतो के नाम तथा रूप को, कर्म की प्रवृत्ति को सृष्टि के आरम्भ मे बनाया :—

(५१) नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

यह श्लोक एक-दो शब्दो के परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है—कूर्म १।७।६६; ब्रह्माण्ड १।८।६५; मार्कण्डेय ४८।४२; वायु ९।६३; विष्णु १।५।६३। विष्णु में इस श्लोक का रूप इस प्रकार है, परन्तु तात्पर्य मे विशेष अन्तर नहीं है :—

नाम रूपं च भूताना कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः॥

—पूर्वोक्त श्लोक मनुस्मृति मे भी मिलता है (मनु० १।२१)

(घ) आचार्य शङ्कर ने १।३।३० के भाष्य मे प्रतिपादित किया है कि धर्म और अधर्म की फलरूपा उत्तरा सृष्टि उत्पन्न होने के समय पूर्वसृष्टि के समान ही निष्पन्न होती है और इस प्रसङ्ग मे स्मृतिवचन के रूप में दो श्लोको को उद्धृत किया है :—

स्मृतिश्च भवति—

(५२) तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते॥

ये श्लोक पुराणो मे मिलते है—कूर्म १।७।६३–६४; मार्क० ४८।३९–४०; वायु ८।३२–३३ तथा ९।५७–५८; विष्णु १।५।५९–६०। ये दोनो श्लोक वायुपुराण मे दो बार दिये गये हैं। केवल 'हिंस्राहिंस्रे' वाला श्लोकार्ध मनुस्मृति मे भी उपलब्ध होता है। (मनु १।२९)। शान्तिपर्व (अ० २३२, श्लोक १६–१७) में ये दोनों ही श्लोक उपलब्ध होते हैं।

(ङ) इसी सूत्र (१।३।३०) के भाष्य के अन्त मे आचार्य ने तीन निम्नलिखित पद्यो को उद्धृत किया है—

स्मृतिरपि—

(५३) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव, तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इस श्लोकत्रयी के आदिम दोनों श्लोक वायु० (९।६४-६५) मे उपलब्ध होते हैं।

(च) देवो के विषय मे आचार्य का कथन है कि देवो में सामर्थ्य की भी सम्भावना है, क्योकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास-पुराण से पता चलता है कि देवों को विग्रह (शरीर) होता है—

(५४) तथा सामर्थ्यमपि तेषां (देवादीनां) संभवति, मन्त्रार्थवादे तिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यधिगात् ।

—शा० भा० १।३।२६

पुराणेतिहास मे देवो के शरीरी होने के प्रचुर निर्देश मिलते हैं ।

(छ) ब्र. सू. २।१।१ मे भाष्य मे आचार्य ने किसी पुराण से जो वचन उद्धृत किया है वह बड़े महत्त्व का है । पहली बात महत्त्व की यह है कि यह स्पष्टत. 'पुराण' का वचन है किसी स्मृति का नहीं और दूसरी बात यह है कि यह वचन किसी एक विशिष्ट पुराण से सम्बन्ध रखता है । वह पुराण 'वायु-पुराण' ही है जिसमे यही श्लोक 'नारायण' के स्थान पर 'महेश्वरः' पाठ के साथ वहाँ उपलब्ध होता है—

(५५) अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं सहारकाले च तदत्ति भूयः ॥

इति पुराणे ।

यही श्लोक वायुपुराण मे (१।२०५) उपलब्ध होता है । अन्तर इतना ही है कि वायु मे 'नारायणः' के स्थान पर 'महेश्वरः' परिवर्तन है ।

(ज) आचार्य विष्णुपुराण से पूरा परिचय रखते थे; इसमें तनिक भी सन्देह नही किया जा सकता । सनत्सुजातीय भाष्य (अध्याय २ श्लोक ७) मे मूलश्लोक 'निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदाः, तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति' की व्याख्या के अवसर पर शंकराचार्य ने अपने अर्थ के लिए प्रमाण दिया है :—

(५६) न केवलं वेदा अपि तु मुनयोऽपि तत् ब्रह्म
विश्ववैरूप्य विश्वरूप–विपरीत–स्वरूपमुदाहरन्ति ।

तथा चाह भगवान् पराशर :—
प्रत्यस्तिमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसाम्, आत्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसम्मितम् ॥
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम् ।
विश्वस्वरूपवैरूप्य–लक्षणं परमात्मनः ॥

ध्यातव्य है कि पराशर विष्णुपुराण के प्रवक्ता है और ये दोनो श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश के सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक है । आचार्य इस पुराण को प्रमाण कोटि मे मानते थे । महाभारत के श्लोक मेब्रह्म

'विश्ववैरूप्य' कहा गया है। आचार्य का भाष्य है कि ब्रह्म विश्व से विपरीत लक्षणवाला है और इसी तात्पर्य को पराशर मुनि ने द्वितीय पद्य में निर्दिष्ट किया है जिस प्रामाण्य के लिए ये पद्य उद्धृत है। इससे शङ्कर के युग में—सप्तमी शती के अन्त तथा अष्टम शती के आरम्भ मे—विष्णुपुराण नितान्त प्रख्यात तथा प्रमाण माना जाता था जिससे उसके नामोल्लेख की आवश्यकता नही समझी गयी।

(झ) नरको के विषय मे आचार्य का कथन है कि पौराणिकों का कथन है कि रौरव आदि सात नरक होते है जहाँ पाप करनेवाले लोग अपने फल को भोगने के लिए जाते है—

(५७) अपि च सप्त नरका रौरव प्रमुखा दुष्कृत फलोपभोग-भूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः।ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति।

—३।१।१५ ब्र० सू० भाष्य

यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि यह स्पष्टतः विष्णुपुराण के द्वारा निर्दिष्ट नरको का संकेत करता है। विष्णु ने नरको की रौरव, तामस आदि नव संख्याएँ मानी हैं जहाँ अन्य पुराणो मे नरको की संख्या इससे तिगुनी अर्थात् इक्कीस (२१) मानी गयी है। मनु (४।८७–९०), याज्ञवल्क्य (३।२२२–२३४) तथा विष्णुधर्मसूत्र (४३।२–२२) ने ही नरको की संख्या २१ नही मानी है, प्रत्युत पुराणो की महती संख्या इसी संख्या को प्रामाणिक मानती हैं। देखिए विशेषतः श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध का २६वाँ अध्याय जहाँ इन २१ प्रकार के नरको का वर्णन विस्तार से दिया गया है।

निष्कर्ष—आचार्य शंकर प्रचलित पुराण के विषय तथा स्वरूप से भली भाँति परिचित थे। वे दो पुराणो से निश्चित रूप से परिचय रखते है—**वायुपुराण** तथा **विष्णुपुराण** से, इसके पोषक प्रमाण ऊपर उद्धृत किये गये है। वे पुराण को वेदार्थ-उपबृंहण करने के कारण प्रमाणभूत मानते हैं। इस विषय की चर्चा स्वतन्त्र रूप से पृथक् की गयी है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य मे तथा सनत्सुजातीय भाष्य में, जहां पूर्वोक्त श्लोक प्रमाणरूप से उपन्यस्त किये गये हैं, किसी भी पुराण का नाम्ना निर्देश नही करते, परन्तु उनके निर्दिष्ट श्लोक वायु अथवा विष्णुपुराण मे निश्चित रूप से उपलब्ध होते हैं। उद्धरण ५६ मे आचार्य ने भगवान् पराशर के श्लोकों का निर्देश किया है। पराशर विष्णुपुराण के वक्ता हैं। अतः आचार्य यहां विष्णुपुराण के पद्य का ही निर्देश कर रहे हैं, परन्तु पुराण का नाम नही लेते। यह आश्चर्य की वस्तु है।

आचार्य विश्वरूप—(८००–८५० ई०) ने याज्ञवल्क्यस्मृति की स्व-प्रणीत 'बालक्रीडा' टीका मे पुराणो के विषय मे दो महत्त्वपूर्ण तथ्यो का उद्घाटन किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१७०) मे विश्व के परिणाम के विषय मे साख्य सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। इसकी टीका मे विश्वरूप का कथन है कि जगत् की सृष्टि तथा प्रलयविषयक यह सिद्धान्त पुराणों मे सर्वत्र पाया जाता है—

(५८) एषा प्रक्रिया सृष्टि प्रलयवर्णनादौ सर्वत्र पुराणादिष्वपि ॥

विश्वरूप का यह कथन पुराणो की समीक्षा से बिलकुल यथार्थ सिद्ध होता है। पुराणो के ऊपर साख्यदर्शन का बडा गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव है। यह किसी भी पुराण के अनुशीलन से सिद्ध किया जा सकता है (द्रष्टव्य कूर्म १. ४. ६. १६ तथा विष्णु १।२। २९-३०)। विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत ने साख्य प्रक्रिया का बहुशः आश्रयण तत्तत् अध्यायो मे सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन के अवसर पर किया है। अग्निपुराण मे भी यही प्रक्रिया वर्णित है (द्रष्टव्य अग्नि० १७।१-७ तथा २०।१–८)

दूसरा प्रसङ्ग पितृयान की स्थिति के विषय मे है। याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि पितृयान अजवीथि तथा अगस्त्य के बीच मे स्थित है। अग्निहोत्र करनेवाले, स्वर्ग की कामना करनेवाले स्वर्ग के प्रति इसी मार्ग से जाते है। स्मृति का यह वचन विष्णुपुराण (२।८।८५-८६) के साथ विलक्षण समता रखता है। दोनो वचनो की समता पर ध्यान दीजिए—

याज्ञवल्क्य (३।१७५)

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति॥

विष्णुपुराण (२।८।८५–८६)

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयानः स वै पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः॥
तत्रासते महात्मानो ऋषयो येऽग्निहोत्रिणः।

विश्वरूप का कथन—

(५९) पुराणे हि भगवतः सवितु–र्बहवो वीथ्यो–
दिवि पद्धतयः श्रूयन्ते यथाऽगस्त्यस्यानन्तरा अजवीथी।

—बालक्रीडा ३।१७५

यह कथन विष्णुपुराण के वचन पर अथवा मत्स्यपुराण १२४।५३–६० तथा वायु० ५०।१३० के वचनो पर आधारित है। मेरी दृष्टि मे विश्वरूप ने

ही नहीं, प्रत्युत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता ने विष्णुपुराण के वचन के आधार पर ही अजवीथी की स्थिति तथा उसका उपयोग करने वाले व्यक्तियों का पूर्वोक्त वणन प्रस्तुत किया हे। फलतः विष्णुपुराण का रचनाकाल तृतीय शती से नियत रूप से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

शवर स्वामी से लेकर विश्वरूप तक अर्थात् द्वितीय शती से लेकर नवम शती तक के व्याख्याकारो ने पुराणो के स्वरूप तथा वर्ण्य विषय का जो कुछ भी संकेत किया है तथा श्लोकों के उद्धरण दिये हैं उससे स्पष्ट है कि उस युग के पुराणो का रूप आजकल प्रचलित पुराणो से कथमपि भिन्न न था। यह तथ्य बड़े महत्त्व का है। यह दिखलाता ह कि पुराण के विषयो में एक सातत्य है; इधर-उधर से जोड़े जाने पर भी पुराण का बहुत भाग प्राचीन है तथा इसी रूप मे लगभग आठ शताब्दियो के सुदीर्घ काल मे वर्तमान था। यह निष्कर्ष पुराण के प्रायः अधिकाश अशो के विषय मे सत्य हैं। स्फुट परिवर्धन की कल्पना को निश्चित विराम नही दिया जा सकता। इतना भी तथ्य कम ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता।

बाणभट्ट और पुराण

विक्रम के आरम्भिक आठ शताब्दियो मे जन्म लेने वाले कविजनो के काव्यो का यदि अनुशीलन किया जाय, तो पुराण के विषय मे पूर्वप्रतिपादित तथ्यो मे परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत न होगी। माघ स्वयं वैष्णव कवि थे। उन्होने शैव भारवि की महिमा को परास्त करने की दृष्टि से अपने 'शिशुपालवध' नामक प्रख्यात वैष्णव काव्य का प्रणयन किया। अपने काव्य की प्रतिष्ठा मे उन्होने स्वयं लिखा है—**लक्ष्मीपतेः चरित कीर्तनमात्रचारु ॥** अर्थात् लक्ष्मीपति के कीर्तन होने के कारण उनका काव्य सुन्दर तथा मनोज्ञ है। 'शिशुपालवध' श्रीमद्भागवत के ऊपर ही आधारित महाकाव्य है। इसे महाभारत के ऊपर आधारित मानना विषयो के वैषम्य के कारण निरी विडम्बना है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध (अध्याय ७०–७७) मे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मनोरम प्रसङ्ग है। इसके आरम्भ मे नारदजी स्वयं पधारते हैं तथा श्रीकृष्ण के पूछने पर युधिष्ठिर के भावी राजसूय की सूचना वे स्वयं देते है (१०।७०।४१) तथा इस विषय मे भगवान् की अनुमति चाहते हैं। कृष्ण उद्धव की सम्मति जानना चाहते हैं और उनकी अनुकूल सम्मति पाकर वे युधिष्ठिर के राजसूय मे पधारते है। मेरी दृष्टि मे माघ कवि ने भागवत से यह प्रसङ्ग तथा क्रम अपनाकर इस विशाल वैष्णव महाकाव्य का प्रणयन किया। फलतः भागवत की रचना माघ-काव्य की रचना से प्राचीनतर

माननी चाहिए। माघ का आविर्भावकाल ७००–७५० ई० माना जाता है। फलतः माघ के द्वारा आधार ग्रन्थ के रूप मे समादृत होने से श्रीमद्भागवत का रचना-काल अष्टमी शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

सस्कृत के महान् गद्यकवि बाणभट्ट (सप्तम शती) पुराणो से, विशेषतः वायुपुराण, से विशेषभावेन सुपरिचित थे। उनके दोनो गद्य काव्यो—कादम्बरी तथा हर्षचरित—मे पुराण का उल्लेख विशेपरूप से प्राप्त होता है :

(क) कादम्बरी के पूर्वभाग मे जावालि मुनि के आश्रम के वर्णन-प्रसंग मे वाणभट्ट ने एक वडी ही सुन्दर परिसंख्या प्रयुक्त की है :—

(६०) 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

जिसका तात्पर्य है कि पुराणो मे वायु के द्वारा कथन उपलब्ध है। वायु रोग के द्वारा उस आश्रम मे प्रलाप नही होता था। तारापीड के महल के वर्णन के समय वे कहते हैं कि समग्र भुवन का कोश इकट्ठा करके उचित स्थानों पर रखा हुआ है जिस प्रकार पुराण मे भुवनकोश (संसार का भूगोल) विभिन्न विभागो मे स्थापित किया गया है।

(६१) पुराणमिव यथाविभागावस्थापित सकलभुवनकोशम्।

(राजकुलम्)

इसी प्रकार उत्तर कादम्बरी मे 'आगमभूत पुराण रामायण भारत मे अनेक प्रकार की शापवार्ता सुनी जाती है' ऐसा कथन उपलब्ध होता है।

(६२) आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरामायणभारतादिषु सम्यगनेकप्रकाराः शापवार्ताः श्रूयन्ते।

ये तीनो विषय पुराणो मे उपलब्ध हैं। वायु के द्वारा किसी पुराण के कथन का संकेत ब्रह्माण्डपुराण (१।१।३६–३७) ने स्पष्टतः इस श्लोक मे किया है—

पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।
पृष्टेन मुनिभिः पूर्वं नैमिषीयैर्महात्मभिः।

भुवनकोश का वर्णन प्रायः पुराणो मे आज भी उपलब्ध होता है (वायु० अध्याय ३४ ४।९; भागवत० पंचम स्कन्ध, अग्नि० १०७ अ०, श्लोक १–१२०; विष्णुपुराण, द्वितीय अंश अ० २–४)। शाप–विषयक ग्रन्थो में पुराण का प्रथम उल्लेख इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। वाणभट्ट की दृष्टि में रामायण तथा महाभारत की अपेक्षा पुराण विशेष लोकप्रिय था।

(ख) हर्षचरित मे पुराण के दो उल्लेख वड़े महत्त्वपूर्ण है। एक स्थान पुराण के पाठ का प्रसग है कि पुस्तक वाचक सुदृष्टि ने गीत के साथ 'पावमान' (पवन, वायु के द्वारा प्रोक्त) पुराण का पाठ किया—

(६३) पुस्तकवाचकः सुदृष्टि···गीतया पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ ।

—हर्षचरित, तृतीय परि०, चतुर्थ अनु०

इस कथन से स्पष्ट है कि सप्तम शतक मे सर्वसाधारण जनता के सामने पुराणों का पाठ किया जाता था तथा पुस्तकों का वाँचना एक अलग ही व्यवसाय माना जाता था। वायुपुराण की लोकप्रियता सबसे अधिक थी। इसी पुराण के विषय में आगे चलकर बाणभट्ट कहते हैं कि पावन (पवन प्रोक्त) पुराण हर्षचरित से अभिन्न प्रतीत होता है। पुराण मुनि (व्यास) द्वारा गीत है, अत्यन्त विस्तृत है तथा समस्त जगत् में व्यापक है और अत्यन्त पवित्र है। (पुराण का पाठ सदा पवित्र माना जाता है)। 'पावन' शब्द श्लिष्ट है—पवित्र तथा पवन–प्रोक्त। यहा जो विशेषण पुराण के लिए प्रयुक्त हैं वे ही हर्षचरित के विषय मे भी लगाये जा सकते हैं—

(६४) तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापिपावनं तदपि।
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि मे पुराणमिदम्।

—हर्षचरित परि० ३,५ अनु०

ये दोनों निर्देश इस तथ्य के स्पष्ट द्योतक हैं कि सप्तम शती में वायुपुराण का प्रचलन, जनता के सामने पाठ, विशेषरूप से वर्तमान था। प्रचलित वायु० में जितना वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर है, वह सब यहाँ संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है। इस ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखने से श्रीशङ्कराचार्य द्वारा बिना नाम निर्देश के ही वायुपुराण के श्लोकों का उद्धरण उसकी नितान्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का परिचायक है।

इस परिच्छेद में ऊपर वर्णित कथनो का समीक्षण हमें पुराण के विषय में प्रामाणिक तथ्य से परिचित कराने के लिए पर्याप्त है। 'पुराण' का उदय अथर्ववेद के समय मे ही हुआ, परन्तु यह उदय केवल सामान्य मौखिक परम्परा के रूप मे माना जा सकता है। ग्रन्थ के रूप में पुराण का निर्देश तैत्तिरीय आरण्यक म भी बतलाना कठिन ही है यद्यपि वहाँ 'पुराणानि' के बहुवचन प्रयोग से कम से कम तीन पुराणों की सत्ता का अनुमान अनेक पण्डितजन लगाते है। परन्तु पुराण के वर्ण्यविषय का निश्चित निर्देश इस काल तक नही लगाया जा सकता। आपस्तम्ब धर्मसूत्र का प्रामाण्य वर्ण्यविषय की ओर किञ्चित् संकेत करता है। धर्मशास्त्रीय विषयो की सत्ता मूलभूत प्राचीन 'पुराण' में मानना सर्वथा न्याय्य तथा उपयुक्त प्रतीत होता है। आपस्तम्ब (ई० पू० षष्ठ शती) 'भविष्यत् पुराण' से परिचित हैं, परन्तु आज प्रचलित 'भविष्य पुराण' मे उस पुराण का कौन सा भाग सन्निविष्ट है—इसे यथार्थतः बतलाना आज असम्भव है। कौटिल्य (ई० पू० चतुर्थ शती) पुराण से सामान्य परिचय

नही रखते, प्रत्युत वे राजा द्वारा वेतनभोगी 'पौराणिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की चर्चा करते हैं। उस काल मे 'पुराण' राजा के अध्ययन योग विषयों मे अन्यतम माना जाता था। रामायण तथा महाभारत भी पुराण से तथा इसके प्रचारक सूत मागधो की परम्परा से परिचित हैं।

स्मृतियाँ पुराण को विद्यास्थानो मे अन्यतम स्थान प्रदान करती हैं। श्राद्ध के समय मनुस्मृति पुराण के पाठ को पुण्यवर्धक कार्य मानती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद तथा इतिहास के संग मे पुराण के स्वाध्याय को महत्त्व प्रदान करती हैं। अन्य स्मृतियाँ भी इस विषय मे मौन नही हैं। दार्शनिकग्रन्थकार भी पुराण के प्रामाण्य पर आग्रह दिखलाते हैं। वात्स्यायन, शबर स्वामी, कुमारिल, शङ्कराचार्य तथा विश्वरूप—पुराण की वेदानुगामिता को प्रमाण कोटि मे मानते हैं तथा पुराणों के उद्धरणो को देकर उनसे अपना स्पष्ट परिचय घोषित करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि (द्वितीय शती ई०पू०) पुराण के आख्यानो से परिचय रखते हैं तथा बाणभट्ट (सप्तम शती) ने वायु-पुराण के पाठ की चर्चा कर उसके स्वरूप का जो परिचय दिया है वह आज प्रचलित वायुपुराण से सर्वथा भिन्न नही है। अलबरूनी नामक अरबी ग्रन्थकार ने अपने भरतविषयक ग्रन्थ मे पुराण से बहुत सी सामग्री ग्रहण की है जो तत्तत् पराणो मे आज भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास मे 'पुराण' का उदय वैदिक युग मे हुआ और उसका अभ्युदय महाभागवत गुप्तों के साम्राज्य काल मे सम्पन्न हुआ; सामान्य रीति से इस कथन का तथ्यपूर्ण माना जा सकता है।

द्वितीय परिच्छेद

पुराण का अवतरण

पुराण के अवतरण के विषय में पुराणों तथा इतर ग्रन्थों में अनेक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए है। उनका एकत्र समीक्षण करने पर अनेक तथ्यों का प्रकटीकरण होता है। पहली वस्तु ध्यान देने की है कि पुराण के विकाश में दो धाराएँ स्पष्टतः लक्षित होती हैं—(क) व्यासपूर्व धारा तथा (ख) व्यासोत्तर धारा। व्यास का मुख्य कार्य 'पुराण संहिता' का निर्माण था। फलतः पुराणों की सुव्यवस्थित रूप मे घटना वेदव्यास का अलोकसामान्य कार्य था, परन्तु पुराण की यह धारा उनसे भी प्राचीनतर युग के साहित्यिक जगत् की एक विशिष्ट महनीय वस्तु है। उस युग मे 'पुराण' का अर्थ है लोक-प्रचलित परन्तु अव्यवस्थित, इतस्ततो विकीर्ण लोकवृत्तात्मक विद्याविशेष। इस सिद्धान्त के लिए प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(प्राचीन गन्थो मे 'पुराण' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, 'पुराण संहिता' का नहीं। फलतः यह मूलतः किसी ग्रन्थविशेष का द्योतक न होकर, किसी विद्याविशेष का ही वाचक है।

(ख) पुराण के आविर्भाव का निर्देश वायु १।५४ तथा मत्स्य ३।३–४ में वेद से आविर्भाव से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। ब्रह्मा ने सब शास्त्रों में पुराण का ही प्रथम स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखो से वेद निःसृत हुए—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
> नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्
> अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥

—मत्स्य ३।३–४

'शतकोटिप्रविस्तरम्' शब्द किसी निश्चित रूप का संकेत न कर पुराण के अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का संकेत न होने से यह निर्देश पुराणविद्या की ही द्योतना करता है; ऐसा मानना उचित है।

(ग) 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस विषय में सहायक मानी जा सकती है :—

> पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्

—पद्मपुराण ५।२।५३

अस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

—वायु १।१०३; १०३।५५

फलतः अपने प्राचीनतम रूप मे 'पुराण' किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है ।

पुराण के अवतरण की एक अन्य कल्पना भी है । स्कन्द[१] (रेवामाहात्म्य) पद्म[२] (सृष्टिखण्ड) तथा मत्स्य[३] समान भाव से इस परम्परा का उल्लेख करते

---

१. पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप ॥
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
स्मृत्वा जगाद च मुनीन्प्रति देवश्चतुर्मुखः ॥
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणा पुराणस्याभवत्तत. ।।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥
व्यासरूपं विभुं कृत्वा संहरेत्स युगेयुगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भू र्लोकेऽस्मिन् प्रभाषते ।
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः सक्षेपेण निवेशितः ॥
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥

(रेवामाहात्म्य १।२३।३०)—स्कन्दपुराण

२. प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणा पुराणस्याभवत्तदा ॥
कलिना ग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः ॥
व्यासरूपी तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभुः ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ॥

—पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० १

३. पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ॥
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥
निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया ॥
अगानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥
मीमासा धर्मशास्त्रं च परिगृह्य मया कृतम् ॥
मत्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥
अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ॥
श्रुत्वा जगाद च मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुखः ॥ ७ ॥

—मत्स्यपुराण, अध्याय ५३

हैं। इस परम्परा का कथन है—कल्पान्तर मे पुराण एक ही था। वह त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम—का साधन था अर्थात् जिस प्रकार वह अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र के विषयो का प्रतिपादक था, उसी प्रकार वह धर्म का भी प्रकाशक था। उसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत था, क्योकि वह श्लोको की संख्या मे शतकोटि विस्तार रखता था। अनेक पुराणों की मान्यता है कि यह विशाल पुराण-साहित्य देवलोक मे प्रतिष्ठित था। समय के परिवर्तन से इतने विशाल पुराण का ग्रहण क्षीणबुद्धि मानवो की परिमित शक्ति के बाहर की बात थी। फलतः विष्णु भगवान् ने मानवा के कल्याण के लिए इस विशालकाय साहित्य को चार लाख श्लोको के भीतर सक्षिप्त कर दिया व्यास का रूप धारण करके। इसीलिए मर्त्यलोक मे पुराण की संख्या चतुर्लक्षात्मक है और इसी का विभाजन १८ महापुराणो मे वेदव्यास ने कर दिया जो आजकल प्रचलित तथा लोकप्रिय है।

एक मत के अनुसार चतुःसहस्रात्मक पुराण संहिता का विपुलीकरण चतुर्लक्षात्मक अष्टादश पुराणों के रूप मे है और द्वितीय मत के अनुसार देवलोक मे विद्यमान शतकोटि श्लोकात्मक पुराण का संक्षेपरूप चतुर्लक्षात्मक १८ पुराणो के रूप मे किया गया है। उभय तथ्य इस बात पर एकमत हैं कि पुराण के प्रणयन मे वेदव्यास की ही मुख्यरूपेण क्रियाशीलता है। इस साहित्य के निर्माण का श्रेय इस वर्तमान युग मे कृष्णद्वैपायन मुनि को हैं।

पुराण लौकिक शास्त्र है। यह वेद से भिन्न, परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान इसका स्वरूप सदा-सर्वदा के लिए निश्चित नही किया गया है, प्रत्युत यह समय परिवर्तन के संग मे तथा उसके प्रभाव मे आकर स्वयं परिवर्तनशील है। इसीलिए तन्त्रवार्तिक (१।३।२) वेद को अकृत्रिम, पुराण को कृत्रिम बतलाता है। निरुक्त मे पुराण शब्द की दी गयी निरुक्ति भी इसके समय-समय पर परिवर्तन की ओर स्पष्टतः सकेत करती है। वह व्युत्पत्ति है—**पुरापि नवं भवति**। आशय है यह शास्त्र प्राचीनकालिक होने पर भी नया-नया होता है अर्थात् मूलतः प्राचीन होने पर भी कालान्तर मे उत्पन्न परिवर्तनों को यह अपने मे आत्मसात् कर लेता है। पुराण इस सामयिक परिवर्तन के तथ्य को प्रकट करने से पराङ्मुख नही होता। कुमारिकाखण्ड (४०।१९८) का स्पष्ट कथन है—इतिहास और पुराण लोक-गौरव से भिन्न-भिन्न होते है :

इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्

यह कथन सामयिक परिवर्तन के तथ्य का ही द्योतक है। न्यायभाष्य (४।१।६१) मे महर्षि वात्स्यायन लोकवृत्त को ही इतिहास पुराण का विषय अंगीकार करते है—

लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः ।

इस कथन की महत्ता वेद तथा धर्मशास्त्र की तुलना से भली भाँति समझी जा सकती है। वात्स्यायन ने साहित्य को तीन अंगों मे विषय की दृष्टि से विभक्त किया है—यज्ञ मन्त्रब्राह्मण का अर्थात् वेद का विषय है; लोक का चरित इतिहास पुराण का विषय है तथा लोकव्यवहार का व्यवस्थापन—लोक मे पुण्य-पाप आदि का निर्धारण धर्मशास्त्र का विषय है (४।१।६२ पर वात्स्यायन भाष्य)। इस महत्त्वपूर्ण मन्तव्य का तात्पर्य यह है कि द्रष्टा तथा प्रवक्ता की दृष्टि से तो इनमे भेद नही है क्योकि जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता मन्त्र-ब्राह्मण के हैं, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी हैं। फलतः प्रवक्ता की दृष्टि से इनमे पार्थक्य नही है। तब पार्थक्य कहाँ है? विषय के विवेचन के क्षेत्र को लेकर ही इन तीनो मे भेद तथा पार्थक्य माना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्राचीन परम्परा लोकवृत्त के वर्णन को ही पुराण का मुख्य विषय स्वीकार करती है, धर्मशास्त्र के साथ उसका सम्बन्ध नही मानती। इससे यह परिणाम निकलता है कि पुराण का प्राचीनतम रूप लोकवृत्तात्मक ही था और उस प्राचीन काल मे उसका धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। धर्मशास्त्रीय विषयो का पुराण मे निवेश तो पञ्चम-षष्ठ शती की घटना मानी जाती है।

वेदकालीन द्विविध धारा

वैदिक युग मे विचार की दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक वेदधारा और दूसरी पुराणधारा। वेदधारा तो आरम्भ से ही धार्मिक है तथा यज्ञो मे विशिष्ट देवता को उद्दिष्ट कर हविर्त्याग की विधि को वह महत्त्व देती है। पुराणधारा का लक्ष्य लोकवृत्त का अनुशीलन तथा समीक्षण कर विपुल विवरण देना है। इन दोनों धाराओ मे किञ्चित् पार्थक्य की कल्पना करना अनुचित प्रतीत नही होता। पुराणधारा आरम्भ में वैदिक मार्ग से उतनी संस्पृष्ट तथा संश्लिष्ट सम्भवतः नही थी और वेदानुसारिता पुराण की, बहुत सम्भव है, उतने प्राचीन काल से अनुमित नही की जा सकती।

द्विविध धारा की सत्ता पुराण के प्रामाण्य पर भी हम सिद्ध कर सकते है। मार्कण्डेय (४५।२३) के कथन से द्विविध धारा का अनुमान लगाना अप्रामाणिक नही माना जा सकता। मार्कण्डेय का यह कथन इस प्रकार है :—

उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृताः ॥ २० ॥

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः ।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः ॥ २३ ॥

—मार्क०, अ० ४५

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन युग मे ऋषिधारा तथा मुनिधारा पृथक्-पृथक् थी। ऋषियों ने तो वेद का ग्रहण किया और मुनियों ने पुराण का, जब ये दोनों ब्रह्माजी के मुख से निकले। मार्कण्डेय पुराण की सृष्टि को प्राक्कालीन मानता है और वेद की सृष्टि को उत्तरकालीन। इस प्रकार ऋषियो ने तो वेदो को ग्रहण किया तथा उसके विपुलीकरण और प्रचार-प्रसार मे प्रवृत्त हुए। विपरीत इसके, मुनियों ने पुराण को ग्रहण किया और उसके प्रचार-प्रसार के महनीय कार्य मे उन्होने अपने को व्यावृत किया।

ऋषि तथा मुनि के इस पार्थक्य की पुष्टि शङ्कराचार्य के सनत्सुजातीय-भाष्य की एक महनीय उक्ति से भी होती है। सनत्सुजातीय के द्वितीय अध्याय (श्लोक १२) मे ब्रह्म विश्व से विलक्षण तथा विपरीत बतलाया गया है—

निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदाः
तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति।

इस श्लोक के भाष्य मे आचार्य ने उपनिषदो का प्रचुर उदाहरण देकर ब्रह्म तथा विश्व के वैलक्षण्य का प्रतिपादन किया है। अनन्तर वे पुराणस्थ प्रमाण की ओर निर्देश करते कह रहे हैं —

न केवलं वेदा, अपि तु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीत-स्वरूपमुदाहरन्ति। तथा चाह भगवान् **पराशर**. 'प्रत्यस्तमितभेदं यत्'....'तच्च विष्णोः परं रूपम्'। ये दोनों श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश, सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक है। आचार्य के पूर्वोक्त कथन का समीक्षण यही बतलाता है कि वे वेद तथा पुराणकार मुनियो के वचन को द्विप्रकारक मानते है। इस कथन से भी पूर्वोक्त ऋषिधारा तथा मुनिधारा के पार्थक्य के लिए आधारभूमि स्थिर मानी जा सकती है।

ऋषि तथा मुनि

'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति ऋषी गतौ धातु (संख्या १२८७ सिद्धान्त-कौमुदी) से मानी जाती है। गति को सामान्य गमन के अर्थ मे न लेकर विशिष्ट गति या ज्ञान के अर्थ मे लेना ही उचित प्रतीत होता है।

ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वा।
ऋष्+इगुपधात् कित् (४।११९) इति उणादिसूत्रेण इन् किच्च।

इस व्युत्पत्ति का संकेत वायु ७।७५, मत्स्य १४५।८३ तथा ब्रह्माण्ड १।३२।८७ में समभावेन किया गया है। ब्रह्माण्ड की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेव स्वयंभूतस्तस्माच्चाप्यृषिता स्मृता ॥

वायु (५९।७९) में 'ऋषि' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये गये हैं—

ऋषीत्येव गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥

इस श्लोक के अनुसार ऋषी धातु के चार अर्थ होते हैं—गति, श्रुति, सत्य तथा तपस्। ब्रह्माजी के द्वारा जिस व्यक्ति में ये चारों वस्तुएँ नियत कर दी जायँ, वही होता है ऋषि[1]। वायु का यही श्लोक मत्स्य (अ० १४५, श्लोक ८१) में किञ्चित् पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। दुर्गाचार्य की निरुक्ति है—ऋषिर्दर्शनात् (नि० २।११)। इस निरुक्ति से 'ऋषि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—दर्शन करनेवाला, तत्त्वों की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति रखनेवाला विशिष्ट पुरुष। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' यास्क का यह कथन इस निरुक्ति का प्रतिफलितार्थ है। दुर्गाचार्य का कथन है कि किसी मन्त्रविशेष की सहायता से किये जाने पर किसी कर्म से किस प्रकार का फल परिणत होता है; ऋषि को इस तथ्य का पूर्ण ज्ञान होता है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार इस शब्द की व्याख्या यह है—

सृष्टि के आरम्भ में तपस्या करनेवाले अयोनिसम्भव व्यक्तियों के पास स्वयंभू ब्रह्म—वेद ब्रह्म—स्वयं प्राप्त हो गया (आनर्ष)। वेद का इस स्वतः

---

१. प्रत्येक मन्वन्तर में सप्तर्षियों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं। द्रष्टव्य विष्णु (अंश ३, अ० १ तथा २) रत्नकोष में ऋषियों के ७ भेद किये गये हैं—

सप्त ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षि-परमर्षयः।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः ॥

ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि तथा राजर्षि—ये क्रम से अवर होते हैं। अर्थात् ब्रह्मर्षि होता है सर्वश्रेष्ठ तथा राजर्षि होता है सबसे अवर। मत्स्य में पाँच ऋषिजातियों का वर्णन मिलता है। ऋषियों के विशिष्ट नामों की निरुक्ति भी पुराणों में की गयी है (हरिवंश अ० ७; विष्णु अंश ३; मार्कण्डेय ६७।४)।

प्राप्ति के कारण—स्वयमेव आविर्भाव होने के हेतु—ही 'ऋषि' का 'ऋषित्व' है[1]। इस व्याख्या ने 'ऋषि' शब्द की निरुक्ति तुदादिगणीय ऋष् गतौ धातु से मानी गयी है। वायु तथा ब्रह्माण्डपुराणो से ऊपर दी गयी निरुक्ति इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। अपौरुषेय वेद ऋषियो के-ही माध्यम से विश्व में आविर्भूत हुआ और ऋषियो ने वेद के वर्णमय विग्रह को अपने दिव्य श्रोत्र से श्रवण किया और इसीलिए वेद की 'श्रुति' संज्ञा सार्थक है। आद्य ऋषियो की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता फिरता है। वे अर्थ के पीछे कभी नही दौड़ते (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति : उत्तररामचरित, प्रथम अंक)। निष्कर्ष यह है कि तपस्या से पूत अन्तर्ज्योतिःसम्पन्न मन्त्रद्रष्टा व्यक्तियो की ही संज्ञा 'ऋषि' है।

मुनि—

मनुते जानाति यः स मुनिः। मन् धातोः 'मनेरुच्च' इति (४।१२२) उणादिसूत्रेण इन् प्रत्ययः। अकारस्य उच्चेति मुनिः।

मुनि का साक्षात् सम्बन्ध तीव्र तपश्चरण के साथ है। जो व्यक्ति शून्यागार मे निवास करता है और जो चलते-चलते सायंकाल हो जाने वाले स्थान पर ही टिक जाय (सायंगृहः) वही 'मुनि' नाम से अभिहित किया जाता है। शंखस्मृति (७।६) का यह वचन 'मुनि' के स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है—

शून्यागारनिकेतः स्याद् यत्र सायंगृहो मुनिः।

वनपर्व के १२वें अध्याय मे मुनि के स्वरूप का विस्तृतरूपेण निर्देश किया गया है। अर्जुन ने कौरवो के दुष्कृत्यों से क्षुब्ध होने वाले श्रीकृष्ण को शान्त करते समय उनकी पूर्वजन्म की घोर तपस्या का वर्णन विस्तार से किया। गन्धमादन पर्वत पर दश हजार वर्षो तक श्रीकृष्ण ने किसी प्राचीन काल मे व्यचरण किया था (१२।११) एकादश सहस्र वर्षो तक पुष्करक्षेत्र मे केवल जल का भक्षण करते हुए श्रीकृष्ण ने तपस्या की थी (१२।१२)। ऊपर बाहु उठाकर (उर्ध्ववाहु) और एक पैर पर खड़े होकर बदरीक्षेत्र मे श्रीकृष्ण ने केवल वायु का भक्षण कर सौ वर्षों तक तपस्या की (१२।१३)। इसी प्रकार के घोर तप करने का यहाँ वर्णन है (११–१६ श्लो०)। यहाँ 'सायंगृहो मुनिः' शब्द का प्रयोग मुनि के वैशिष्ट्य का द्योतक है। इस शब्द की नीलकण्ठी व्याख्या[2] बतलाती है कि जहाँ सायकाल हो जाय, वही घर जिसका हो जाय,

---

१. अजान् ह वै पृश्नींस्तप्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानार्षत ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणामृषित्वम्। —तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ९ अनुवाक

२. तत्र तपस्विनां क्षमैवोचितेति दर्शयितुं भगवतः कोपोपशमनाय तदीयं जन्मान्तरीयं तप एव तावदुदाहरति।……यत्र सायंकालस्तत्रैव गृहं यस्य स यत्र 'सायंगृह' इत्येकं पदम्। नीलकण्ठी, वनपर्व १२।११ श्लोक पर।

वही 'सायंगृहो मुनिः' होता है। फलतः 'मुनि' के साथ तीव्र तपस्या तथा क्षमा का भाव अविनाभावेन सम्बद्ध माने गये है। इसीलिए नैषध मे मुनि की वृत्ति जल मे उगने वाली लताओं के फल तथा मूल से निष्पन्न बतायी गयी है :—

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां।
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ॥

—नैषध १।१३३

गीता बतलाती है कि दुःखो मे उद्विग्न न होने वाला, सुखों में स्पृहा से विरहित, राग, भय तथा क्रोध से उन्मुक्त होने वाला तथा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

इस प्रकार ऋषि की अपेक्षा मुनि[1] स्वतो विशिष्ट तथा भिन्न होता है, साधारणतः वे अभिन्न भले ही माने जायँ। दोनो के पन्थो मे वैभिन्य होना स्वाभाविक है।

अथर्ववेद की परम्परा

अथर्ववेद की परम्परा मूलतः वेदत्रयी से पृथक् और भिन्न मानी गयी है। इस वेद मे ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए विशिष्ट मन्त्रो का संकलन मिलता है। अथर्व मे शान्तिक तथा पौष्टिक, आयुष्य तथा कल्याणसाधक मन्त्र विशेषरूप से उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनके संग साथ मे अभिचार, मोहन तथा मारण के भी मन्त्र प्राप्त होते है। अथर्व का पूरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस' है। अथर्व मन्त्र तो पौष्टिक तथा आयुष्यवर्धक होने से मानवो के कल्याण पक्ष का ही आश्रय करते है, परन्तु अङ्गिरस मन्त्र का यथार्थ सम्बन्ध अभिचार जैसी घोर कृत्या—विधि के साथ है और इन दानो धाराओं के सम्मिश्रण का परिणाम है वर्तमान अथर्ववेद जिसका पूरा अभिधान 'अथर्वाङ्गिरस' है। पुराण अथर्व के इस द्विविध स्वरूप से पूरा परिचय रखता है। वायुपुराण का यह श्लोक (६५।२७) इस विषय का यथार्थ संकेत करता है :—

ब्रह्मवेदस्तथा घोरैः कृत्याविधिभिरन्वितः।
प्रत्यङ्गिरसयोगैश्च द्विशरीरशिरोऽभवत् ॥

---

१. मुनियो की उत्पत्ति के लिए द्रष्टव्य ब्रह्मवैवर्त (ब्रह्मखण्ड, ८ अ०) तथा वायु का गया माहात्म्य; नामो की व्युत्पत्ति ,, (,, २२ अ०) मुनिधर्म—गरुड २२७ अ० मे देखिए।

अथर्ववेद मे दो प्रकार के मन्त्रों का सम्मिश्रण है—

अङ्गिरा मन्त्र=आङ्गिरस=अभिचार (घोर कृत्या विधि)। प्रत्यङ्गिरा[1] मन्त्र=आथर्वण=शान्ति-पौष्टिक-आयुष्य मन्त्र। अथर्व तथा अङ्गिरस का एकत्र उल्लेख पुराणों मे मिलता है। द्रष्टव्य भागवत ६।६।१९ तथा लिङ्ग १।२६।२६। मत्स्य ५१।१० के अनुसार भृगु के पुत्र थे अथर्वा और अथर्वा के पुत्र थे अङ्गिरा (भृगोः प्रजायताथर्वा, ह्यङ्गिराऽथर्वणः स्मृतः)। इस प्रकार भृगु के भी इसी परम्परा मे अनुस्यूत होने से यह वेद 'भृग्वङ्गिरस' के अभिधान से भी पुकारा जाता है। भृगु तथा उनके अनुयायी भार्गवों का सम्बन्ध आख्यान साहित्य की अभिवृद्धि के साथ नितान्त अविच्छिन्न है। डा० सुखठणकर ने अपने अनेक निबन्धों मे भार्गवो को महाभारत के विस्तार का प्रयोजक हेतु म ना है। इतना ही नही, रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि भी भृगुवंशी ही थे, अश्वघोष के 'बुद्धचरित' के अनुसार वाल्मीकि च्यवन के पुत्र थे और यह च्यवन भृगु के पुत्र थे। इसीलिए वाल्मीकि का 'भार्गव' नाम से उल्लेख महाभारत मे उपलब्ध होता है।[2] विष्णुपुराण भी 'भार्गव=वाल्मीकि' का उल्लेख व्यासो की सूची मे स्पष्टतः करता है।[3] इस प्रकार आख्यान साहित्य के प्रचार-प्रसार मे, रामायण के प्रणयन मे तथा महाभारत के परिबृंहण मे भार्गववंशी मुनियो का विशेष सहयोग था—यह तथ्य भुलाया नही जा सकता। भृगु की नितान्त गौरवमयी गाथा की जानकारी के लिए कतिपय संक्षिप्त निर्देश यहाँ किये जा रहे है—

भृगु का परिचय

वैदिक संस्कृति के प्रचार मे भृगुवंशीय ऋषियो का विशेष योग रहा है। भारत के पश्चिमी तथा मध्यप्रदेश मे इन्ही लोगोने आर्यावर्त से लाकर वैदिक धर्म का प्रचुर प्रचार किया। जिस प्रकार गौतमो ने विदेह राजाओ को पूर्वी भारत मे आर्य-सभ्यता के फैलाने मे विपुल सहायता दी, उसी प्रकार भार्गवो ने मानव (मनुवंशी) राजाओ को पश्चिमी भारत मे इस स्तुत्य कार्य के निर्वाह मे

---

१. 'प्रत्यङ्गिरस योगैश्च' की व्याख्या मे इन्हे आथर्वण मन्त्र ही माना है। द्रष्टव्य नीलकण्ठी हरिवंश १।३।६५ पर।

२. श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत॥

—शान्ति ५७।४०

३. ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।

—विष्णु ३।३।१८

विशाल साहाय्य प्रदान किया। इस विस्तृत विषय की चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है, परन्तु भार्गवो के मूल पुरुष महर्षि भृगु के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओ से हम पाठको को परिचित करा देना चाहते हैं।

भृगु के जन्म के विषय मे भिन्न-भिन्न मत पाये जाते हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (३।३४) के अनुसार आदित्य तथा अङ्गिरा के साथ भृगु की उत्पत्ति प्रजापति के वीर्य से हुई। 'गोपथ ब्राह्मण' (१।२-८) ने इस विषय मे रमणीय आख्यान दिया है। एक बार तपस्या मे निरत ब्रह्मदेव के शरीर से कुछ पसीने की बूँद निकली, जिनमे अपने ही सुन्दर शरीर के प्रतिविम्ब को देखकर ब्रह्मदेव का वीर्यस्खलन हुआ, जो दो भागो मे विभक्त हो गया। एक भाग था स्निग्ध और चिक्कण, दूसरा था रूखा तथा खुरखुरा। पहले से हुआ जन्म भृगुजी का और दूसरे से अङ्गिरा का। इस प्रकार भृगु तथा अङ्गिरा का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। अन्य ग्रन्थो के आधार पर ये वरुण के पुत्र प्रतीत होते हैं। (शतपथ ब्रा० ११।६।१।१, 'तैत्ति० आर०' ९।१, 'तैत्ति० ब्रा०' ३.२.१.१) । 'जैमिनीय उपनिषद् ब्रा०' मे तथा 'तैत्तिरीय उप०' मे वरुण के द्वारा भृगु के ज्ञानोपदेश का वर्णन मिलता है। वरुण पुत्र होने के कारण 'वारुणि' शब्द इनके नाम के साथ सदा जुटा रहता है। ये एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हैं, जिन्हे अनेक सूक्तो के द्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है (ऋ० ९।३५, ऋ० १०।१९) ।

दक्ष प्रजापति के उस यज्ञ मे ये उपस्थित थे, जिसमे सती ने पति के अनादर से दुःखित होकर योगाग्नि मे अपना शरीर जला दिया था। दक्ष ने ही शिव की निन्दा की थी, वहाँ उपस्थित ऋषियो का भी दोष कम न था। इन्होंने अपनी दाढी हिलाकर दक्ष के कथनो की पुष्टि की थी। फलतः वीरभद्र ने इनकी दाढी उखाड़कर इन्हे विद्रूप कर दिया। परन्तु पीछे शिवजी ने प्रसन्न होकर इनके मुँह पर बकरे की दाढी लगाकर इनकी कुरूपता को दूर कर दिया (भागवत ४।५।१७-१९) । एक बार ऋषि लोग एक महान् यज्ञ के सम्पादन मे लगे थे। प्रश्न उठा कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, इन तीनो देवताओ मे सबसे श्रेष्ठ कौन है और इस प्रश्न के निपटाने का भार भृगुजी ही पर रखा गया। ऋषियो के प्रतिनिधिरूप मे जाकर भृगु ने शिव को तथा ब्रह्मा को ब्राह्मणो के प्रति अनादर रखने का दोषी पाया, परन्तु विष्णु के पास जाने पर उन्हे वे ऋषियों के सत्कारक के रूप मे दृष्टिगत हुए। सोते हुए विष्णु की छाती मे इन्होंने लात मारी, तब विष्णु झट उठकर इनके पैर पकड़कर दाबने लगे और उनकी कडी छाती की चोट से सुकुमार ऋषिचरण के दुखने की कल्पनामात्र से उनका हृदय दुखने लगा। भृगु के कथन से सब देवताओ में विष्णु की ही प्रधानता ऋषियो को मान्य बनी (पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० २५५) । यही पादचिह्न श्रीवत्सचिह्न के नाम से पुकारा जाता है (भागवत १०।८९ अ०) ।

'अथर्ववेद' के संकलन में भृगु का बड़ा हाथ है। अङ्गिरा तथा भृगु इन्हीं दोनों ऋषियों की प्रधानता इस वेद में दीख पड़ती है। इसीलिए अथर्व का प्राचीन नाम है 'भृग्वङ्गिरस्।' सौम्य, पौष्टिक, समृद्धिजनक प्रयोगों के कर्ता भृगुजी हैं और क्रूर, उग्र, अभिचारों के उद्योक्ता अङ्गिरसजी। अथर्वण-प्रयोगों में निष्णात होने के कारण भृगु 'सञ्जीवनी विद्या' के ज्ञाता थे। एक बार देवासुर-संग्राम के अवसर पर इनके पुत्र शुक्राचार्य से असुरों की सहायता करने के कारण विष्णु रुष्ट हो गये और पिता-पुत्र की अनुपस्थिति मे उन्होंने भृगुपत्नी को अपने चक्र से मार डाला। तब भृगुजी ने अपनी इसी विद्या के बल पर पत्नी को जिलाया और विष्णु को जन्म लेने का शाप भी दिया (देवीभागवत) ४।११।१२)। ऋषि जमदग्नि के मार डाले जाने पर भृगु ने उन्हे 'संजीवनी विद्या' से जिलाया था, इसका उल्लेख 'ब्रह्माण्डपुराण' (१।३०) मे मिलता है।

भृगु की दो पत्नियाँ थीं—दिव्या और पौलोमी। दिव्या के पुत्र थे शुक्राचार्य, जिनकी अलौकिक शक्तियों का परिचय हमे अनेक अवसरों पर मिलता है। उनसे विस्तृत वंश उत्पन्न हुआ। पौलोमी के पुत्र थे महर्षि च्यवन, जिन्हे अश्विनीकुमारों की सहायता से नवयौवन की प्राप्ति हुई थी। सम्राट् शर्याति मानव का महाभिषेक च्यवन ने ही कराया था (ऐत० ब्रा० ८ पं० , और इन्हीं शर्याति ने अपनी पुत्री 'सुकन्या' का पाणिग्रहण च्यवन के साथ किया था। आगे चलकर जमदग्नि तथा परशुराम इसी वंश के भूषण हुए। च्यवन के पुत्र का नाम था प्रमति, जिन्होंने 'घृताची' अप्सरा से विवाह कर 'रुरु' नामक पुत्र उत्पन्न किया। रुरु की स्त्री थी 'प्रमद्वरा' तथा पुत्र 'शुनक'। इन्ही शुनक के पुत्र हुए 'शौनक', जिन्होने लोमहर्षण के पुत्र सौति से महाभारतकथा कहने का आग्रह किया था। शौनक की कृपा से ही हमे 'महाभारत' जैसा ग्रन्थरत्न प्राप्त हुआ है। इस प्रकार 'महाभारत' के संरक्षण तथा प्रचारण मे भार्गवों का कार्य विशेष श्लाघनीय रहा है।

भृगु के नाम से अनेक संस्कृत ग्रंथ सम्बद्ध है, जिनमे 'भृगुगीता', 'भृगुस्मृति', 'भृगुसंहिता' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'भृगुसंहिता' के फलों की अपूर्वता तथा यथार्थता बतलाने की आवश्यकता नहीं। अन्तर्दृष्टि के उन्मेष के बिना इन विचित्र फलों का कथन क्या कभी सम्भव है? एक बात ध्यान देने योग्य है। भृगुजी का आश्रम पश्चिम समुद्र-तट पर था, जहाँ नर्मदा नदी समुद्र से मिलती है। इसका प्राचीन नाम है 'भृगुकच्छ' और आधुनिक नाम 'भड़ौंच'। 'भृगुकच्छ' का बन्दरगाह भारत के नौ-व्यापार का प्रमुख मार्ग था। पश्चिमी जगत् के व्यापार का आवागमन इसीके रास्ते होता था। आज से दो हजार साल पहले भी रोमन सम्राट् अगस्तस सीजर के जमाने मे 'भृगुकच्छ' से जहाज

द्वारा गयी चीजे रोमन रमणियो तथा रमणो के लिए भोग-विलास की प्रधान सामग्री थी। केवल अंग्रेजो के जमाने के शुरू होते सूरत की प्रभुता होने पर ही 'भृगुकच्छ' का प्राचीन गौरव क्षीण होने लगा था। भड़ौच मे रहनेवाले सहस्रो गुजराती भार्गववंशी ब्राह्मण-परिवार इस प्रदेश मे आर्यसंस्कृति के प्रसारक अपने पूर्वक महर्षि भृगु वारुणि के रमणीय कीर्तिकलाप को गाकर अपने को धन्य मानते है।

अथर्व परम्परा मे इतिहास-पुराण

इतिहास पुराण का प्राचीन स्वरूप लोकवृत्तात्मक था; इसे सप्रमाण ऊपर दिखलाया है। अथर्ववेद का भी सम्बन्ध ऐहिक विषयो के प्रतिपादन से है। बहुत से लोकाचार की बाते तथा अनुष्ठान अथर्व के मन्त्रो मे प्रतिपादित है। इसी अथर्ववेद की परम्परा मे इतिहास-पुराण का अवतरण हुआ—इसे मानने के लिए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं—

(क) अथर्ववेद (११।७।२४) मे 'उच्छिष्ट' नाम से संकेतित परमतत्त्व से ऋक्, यजुः तथा साम और अथर्व के सग मे पुराण के उदय की बात कही गयी है।[1] अथर्ववेद ने व्रात्य के अनुगमनकारी शास्त्रो मे मध्य मे पुराण का स्पष्टतः उल्लेख किया है (अथर्व १५।६।१०-११)[2]

(ख) गोपथ ब्राह्मण ने पॉच वेदो की उत्पत्ति की बात बतलायी है जिनमे से इतिहास-वेद का सम्बन्ध उदीची (उत्तर) दिशा के साथ है और पुराण वेद का सम्बन्ध ध्रुवा (पैरो के ठीक नीचे होने वाली दिशा) तथा ऊर्ध्वा, (मस्तक के ठीक ऊपर होने वाली दिशा) के साथ है (गोपथ १।१०)[3]। इतना ही नही, पॉच व्याहृतियॉ— वृवत्, करत्, गुहत्, महत् और तत्—क्रम से सपवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद से उत्पन्न बतलायी गयी है। इस प्रकार इतिहास से 'महत्' की और पुराण से 'तत्' की उत्पत्ति स्पष्टत. सिद्ध करती है कि गोपथ की दृष्टि मे इतिहास तथा पुराण दोनो परस्पर पृथक् तथा भिन्न वेद माने जाते थे। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण है। फलतः अथर्व की परम्परा का यह वर्णन प्रामाणिक माना जा सकता है।

(ग) छन्दोग्य उपनिषद् का यह कथन बड़े ही महत्त्वशाली रहस्य का उद्घाटक है और वह रहस्य है इतिहास पुराण का अथर्ववेद से सम्बन्ध। इस

१. देखिये उद्धरण १ पिछले परिच्छेद मे।

२. देखिये उद्धरण २ पिछले परिच्छेद मे।

३. देखिये उद्धरण ३ पिछले परिच्छेद में।

कथन का तात्पर्य है—'अथर्वाङ्गिरस मधुकर हैं; इतिहास पुराण पुष्प हैं; इन अथर्वाङ्गिरसो ने इतिहास-पुराणो को अभितप्त किया। अभितप्त हुए इतिहास पुराण से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य तथा रस उत्पन्न हुआ'[१]

('घ) वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (४।१।६१) मे किसी प्राचीन ग्रन्थ का यह वचन उद्धृत किया है-ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहास पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदत्—जो दोनो के सम्बन्ध को निश्चित करने मे प्रमाणभूत माना जा सकता है।

('ङ) सायणाचार्य ने इतिहास पुराण को अथर्ववेद का उपवेद बतलाया है। स्पष्टत: दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतिका यह कोई प्राचीन परम्परा है जो यहाँ सायण के द्वारा निर्दिष्ट की गयी है।[२]

('च) अथर्ववेद सामान्य जनता का भी उपकारी वेद है। उसके वर्ण्य विषय दो प्रकार के है[२]—आमुष्मिक तथा ऐहिक। आमुष्मिक कर्म दर्श पूर्णमासादि त्रयी प्रतिपाद्य भी हैं, परन्तु ऐहिक फलवाले शान्तिक पौष्टिक कर्म, राजकर्म, अपरिमित फलवाले तुलापुरुष महादान आदि अथर्ववेद मे ही प्रतिपाद्य हैं। पौरोहित्य अथर्ववेद का ज्ञाता ही करा सकता है, क्योकि तत्सम्बद्ध राजाभिषेक आदि का विवरण अथर्ववेद में ही उपलब्ध होता है। अभिचार भी अथर्ववेद मे अङ्गिरा ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रो से साध्य होता है। पति को वश मे करने के मन्त्र, पत्नी का परित्याग कर बाहर भाग निकलने वाले पति को लौटाने का मन्त्र, सपत्नी की ओर से पति के आसक्त चित्त को आकृष्ट करने के मन्त्र, नाना प्रकार की आधि-व्याधि के दूर करने के मन्त्र, देश मे अन्नादि की समृद्धि को उत्पन्न करने के विधिविधानो के मन्त्र—आदि मन्त्र तथा तत् सम्बद्ध यज्ञानुष्ठान आद सामान्य जनता के इतने अधिक उपकारी तथा मंगलसाधक हैं कि अथर्व को जनता का वेद कहना कथमपि अनुपपन्न नही कहा जा सकता। यही है अथर्ववेद की प्रकृति और इसकी इतिहास-पुराण के साथ पूरी संगति बैठती है। इतिहासरूप महाभारत की रचना का अभिप्राय श्रीमद्भागवत ने स्वयं विशद शब्दो मे लिखा[३] है कि स्त्री, शूद्र और

१. अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत:। इतिहास पुराणं पुष्पं······ते वा एते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत।

—छान्दोग्य ३।४।१।२

२. द्रष्टव्य सायण: अथर्ववेदभूमिका पृ० १२२–१२३

(चौखम्भा संस्करण, काशी, १९५८)

३. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

पतित द्विजाति—ये तीनो ही वेद श्रवण करने के अधिकारी नही हैं। इसीलिए वे कल्याणकारी शास्त्रोक्त कर्मो के आचरण मे भूल कर बैठते हैं। इनके कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वेदव्यास ने इतिहास का प्रणयन किया तथा साथ ही साथ या उसके अनन्तर पुराणो का भी निर्माण किया। इनमे वेद का अर्थ खोलकर रखा गया है जिससे स्त्री, शूद्र आदि भी अपने धर्म-कर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः इतिहास पुराण की प्रकृति लौकिकधर्मानुबन्धिनी है और इसका पूर्ण सामञ्जस्य अथर्व की प्रकृति से बैठता है।

पारिप्लवाख्यान और पुराण

शतपथ ब्राह्मण (१३ काण्ड, ४ अध्याय, ३ ब्राह्मण) मे अश्वमेध के प्रकरण मे पारिप्लवाख्यान' का विशद विवरण उपलब्ध होता है। इतिहास-पुराण के प्रवचन का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध ब्राह्मण ने प्रदर्शित किया है। शतपथ का वर्णन बडा विशद तथा इतिहास-पुराण के वैदिक स्वरूप को प्रकट करने मे सर्वथा समर्थ है। इस लक्ष्य से इसका विवरण संक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। महर्षि कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्र के अश्वमेध प्रकरण मे इस अनुष्ठान का पूर्ण रूप दिखलाया है जो इस प्रसग मे मननीय तथा गवेषणीय है।

सबमे पहिले अश्वमेध के आरम्भ मे तीन सावित्री इष्टिया की जाती हैं। अनन्तर अश्वमेध का प्रधान पशु विशिष्ट लक्षणसम्पन्न अश्व विचरण करने के लिए छोड़ा जाता है। तदनन्तर 'देवसदन' नामक यज्ञमण्डप मे अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अश्वमेधीय अश्व के छोड़ने के बाद वेदि के दक्षिण ओर सोने का कशिपु[१] (= मुलायम आसन) बिछाया जाता है जिस पर होता (देवो का

कर्मश्रेयसि मूढाना श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

—भाग० १।४।२५

× × ×

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित;
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥

तत्रैव श्लो० २९

१. इस वैदिक शब्द का प्रयोग भागवत मे किया गया है—
सत्या क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ?

—भाग० २।२।४

आह्वान करनेवाला या ऋग्वेदज्ञ ऋत्विज्) बैठता है । होता के दक्षिण दिशा में सुवर्ण निर्मित कूर्च (पादसम्पन्न आसन=पीढ़ा) पर यजमान बैठता है और उससे दक्षिण ब्रह्मा और उद्गाता बैठते हैं । हिरण्मयी कशिपु के पूरब तरफ अध्वर्यु बैठता है हिरण्मय कूर्च पर अथवा हिरण्मय फलक पर (पादरहित आसन को फलक कहते है) । इस प्रकार सब ऋत्विजों को अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ जाने पर अध्वर्यु (यजुर्वेद का ज्ञाता ऋत्विज्) होता को प्रेरित करता है (जिसे वैदिक भाषा मे प्रैष कहते हैं)। इस प्रैष का यह रूप होता है—हे होता, इस यजमान (अश्वमेध यज्ञ मे दीक्षित व्यक्ति) से भूतों को तथा वेदादिकों को कह सुनाओ । अध्वर्यु के द्वारा इस प्रकार प्रैष पाने पर होता यजमान से वेदादिको का व्याख्यान सुनाता है । इसी का नाम है—**पारिप्लवाख्यान** । यह दश दिनो तक चलता रहता है और प्रतिदिन के व्याख्यान में वक्ता, श्रोता तथा वर्ण्य विषय भिन्न-भिन्न होते है । प्रतिदिन तीन सावित्री इष्टियाँ की जाती है। छः दिनो तक व्याख्यान के अनन्तर प्रक्रम होम भी सम्पन्न होता है, परन्तु अन्तिम चार दिनों मे प्रक्रम होम नही होता । दश दिनो मे पारिप्लवाख्यान की एक आवृत्ति पूर्ण होती है । फिर उसी क्रम से इसकी पुनः-पुनः आवृत्ति होती रहती है ३६ वार तक, जब कि एक संवत्सर पूरा हो जाता है । प्रतिदिन ऋत्विज् और यजमान के अतिरिक्त विभिन्न श्रोता यज्ञमण्डप मे बुलाये जाते है । जिस आख्यान का जो राजा निर्दिष्ट है, उसकी प्रजाभूत व्यक्तियाँ तथा उसके उपयुक्त श्रोतागण उस दिन में उपस्थित रहते हैं तत्तत् व्याख्यान को सुनने के लिए । सालभर इस पद्धति से ३६ वार आवृत्ति होने से यह अनुष्ठान अपनी समग्रता को प्राप्त करता है ।[१]

अब आख्यान की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिए (शतपथ, १३।४।३।३-१४)—

प्रथम दिन वैवस्वत मनु राजा होते है । उनकी प्रजाएँ समस्त मनुष्य है, परन्तु सबका एकत्र होना असम्भव ठहरा । फलतः उन मनुष्यो के प्रतिनिधिभूत होते हैं अश्रोत्रिय (समस्त वेदो को न पढनेवाले) गृहस्थ, जो उस व्याख्यान के श्रोता होते हैं । व्याख्यान का विषय होता है ऋग्वेद । उसके सूक्त की व्याख्या की जाती है ।

द्वितीय दिन के राजा होते हैं वैवस्वत यम । उनकी प्रजा पितृगण होते हैं । सबकी उपस्थिति असम्भव होने से उनके विशिष्ट प्रतिनिधि ही उस अवसर

---

१. एतदेव समानमाख्यानम् पुनः पुनः संवत्सरं परिप्लवते । तद् यत् पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवम् षट्त्रिंशतं दशाहान् आचष्टे ।

—शतपथ १३।४।३।१५

पर उपस्थित होते हैं और ये होते है वृद्ध लोग। व्याख्यान का विषय होता है यजुर्वेद का अनुवाक।

तृतीय दिन के राजा होते हैं आदित्य, वरुण। उनकी प्रजा होती है गन्धर्व-गण। उनके प्रतिनिधि श्रोता होते है शोभन सुन्दर शरीरवाले युवक। उनको उपदेश देता है कि अथर्ववेद यही है। अथर्व के एक पर्व की व्याख्या की जाती है।

चतुर्थ दिन के राजा होते है सोमवैष्णव। उनकी प्रजाएँ होती है अप्सराएँ। उनकी प्रतिनिधिभूता शोभन युवतियाँ एकत्र होती है। होता उनको उपदेश देता है कि अङ्गिरस वेद वही है। अङ्गिरस वेद के एक पर्व की तब व्याख्या की जाती है।

पञ्चम दिन के राजा होते है अर्बुद काद्रवेय (सर्प)। सर्प ही उनकी प्रजा है। उनके प्रतिनिधिरूप से सर्प और सर्पविद् (सर्पविद्या के जाननेवाले 'सपेरा') वहाँ एकत्र होते है। उनको होता उपदेश देता है—सर्पविद्या वही वेद है। तब सर्पविद्या के एक पर्व की व्याख्या की जाती है।

षष्ठ दिन कुवेर वैष्णव राजा होते है। राक्षस उनकी प्रजाएँ है। पापकारी 'सेलग' प्रतिनिधि होने से एकत्र उपस्थित होते है। 'सेलग' शब्द की व्याख्या शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी ने इस प्रकार की है—'सेलं गायन्तीति सेलगाः। सेलो वशग्राम–रागसदृशो वंशमुखेन आश्वासोच्छ्वासैः क्रियते गोपालादिभि.' जिसका अर्थ है वाँसुरी बजानेवाले ग्वाले आदि निम्नजातीय व्यक्ति। उन्हे उपदेश दिया जाता है कि **'देवजन' विद्या** (भूतविद्या) यही वेद है। देवजन विद्या के एक पर्व की तब व्याख्या की जाती है।

सप्तम दिन असित धान्व राजा होता है। असुर उसकी प्रजा होते है। प्रतिनिधिरूप से कुसीदी लोग (रुपया उधार देकर सूद लेनेवाले व्यक्ति) एकत्र होते है। उन्हे उपदेश देता है होता—**मायावेद** वही है। कुछ माया करनी चाहिए अर्थात् जादू-टोना का प्रकार दिखलाना चाहिए। (यहाँ किसी ग्रन्थ की व्याख्या नही है, प्रत्युत माया के व्यावहारिक प्रदर्शन की वात कही गयी है)।

अष्टम दिन मत्स्य साम्मद राजा होता है। जलचर जीव उसकी प्रजा होते है। मत्स्य और मछली के मारनेवाले (मत्स्यहन. ; मछुआ जो मछली मारकर आज भी अपनी जीविका चलाता है) प्रतिनिधिरूप से एकत्र होते है। उन्हे उपदेश देता है—इतिहास वही वेद है। किसी इतिहास को कहना चाहिए[१]।

---

१. अथाष्टमेऽहन्नेवमेव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युः। मत्स्य. साम्मदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विशः। त इम आसत इति। मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति। इति–

नवम दिन तार्क्ष्य वैपश्यत राजा होता है। पक्षियाँ उसकी प्रजा होती है। पक्षिगण तथा पक्षिविद्या में निष्णात व्यक्ति (वायोविद्यिकाः, वयोविद्या = पक्षिविद्या के ज्ञाता) प्रतिनिधिरूप से एकत्र होते हैं। उनसे कहता है कि पुराण वेद यही है। किसी पुराण की व्याख्या करनी चाहिए[1]।

दशम दिन धर्म इन्द्र राजा होते हैं। उनकी प्रजा होती है देवगण। प्रतिग्रह (दान) न लेने वाले (अप्रतिग्राहकाः) श्रोत्रिय उनके प्रतिनिधिरूप में एकत्र होते है। उन्हें उपदेश देता है—सामवेद यही है। साम के[2] 'दशत' (एक विशिष्ट अंश) का प्रवचन करना चाहिए।

प्रवचन की आवृत्ति प्रति दश दिनों के अनन्तर होती है। फलतः जैसा पहिले कहा गया है कि इतिहास और पुराण के प्रवचन की आवृत्ति ३६० दिन वाले वर्ष में ३६ बार होती है। यह प्रवचन रात्रि को ही होता है। प्रातः, मध्यंदिन तथा सायंकाल मे तीन सावित्री इष्टियाँ सम्पादित होती है। तृतीय इष्टि की परिसमाप्ति के अनन्तर ही यह व्याख्यान चलता है। फलतः दिन की अपेक्षा 'रात्रि' शब्द का ही पारिप्लव के विषय में प्रयोग समुचित है।[3]

हासा वेदः सोऽयमिति। कंचिदितिहासमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति ॥ १२ ॥

१. अथ नवमेऽहन्नेवमेव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एषैवावृदध्वर्यविति। हवैहोतरित्येवाध्वर्युः। तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजेत्याह। तस्य वयांसि विशः। तानीमान्यासत इति। वयासि च वायोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति। पुराणं वेदः सोऽयमिति। किंचित् पुराणमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति ॥ १३ ॥

२. दशत या दशति—सामवेद संहिता के दो भाग है—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक मे ६ प्रपाठक या अध्याय है। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक खण्ड में एक 'दशति' और प्रत्येक दशति मे ऋचाएँ है। 'दशति' शब्द से ऋचाओं की संख्या दश तक सीमित प्रतीत होती है; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। दशति मे ऋचाएँ कही दश से कम हैं और कही अधिक भी हैं। दशतियो मे ऋचाओं का संकलन छन्द और देवता की एकता पर निर्भर होता है।—द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय; वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. १९५, काशी १९५८

३. श्रीशंकराचार्य का छान्दोग्यभाष्य—'इतिहासपुराणं पुष्पम्। तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधेषु पारिप्लवासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनियोगः सिद्धः।' इस अंश को ठीक न समझकर डा० हाजरा अश्वमेध से ही इतिहास-पुराण की उत्पत्ति मानते है। इसके खण्डन के लिए द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ५, खण्ड २, पृष्ठ ८६५-८६७।

पारिप्लवाख्यान का संक्षिप्त वर्णन शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ऊपर किया गया है। इसकी समीक्षा करने से अनेक वैदिक तथा पौराणिक नूतन उपलब्धियाँ आलोचक को प्राप्त होती है जिनका स्वरूप नीचे दिया जाता है:—

(क) प्रचलित शौनकशाखीय अथर्व संहिता मे अथर्वण तथा आंगिरस मन्त्रो का पृथक्करण नही मिलता, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के युग मे ऐसी स्थिति नही थी। दोनो अपने मूल स्वरूप को निर्वाह करते हुए पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले प्रतीत होते हैं। श्रोताओ के वैशिष्ट्य से दोनों के रूप—वैशिष्ट्य का पूर्ण संकेत मिलता है। शोभन युवको के सामने व्याख्यात अथर्वण उदात्त विचारो का—शान्तिक, पौष्टिक, आयुष्य आदि आदि का—प्रतिपादक वेद था। शोभन युवतियो के सामने व्याख्यात अंगिरस वेद अभिचार से सम्बन्ध रखता था क्योकि परिणीता या अपरिणीता युवतियों को ही अपने पति के प्रेम निर्वाध बनाये रखने के निमित्त 'मोहन' विद्या की आवश्यकता होती है और यह 'मोहन' अभिचार का एक प्रधान अंग होता है। इस अनुमान मे अंगिरस मन्त्रो का उपयोग 'अभिचार' कर्म मे सहज ही उन्नेय है।

(ख) पारिप्लवाख्यान मे अथर्ववेद का प्रामुख्य होता है; यह नवीन तथ्य भी प्रमाणविहीन नही है। पारिप्लव दी दश रात्रियो मे प्रथम, द्वितीय तथा दशम क्रमशः ऋक्, यजुः तथा साम के निमित्त निर्धारित है। शेष सात रात्रियो का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। अथर्वाङ्गिरस की दो रात्रियो मे विभक्त किया गया है। शेष पाँच रात्रियो मे सर्पवेद, पिशाच (देवजन या भूतविद्या) वेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराण-वेद का इसी क्रम से प्रवचन होता है। ध्यातव्य है कि अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण ने ही केवल इन पाँचो वेदो का इसी क्रम से उल्लेख किया है जिस क्रम से शतपथ को इनका प्रवचन मान्य है। फलतः ये पाँचो प्रवचन के शास्त्र अथर्ववेद से सम्बन्ध रखते है। इतिहास-पुराण का उदय अथर्ववेदीय परम्परा में हुआ था, इस पूर्व निर्णय की पर्याप्त संपुष्टि इस तर्क से होती है।

(ग) गोपथ ने इन्हे 'वेद' की उदात्त संज्ञा से संयुक्त अवश्य किया है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि ये वेदत्रयी की अभ्यर्हितता को पाने के कभी भी अधिकारी नही हो सकते।। 'वेद' का अर्थ यहाँ ज्ञान सामान्य है, विद्या-विशेष। ऋग्वेदादि के सदृश मन्त्रो से इन्हे संवलित मानना शोभन नही प्रतीत होता।

(घ) ये पाँचो 'जनता के वेद' हैं—इसे मानने मे तनिक भी संशय नही होना चाहिए। इन वेदो के प्रवचन के श्रोताओ का वैशिष्ट्य इस तर्क मे निःसन्देह प्रमाणभूत माना जा सकता है। पञ्चम रात्रि मे सर्पविद्या के प्रवचन के श्रोता विषयानुरूप सर्पविद् (सर्पविद्या के ज्ञाता, आजकल के संपेरा) हैं।

षष्ठ रात्रि मे देवजन (भूत) विद्या के श्रोता ग्रामीण गोपाल आदि बासुरी या बीन बजाने वाले व्यक्ति है। सप्तम रात्रि मे असुरविद्या के श्रोता रूपैया कर्ज देकर सूद या ब्याज उठाने वाले महाजन हैं। महाजनो से माया या धोखाधड़ी का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतएव उस विद्या के प्रवचन के वे ही सुयोग्य श्रोता है। अष्टम रात्रि में इतिहास के श्रोता हैं मछली मारनेवाले (आजकल के मछुआ; मत्स्यजीवी) व्यक्ति। नवम रात्रि में पुराण का व्याख्यान होता है जिसके श्रोता है पक्षिविद्या के जाननेवाला व्यक्ति। फलतः इतिहास-पुराण का यह विवरण इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि इतिहास तथा पुराण का सम्बन्ध भारतीय समाज के निम्न वर्ग के लोगों के साथ उस आरम्भिक युग मे था। सामान्य जन ही इसके आख्यानो को सुनते थे और सम्भवतः मनो-रंजन का साधन उसमे विशेषरूप से था।

(ङ) इतिहास-पुराण अपने आरम्भिक जीवन में केवल विद्याविशेष थे। इनके कोई विशिष्ट ग्रन्थ न थे। ये मौखिक रूप से ही जनता मे प्रचलित थे। आज भी जनसामान्य मे बहुत सी कहानियाँ या आख्यान ऐसे हैं जिनके रचयिता का न तो पता है, और न जो किसी ग्रन्थ मे ही बद्ध हैं। वे परम्परा के रूप मे एक वक्ता के मुख से दूसरे वक्ता के पास पहुँचते हैं और उनका मनोरंजन तथा उप-देश किया करते है। मेरी दृष्टि मे उस आरम्भिक युग मे इतिहास पुराण की भी यही स्थिति थी। जिन शास्त्रो का ग्रन्थरूप मे प्रणयन हो गया था, उनके खण्डो की सूचना ऊपर स्पष्टतः दी गयी हैं। ऋक् के सूक्त, यजुष् के अनुवाक, साम के दशत, अथर्वाङ्गिरस के पर्व इसलिए निर्दिष्ट हैं कि इन वेदो का निबन्धन ग्रन्थरूप मे हो गया था। किन्तु पुराण और इतिहास के सम्बन्ध मे इस प्रकार ग्रन्थीय विभाजन का संकेत नही है। इसीसे ऊपर वाला तथ्य सिद्ध होता है।

(च) इससे सुस्पष्ट है कि आरम्भ मे पुराण कोई अभ्यर्हित शास्त्र न था। आजकल उसमे कुछ पूज्यता तो अवश्य आ गयी है। मन्दिरो मे पुराण के प्रवचन का संकेत तो सप्तम शती मे बाणभट्ट के समय मे ही प्राप्त होता है, परन्तु वेदपाठ के समान उसमे वैशिष्ट्य नही है। मध्याह्न से पूर्व, भोजन करने से पहिले, वेद के प्रवचन का विधान स्पष्टतः उसके अभ्यर्हितत्व का पूर्ण परिचायक है। पुराण के श्रवण का समय मध्याह्नोत्तर है—भोजन तथा शयन से निवृत्त होने के बाद राजा या राजपुत्र नियमित रूप से पौराणिक के मुख से इसका प्रव-चन सुना करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की यह व्यवस्था इसकी उपयोगिता अवश्य प्रदर्शित करती है, परन्तु इसकी अभ्यर्हितता नही।

सूत की समस्या

पुराण के प्रवचन करने का काम 'सूत' का ही था। महाभारत तथा पुराण मे सूत प्रवक्ता के रूप मे चित्रित किये गये हैं जिनके पास जाकर ऋषियो ने

पौराणिक विषयों की जिज्ञासा की और जिन्होने उनके प्रश्नों का समाधान सन्तोषजनक रूप से दिया। इस विषय मे ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दो प्रकार के सूतों का कार्य तथा क्षेत्र का मिश्रण हो गया है। 'सूत' वास्तव मे प्राचीन भारत मे एक प्रतिलोमज जाति भी थी। मनुस्मृति (१०'१७) के आधार पर 'सूत' क्षत्रिय पिता से ब्राह्मणी मे प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति था (क्षत्रियात् सूत एव तु)। यह प्रतिलोम जाति का निर्देश गौतम धर्मसूत्र मे मिलता है जो पर्याप्त प्राचीन धर्मसूत्र माना जाता है। इससे भिन्न 'सूत' शब्द का प्रयोग रथ हाँकने वाले के लिए भी होता है। इसी सूत के इतर कार्यों मे पुराण का प्रवचन भी मुख्य व्यापार था। 'सूत' का इतिहास-पुराण के प्रवचन से सम्बन्ध की युक्तिमत्ता स्वतः सिद्ध है। इतिहास-पुराण के श्रोतागण भारतीय समाज के निम्न स्तर के प्राणी होते थे और उसके वक्ता का भी उसी सामाजिक स्तर से सम्बद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सूत को वायुपुराण ने राजाओ के वंशो का ज्ञाता बतलाया है (१।३२) फलतः सूत के द्वारा प्रवर्तित पुराण मे वंश तथा वंशानुचरित का होना स्वतः अनुमेय है। इन्ही विषयो का वर्णन सूत अपने श्रोताओं के आगे किया करता था जो शतपथ ब्राह्मण के प्रामाण्य पर निम्न श्रेणी के ही जीव थे। उस आरम्भिक युग मे वेदज्ञ ब्राह्मणों का सम्बन्ध पुराण के वाचन तथा श्रवण से कथमपि सिद्ध नही होता।

व्यासदेव के शिष्य लोमहर्षण या रोमहर्षण निःसन्देह ब्राह्मण थे। उनके इस नामकरण कारण यह था, कि अपने पौराणिक प्रवचनों के द्वारा वे श्रोताओ को आनन्दित किया करते थे जिससे उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। इस नाम की एक दूसरी भी व्याख्या है—व्यासजी के पौराणिक प्रवचनों को श्रवण कर इनके लोम हर्षित हो गये थे। व्युत्पत्ति मे मतभेद भले ही हो, परन्तु लोमहर्षण का ब्राह्मण होना मतभेद से पृथक् सत्य है। नैमिषारण्य मे एकत्र हुए अट्ठासी हजार ऋषियो की जिज्ञासा की पूर्ति करने वाले पुराणवाचक उच्चकुल के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण थे। पुराण के प्रवचन करने के हेतु ही वे लक्षणया 'सूत' कहलाते थे। परन्तु 'सूत' नाम से अभिहित होने से उनके आभिजात्य पर आघात पहुँचता था। इसलिए उनकी उत्पत्ति की विचित्र कथा पुराणो मे गढी गयी प्रतीत होती है। 'सूत' का पद ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से ऊपर ही माना जाता था। वे एक दिव्य लोक के जीव माने जाते थे। यह घटना कौटिल्य से पहिले ही सिद्ध तथा प्रमाणभूत मानी जा चुकी थी। अर्थशास्त्र मे संकर जातियो के विषय मे कौटिल्य ने जो लिखा है उससे यह तथ्य निकाला जा सकता है। उनका कथन इस प्रकार है—

वैश्यान्मागधवैदेहकौ (क्षत्रियाब्राह्मण्योः) क्षत्रियात् (ब्राह्मण्यां) सूतः। पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च। ब्राह्मणात् क्षत्राद् विशेषः।

(३।७।२९–३१)

पुराणो का कथन है कि वेन के पुत्र महाराज पृथु के यज्ञ मे वे अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। अतः अग्निकुण्ड-सूत होने के कारण वे संक्षेप मे 'सूत' नाम से अभिहित किये गये थे। वायुपुराण मे इस उत्पत्ति का वडा प्रामाणिक वर्णन है[१]। सूत लोमहर्षण के पुत्र भी पुराणेतिहास के महान् व्याख्याता थे। उनका नाम था—सौति उग्रश्रवा और इन्होने ही महाराज जनमेजय को हरिवंश (जो महाभारत का परिशिष्ट है) सुनाया था। 'सौति' शब्द की व्याकरणलभ्य व्युत्पत्ति है—सूतस्यापत्यं सौतिः द्रौणिवत्। जिस प्रकार द्रोण के पुत्र 'द्रौणि' कहलाते हैं, उसी प्रकार सूत के पुत्र हुए सौति। ध्यान देने की वात है कि यह अपत्य प्रत्यय का योग ही सूचित करता है कि 'सूत' किसी व्यक्ति का नाम है, जाति का नहीं। ब्राह्मण जाति मे उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' ही कहलाता है, 'ब्राह्मणि' नहीं।[२]

कौटिल्य के पूर्वोक्त कथन का यह आशय है कि वैश्य से क्षत्रिया मे उत्पन्न प्रतिलोमज वर्णसङ्कर 'मागध' कहलाता है तथा ब्राह्मणी मे उत्पन्न 'वैदेहक' कहलाता है। क्षत्रिय का ब्राह्मणी मे उद्भूत प्रतिलोमज 'सूत' कहलाता है। पौराणिक सूत तथा मागध इनसे भिन्न होते हैं। सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा मागध क्षत्रिय से श्रेष्ठ होता है। स्पष्टतः कौटिल्य की सम्मति मे सूत ब्राह्मण से श्रेष्ठ है।[४] वह सूत जाति से सम्बन्ध नहीं रखता। यही कारण था कि सूत के मार डालने से वलरामजी को ब्रह्महत्या लगी जिसके निवारण के लिए उन्होने भारत के समग्र तीर्थों की यात्रा सम्पन्न की थी।

कहीं-कहीं सूतजी 'प्रतिलोमज' कहे गये। यथा भागवत १०।७८।२४ पद्य में तथा बृहन्नारदपुराण में सूतजीने स्वयं अपने विषय मे लिखा है—विलोम-

---

१. वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः।
सुत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम्॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत॥ —वायु० १।३३।३४

२. सूतः 'अग्निकुण्डसमुद्भूतः सूतो निर्मलमानस' इति पौराणिक प्रसिद्धेः।

३. अग्निजो लोमहर्षणः। तस्य पुत्रः सौतिः उग्रश्रवाः, न तु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इति स्मृत्युक्तः। तद्धितानर्थक्यापत्तेः। हरिवंश १।४ की टीका।

४. भागवत (१०।७८।२९-३३)।

जोऽपि धन्योऽस्मि यन्मा पृच्छथ सत्तमाः (२१५)। इन वाक्यों का एक रहस्य है। पृथु के यज्ञ में बृहस्पति द्वारा विहित आहुति इन्द्र की आहुति से अभिभूत हो गयी थी। तब लोमहर्षण का जन्म हुआ। बृहस्पति यज्ञीय परिभाषा में ब्राह्मण ठहरे तथा इन्द्र क्षात्रिय ठहरे। इसी कारण उन्हें 'प्रतिलोमज' कहा गया है। वे 'योनिज' तो थे ही नहीं, पर उपचार से इस नाम से अभिहित किये गये हैं।

तथ्य यह है कि लोमहर्षण को व्यासजीने इतिहास-पुराण का अध्ययन कराया था और इनके प्रचार का कार्य उन्हीं को सुपुर्द किया था। वे ज्ञानी महाविद्वान् ब्राह्मण थे। पौराणिक ब्राह्मण ही होता है। इस विषय में प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट है। अग्निपुराण का कथन है—

पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः।
वक्ता वेदादिशास्त्राणा त्रिकालानलधर्मवित् ॥

जब 'सूत'जी उच्च कोटि के विद्वान् ब्राह्मण ठहरते हैं, तब अब्राह्मणों के द्वारा पुराणों का प्रचार क्षत्रिय-परम्परा की ब्राह्मण-परम्परा से भिन्नता, पुराणों का वेद से विरोध—आदि बातें बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

पुराण संहिता का निर्माण—

पुराण की उत्पत्ति के विषय में पुराणों में प्रायः एक समान ही मत पाये जाते हैं। ब्रह्मा के मुख से उसके उदय के विषय में तो किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। विभिन्नता का कारण है यह निर्धारण कि यह उत्पत्ति वेद की उत्पत्ति से प्राक्कालीन है या पश्चात्कालीन। मत्स्यपुराण (अ० ५३, श्लोक ३) के अनुसार सब शास्त्रों में 'पुराण' की ही रचना ब्रह्मदेव ने सबसे पहले की और इसके बाद उनके मुख से सब वेद विनिर्गत हुए—

पुराणं सर्वशास्त्राणा प्रथमं ब्रह्मणा कृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

वेद से प्राक्कालीन निर्माण का यह सिद्धान्त मत्स्य की अपनी विशिष्ट कल्पना है। श्रीमद्भागवत पुराण की उत्पत्ति वेद से पश्चात्कालीन मानता है, परन्तु एक अन्तर के साथ। ऋग्वेदादि का उदय तो ब्रह्मा के पूर्व मुख से आरम्भ कर क्रमशः हुआ, परन्तु पुराण की उत्पत्ति चारों मुखों से एक काल में ही सम्पन्न हुई। भागवत का कथन पुराण का वेद से आधिक्य सिद्ध करता है, परन्तु उत्पत्ति को पश्चात्कालीन ही मानता है—

ऋक्यजु.सामार्थवाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शास्त्रमिज्या स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात् ॥ ३७ ॥

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३९ ॥

—भाग० ३।१२

पुराण का यह उदय 'विद्या' के रूप मे समझना चाहिए। यह अव्यवस्थित रूप से था और इसका प्रवचन किसी ग्रन्थ से नही किया जाता था, अपि तु मौखिकरूप से ही। इस तथ्य को हम ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं।

पुराण के विकाश मे एक नवीन युग आरम्भ होता है जब व्यासजी ने 'पुराण-संहिता' का प्रणयन कर पुराण को सुव्यवस्थितरूप मे प्रतिष्ठित किया। 'पुराण-संहिता' के रूप के विषय मे आगे कहा गया है। यहाँ इतनी बात जाननी चाहिए कि पुराणविषयक अव्यवस्था का अवसान 'पुराणसंहिता' के निर्माण से निश्चितरूप से हो गया। मौलिकरूप से विचरणशील शास्त्र अब लोगो की जिह्वा से नीचे उतरकर वर्णमय विग्रह मे अपने को पाकर एकसाथ उल्लसित तथा प्रफुल्ल हो उठा। इसी सुव्यवस्थित काल का परिचय दिया जाता है।

पुराण-संहिता का प्रणयन व्यास के प्रयास का फल है। पुराणो का इस विषय मे सामान्य मत है कि व्यासजी ने ही पुराण संहिता का स्वयं प्रणयन कर लोमहर्षण सूत को उसे पढ़ाया और उसके प्रचार का साधन उन्ही को बनाया। यह कार्य उसी समय हुआ जब उन्होने एक वेद का यज्ञ कर्म के निष्पादन के निमित्त चार संहिताओ मे विभाजन किया और चार विशिष्ट शिष्यो को इनका अध्यापन कराकर इनके प्रचार का कार्य निर्दिष्ट किया। लोमहर्षण ने भी एक अपनी पुराण-संहिता बनाई जो व्यास की पुराण-संहिता पर आधारित थी और इस संहिता को छः शिष्यो को पढ़ाया। इन शिष्यो के नाम के वायुपुराण वाले (अ० ६१।५५।५६) निर्देश को सबसे प्राचीन मानना चाहिए। इसका कारण इन नामो की वैदिक अभिधानो के साथ नितान्त साम्य है। ऋषियो के व्यक्तिगत नाम के साथ गोत्रज नाम का उल्लेख वैदिक परम्परा की विशिष्टता है। वह परम्परा वायुपुराण के उल्लेख मे पूर्णरूपेण निर्वाह पा रही है। वायुपुराण मे इन शिष्यों के नाम दो प्रकार से हैं—एक तो है वैयक्तिक नाम और दूसरा है गोत्रज नाम। लोमहर्षण के इन छः शिष्यो के नाम ये हैं—

(१) सुमति आत्रेय;
(२) अकृतव्रण काश्यप;
(३) अग्निवर्चा भारद्वाज;
(४) मित्रायु वाशिष्ठ;
(५) सोमदत्ति सावर्णि;
(६) सुशर्मा शांशपायन।

ये नाम प्राचीन पद्धति से वायु मे (६१।५५-५६) व्यवस्थितरूप से दिये गये है। विष्णु (३।६।१८-१९) मे भी नाम तो ये ही हैं, परन्तु उतने सुव्यवस्थित नही हैं जितने वायु० मे। श्रीमद्भागवत (१२।७।५) मे इन नामो से कुछ भिन्नता ही नही है, अपितु गडबड़ी भी है[१]—

वायुपुराण के श्लोक नितान्त महत्त्वशाली होने से यहाँ उद्धृत किये जाते है :—

षट्शः कृत्वा मयाप्युक्तं पुराणमृषिसत्तमाः।
आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः।
भारद्वाजोऽग्निवर्चाश्च वासिष्ठो मित्रयुश्च यः ॥ ५५ ॥
सावर्णिः सौमदत्तिश्च सुशर्मा शाशपायनः।
एते शिष्या मम ब्रह्मन् पुराणेषु दृढव्रताः ॥ ५६ ॥

—वायु, अ० ६१

इन षट्शिष्यो मे से तीन ने अपनी नयी पुराण-संहिता बनाई जिनके नाम है—काश्यप, सावर्णि तथा शासपायन। इन तीन शिष्यो की संहिता अपने गुरु

---

१. भागवत का श्लोक यह है—

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः।
वैशपायन-हारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ॥

(१२।७।५)

यहाँ 'कश्यप' के स्थान पर काश्यप तथा वैशम्पायन के स्थान पर 'शिशपायन' पाठ होना चाहिए। त्रय्यारुणि तथा हारीत—ये दो नये नाम है, परन्तु सबसे बडी गड़बड़ी यह है कि 'काश्यप' [illegible] [illegible]ण' एक ही व्यक्ति का नाम है—दो व्यक्तियो का यहाँ संकेत नही। ऐसी द[illegible] मे 'षड् पौराणिका इमे' की सगति क्योकर बैठ सकेगी ? पाँच ही व्यक्ति हुए, छः नही। मेरी दृष्टि मे मूल प्राचीन परम्परा से भागवत अवगत नही है और यह तथ्य भी इसे वायु तथा विष्णु दोनो से पश्चात्कालीन सिद्ध करने मे सहायक हेतु माना जा सकता है। इसी अध्याय के ७वें श्लोक मे भी यही गड़बड़ी फिर दुहरायी गयी है। इसमे पाठो की अशुद्धि है।

सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुः शासपायनः।
अकृतव्रण सावर्णी षट्शिष्यास्तस्य चाभवन् ॥

—विष्णु ३।६।१७

इन नामों के व्यवस्था का अभाव है। चार नाम तो वैयक्तिक है, परन्तु दो नाम (शांसपायन तथा सावर्णि) गोत्रज हैं।

लोमहर्षण निर्मित संहिता से मिलकर चार संहिताएँ निष्पन्न हुईं। इन चारो में चार-चार पाद—प्रक्रिया पाद, उपोद्घात पाद, अनुषंग पाद तथा उपसंहार पाद थे। सब एक ही अर्थ को कहने वाली थी, केवल पाठान्तर मे ही पार्थक्य था और इस प्रकार इनकी समता वैदिक शाखाओं के साथ की गयी है। अर्थात् जिस प्रकार एक ही वेद संहिता भिन्न-भिन्न शाखाओ मे वही रहती है केवल जहाँ-तहाँ मन्त्रों के पाठ में वैभिन्य रहता है, उसी प्रकार ये पुराण संहिताएँ भी मूलतः एकार्थवाचक होने पर भी पाठान्तरो से भिन्न थी, अन्यथा उनमे मौलिक कोई पार्थक्य नही था। शांशपायनिका को छोड़कर अन्य तीन पुराण संहित एँ चार सहस्र श्लोको के परिमाण मे थी। पुराण-संहिता के विकास क्रम के बोधक वायुपुराण के ये श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते है :—

त्रिभिस्तिस्रः कृतास्तिस्रः संहिताः पुनरेव हि।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः
सामिका (मामिका) च च तुर्थी स्यात् सा चैषा पूर्वसंहिता।
सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा।
चतुःसाहस्रिकाः सर्वाः शांशपायनिकामृते।
लोमहर्षणिकाः मूलास्ततः काश्यपिका परा।
सावर्णिका तृतीया ता यजुर्वाक्यार्थं प(म)ण्डिताः।
शांशपायनिका चान्या नोदनार्थ—विभूपिताः।

—वायु०, अ० ६१,५७-६१

इस प्रसंग का तात्पर्य है कि लोमहर्षण की पुराण सहिता मूल-भूता है जिसके आधार पर काश्यप, सावर्णि तथा शांशपायन द्वारा निर्मित पुराण-संहिताओं का निर्माण उन्हीं के तीनो शिष्यो ने किया। अन्तिम पद्य मे संहिताओ के विषय विभाजन का जो वर्णन है वह स्पष्ट नही है। ऐसी दशा मे तीनो संहिताओं के विषय पार्थक्य का निर्देश जो 'पुराणोत्पत्तिप्रसंग[1]'। (पृ० १७ तथा पृ० ३१) मे किया गया है वह अभी मननीय तथा गवेषणीय है। अन्तिम श्लोक का ब्रह्माण्डपुराण का पाठान्तर 'यजुर्वाक्यार्थमण्डिता' के स्थान पर 'ऋजुवाक्यार्थ-मण्डिताः' है, जिससे दोनो प्रकार की संहिताओ का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। 'ऋजुवाक्य' का अर्थ है सीधा वाक्य अर्थात् इन तीन संहिताओं में कथानक का

---

१. द्रष्टव्य 'पुराणोत्पत्ति प्रसंग'—रचयिता श्री मधुसूदन ओझा, जयपुर से प्रकाशित, वि० सं० २००८।

वर्णन सीधे वाक्यो मे लगातार किया गया था; शांशपायन की संहिता मे प्रश्नोत्तररूप मे कथानक का वर्णन था। 'नोदनार्थं' का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—वेदव्यास के इस शास्त्र के आदि-प्रवर्तक शिष्य थे सूत रोमहर्षण जिन्हे महामति व्यास ने स्वनिर्मित पुराण-संहिता का अध्ययन कराया। रोम-हर्षण के ६ शिष्य हुए—(१) सुमति, (२) अग्निवर्चा, (३) मित्रायु, (४) शांश-पायन, (५) अकृतव्रण तथा (६) सावर्णि। इनमे से अन्तिम तीन शिष्यो ने अपनी-अपनी सहिताएँ वनायी जो रोमहर्षण की संहिता से मिलकर इस प्रकार चार पुराण संहिताये निष्पन्न हुई। इस घटना का उल्लेख विष्णु० ३।६।१७-१९ तथा अग्निपुराण अ० २७१।११-१२ मे किया गया है। विष्णुपुराण मे (३।६। १८) निर्दिष्ट सहिताकर्ता 'काश्यप' शब्द से अकृतव्रण का ही संकेत समझना चाहिए। श्रीधरस्वामी ने इस शब्द की व्याख्या मे दोनों की एकता का स्पष्ट निर्देश किया है (अकृतव्रण एव काश्यपः। काश्यपोऽकृतव्रण इति वायुनोक्तेः—श्रीधरी) विष्णुपुराण के इसी वचन के आधार पर अग्निपुराण (अ० २७१। ११-१२) ने इन्ही तीनो शिष्यो को (शाशपायन, अकृतव्रण[1] तथा सावर्णि को) पुराणसंहिताओ का प्रणेता स्पष्ट ही लिखा है (शांशपायनादयश्चक्रुः पुराणानां तु संहिताः। अग्नि २७१।१२)। ऐसे स्पष्ट उल्लेख के रहते भी पुराण-संहिता-कारो के नाम का अनुल्लेख अग्निपुराण मे वतलाना अयुक्त है। काश्यपीय पुराण-संहिता का निर्देश चान्द्रव्याकरण मे तथा सरस्वतीकण्ठाभरण की हृदयहारिणी वृत्ति मे भी मिलता है। फलतः भोजराज (१२शती) के समय तक यह पुराण-सहिता उपलब्ध थी। विष्णु० इन्ही चारों पुराण-सहिताओ का सार संकलन वतलाया गया है।

पुराणसंहिता के रचयिता महर्षि व्यास की पारवारिक परम्परा इस प्रख्यात पद्य मे निर्दिष्ट है—

> व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
> पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥

व्यास जी वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र, पराशर के पुत्र तथा शुकदेव के

---

१. अग्निपुराण मे यह नाम 'कृत-व्रत' पठित है जो विष्णु० तथा वायु० के स्वारस्य से अशुद्ध ही है। शुद्ध नाम-अकृतव्रण ही है जो कश्यपगोत्री होने से 'काश्यप' नाम से भी उल्लिखित किये जाते थे।

पिता थे। वसिष्ठजी ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। फलतः व्यासजी की पारिवारिक परम्परा इस प्रकार है—
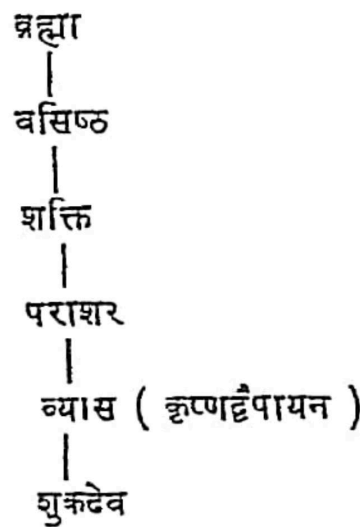
यह तो वर्तमानयुगीय व्यास का निर्देश है, परन्तु इनसे पूर्व २७ व्यास हो चुके हैं जिनका निर्देश विष्णुपुराण (३।३।७–१८) तथा देवीभागवत (१।३।२४–३५) में स्पष्टतया किया गया है। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि **व्यास किसी एक व्यक्ति का अभिधान न होकर एक पदाधिकारी का नाम है।** यह पदाधिकारी प्रत्येक द्वापर युग में उत्पन्न होता है[1] और लोक-मंगल के निमित्त एक वेद का चार वेदों में तथा एक पुराण का १८ पुराणों में व्यास करता है—विभाजन करता है। वेदों के व्यसन के हेतु ही वह 'वेदव्यास' के नाम से अभिहित होता है और इसी का संक्षिप्त रूप है—व्यास। वेदभेद के कारण के विषय में विष्णुपुराण का कथन है :—

> वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च
> हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः।
>
> —विष्णु० ३।३।६

द्वापर के आरम्भ में मनुष्यों का तेज, वीर्य तथा बल कम हो जाता है इस बात का विचार कर सब प्राणियों के हितार्थ व्यासदेव (जो विष्णु के ही

---

१. द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥ —विष्णु० ३।३।५
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया॥ १९॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ।
पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे॥ २०॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ २१॥ —देवीभाग० १।३

अवतार माने जाते है) वेदो का व्यास करते है। व्यासों की परम्परा इस प्रकार है[१]—

(१) ब्रह्मा, (२) प्रजापति, (३) शुक्राचार्य, (४) बृहस्पति, (५) सूर्य, (६) यम, (७) इन्द्र, (८) वसिष्ठ, (९) सारस्वत, (१०) त्रिधामा, (११) त्रिशिख, (१२) भरद्वाज, (१३) अन्तरिक्ष, (१४) वर्णी, (१५) त्रय्यारुण, (१६) धनञ्जय, (१७) ऋतुञ्जय, (१८) जय, (१९) भरद्वाज, (२०) गौतम, (२१) हर्यात्मा, (२२) वाजश्रवा, (२३) सोमशुष्मायण तृणबिन्दु, (२४) भार्गव ऋक्ष (वाल्मीकि), (२५) शक्ति, (२६) पराशर, (२७) जातुकर्ण तथा (२८) कृष्णद्वैपायन। श्रीकृष्णद्वैपायन तो पराशरात्मज ही माने जाते है—पराशर के पुत्र, तब दोनों के बीच मे 'जातुकर्ण' का अस्तित्व एक अलग समस्या खड़ा करता है जो अपना समाधान चाहती है।

वेदव्यास का चरित लोकविश्रुत है, उसे अधिक लिखने की यहाँ आवश्यकता नही। वे निषादराज की पुत्री सत्यवती के गर्भ से पराशर मुनि के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म हुआ था यमुना के एक द्वीप मे और इसीलिए वे 'द्वैपायन' के नाम से प्रख्यात थे। उनका शरीर कृष्णवर्ण का था और इसी से वे कृष्ण या कृष्ण मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनो को मिलाने से उनका पूरा नाम कृष्ण-द्वैपायन था। वेदो के विभाजन करने के कारण वे 'वेदव्यास' पूरे नाम से और अधिकतर 'व्यास' जैसे छोटे नाम से पुकारे जाते थे। उनके अगाध पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रतिभा का वर्णन करना सरल कार्य नही है। कौरव-पाण्डवो के इतिहास से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध इसलिए है कि वे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवो को विपत्ति के समय सर्वदा धैर्य बँधाते रहे। कौरवो को युद्ध से विरत करने के लिए उन्होने कुछ उठा नही रखा, परन्तु दुर्बुद्धि कौरवो ने उनके उपदेशों को कान नही किया। उन्होने तीन वर्षो तक सतत परिश्रम कर महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया:—

> त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णाद्वैपायनो मुनिः।
> महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
>
> —(आदि० ६६।३२)

१. ये नाम विष्णुपुराण के आधार पर दिये गये है। देवी भागवत मे भी प्राय. ये ही नाम मिलते हैं, परन्तु कही-कही नामो मे स्वल्प अन्तर भी है। यथा १४ वर्णी के स्थान पर धर्म का, १७ ऋतुञ्जय के स्थान पर मेधातिथि का तथा १८ जय के स्थान पर व्रती का नाम उल्लिखित मिलता है। अन्य पुराणो मे भी पूर्व व्यासो के नाम मिलते है। यत्रतत्र पार्थक्य होने पर भी परम्परा की अभिन्नता मे सन्देह नही है।

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन साल के ही भीतर रचना करने का कार्य व्यास की अलौकिक कविप्रतिभा और अदम्य उत्साह का सूचक है।

वेदव्यास के साथ उनके तत्त्वज्ञानी पुत्र शुकदेवजी का भी नाम पुराण के प्रचार-प्रसार के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक है। इनके जन्म की कथा भिन्न रूपों में पायी जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व (२३१ अ०–२५५ अ०) मे इनका आख्यान विस्तार से वर्णित है। अरणिकाष्ठ से व्यासजी के वीर्य द्वारा इनकी उत्पति की चर्चा महाभारत मे मिलती है[1] (शान्ति ३२४। ९–१०) और इसी कारण ये आरणेय, अरणीसुत के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिथिला के राजा जनक के पास व्यासजी ने इन्हे भेजा, जहाँ इन्होने राजा जनक से ज्ञान-विज्ञानविषयक प्रश्न पूछे। उचित समाधान पाकर ये पिता के पास लौट आये। श्रीमद्भागवत को राजा परीक्षित को सुनाकर उन्हे मोक्ष प्राप्त कराने से आपकी आध्यात्मिक योग्यता प्रमाणित होती है। भागवत मे ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप मे चित्रित किये गये है, परन्तु देवीभागवत (१।१४) के अनुसार व्यासजी ने इन्हे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के लिए महान् उपदेश दिया। तब पिता की आज्ञा का पालन कर इन्होने गृहस्थाश्रम धारण किया। (कूर्मपुराण)। श्रीमद्भागवत के प्रवर्तक शुक मुनि ही बतलाये गये है :—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद् व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

—भाग० १२।१२।६८

यह श्लोक शुकदेवजी के जीवन पर एक सुन्दर आलोचना है। श्री शुकदेव-जी महाराज अपने आत्मानन्द मे ही निमग्न रहते थे; इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर-श्यामसुन्दर की मधुमयी, मङ्गलमयी मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उन्होंने जगत् के प्राणियों पर दया करके भगवत्-तत्त्व को प्रकाशित करनेवाले इस महापुराण—भागवत् का विस्तार किया। उन्ही सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी के चरणों मे मैं प्रणाम करता हूँ।

तथ्य यह है कि पराशर, व्यास और शुकदेव तीन पीढ़ियो में होनेवाले इन मुनियो ने पुराण के प्रणयन तथा प्रसार मे अपनी शक्तियाँ लगा दीं।

---

१. द्रष्टव्य देवीभागवत १।१४।६-८

विष्णुपुराण के प्रवचन का श्रेय पराशरजी को है[१]। १८ पुराणों के प्रणयन का गौरव व्यासदेव को है और पुराणमूर्धन्य श्रीमद्भागवत के प्रथम प्रवचन का तथा तद्द्वारा इसके सार्वत्रिक प्रसार की उदात्त महिमा श्रीशुकमुनि को प्राप्त है। अतः पुराण के ये त्रिमुनि प्रत्येक पुराण पाठक के लिए वन्दनीय और उपास्य हैं।

पुराण-संहिता

'पुराण-संहिता के कौन-कौन उपकरण थे जिनका आश्रय ग्रहण कर वेदव्यास ने इस आदिम संहिता का प्रणयन किया था? इस प्रश्न के उत्तर में पुराणों में यह महत्त्वपूर्ण विवरण पाया जाता है :—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥

—विष्णु० ३।६।१५

यह श्लोक ब्रह्माण्ड में 'कल्पशुद्धिभिः' के स्थान पर 'कल्पजोक्तिभिः' पाठ के साथ उपलब्ध होता है (२।३।३१) तथा वायु (६०।२१) में 'कुलकर्मभिः' पाठ के साथ उपलब्ध होता है।

विष्णुपुराण के कथन का तात्पर्य है कि पुराण के अर्थ के ज्ञाता वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि (अथवा कल्पजोक्ति) से (अर्थात् इन उपकरणों का आधार ग्रहण कर) 'पुराण-संहिता' की रचना की। इन चारों उपकरणों के रूप समझने की यहाँ आवश्यकता है :—

(१–२) आख्यान तथा उपाख्यान—इन शब्दों के अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि ये दोनों 'कथानक' के अर्थ को लक्षित करते हैं। परन्तु कैसे कथानक को? इसी के उत्तर में वैमत्य है। पूर्वोक्त श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामी ने एक (प्राचीन ?) श्लोक उद्धृत किया है[२] जो

---

१. इति पूर्वं वसिष्ठेन पुलस्त्येन च धीमता ।
यदुक्तं तत् स्मृतिं याति त्वत्प्रश्नादखिलं मम ।
सोऽहं वदाम्यशेषं ते मैत्रेय परिपृच्छते ।
पुराणसंहितां सम्यक् तां निबोध यथातथम् ॥
—पराशर का वचन मैत्रेय के प्रति; विष्णु० १।१।२९-३०

२. श्रीधरी में उद्धृत श्लोक इस प्रकार है :—
स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः ।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते ॥

दोनों के पार्थक्य का निर्देश करता है। **आख्यान** है स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन (अर्थात् ऐसे अर्थ का प्रकाशन जिसका साक्षात्कार वक्ता ने स्वयं किया है), इसके विपरीत **उपाख्यान** होता है श्रुत (सुने गये) अर्थ का कथन (अर्थात् वक्ता के द्वारा परम्परया सुने गये, अनुभूत नहीं, अर्थ का प्रकाशन 'उपाख्यान' शब्द के द्वारा किया जाता है)[१]।

इस विवेचन के अनुसार राम, नचिकेता, ययाति आदि के कथानक, जिनकी परम्परा श्रुत है, रामोपाख्यान, नाचिकेतोपाख्यान, ययात्युपाख्यान के नाम से क्रमश: अभिहित किये जाते हैं। परन्तु दोनो के पार्थक्य का अन्य कारण भी कल्पित किया गया है। अन्य विद्वानों की सम्मति में यह भेद दृष्ट-श्रुत का न होकर महत्-स्वल्प आकार का ही है। आकार में जो महान् या बृहत् हो, वह तो है आख्यान और अपेक्षाकृत स्वल्प आकार का जो कथानक होता है, वह उपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत में रामायण है, राम का आख्यान है तथा उसके एकदेश में वर्तमान रहनेवाला सुग्रीव का कथानक 'उपाख्यान' के नाम से प्रसिद्ध है। तथ्य यह है कि प्राचीन ग्रन्थों मे 'आख्यान' का ही बहुल प्रयोग 'इतिहास' (महाभारत) तथा 'पुराण' के लिए किया गया है। इसकी पुष्टि में कतिपय उदाहरण दिये जाते है। महाभारत तो साधारणतया 'इतिहास' कहा जाता है। वह स्वयं अपने को 'इतिहास' 'इतिहासोत्तम' कहता है, परन्तु वहीं वह अपने के लिए 'आख्यान' नाम का भी प्रयोग करता है[१] :—

'इतिहास' का प्रयोग—

१—जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा (उद्योग० १३६।१८)
जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता (स्वर्गा० ५।५१)
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः (आदि० २।३८५)।

'आख्यान' का प्रयोग—

२—अनाश्रित्येदमाख्यानं कथाभुवि न विद्यते (आदि० २।३७)
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते (आदि० २।३८९)

---

१. आख्यान शब्द का प्रयोग कात्यायन ने अपने वार्तिक 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' में किया है जिसका उदाहरण भाष्यकार ने 'यावक्रीतिकः' तथा 'यायातिकः' दिया है। यवक्रीत का आख्यान वनपर्व (अ० १३६-१४० अ०) में दिया गया है तथा ययाति का आख्यान अपेक्षाकृत अधिक प्रख्यात है और अनेक पुराणों तथा महाभारत में वर्णित है।

(३) गाथा—प्राचीन साहित्य मे—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराण में—अनेक प्राचीन पद्य उपलब्ध होते हैं जिनके कर्ता के नाम का पता नही रहता। वह प्रायः किसी मान्य महीपति की स्तुति मे लिखी गई रहती है और उसके किसी असामान्य शौर्य अथवा दान का माहात्म्य प्रतिपादित करती है। ऋग्वेद संहिता मे ऐसी गाथाएँ 'नाराशसी' के नाम से प्रख्यात है। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका (३९ अध्याय) मे ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसङ्ग मे प्राचीन चक्रवर्ती नरेशों के राज्याभिषेक का तथा उनके द्वारा सम्पादित यागों का विशिष्ट विवरण दिया गया है। वहाँ अनेक प्राचीन गाथाएँ इस विषय की उद्धृत की गयी हैं और इनमे से अनेक गाथाएँ पुराणो के राजवर्णन मे, विशेषतः श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध मे, उसी रूप मे उद्धृत है। गृह्यसूत्रो मे भी विवाह के अवसर पर गाथाओ के गायन का निर्देश है। तथ्य यह है कि ये गाथाएँ लोक मे तत्तत् राजाओ के विषय मे प्रख्यात थी; लोगो की जिह्वा पर वे वर्तमान थी। उनके रचयिता का पता किसी को नही है। इन्ही अज्ञातकर्तृक लोकप्रख्यात श्लोको की सज्ञा है—गाथा और इन्ही का आश्रयण वेदव्यास ने पुराण-संहिता के निर्माण के निमित्त किया। ये गाथाएँ 'श्लोक' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं—**तदप्येते श्लोका अभिगीता** (ऐत० ब्रा० अ० ३९)।

गाथाओं के उदाहरण—

'दुष्यन्त' के पुत्र (दौष्यन्ति) भरत के विषय मे—

हिरण्येन परिवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददात् शतं बद्वानि सप्त च ॥
भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
यस्मिन् सहस्रं ब्राह्मणा बद्वशो गा विभेजिरे ॥

पारस्करगृह्यसूत्र मे विवाह के प्रकरण मे वर यह गाथा गाता है—

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
मां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥

पितृ-गाथा—

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के ३९वे अध्याय मे ५ गाथाओ मे से दो गाथाएँ ऊपर दी गयी है। ये पाँचो ही गाथाएँ कुछ शब्द-भेद से भागवत मे भी उद्धृत है।
—श्रीमद्भागवत ९।२०।२६-२९।

यजेत वाऽश्वमेघेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

—वनपर्व ८४।९७

यवक्रीतोपाख्यान की गाथा—

ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ।
न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथञ्चन ।
महर्षिर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥

—वनपर्व १३५।५५

ययाति ने अपने जीवन का अनुभव इस प्रख्यात गाथा के रूप में अभिव्यक्त किया था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते ॥

—वनपर्व

पुराणों मे भी ऐसी अनेक गाथाएँ उपलब्ध हैं जिनमें किसी महान् व्यक्ति का सार्वभौम जीवनदर्शन संक्षेप में ही एक-दो श्लोको में अभिव्यक्त किया गया है, परन्तु अधिकांश मे ये गाथाएँ भारतीय साहित्य के सुदूर अतीत काल से सम्बद्ध हैं तथा ऐतिहासिक व्यक्ति के दान, महत्त्व, अभिषेक आदि घटनाओ का वर्णन करती हैं। कभी-कभी तो एक ही लघुकाय गाथा के भीतर एक बृहत् इतिहास या आख्यान छिपा रहता है। सचमुच ये प्रवहमान परम्परा की महत्त्वपूर्ण गाथाएँ इतिहास तथा पुराण दोनो के निर्माण में उपकरण का काम करती हैं।

(४) कल्पशुद्धि—

इस शब्द के तात्पर्य निर्णय में पर्याप्त मतभेद है। इसके स्थान पर 'कल्पजोक्ति' का अर्थ है भिन्न-भिन्न कल्पो (समयविशेष) मे उत्पन्न होनेवाले विषयो या पदार्थो का कथन या विवरण। श्रीघर स्वामी ने 'कल्पशुद्धि' का अर्थ श्राद्ध-कल्प किया है। इधर पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा तथा उनके अनुयायी म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी[1] इस शब्द के भीतर धर्मशास्त्र का समग्र विषय अभीष्ट है—ऐसा मानते हैं। 'कल्प' का तात्पर्य वे एतन्नामक वेदाङ्ग से मानते हैं जिसके भीतर श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र, सदाचार तथा संस्कार सबका अन्तर्भाव

---

१. द्रष्टव्य पुराणोत्पत्ति प्रसंग पृ० ३१ तथा पुराण पत्रिका (अंग्रेजी) द्वितीय वर्ष पृष्ठ १०९–१११ (जुलाई १९६०; प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर, वाराणसी)

मानते है। 'शुद्धि' पद से वे छः प्रकार की शुद्धि (शोधन) मानते हैं—मल-शुद्धि, स्पर्शशुद्धि, अघशुद्धि, एनःशुद्धि तथा मनःशुद्धि। सम्भव है यह किसी धर्मशास्त्रीय विषय का संकेत करता हो, परन्तु पुराण इस शब्द के अर्थ के विषय मे मौन ही दीख पड़ते हैं। अतः पुराणकार के तात्पर्य का इदमित्थं रूप से प्रतिपादन करना प्रमाण के अभाव में अशक्य है।

मूल पुराण संहिता का स्वरूप कैसा था? इस समस्या का समाधान अनेक विद्वानो ने अपनी दृष्टि से किया है। एक-दो प्रकार का निदर्शन यहाँ कराया जायगा। दक्षिण भारत के एक विद्वान् पौराणिक पण्डित नरसिंह स्वामी ने मूल पुराण संहिता के पुनः प्रणयन की चेष्टा की है। इसके लिए वे ३० वर्ष-व्यापी अपने पौराणिक अध्ययन का सहारा लेते है। उनकी पद्धति इस प्रकार है। वे कतिपय पुराणो के तुलनात्मक अध्ययन करने से इस परिणाम पर पहुँचे कि उनमे अनेक श्लोक, कही-कही तो पूरा अध्याय का अध्याय ही पुनरुक्त है। है। वायु तथा ब्रह्माण्ड, मत्स्य तथा हरिवंश—इन पुराणो मे ऐसी श्लोकों की पुनरुक्ति आपस मे बहुत ही अधिक है। ऐसे सम श्लोको अथवा अध्यायो की गम्भीर छानबीन करने के अनन्तर उन्होने इस कल्पना के अनुसार चार पादो मे विभक्त पुराण-संहिता के अध्याय, श्लोक तथा विषय की पूरी सूची दी है[१]। इसके तैयार करने मे लेखक का अश्रान्त परिश्रम तथा गम्भीर अध्ययन पूर्णतया लक्षित होता है। यह पुराणो के अध्ययन तथा गवेषणा का विषय होना चाहिए। मेरी दृष्टि मे इस कल्पना का सबसे बड़ा दोष यही है कि ये ऐतिहासिक विषयो—पञ्च लक्षणो—को ही पुराण संहिता का अविभाज्य विषय मानते है। यह कल्पना तो आदरणीय नही हो सकती। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे उद्धृत भविष्य पुराण तथा अन्य पुराणो के वचनो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग मे धर्मशास्त्रीय विषयो का भी समावेश पुराण के भीतर अवश्य था। ऐसे स्पष्ट प्रमाण के रहते मूल पुराणो से इन विषयों को बहिष्कृत करना कथमपि न्याय्य नही प्रतीत होता। मल्लिनाथ ने रघुवंश के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव संपृक्तौ' की संजीवनी मे कहा है—'इति वायुपुराणसंहितावलेन पार्वती परमेश्वराय तत्त्वदर्शनात्। यहाँ वायुपुराण संहिता के नाम से उल्लिखित है। अतः वर्तमान वायुपुराण का मूलभूता पुराण संहिता के साथ सम्बन्ध की कल्पना जैसी लेखक ने की है असम्भव नही प्रतीत होती। इसीलिए अन्य गवेषको ने भी 'वायुपुराण' की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता स्वीकार की है। इस बात के मानने मे कोई विप्रतिपत्ति नही है, परन्तु पुराण संहिता से धर्म-

१. द्रष्टव्य जर्नल आफ श्री वेङ्कटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, भाग ६, सन् १९४५ (तिरुपति से प्रकाशित पृष्ठ ६३ से ७० तक)।

शास्त्र से सम्बद्ध विषयों को एकदम निकाल बाहर करना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता।

आख्यान तथा पुराण

पुराणसंहिता के निर्माण के लिए किस प्रकार व्यासदेव ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि इन चारो का आश्रयण किया था। इसकी विशिष्ट चर्चा ऊपर की गयी है। स्कन्दपुराण का एक वचन इस विषय मे प्राप्त है जिसके अनुसार पुराण में पञ्चाङ्गों (पञ्चलक्षणों) से अतिरिक्त यावत् विवेच्य विषय हैं वे 'आख्यान' के नाम से प्रसिद्ध हैं—

पञ्चाङ्गानि पुराणस्य चाख्यानमितरत् स्मृतम्।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुराण का क्षेत्र व्यापक था जिसके भीतर आख्यान समाविष्ट किया जाता था। फलतः अत्यन्त प्रचीन काल में अथवा पुराण की उत्पत्ति के समय हम यथार्थतः कह सकते हैं कि आख्यान एक छोटी वस्तु थी जिसका समावेश पुराण के भीतर किया जाता था।

मनुस्मृति के समय (द्वितीय शती ईसा पूर्व) में हम पुराण तथा आख्यान दोनो के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे संकेत पाते हैं। इस युग मे आख्यान पुराण के साथ अलग भी पढ़ा जाता था तथा व्याख्यात होता था। मनुस्मृति (३।२३२) में श्राद्ध के अवसर पठनीय ग्रन्थो की गणना में वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिलके नाम मिलते हैं जिन्हें उस अवसर पर सुनाना चाहिए—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च॥

इस श्लोक के भाष्य मे मेधातिथि ने 'आख्यान' के उदाहरण में सौपर्ण तथा मैत्रावरुण का नाम निर्दिष्ट किया है जो निश्चितरूप से वेदो में लब्धख्याति आख्यान थे।

इतिहास, पुराण तथा आख्यान की मनुस्मृति मे पृथक् स्थिति का हम अनुमान कर सकते है, परन्तु यह पार्थक्य मान्य नही था और ये तीनों साहित्य के विभिन्न ग्रन्थ एव ही अभिन्न ग्रन्थ के द्योतक भी प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं।

उद्धरण (क, ख तथा ग) मे एक ही कथानक आख्यान और इतिहास शब्दों से समानरूपेण अभिहित किया गया है। ये तीनों उद्धरण एक ही पुराण से—पद्मपुराण से—उद्धृत किये गये हैं।

उद्धरण (घ) मे वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण होने के साथ ही साथ इतिहास भी कहे गये है। तात्पर्य यह है कि महाभारत ही सामान्यरूप से प्रचलितरूप में 'इतिहास' नाम भले ही प्रख्यात हो, परन्तु पुराण भी इतिहास की आख्या से बहिर्भूत नही थे।

यह है पुराण तथा इतिहास के ऐक्य का दृष्टान्त।

उद्धरण (ङ) मे ब्रह्मपुराण तथा आख्यान की संज्ञा से मण्डित है। इससे स्पष्ट है कि पुराण संहिता के आदिम आरम्भिक युग की मान्यता अब पीछे बिल्कुल बदल गयी और ब्रह्मपुराण पुराण नाम से प्रख्यात होने के अतिरिक्त 'आख्यान' भी कहलाता था।

उद्धरण (च) मे महाभारत एक ही स्थल पर समानरूपेण पुराण, इतिहास तथा आख्यान तीनों आख्याओं से मण्डित है।

उद्धरण (छ) मे महाभारत में 'भारताख्यान' के नाम से प्रसिद्ध होने की बात कही गयी है।

उद्धरण (ज) मे इसी प्रकार पुराण 'पुराणाख्यान' के नाम से मण्डित है।

उद्धरण (झ) मे पुराण के पांचो अंग (पञ्चलक्षण) आख्यान के नाम से प्रख्यात बतलाये गये हैं।

परिशिष्ट

(क)

पुलस्त्य उवाच

एतदाख्यानकं पूर्वमगस्त्येन महर्षिणा।
रामाय कथितं राजंस्तेन वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥

भीष्म उवाच—

कस्मिन्वंशे समुत्पन्नो राजाऽसौ नृपसत्तमः।
यस्यागस्त्येन गदितश्चेतिहासः पुरातनः॥

—पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३२।९-१०

(ख)

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुराणं परमं पुण्यं सर्वपापहरं शुभम्॥
कुमारेण च लोकानां नमस्कृत्य पितामहम्।
प्रोक्तं चेदं समाख्यानं देवर्षे ब्रह्मसूनुना॥

—तत्रैव उत्तरखण्ड, २९।१-२

(ग)

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम्॥

—तत्रैव १९३।९०-९१

(घ)

इदं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम् ।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥

—वायु १०३ अ० ४६, ५१, ब्रह्माण्ड ४।४।४७, ५०

(ङ)

इदं यः श्रद्धया नित्यं पुराणं वेदसम्मितम् ।
यः पठेच्छृणुयान्मर्त्यः स याति भुवनं हरेः ॥ २७ ॥
त्रिःसन्ध्यं यः पठेद् विद्वाञ्छ्रद्धया सुसमाहितः ।
इदं वरिष्ठमाख्यानं स सर्वमीप्सितं लभेत् ॥ ३० ॥

—ब्रह्मपु० (आनन्दाश्रम) अ० २४५

(च)

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराण परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥
तस्याख्यानवरिष्टस्य विचित्रपदपर्वणः ॥ १८ पू० ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ॥ १९ पू० ॥
संहितां श्रोतुमिच्छामि पुण्या पापभयापहाम् ॥ २, उ० ॥

—महाभारत, आदिपर्व १।१७-२१

यो[1] विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिपदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

—तत्रैव २।३८२

(छ)

यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशोवीर्य महोक्षिताम् ।

—तत्रैव २।३३

(ज)

तमजं विश्वकर्माणं चित्पतिं लोकसाक्षिणम् ।
पुराणाख्यानजिज्ञासुर्व्रजामि शरणं प्रभुम् ॥

—वायु १।६

---

१. तुलना कीजिए—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिपदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

—वायु १।१।१८०

पुराणाख्यानकं विप्र नानाकल्पसमुद्भवम् ।
नानाकथासमायुक्तमद्भुतं वहुविस्तरम् ॥

—नारदीय, पूर्वार्ध ६२।५

(भ)

पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ।
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

—मत्स्य ५३।६४

इस परीक्षण से परिणाम निकाला जा सकता है कि किसी प्राचीन युग में पुराण का इतिहास से तथा आख्यान से पार्थक्य और वैशिष्ट्य अवश्य माना जाता था, परन्तु ज्यों-ज्यो पुराणो के स्वरूप मे अभिवृद्धि होती गयी, यह पार्थक्य अतीत की वस्तु वन गया। दोनो मे किसी प्रकार परिदृश्यमान अन्तर उपलब्ध नही रहा। दोनो की विभेदक रेखा क्षीण से क्षीणतर होती चली गयी। फल यह हुआ कि इतिहास और पुराण का लक्षण प्रायः एकाकार हो गया। यदि अमरसिंह की दृष्टि में 'इतिहासः पुरावृत्तम्' है (अमरकोश १।५।४), तो नीलकण्ठ की दृष्टि मे पुराण भी वही पुरावृत्त है (पुराणं पुरावृत्तम्, महाभारत १।५।१ की नीलकण्ठी)। आज दोनो एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं—प्राचीन काल की घटित घटना।
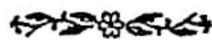
तृतीय परिच्छेद

अष्टादश पुराण

पुराणों के नाम तथा श्लोक-संख्या

पुराणों की संख्या प्राचीन काल से १८ मानी गयी है। इन अष्टादश पुराणो का नाम प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। देवीभागवत (१ स्कन्ध, ३ अ०, २१ श्लो०) ने आद्य अक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम निर्देश इस लघुकाय अनुष्टुप् मे निवद्ध कर दिया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापद् लिङ्ग–कू–स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक् ॥

(१) मकारादि दो पुराण—मत्स्य तथा मार्कण्डेय;[२] (२) भकारादि दो पुराण—भागवत[३] तथा भविष्य;[४] (३) ब्रत्रयम्—ब्रह्म,[५] ब्रह्म[६]—वैवर्त तथा ब्रह्माण्ड;[७] (४) वचतुष्टयम्—वामन,[८] विष्णु,[९] वायु,[१०] वाराह;[११] (५) अनापत् लिग कूस्क = अग्नि[१२] नारद,[१३] पद्म,[१४] लिंग,[१५] गरुड,[१६] कूर्म[१७] तथा स्कन्द[१८]।

विष्णुपुराण (३।६।२०–२४) तथा भागवत (१२।१३।३–८) आदि[१] मे इन पुराणो का निर्देश एक विशिष्ट क्रम के अनुसार है और यही क्रम तथा नाम अन्य पुराणों मे भी उपलब्ध होते हैं :—

ब्रह्म, [१]पद्म, [२]विष्णु, [३]शिव, [४]भागवत, [५]नारदीय [६]मार्कण्डेय, [७] अग्नि, [८] भविष्य, [९] ब्रह्मवैवर्त, [१०] लिंग, [११] वराह, [१२] स्कन्द, [१३] वामन, [१४] कूर्म, [१५] मत्स्य, [१६]गरुड [१७] तथा [१८] ब्रह्माण्ड ॥

अष्टादश पुराणो की श्लोक संख्या का निर्देश विभिन्न पुराणो में उपलब्ध होता है। श्लोक संख्या की तारतम्य परीक्षा के लिए यह निर्देश एकत्र उपस्थित किया जा रहा है :—

---

१. मत्स्यपुराण के ५३ अ० मे इन पुराणों के नाम तथा वर्ण्यविषय का वर्णन संक्षेप में दिया गया है। संक्षिप्त होने पर भी यह वर्णन बड़ा प्रामाणिक माना जाता है। नाम तथा संख्या देखिए देवीभागवत (१३।४-१६)।

२. विष्णुपुराण (३।६।२४) ने इन्ही अष्टादश पुराणों को महापुराण के नाम से भी व्यवहृत किया है। 'उपपुराण' का उल्लेख तथा विशिष्ट नामों का अनुल्लेख यही सिद्ध करता है कि इन पुराणों मे पृथक् तथा भिन्न 'उपपुराण' का सामान्य उदय तो हो गया था, परन्तु सम्भवतः विशिष्ट उपपुराणो की रचना नही हुई थी।

	भागवत (१२।१३)	देवीभागवत (१।३)	अग्निपुराण (अ० २७२)	मत्स्य (अ० ५३)
ब्रह्म०	१० हजार	१० हजार	२५ हजार	१३ हजार
पद्म	५५ हजार	५८ हजार		५५ हजार
विष्णु	२३ हजार	२३ हजार	२३ हजार	२३ हजार
शिव	२४ हजार	२४ हजार ६ सौ (वायु)	१४ हजार (वायु)	२४ हजार (वायु)
भागवत	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार
नारद	२५ हजार	२५ हजार	२५ हजार	२५ हजार
मार्कण्डेय	९ हजार	९ हजार	९ हजार	९ हजार
अग्नि	१५ हजार ४ सौ	१६ हजार	१२ हजार	१६ हजार
भविष्य	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार	१४ हजार ५ सौ
ब्रह्मवैवर्त	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार
लिंग	११ हजार	११ हजार	११ हजार	११ हजार
वराह	२४ हजार	२४ हजार	१४ हजार	२४ हजार
स्कन्द०	८१ हजार १ सौ	८१ हजार	८४ हजार	८१ हजार
वामन	१० हजार	१० हजार	१० हजार	१० हजार
कूर्म	१७ हजार	१७ हजार	८ हजार	१८ हजार
मत्स्य	१४ हजार	१४ हजार	१३ हजार	१४ हजार
गरुड	१९ हजार	१९ हजार	८ हजार	१९ हजार
ब्रह्माण्ड	१२ हजार	१२ हजार १ सौ	१२ हजार	१२ हजार २ सौ०
	४ लाख			

श्लोक-संख्या की चार सूचियों का यह परीक्षण अनेक वैभिन्य उपस्थित करता है। ब्रह्मपुराण में नारदीय (९२।३१) तथा भागवत के अनुसार १० हजार श्लोक है, परन्तु अग्नि० के अनुसार २५ हजार। विष्णुपुराण की श्लोक-संख्या ६ हजार से लेकर २४ हजार मानी गयी है। वायुपुराण की श्लोक-संख्या तो साधारणतः २४ हजार मानी जाती है, परन्तु देवीभागवत ने इससे ६ सौ श्लोक अधिक माना है, अग्निपुराण में केवल १४ हजार, परन्तु स्वयं ग्रन्थ के भीतर केवल १२ हजार। उपलब्ध वायुपुराण मे १० हजार से कुछ ही अधिक श्लोको की उपलब्धि मूल द्वादश सहस्रों के पास चली जाती है। मार्कण्डेय की श्लोक संख्या ९ हजार सर्वत्र है, परन्तु स्वयं मार्कण्डेय के ही आधारपर वह संख्या ६ हजार ९ सौ ही केवल है (मार्क० १३४।३९)। अग्नि-पुराण मे इसी प्रकार विभिन्नता मिलती है श्लोकों की सख्या के विषय में। मत्स्य के अनुसार १६ हजार, भागवत के मत मे इससे छः सौ कम, परन्तु स्वयं अग्नि के अनुसार केवल १२ हजार और आजकल उपलब्ध संख्या केवल इतनी ही है। स्कन्द की श्लोक-संख्या ८१ हजार है, परन्तु अग्नि ने इसमे तीन हजार और जोड़कर इसे ८४ हजार बना दिया है। इसके ऊपर आगे विवेचन किया जायेगा। कूर्म की श्लोक-संख्या की विषमता पर आगे विचार किया गया है। गरुडपुराण की भी दशा ऐसी ही है—भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार १९ हजार, मत्स्य के अनुसार १८ हजार, परंतु अग्नि के अनुसार केवल ८ हजार। इस प्रकार इन पुराणस्थ श्लोक-संख्या मे पर्याप्त भिन्नता है।

इस सूची की तुलना करने पर अग्निपुराण की सूचना अनेक पुराणों के विषय मे सबसे विचित्र है। उसे छोड़ देने पर भागवत, मत्स्य आदि के वर्णन की समानता है। समग्र पुराणों की श्लोकसंख्या गिनाने पर ४ लाख से कई हजार ऊपर ठहरती है, परन्तु सामान्य रूप से चार लाख श्लोको की संख्या पुराणस्थ श्लोकों की मानी जाती है।[1] इस सूची मे प्रदत्त श्लोकसंख्या को प्रचलित पुराणों के श्लोकों से मिलाने पर वह परिमाण मे बहुत न्यून ठहरती

१. व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम्॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम्॥

पद्मपुराण (भाग ५, १।४५-५२) में मत्स्य के ये पद्य इसी रूप में मिलते हैं।
एवं पुराण-सन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।

—भाग० १२।१३

है। इस तथ्य की ओर पुराणो के कतिपय मान्य व्याख्याकारो का भी ध्यान आकृष्ट हुआ था जिन्होने अपनी टीकाओ मे इस वैषम्य का निर्देश भली भाँति किया है। उदाहरण के तौर पर कतिपय पुराणों की श्लोक-संख्या के वैषम्य की चर्चा यहाँ की जायेगी। ब्रह्मपुराण मे नारदीय के अनुसार १० सहस्र तथा अग्निपुराण के अनुसार २५ सहस्र श्लोक हैं, परन्तु आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि मे मुद्रित ब्रह्मपुराण मे लगभग १४ सहस्र (निश्चित संख्या १३,७,८३ श्लोक) श्लोक मिलते है। विष्णुपुराण की श्लोकसंख्या मे तो बड़ा ही तीव्र वैषम्य लक्षित होता है। इस पुराण के विष्णुचित्ति तथा वैष्णवाकूतचन्द्रिका (रत्न-गर्भभट्ट) नामक व्याख्याओ के अनुसार विष्णुपुराण की श्लोक-संख्या ६, ८, ९, १०, २२ तथा २३ से लेकर १४ हजार तक बदलती रही, परन्तु इन दोनो टीकाओं ने तथा श्रीधरस्वामी ने भी ६ हजार श्लोकवाले पाठ पर ही अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। वल्लालसेन का **'दानसागर'** तेईस सहस्रवाले विष्णु के पाठ का उल्लेख करता है। अब प्रश्न यह है कि इतना वैषम्य क्यो? कुछ आलोचको का कथन है कि 'विष्णुधर्मोत्तर' विष्णुपुराण का ही परिशिष्ट माना जाता था और उसकी श्लोक-संख्या सम्मिलित करने पर विष्णु की चतुर्विंशति साहस्री संख्या की पूर्ति हो जाती है। नारदीय पुराण ने विष्णुधर्मोत्तर को विष्णुपुराण का परिशिष्ट ही मानकर एक साथ विषय-निर्देश किया है। परन्तु आधुनिक विद्वानो की आलोचना 'विष्णुधर्मोत्तर' को उपपुराण मानने के ही पक्ष मे हैं। ऐसी दशा में दोनो का सम्मिलन क्यो कर माना जा सकता है? श्लोक-संख्या के आधिक्य के भी दृष्टान्त उपस्थित हैं। स्कन्दपुराण अपने दोनों विभाजनो मे ८१ सहस्र श्लोकोवाला माना गया है, परन्तु वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से मुद्रित संस्करण मे इससे कई हजार अधिक श्लोक मिलते है। इसके विषय मे भविष्यपुराण एक विचित्र तथ्य को प्रकट करता है। उसका कथन है कि समस्त पुराण मूलतः १२ हजार श्लोको मे थे, परन्तु कालान्तर में नवीन विषयो का सन्निवेश तथा सम्मिश्रण करने से यह संख्या अधिक बढ़ गयी है जिससे स्कन्दपुराण तो एक लाख श्लोको से युक्त है तथा भविष्यपुराण पचास हजार श्लोको से। परन्तु यह कथन भी प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योकि श्रीमद्भागवत की रचना मे एकरूपता का सर्वत्र समर्थन होता है। उसमे क्षेपक की कल्पना नितान्त अनुचित है। फलतः उसका मूल रूप ही १८ हजार श्लोकों का था। ऐसी दशा मे भविष्य-के पूर्वोक्त कथन में हम कथमपि श्रद्धा नही धारण कर सकते।

कहीं-कहीं मूल पुराण के समग्र अंशों की अनुपलब्धि श्लोक-संख्या के ह्रास का कारण मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ, कूर्म मे मूलतः चार संहिताएँ

वर्तमान थी[1] ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी। इनमे से केवल प्रथम संहिता (ब्राह्मी) ही उपलब्ध है जिसमें कूर्म के अनुसार ही (१।२३) छः हजार श्लोक हैं[2]। कूर्म में श्लोको की संख्या १७ हजार भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार तथा ७ हजार अग्निपुराण के अनुसार मानी जाती है। १७ या १८ हजार श्लोक चारो संहिताओं के श्लोको की सम्मिलित संख्या प्रतीत होती है। अग्नि की ८ हजार श्लोकसंख्या किसी एक या दो संहिताओं के योग का फल है। परन्तु आज उपलब्ध कूर्मपुराण में केवल ६ हजार श्लोक मिलते है जो केवल ब्राह्मी संहिता की उपलब्धि से अनुचित नही है।

प्राचीन निबन्धकारो ने अपनी दृष्टि के अनुसार इस वैषम्य को सुलझाने का प्रयास किया है। मित्र मिश्र ने अपने 'परिभाषा प्रकाश' में इस विषय में जो लिखा है वह हमारे निबन्धकारो के दृष्टिकोण को समझाने के लिए आदर्श माना जा सकता है।[2]

ऊपर की सूची मे पुराणों का जो क्रम दिया गया है वह सर्वत्र मान्य नहीं है। अनेक पुराण ब्राह्म को ही आदि पुराण मानते हैं और पूर्वोक्त सूची का अक्षरशः अनुवर्तन करते हैं। ब्राह्म पुराण तो अपने को आदि पुराण मानता है, विष्णु पुराण भी उसी का समर्थन करता हैं।[3] श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराण

---

१. ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैस्तु संमिता।
भवन्ति षड् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥

—कूर्म, १ अ०, श्लोक-२२-२३।

२. मत्स्य-पुराणे तु भागवतीयगणनातः षट्शतयाऽग्निपुराणं, द्विशतया च ब्रह्माण्डपुराणमधिकमुक्त्वा अन्ते चतुर्लक्षमित्युपसंहृतम्, तददूरविप्रकर्षेण। भवन्ति ईदृशा अपि वादा यत् किञ्चिन्न्यूनाधिकं शतं लब्ध्वा शतं मया लब्धा मिति। एवं भागवतीयमपि चतुर्लक्षवचनं व्याख्येयम्। यापि विष्णुपुराणे ब्रह्माण्ड-मादाय वायवीयत्यागेन, या च ब्रह्मवैवर्ते वायवीयमुपादाय ब्रह्माण्डपुराण-परित्यागेन अष्टादशसंख्योक्ता, सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया।

—परिभाषा प्रकाश पृ० १२-१३ (चौखम्भा सं, काशी)

३. तेऽपि श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः पुराणं वेदसंमितम्।
आद्यं ब्राह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम्॥ ब्राह्म २४५।४
आद्यं सर्वपुराणानां पुरानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते

—विष्णु ३।६।२०

इसी मत के समर्थक हैं। केवल वायु० (१०४।३) तथा देवी भागवत (१।३।३) प्रथम पुराण होने का श्रेय मत्स्य पुराण को प्रदान करते हैं। वामन पुराण भी मत्स्य को ही पुराणो मे मुख्य बतलाता है[1]। विपरीत इसके, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड २।८-९) मे ब्रह्माण्ड आदि-पुराण माना गया है। परन्तु ये सब उत्सर्ग हैं, विधि नही। अष्टादश पुराणो का वही क्रम प्रायः अधिकाश पुराणों मे माना जाता है जो हमने ऊपर की सूची मे दिया है। इस विशिष्ट क्रम का सम्भाव्यमान तात्पर्य आगे प्रदर्शित किया जायगा। इन पुराणो के विषयो की का सूची अनेक पुराणो मे सक्षेप तथा विस्तार से दी गई है। संक्षेप मे यह सूची मत्स्य (अध्याय ५३), अग्नि (अध्याय २७२) तथा स्कन्द (प्रभास खण्ड, २।२८-७६) मे उपलब्ध है। परन्तु नारदपुराण में यह विषय सूची बड़े विस्तार से १८ अध्यायो मे दी गयी है (पूर्वार्ध ९२ अध्याय—पूर्वार्ध १०९ अ० तक)

इस सूची के कालक्रम का निर्देश यथार्थतः करना कठिन है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि मत्स्यपुराण के श्लोको (अ० ५३, श्लो० ३-४ और श्लो० ११-५७) को अपरार्कने याज्ञवल्क्यस्मृति की अपनी विस्तृत व्याख्या मे (समय ११००-११२० ई० लगभग) तथा वल्लालसेन ने अपने 'दान सागर' मे (जिसका रचना काल ११३९ ईस्वी है) उद्धृत किया है। फलतः मत्स्य के इन श्लोको की रचना एकादश शती से प्राक्वर्ती होनी चाहिए। अपनी यथार्थता तथा प्रामाणिकता के लिए नारद की यह पुराण-विषय-सूची विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती है। एक बात ध्यान देने की है। इस सूची मे स्वयं नारद पुराण के विषयो की भी सूची दी गई है। इससे कुछ लोग इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और मूल नारद मे इसे अवान्तर प्रक्षेप मानते हैं। जो कुछ भी हो, अलबरूनी ने अपने समय मे उपलब्ध तथा प्रचलित पुराणो का जो विवरण दिया है अपने भारत-विषयक ग्रन्थ मे (रचनाकाल १०६९), वह इन सूचियों में दी गयी सूची से बहुत भिन्न नही है। प्रक्षेप मिलाने पर कोई दण्ड नही। वह आज भी मिलाया जा सकता है। परन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि दशम शती तक सब पुराण अपने वर्तमान रूप मे आ गये थे। नारद पुराण वाली यह विषयसूची इसी अन्तिम विकसित आकार से सम्बन्ध रखती है; ऐसा मानना कथमपि अनुपयुक्त नही माना जा सकता।

---

१. मुख्य पुराणेषु यथैव मात्स्य
　　स्वायम्भवोक्तिस्त्वथ सहितासु।
　मनुः स्मृतीना प्रवरो यथैव
　　तिथीषु दर्शो विबुधेषु वासवः॥　　　—वामन १२।४८

(क) पुराण के अष्टादश होने का तात्पर्य

संस्कृत साहित्य मे १८ संख्या बडी पवित्र, व्यापक और गौरवशाली मानी जाती है। महाभारत के पर्वों की संख्या १८ है, श्रीमद्भगवद्गीता के अध्यायो की संख्या १८ है तथा श्रीमद्भागवत के श्लोको की संख्या १८ हजार है। इसी प्रकार पुराणों की संख्या भी सर्वसम्मति से १८ ही है। विद्वानो की मान्यता है कि यह पुराणसंख्या निर्हेतुक न होकर सहेतुक है—साभिप्राय है और इस अभिप्राय को दिखलाने के लिए पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा ने अपने पुराण विषय ग्रन्थो मे अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की है। उन्ही का यहाँ संक्षेप मे उपन्यास किया गया है।

विद्वानो का आग्रह है कि पंच—लक्षण पुराण मे सर्ग-सृष्टि का विषय ही प्रमुख है और इसी विषय के विकाश और व्यापकता दिखलाने के लिए उसमें इतर चार लक्षण—मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित तथा प्रतिसर्ग भी समाविष्ट किये गये हैं। पुराणों की अष्टादश संख्या भी इस सृष्टितत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं और यही कारण है कि सर्वत्र यह संख्या प्रमाण मानी गयी है। इसके तात्पर्य का निर्देश इस प्रकार समझना चाहिए :—

(क) शतपथब्राह्मण के अष्टमकाड में सृष्टि नामक इष्टियो के उपाधान (रखने) का विधान है, वहाँ १७ इष्टिकायो के रखने का कारण बतलाया गया है। कारण यही है कि तत्सम्बद्ध सृष्टि भी सत्रह प्रकार की है तथा उसका उदय प्रजापति से होता है, जिससे दोनो को एकसाथ मिलाने पर सृष्टि के सम्बन्ध में अष्टादश संख्या की निष्पत्ति होती है। शतपथ का कथन है कि मासो की संख्या है बारह, ऋतुओ की पांच। ये सत्रह पदार्थ एक संवत्सर से उत्पन्न होते है। इसी प्रकार प्रजापति से इन सत्रह सृष्टियो का विधान उपपन्न है—

तस्य द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, संवत्सर एव प्रतूर्तिः (शतपथ ८।४।१।१३) तथा 'प्रतूर्तिरष्टादशः' (यजु० १४।२३)

इस प्रकार सृष्टि से अष्टादश संख्या को संबद्ध होने के हेतु पुराणो को अष्टादशविध मानना उचित ही है।

(ख) वेद मे सृष्टि का उदय वैदिक छन्दों मे स्वीकार किया गया है। वेद के सात छन्दो मे गायत्री तथा विराट् की प्रमुखता है जिनका सृष्टितत्त्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। गायत्री है पृथ्वी-स्थानीया प्रकृतिरूपा (गायत्री वा इयं पृथिवी-शतपथ ४।३।४।९) तथा विराट् है द्युस्थानीय पुरुषरूप (वैराजो वै

पुरुषः—ताण्ड्य ब्राह्मण २।७।८)। द्यावापृथिवी इस सृष्टि के पिता-माता माने गये हैं—द्यौष्पिता पृथिवी माता। फलतः गायत्री तथा विराज् छन्द का सृष्टि-प्रक्रिया में प्रमुख होना बोधगम्य है। अब यह तो प्रख्यात ही है कि गायत्री के प्रतिपाद में आठ अक्षर होते हैं और विराज् के १० अक्षर और इन्हीं दोनों को मिलाने पर अठारह की संख्या आती है ('अष्टाक्षरा गायत्री' ऐतरेय ब्रा० ६।२० तथा 'दशाक्षरो विराट्' ऐ० १।१।५।३)। फलतः छन्दःसृष्टिवाद की दृष्टि से अष्टादश की संख्या का सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों के साथ सम्बद्ध होना नितान्त युक्तिपूर्ण है।

(ग) सांख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया पुराणों में स्वीकृत की गयी है—यह तो इतिहास पुराण का साधारण भी अध्येता भलीभाँति जानता है। सांख्य में २५ तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं। इन तत्त्वों की समीक्षा से इनके स्वरूप का परिचय मिलता है। पुरुष तथा प्रकृति तो नित्य मूलस्थानीय तत्त्व हैं, जिनकी सृष्टि नहीं होती। इनसे इतर तत्त्व हैं—महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ=७ प्रकृति-विकृति; केवल विकृति = १६ (मन को मिलाकर ११ इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश)। इस योजना में तन्मात्रों से ही महाभूतों का साक्षात् सम्बन्ध है। अन्तर केवल स्वरूप का है। तन्मात्र होते हैं सूक्ष्म ('भूत सूक्ष्म' इसीलिए उनकी संज्ञा है) और महाभूत होते हैं 'स्थूल'। इसके स्वरूप का वैशिष्ट्य न मानकर दोनों की एकत्र गणना की जाती है। फलतः २५ पचीस तत्त्वों में से इन सात तत्त्वों को निकाल देने पर सृज्यमान तत्त्वों की संख्या १८ ही होती है। और सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों की संख्या का १८ होना इस तर्क से भी प्रमाणित माना जा सकता है।

(घ) दृश्य ब्रह्माण्डों के सब पदार्थ अपने निवेश—स्थान की दृष्टि से तीन लोकों से सम्बद्ध रहते हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश। अब प्रत्येक पदार्थ की छः अवस्थाएँ हैं जिनका निर्देश यास्क ने अपने निरुक्त में किया है—अस्ति (सत्ता), जायते उत्पत्ति), वर्धते (वृद्धि), परिणमते (पकना), अपक्षीयते (ह्रास) तथा विनश्यति (विनाश)। ये छहों दशायें त्रिलोकी के समस्त पदार्थों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। पुराण इन सब पदार्थों के सर्ग-प्रतिसर्ग का वर्णन करता है। फलतः उसकी संख्या में १८ होना उचित ही है[१]।

---

१. इसी प्रकार की अन्य युक्तियों के लिए द्रष्टव्य श्रीमाधवाचार्य रचित पुराणदिग्दर्शन, पृ० ६४-६७, तृतीय सं०, दिल्ली।
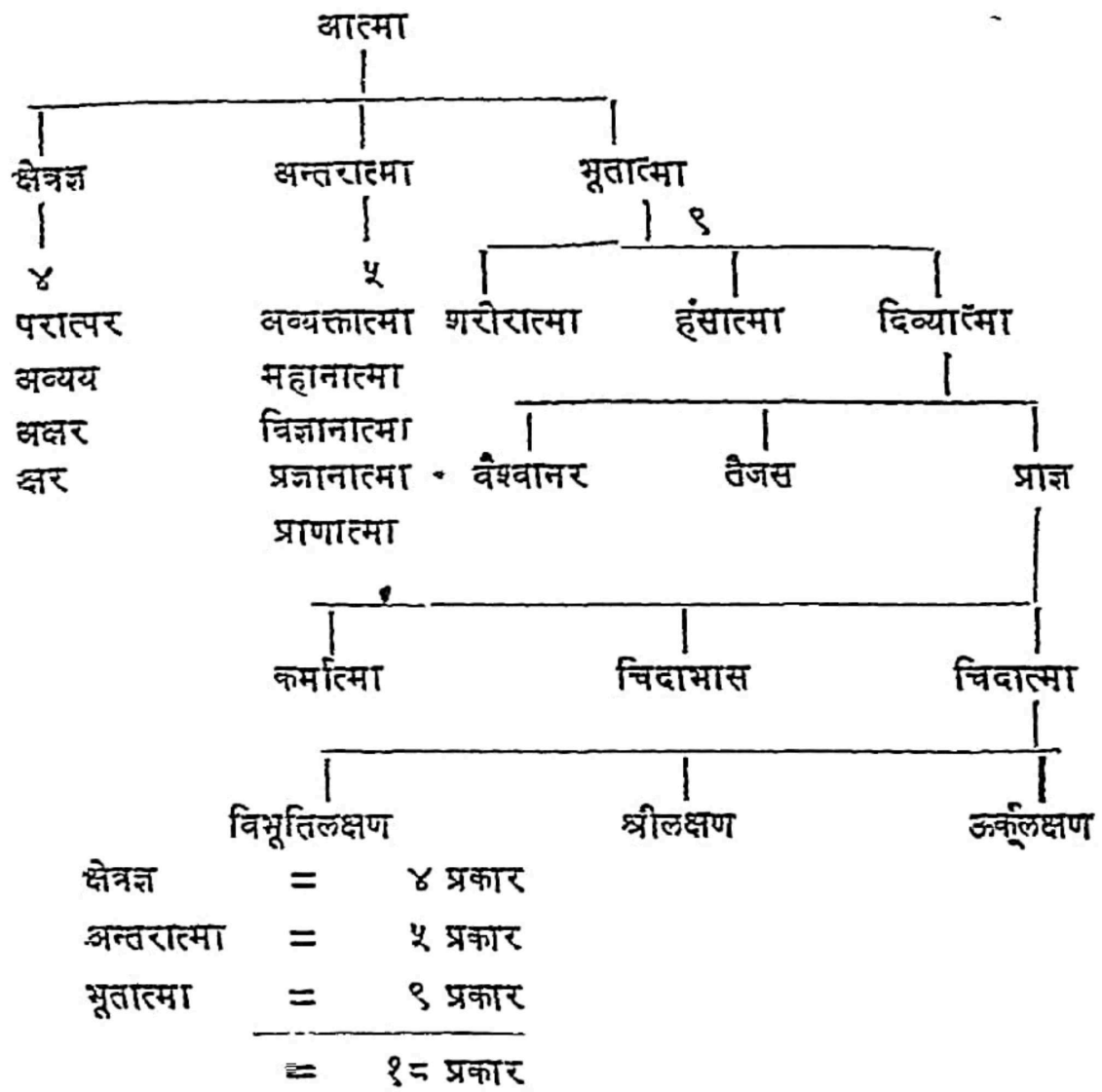
(ङ) पुराणों के अष्टादश होने का एक अन्य हेतु यहां उपस्थित किया जा रहा है। पुराण मुख्य रूप से पुराणपुरुष-परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है। आत्मा स्वरूपतः एक ही है, परन्तु उपाधि तथा अवस्था की विभिन्नता के कारण वह १८ प्रकार का होता है। इन अठारहो प्रकार के आत्मा का प्रतिपादक होने के कारण पुराण भी १८ प्रकार के माने गये है।

अब आत्मा के १८ प्रकारों से परिचय रखना आवश्यक है। विषय की स्पष्टता के लिए इन प्रकारो को ऊपर चार्ट के द्वारा दिखलाया गया है। उस चार्ट की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

मूलभूत आत्माके प्रथमतः तीन भेद होते हैं—(१) क्षेत्रज्ञ, (२) अन्तरात्मा तथा (३) दिव्यात्मा। मनुस्मृति के आधार पर इन तीनों भेदों का स्वरूप जाना जा सकता है[१]।

---

१. मनुस्मृति के इस विभाजन के आधारभूत श्लोक ये हैं—
योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥

(१) जीवात्मा के कारयिता या उत्पादक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जीव को प्रेरित करनेवाला विशुद्ध आत्मा ही 'क्षेत्रज्ञ' नाम से पुकारा जाता है।

(२) जिसके द्वारा नाना जन्मो मे सब सुख और दुःख का अनुभव किया जाता है अर्थात् विभिन्न जन्मो मे सुख और दुःख का भोग करनेवाला जो जीव है वही **'अन्तरात्मा'** की सज्ञा पाता है।

(३) जो आत्मा सब कर्मों को करता है वह 'भूतात्मा' कहा जाता है। इनमे क्षेत्रज्ञ चार प्रकार का, अन्तरात्मा पाँच प्रकार का तथा भूतात्मा नव प्रकार का होता है और इस प्रकार आत्मा के १८ भेद स्वीकृत किये जाते हैं।

(१) **क्षेत्रज्ञ** के चार प्रकार—परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर होते हैं। इस समस्त विश्व का अधिष्ठान, भूमा तथा साथ ही साथ विश्वातीत जो आत्मा है वही **'परात्पर'** (परमात्मा) है। इस सृष्टि का जो आधारभूत आत्मा है वही **अव्यय** है जिसका किसी प्रकार भी व्यय या नाश नही होता। **अक्षर** आत्मा इस सृष्टि का निमित्त कारण है अर्थात् जिसकी प्रेरणा से सृष्टि उत्पन्न होती है वही अक्षर तत्त्व है। **क्षर** आत्मा सृष्टि का उपादान कारण होता है। घट के लिए मिट्टी के समान ही उसकी स्थिति है। संक्षेप मे गीता के आधार पर हम कह सकते है कि समस्त भूत ही क्षर है, कूटस्थ अविकारी पुरुष ही अक्षर है तथा लोकत्रय को धारण करनेवाला उत्तम पुरुष ही 'पुरुषोत्तम' कहलाता है। आत्मा का यह विभाजन गीता (१५।१६–१७) के प्रख्यात पद्यो के ही आधार पर है।

(२) **अन्तरात्मा** के पाँच अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं :—अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा तथा प्राणात्मा। **अव्यक्तात्मा** वह है जिससे इस शरीर की जीवितरूप मे रहने की सम्भावना होती है और उसके अभाव मे यह शरीर जीवित नही रह सकता। **महानात्मा** वह है जिससे सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणो की प्रवृत्ति होती है। **विज्ञानात्मा** वह है जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुखं च जन्मसु॥

—अध्याय १२.

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—गीता, अ० १५, श्लोक १६, १७।

ऐश्वर्य का तथा इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का प्रवर्तक होता है। **प्रज्ञानात्मा** वह है जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियो को अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त करता है। **प्राणात्मा** वह है जिससे शरीर में सक्रियता उत्पन्न होती है। इन पञ्चविध प्रकारों का आधारस्थान है कठोपनिषद् के वे श्लोक जिनमे अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियो का निर्देश किया गया है और एक को दूसरे से बडा वतलाकर अव्यक्त से पुरुष या परात्पर की श्रेष्ठता मानी गयी है[१]।

(३) **भूतात्मा** के प्रथमतः तीन भेद होते हैं—शरीरात्मा, हंसात्मा तथा दिव्यात्मा। मनुष्य, पशु आदि भूतो का यह प्राणसम्पन्न शरीर ही **शरीरात्मा** कहलाता है। पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच विचरण करने वाला वायु ही **हंसात्मा** है। यह नामकरण वेद के आधार पर है जो कहता है कि यह एक हंस कभी सोता नहीं सर्वदा ही जागता रहता है और सोये हुए शरीरात्मा की रक्षा किया करता है[२]। **दिव्यात्मा** का तात्पर्य मनुष्य, पशु तथा निर्जीव पदार्थ (पाषाण आदि) से है। इसीलिए इसके भी **प्रथमतः** तीन भेद हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। पत्थर आदि निर्जीव पदार्थ **'वैश्वानर'** के अन्तर्गत, अन्तःसंज्ञा वाले प्राणी (वृक्ष आदि) **तैजस** के अन्तर्गत तथा व्यक्तसंज्ञा वाले मानव प्राणी, जिनमें बुद्धि का विकाश होता है, **प्राज्ञ** के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इन तीनो मे 'प्राज्ञ' ही सबसे अधिक चैतन्य तथा बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसके तीन विभाग माने जाते है —कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। कर्मात्मा का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म की महिमा सर्वातिशायिनी है। कर्म के विना कोई भी जीवित नही रह सकता। प्राणी को कर्म करना पड़ेगा ही। गीता का सुस्पष्ट कथन है—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत्। श्रुति भी कर्म की महिमा के प्रसंग मे कहती है कि कर्म के विना प्राण अपूर्ण ही रहते है और इसीलिए कर्माग्नि की सृष्टि हुई—"अकृत्स्ना उ वै प्राणाः ऋते कर्मणः।

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परम व्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

—कठ उप०

२. स्वप्नेव शारीरमभिप्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभी चाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं वहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥

तस्मात् कर्माग्निमसृजत् (शतपथ)। परन्तु कर्म होता है शीघ्र विनाशशाली। वह नष्ट भले ही हो, परन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है। ये ही संस्कार जिसमे समवेत होकर एकत्र निवास करते हैं वही है **कर्मात्मा** अर्थात् जीव। **चिदाभास** का अर्थ है चैतन्य का आभास अर्थात् ईश्वर-चैतन्य का वह अंश जो मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट होकर हृदयस्थित विज्ञानात्मा से संपृक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के धर्मो से संसृष्ट होता है वही है चिदाभास, जो प्रति शरीर मे भिन्न-भिन्न होता है। इस विभाजन की अन्तिम कड़ी है—**चिदात्मा** ईश्वर का वह भाग, जो समस्त विश्व मे व्याप्त होता है और साथ ही साथ शरीर मे भी व्याप्त रहता है, परन्तु व्याप्ति-स्थानो के धर्मो से संपृक्त नही होता, चिदात्मा उसी का नाम है। इसे ही साधारण भाषा मे ईश्वर, परपुरुष आदि नामो से व्यवहृत करते है। इसके तीन भेद होते हैं जो गीता के अनुसार (अ० १०, श्लो० ४१)[१] विभूतिलक्षण, श्रीलक्षण और ऊर्क्लक्षण माने जाते है। गीता के इस श्लोक मे ईश्वर को तीन पदार्थों से सम्पन्न होने की बात कही गयी है—विभूति, श्री तथा ऊर्ज् और इसी कारण यहाँ त्रैविध्य स्वीकृत है।

संक्षेप मे कह सकते हैं कि क्षेत्रज्ञ के ४ प्रकार, अन्तरात्मा के ५ प्रकार तथा भूतात्मा के ९ प्रकार—इन सबो की सम्मिलित संख्या १८ होती है। अतः पुराण-पुरुष के इन १८ प्रकारो को वर्णन करने के हेतु पुराणो मे अष्टादश संख्या का समवेत होना युक्ति तथा तर्क से संवलित है।[२]

(ख) पुराण के क्रम का रहस्य

ऊपर अष्टादश पुराणो की सूची मे जो क्रम बतलाया गया है वह सर्वसम्मत न होने पर भी बहुसम्मत तो अवश्यमेव है। अब प्रश्न है कि इन पुराणो का इसी क्रम से निर्देश क्यो है? इसका क्या कोई ऐतिहासिक कारण है? अथवा यह केवल मनमाने ढग से ही रखा गया है? इस प्रश्न के उत्तर मे सम्प्रदायवेत्ता पुराणविद् विद्वानो का मत है कि यह क्रम साभिप्राय है। यह किसी ऐतिहासिक कारण का फल न होकर वर्ण्य-विषय को लक्ष्य मे रखकर ही सम्पन्न किया गया है। पुराणो के वर्ण्य-विषय अनेक हैं, परन्तु 'प्राधान्येन

---

१. यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ —गीता १०।४१

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—पण्डित बदरीनाथ शुक्ल: 'मार्कण्डेयपुराण एक अध्ययन' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ ५-७, प्रकाशक, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ईस्वी तथा श्रीमधुसूदन ओझा रचित—पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग नामक ग्रंथ, पृ० ५-१० जयपुर, वि० सं० २००८।

व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार प्रधान विषय की दृष्टि से ही इस निर्देश क्रम का औचित्य सुसंगत होता है।

हमने अनेक बार कहा है कि पुराण का प्रधान लक्ष्य सर्ग या सृष्टि है— किस प्रकार मूलतत्त्व से सृष्टि हुई, उसका विकाश हुआ, नाना वंशों का उदय हुआ तथा उनमें अनेक गौरवशाली व्यक्तियों ने अपने महत्त्वसम्पन्न चरित्र का प्रदर्शन किया तथा अन्त में सृष्टि के मूलतत्त्व में विलीन होने से प्रलय हो गया। यही तो सृष्टि की प्रवहमान धारा है। विश्व का आदि है सर्ग और पर्यवसान है प्रतिसर्ग। इन दोनों छोरों के बीच में मन्वन्तर वंश तथा वंशानुचरित की धारा प्रवाहित होती है। पञ्चलक्षण का यही स्वारस्य है— यही संगति है। फलतः सृष्टितत्त्व का प्रतिपादन ही पुराण का मुख्य तात्पर्य या अभिप्राय भली-भाँति माना जा सकता है। इस मुख्यता की दृष्टि से पुराणों के क्रम पर ध्यान देने से उसका औचित्य स्वतः अभिव्यक्त होता है।

फलतः सृष्टि के विषय में प्रथमतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस ब्रह्माण्ड की रचना किसने की? तैत्तिरीय संहिता (३।१२।९।३) की स्पष्ट उक्ति है— ब्रह्म ब्रह्माभवत् स्वयम् अर्थात् सृष्टि-कार्य के लिए ब्रह्म ही ब्रह्मा हुए। फलतः सृष्टि का मूल है वही ब्रह्म और इसी आदि-कर्ता के निर्देश के लिए 'ब्रह्मपुराण' का नाम सबसे प्रथम इस सूची में आता है। ब्रह्मा की उत्पत्ति के विषय में तदनन्तर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर 'पद्मपुराण' देता है— अर्थात् ब्रह्म का उदय पद्म से–कमल से-हुआ। तब यह कमल कहाँ था? 'विष्णुपुराण' के द्वारा प्रतिपाद्य विष्णु की ही नाभि में वह कमल था जहाँ उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने घोर तपस्या की और फलस्वरूप नूतन सृष्टि का निर्माण किया। 'वायुपुराण' को शेषशय्या का निरूपण करने वाला बतलाया गया है, जिस पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं और जो इसीलिए उनके आधार का काम करता है। शेष भगवान् क्षीरसमुद्र में रहते हैं और इस समुद्र के रहस्य को बतलाने वाला पुराण श्रीमद्भागवत् है। नारदजी भगवान् विष्णु के सतत भजनकर्ता हैं जो अपनी वीणा पर मधुर स्वर से भगवान् के अमृत-नाम का कीर्तन किया करते हैं और इस साहचर्य के कारण भागवत के अनन्तर नारदपुराण का क्रम—निर्देश उचित ही है। अब तक सृष्टि के विकाश की एक रेखा खिची गई जिसमें ६ पुराणों के क्रम की संगति दिखलाई गयी।

परन्तु सृष्टि-चक्र के विषय में प्रश्नों का प्रश्न है कि यह चक्र किसकी प्रेरणा से सतत घूमता रहता है। इसके उत्तर में अनेक मत उपन्यस्त हैं। प्रकृति-स्वरूपिणी देवी ही इस विश्व की मूल प्रेरिका शक्ति है—इस मत का प्रतिपादन करता है सप्तम पुराण मार्कण्डेय। घट के भीतर प्राण तथा ब्रह्माण्ड के

भीतर अग्निरूप से क्रियाशील होने वाली वस्तु ही मूल प्रेरणा देती है—यह भी एक मान्य मत है और इसी का प्रतिपादन करता है अष्टम पुराण **अग्निपुराण**[८]। अग्नि का तत्त्व सूर्य के ऊपर आधारित है अर्थात् मूलतः सूर्य ही प्रेरक-शक्ति का काम करता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः' के अनुसार सूर्य को जंगम तथा स्थावर सृष्टि की आत्मा होना वेद बतलाता है। इस प्रकार सृष्टि के उत्पादन मे सूर्य की महत्ता सर्वातिशायिनी है और इसी सूर्य की महिमा का प्रतिपादक है—नवम **भविष्यपुराण**[९]। मूलतत्त्व के विषय मे कई विप्रतिपत्तियाँ दिखलाकर पुराण ने अपने मत को प्रकट किया है अग्रिम **ब्रह्मवैवर्त**[१०] के नाम द्वारा। अर्थात् पुराण मत मे ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि होती है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विकार तथा विवर्त का पार्थक्य तो सर्वत्र प्रख्यात है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है अवश्य। परन्तु वह स्वय तात्त्विक वस्तु नही है—मायिक है और इसीलिए ब्रह्मवैवर्त की संज्ञा से ब्रह्म के मूल कारण होने और विश्व को उसका विवर्त होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन पुराण करता है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि यह मूलतत्त्व ब्रह्म जाना कैसे जाय? वह तो निर्गुण ठहरा और तब सगुणरूप मे उसकी पहचान किस प्रकार की जा सकती है? जीव अपने मंगल के निमित्त उसकी उपासना किस प्रकार करे? इन प्रश्नो का उत्तर अवशिष्ट पुराणो के द्वारा दिया गया है। ब्रह्म की शिव तथा विष्णु ही प्रख्यात सगुण अभिव्यक्तियाँ हैं और ये दोनो भी नाना रूपो मे प्रकट हुआ करते है जिन्हे 'अवतार' की सज्ञा दी जाती है। एकादश पुराण **लिंग**[११] तथा तेरहवाँ **स्कन्दपुराण**[१२] शिव के साथ सम्बन्ध रखते हैं। वाराह,[१३] वामन,[१४], कूर्म[१५] तथा मत्स्य[१६]—ये चारो अवतार भगवान् विष्णु के है जो सृष्टितत्त्व से विशेषरूप से सम्बद्ध है और जिनके द्वारा वे इस धराधाम पर अवतीर्ण होकर भक्तो के क्लेशो का निवारण करते है तथा उन्हे मुक्ति पाने के निमित्त सुगम मार्ग का उपदेश भी देते हैं। श्रीमद्भागवत का इस विषय मे स्पष्ट कथन है (५।१९।५) :—

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
रक्षो-वधायैव न केवलं विभोः ॥

विभु व्यापक भगवान् का मर्त्यरूप मे अवतार राक्षसो के वध के लिए ही नही होता, प्रत्युत मर्त्यो के शिक्षण के लिए होता है। मर्त्यशिक्षण की प्रधान दिशा है भवजंजाल से निवृत्त होकर आनन्दमयी मुक्ति की उपलब्धि। इस अभिप्राय से भगवान् के इतर भी मर्त्यरूप मे अवतरण होते हैं जिनकी विशिष्ट चर्चा आगे की जायेगी।[१]

१. द्रष्टव्य माधवाचार्य शास्त्रीः पुराणदिग्दर्शन पृ० ७१–७५।

अन्तिम दो पुराणो का सम्बन्ध जीव-जन्तुओ की गतिविधि है। कर्म, ज्ञान तथा उपासना के सम्पादन से जीवन की कौन गतियाँ प्राप्त होती है इसका प्रतिपादक है सत्रहवाँ **गरुडपुराण**[१७] जो मरणान्तर स्थिति का विशेष विवरण देता है और इन गतियो के विस्तृत क्षेत्र को बतलानेवाला है अन्तिम **ब्रह्माण्डपुराण**[१८]। अपने कर्मो के फलानुसार जीव इस पूरे ब्रह्माण्ड के भीतर घूमता रहता और सुख-दुःखका अनुभव किया करता है। इस प्रकार सृष्टिविद्या से सम्बद्ध तथा तदुपयोगी ज्ञान-कर्म के प्रतिपादन मे अष्टादश पुराण की उपयोगिता है। पौराणिक क्रम का यही अभिप्राय है।

(ग) पुराणों के विभाजन

मत्स्यपुराण (५३।६७–६८) के अनुसार पुराणो का त्रिविध विभाजन मान्य है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक पुराणो मे विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित है; राजस पुराणो मे ब्रह्मा का तथा अग्नि का माहात्म्य अधिकांश वर्णित है। तामस पुराणो मे शिव का[१]। इन तीनो से भिन्न एक संकीर्ण भेद भी है जिसमें सरस्वती तथा पितृगणो का माहात्म्य अधिकतर वर्तमान है। पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणो की गणना भी निर्दिष्ट है—वैष्णव, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म तथा वाराह। परन्तु ध्यान देने की बात है कि इस विभाजन मे अन्य पुराणो के साथ ऐकमत्य नही है, आश्चर्य तो तब होता है जब निश्चयरूपेण शिवभक्ति के प्रतिपादक वायुपुराण को गरुड़पुराण सात्त्विक पुराणो के अन्तर्गत रखता है। फलतः इस विभाजन में वैज्ञानिकता की आशा करना दुराशामात्र है। गरुडपुराण[२] एक पग आगे बढ़कर सात्त्विक पुराणो के भीतर तीन प्रकार का विभाग मानता है—(क) सत्त्वाधम = मत्स्य तथा कूर्म; (ख) सात्त्विकमध्यम—वायु; (ग) सात्त्विक-उत्तम = विष्णु, भागवत तथा गरुड। देवता के प्राधान्य से पुराणो का विभाजन विद्वानो ने

---

१. सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥ ६७॥
तद्वदग्नेर्माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते॥ ६८॥

—मत्स्य, अ० ५३

२. सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्मं तदाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं प्राहुरार्याः॥

गरुडपुराण

किया है। गरुडपुराण के पूर्वोक्त कथन मे कूर्म भी सात्त्विक अर्थात् विष्णु-माहात्म्य प्रतिपादक पुराणो के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके प्रकाशित अंश (ब्राह्मी संहिता) मे शिव-शिवा के माहात्म्य का ही पूर्णतः प्रकाशन है। महेश्वर ही परमतत्त्व माने गये हैं। शक्ति का भी यहाँ विशिष्ट वर्णन है। श्री कृष्ण भी शिव की स्तुति करते हुए दिखलाये गये है। ऐसी दशा मे इसे 'सात्त्विक' क्योंकर कहा जा सकता है? वायुपुराण का स्वरूप निश्चयेन शिव-माहात्म्यपरक है और इसीलिए यह स्कन्दपुराण मे (शैव) नाम से भी अभिहित किया गया है। ऐसी दशा मे इसमे पुराणसम्मत सात्त्विकता कहाँ? फलतः गरुड के पूर्वोक्त विभाजन मे हम विशेष श्रद्धा नही रख सकते।

उपास्य देवो की विभिन्नता से पुराणो का विभाजन ऊपर किया गया है। स्कन्दपुराण के केदारखण्ड के अनुसार दश पुराणो में शिव, चार मे भगवान् ब्रह्मा, दो में देवी और दो मे हरि—इस प्रकार विभाजन किया गया है, परन्तु तत् पुराणो के नाम-निर्देश न होने से इस विभाजन की वैज्ञानिकता मापी नही जा सकती। इसी पुराण के 'शिवरहस्य' नामक खण्ड के अन्तर्गत सम्भव-काण्ड मे (२।३०।३८) एक दूसरा ही विभाजन किया गया है जो इस प्रकार है—

(१) शैव = शिवविषयक

शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह,
स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड (१०)।

(२) वैष्णव = विष्णुविषयक

विष्णु, भागवत, नारदीय तथा गरुड (४)।

(३) ब्राह्म = ब्रह्माविषयक

ब्रह्म तथा पद्म (२)।

(४) आग्नेय = अग्निविषयक

अग्निपुराण (१)।

(५) सावित्र = सूर्यविषयक

ब्रह्मवैवर्त (१)।

१८

स्कन्दपुराण के अनुसार प्रतिपाद्य देवानुसारी यह विभाजन वैज्ञानिक-रीत्या शोभन नही माना जा सकता, क्योकि 'पद्मपुराण' तो निश्चयेन भगवान् विष्णु की महिमा का सविशेषभावेन प्रतिपादक है। इसीलिए गौडीय वैष्णवों

के सिद्धान्तों का विकास, विशेषतः राधा का, इसी पुराण के आधार पर है।'
यह विभाजन सामान्य रीत्या ही मान्य है।

स्कन्दपुराण का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है—

(क) खण्डात्मक विभाजन	(ख) संहितात्मक विभाजन
(१) माहेश्वर खण्ड	(१) सनत्कुमार संहिता = ५५ हजार श्लोक
(२) वैष्णव ,,	(२) सूत संहिता = ६ ,, ,,
(३) ब्रह्म ,,	(३) शाङ्करी ,, = ३० ,, ,,
(४) काशी ,,	(४) वैष्णवी ,, = ५ ,, ,,
(५) अवन्ती ,,	(५) ब्राह्मी ,, = ३ ,, ,,
(६) नागर ,,	(६) सौरी ,, = १ ,, ,,
(७) प्रभास ,,	= १ लक्ष[१] ,,
इन खण्डो के अन्तर्गत अनेक अवान्तर खण्ड भी वर्तमान हैं। श्लोको की संख्या ८१ सहस्र।	इन संहिताओं के भी अनेक अवान्तर खण्ड है।

पुराण का वर्गीकरण

अष्टादश पुराणो के वर्गीकरण अनेक प्रकार से किये गये है। भिन्न-भिन्न पुराणों ने इस विषय मे विभिन्न दृष्टियाँ अपनायी हैं। पुराण के पञ्चलक्षण को आधार मानकर प्राचीन और प्राचीनोत्तर—ये दो विभाग किये जा सकते हैं। इस कसौटी के अनुसार वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम

१. यह नाम संहिताओ तथा उनकी श्लोक संख्या सूतसंहिता (१ अ० श्लोक १९–२४) के आधार पर है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्थाङ्क २५) मे पूना से प्रकाशित है (१९२४ ई०)। इसके ऊपर माधवाचार्य रचित 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या भी यहीं प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि ये माधव सायणाचार्य के अग्रज माधवाचार्य से नितान्त भिन्न है। ये मन्त्री होने के हेतु माधवमन्त्री के नाम से प्रख्यात हैं, परन्तु हैं उनके समकालीन ही—१४ शती का मध्य भाग। विशेष द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ "आचार्य सायण और माधव" (प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

सूतसंहिता शैव दर्शन के सिद्धान्तो की विस्तार से प्रकाशिका है। माधव की यह व्याख्या गम्भीर रहस्यो को सरलतया प्रकट करती है।

पड़ते है, क्योकि इन चारो मे पुराण के पाँचो विषय उचित परिमाण मे वर्णित है। इनसे भिन्न पुराणो को प्राचीनोत्तर वर्ग मे अन्तर्भुक्त समझना चाहिए। देवता के विचार से पुराणो का अन्य वर्गीकरण है। पद्मपुराण के अनुसार मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द, अग्नि—ये छः पुराण तामस हैं। ब्रह्माड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म—ये छः राजस पुराण हैं तथा विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म और वाराह—ये छः सात्त्विक पुराण माने गये है। यह वर्गीकरण विष्णु को सात्त्विक देव मानकर किया गया है। यहाँ तामस, राजस तथा सात्त्विक पुराणो की समान संख्या निर्धारित है।[१] मत्स्य-पुराण इससे कुछ विभिन्न बात बतलाता है। उसकी दृष्टि मे विष्णु के वर्णनापरक पुराण सात्त्विक, ब्रह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण राजस, शिव के प्रतिपादक तामस, सरस्वती और पितरो के माहात्म्य का वर्णन करनेवाले पुराण 'संकीर्ण' माने गये हैं।

> सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः
> राजसेषु च माहात्म्यमधिक ब्रह्मणो विदुः।
> तद्वदग्नेश्च, माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च
> संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते॥
>
> —मत्स्य ५३ अ०, ६८—६९ श्लोक

स्कन्द की दृष्टि मे दश पुराणो मे तो केवल शिव की स्तुति है, चार मे ब्रह्मा की और दो मे देवी तथा हरि की है। इस वर्गीकरण मे तत्तत् पुराणो का नाम नही दिया गया है—

> अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः
> चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः॥
>
> —स्कन्द, केदारखण्ड १

---

१. मत्स्य कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे॥
वैष्णवं नारदीय च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे॥

—पद्म पुराण, उत्तरखण्ड, १६३।८१—८४

टमिल ग्रन्थों में पुराणो के ये पाँच वर्ग किये गये हैं :—

(१) ब्रह्मा—ब्रह्मपुराण और पद्मपुराण,

(२) सूर्य—ब्रह्मवैवर्त,

(३) अग्नि—अग्नि,

(४) शिव—शिव, स्कन्द, लिङ्ग, कूर्म, वामन, वराह, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय तथा ब्रह्माण्ड (= १०),

(५) विष्णु—नारद, श्रीमद्भागवत, गरुड और विष्णु (=४)।

तात्पर्य यह है कि इन सकल वर्गीकरण की विभिन्नता का कारण उनका विभिन्न दृष्टिकोण है। आधुनिक विद्वानों ने पुराणो मे वर्णित विषयो का पूर्ण और आलोचनात्मक परीक्षण करने के पश्चात् विषय-विभाग के अनुसार पुराणो के छः वर्ग निर्धारित्त किये है :—

(१) प्रथम वर्ग मे साहित्य का विश्वकोश है अर्थात् मानव-समाज के लिए उपयोगी समस्त विद्याओं का—आध्यात्मिक तथा भौतिक विद्याओ का—सार अंश एकत्र कर दिया गया है। आजकल प्रकाशित होनेवाले 'विश्वकोश' के समान इनका संकलन-मूल्य है। इस वर्ग मे गरुड़, अग्नि तथा नारदीय पुराण आते हैं जिनमें प्राचीन विद्याओ का संक्षेप बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(२) द्वितीय वर्ग मे मुख्यतः तीर्थो तथा व्रतो का वर्णन है। इस विभाग मे पद्मपुराण, स्कन्द तथा भविष्य की गणना है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के न्याय के अनुसार ही इसे समझना चाहिए। इन विषयों की मुख्यता होने के कारण ही ये तीन पुराण इस वर्ग मे आते है, अन्यथा सामान्य रूप से ये विषय अन्यत्र भी देखे जा सकते है।

(३) तृतीय वर्ग ब्रह्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों का है। इनके विषय मे विद्वानों का मत है कि इनके दो-दो संस्करण हो चुके हैं, जिनमें इनका मूल भाग वही है जो उनका केन्द्रस्थ भाग है। इन दो वार के संस्करणो मे आगे-पीछे बहुत कुछ जोड़ा गया है।[1]

(४) चतुर्थ वर्ग में ऐतिहासिक पुराणो की गणना है—'ऐतिहासिक पुराण' से तात्पर्य उस पुराण से है जिसमें कलियुग के राजाओं का

---

१. श्रीमद्भागवत के इस द्विविध संस्करण के विषय मे लेखक को महान् सन्देह है। भागवत इतना सुव्यवस्थित पुराण है परस्पर में अन्तर्योग से समन्वित, कि उसके दो संस्करण होने की बात समझ मे नही आती। प्रचलित मत का आश्रय लेकर ही पूर्वोक्त कथन है।

वर्णन विशेष रूप से, इतिहास की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर, किया गया है। ऐसे वर्ग मे वायु तथा ब्रह्माण्डपुराण का समावेश है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि इन दोनो पुराणो मे पारस्परिक साम्य वर्णन का ही नही, प्रत्युत अध्यायों का भी इतना अधिक है कि डा० किर्फेल ने इन दोनों को एक ही मूल पुराणों से विनिःसृत बतलाया है। दोनो में अध्याय के अध्याय ज्यों के त्यों आये हुए हैं। इसीलिए किर्फेल का कहना है कि किसी प्राचीन युग मे दोनों एक ही पुराण मे अन्तर्निविष्ट थे।[१] पीछे ये पृथक् कर दिये गये। यह घटना बाणभट्ट से पूर्व अर्थात् सप्तम् शती से पहिले ही हो चुकी थी जब उन्होंने वायुपुराण के प्रवचन का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(५) पञ्चम वर्ग मे साम्प्रदायिक पुराणो का अन्तर्भाव है। इसमे लिङ्ग, वामन तथा मार्कण्डेयपुराण आते है।

(६) षष्ठ सर्ग में वाराह, कूर्म तथा मत्स्यपुराण की गणना है जिनमे पाठो का अत्यधिक संशोधन होने से मूल पाठ रह ही नहीं गया है।[२]

यह वर्गीकरण सामान्य रीति से ही समझना चाहिए। पुराणो का वर्गीकरण न यथार्थतः सर्वमान्य रूप से है, और न हो ही सकता है। भिन्नरुचिर्हि लोकः।

(घ) शिवपुराण तथा वायुपुराण का स्वरूपनिर्णय

विभिन्न पुराणो मे निर्दिष्ट पुराणसूची मे चतुर्थ पुराण के रूप मे किस पुराग की गणना मान्य की जाय, इस विषय में ऐकमत्य नही है। यह वस्तुतः मतभेद का एक गंभीर विषय है। पुराणो की बहुल सख्या 'शिवपुराण' को चतुर्थ पुराण मानने के पक्ष में है, अल्पीयसी संख्या 'वायुपुराण' को वह आदरणीय स्थान देने पर आग्रह रखती है। नामनिर्देशपूर्वक यदि स्पष्टतः कहना पड़े, तो कहना होगा कि कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत, मार्कण्डेय, लिंग, वराह तथा विष्णु 'शिवपुराण' के पक्ष मे अपनी सम्मति देते हैं। जब कि देवीभागवत, नारद तथा मत्स्य 'वायु-पुराण' के पक्ष मे अपना मत देते हैं, इस प्रकार विभिन्न आठ पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट होने से 'शिवपुराण' को ही चतुर्थ महापुराण होने का श्रेय प्राप्त है, परंतु

---

१. जर्मन विद्वान् डा० किर्फेल ने अपने मत का. विशद प्रतिपादन 'पुराण पञ्चलक्षण' ग्रन्थ की जर्मन-भाषा-निबद्ध भूमिका मे किया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है तिरुपति से प्रकाशित जर्नल आव वेंकटेश्वर इन्स्टिच्यूट की पत्रिका (भाग ७ और ८) मे।

२. देखिए डा० पुलासकर का एतद्विषयक लेख—कल्याण का संस्कृति अंक (१९५०) पृ० ५५२—५५३।

ऐसे विषयो मे बहुमत का कोई मूल्य तथा महत्व नही माना जा सकता। प्रामाणिकता का निर्णय बहुमत की कसौटी से करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

१. दोनों पुराणों का वर्तमान स्वरूप

इस समय शिवपुराण तथा वायुपुराण के नाम से दो विभिन्न ग्रंथ प्रचलित हैं जो आकार-प्रकार में, वर्ण्यविषयक के संकेत में नितांत भिन्नता रखते हैं। शिवपुराण बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से छपकर प्रकाशित है (सं० १९८२, शाके १८५७) तथा पंडित पुस्तकालय, काशी से अभी निकला है। वायुपुराण विब्लिओथेका इण्डिका (कलकत्ता, १८८०–८९ ई०) में, आनन्द संस्कृत ग्रन्थावलि (पूना, १९०५ ई०) में तथा गुरुमंडल ग्रंथमाला (कलकत्ता, वि सं० २०१६, ई० सन् १९५९; उन्नीसवाँ पुष्प) में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों संस्करणों में पाठ प्रायः एक समान ही है। शिवपुराण की खंडभूता संहिताओ की संख्या का निर्णय एक विषम समस्या है। इस समस्या की जटिलता का अनुमान इस घटना से किंचिन्मात्र लग सकता है, जब हम दो प्रकार की संहिताओं का निर्देश वर्तमान शिवपुराण मे दो स्थानों पर प्रायः एक ही रूप में पाते हैं। शिवपुराण की **विद्येश्वर संहिता** (अध्याय २। ४९–५५) मे तथा **वायवीय संहिता** के पूर्वार्ध में (प्रथम अध्याय, श्लोक ५०–५२) बारह संहिताओं तथा उनकी श्लोक संख्या का निर्देश प्रायः एक ही आकार-प्रकार से उपलब्ध होता है। इन संहिताओ के नाम ये हैं—विद्येश्वर, रौद्र, विनायक, औम, मातृ, रुद्रैकादश, कैलास, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटि, वायुप्रोक्त संहिता तथा धर्मसंहिता।[१]

इनकी श्लोक संख्या एक लाख बतायी जाती है। इन लक्षश्लोकात्मक द्वादश संहिताओं से सम्पन्न शिवपुराण का अस्तित्व हस्तलेखो के रूप में भी नहीं सुना जाता, इसके प्रकाशित होने की तो बात ही न्यारी है। श्लोकों की यह महती संख्या भी आलोचकों की शंका का एक प्रधान कारण है। इस संख्या के सम्मिलित होने पर तो चतुर्लक्षात्मक पुराणों की संख्या में विशेष वृद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होता है जो कथमपि न्याय्य तथा निर्दुष्ट नही माना जा सकता। तथ्य यही प्रतीत होता है कि शिवपुराण की मूलभूत चतुर्विंशति साहस्री सप्तसंहिताओं के स्थान पर ही यह चतुर्गुणित संख्यावाली द्वादश संहिताएं केवल पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ही कल्पित की गयी हैं। क्योंकि पुराणो में सबसे बड़ा पुराण है स्कंदपुराण, परन्तु उसके भी श्लोकों की संख्या इक्यासी हजार तक सीमित है। फलतः लक्षश्लोकी महाभारत से

---

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट १।

तुलना तथा समान सम्मान से सम्पन्न होने की भव्य भावना ही 'शिवपुराण' के इस विराट रूप का कारण मानी जा सकती है। उपलब्ध शिवपुराण की साता संहिताओ का निर्देश इस प्रकार है—१–**विद्येश्वर** संहिता (२५ अध्याय), २—**रुद्र** संहिता (१९७ अध्याय) [जिसमे पाच खंड है (क) सृष्टि (२० अ०) (ख) सती खण्ड (४३ अ०), (ग) पार्वती खंड (५५ अ०, (घ) कुमार खंड (२० अ०) (ङ) युद्ध खड (५९ अ०)] ३—**शतरुद्र** संहिता (४२ अ०, ४—**कोटिरुद्र** संहिता (४३ अ०) ५—**उमा** संहिता (५१ अ०), ६—**कैलास** संहिता (२३ अ०) तथा ७—**वायवीय** संहिता (पूर्व भाग ३५ अ० तथा उत्तर भाग ४१)। इन संहिताओ मे अन्तिम संहिता वायु-प्रोक्त होने से **वायवीय** नाम से अभिहित की जाती है तथा इसके दो भाग है जिनके अध्यायो की सख्या का निर्देश ऊपर किया गया है। इस प्रकार समग्र शिवपुराण मे ४५७ अध्याय हैं, परन्तु वायवीय संहिता मे केवल ७६ अध्याय तथा चार सहस्र श्लोक है।

वायुपुराण पुराण-साहित्य मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है—पुराणीय पंचलक्षण को सम्पत्ति मे तथा रचना की प्राचीनता मे तथा शैली की विशुद्धता मे। पुराणीय पंचलक्षणीय का उचित सन्निवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य है। इसमे सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित—ये पाचो विषय दीर्घ या ह्रस्व मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध वायुपुराण मे ११२ अध्याय मिलते है, परन्तु ग्रंथ की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट पता चलता है कि अन्त के नौ अध्याय (१०४–११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिए किसी वैष्णव लेखक ने पीछे से जोडे है। इस पुराण का अन्तिम अध्याय विना किसी संदेह के १०३रा अध्याय ही है, क्योकि इसके अन्त मे पुराण के अवतार की गुरुपरंपरा प्रामाणिक रूप से निवद्ध की गयी है (श्लोक ५८-६६) तथा आगे के श्लोको मे फलश्रुति और महेश्वर की स्तुति की गयी है जो वायु-पुराण के शैवतत्त्वप्रतिपादक होने का स्पष्ट संकेत है। अध्याय १०४ मे महर्षि व्यास द्वारा परमतत्व के वर्णन तथा साक्षात्कार का विवरण है और वह **परम-तत्त्व राधासंवलित श्रीकृष्ण** ही माने गये है। यहाँ आनंदकंद श्री कृष्णचद्र का वर्णन[1] बडी ही सरस भाषा तथा रसमयी शैली मे निबद्ध होकर रससम्पन्न गीति काव्य का चमत्कार उपस्थित कर रहा है। इस वर्णन मे राधा का नामोल्लेख, जो श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण जैसे विशुद्ध विष्णुभक्तिप्रधान पुराणो मे भी नही किया गया है, वायु के इस अध्याय को इन पुराणो की रचना से अवान्तर-कालीन सिद्ध कर रहा है। वायुपुराण के अन्तिम आठ अध्याय (१०५—

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट २।

११२) गयामाहात्म्य के विशद प्रतिपादक हैं। गया के तीर्थदेवता 'गदाधर' नाम्ना प्रख्यात विष्णु ही हैं जिनकी यह अनुप्रासमयी स्तुति इसके साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका है—

गदाधरं व्यपगत कालकल्मषं
गयागतं विदितगुणं गुणातिगम्।
गुहागतं गिरिवर-गौर-गेहगं
गणार्चितं वरदमहं नमामि ॥

—अ० १०९, श्लोक २७।

इस प्रकार अध्याय १०४–११२ भगवान् विष्णु की स्तुति तथा महत्ता के प्रतिपादक हैं और इन्हें निश्चयरूप से वैष्णवमत की संवर्धना के निमित्त किसी लेखक ने इस प्राधान्यतः शिवमाहात्म्यप्रतिपादक पुराण में पीछे से जोड़ दिये हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे पुराणस्थ विषयो की अनुक्रमणी में भी 'गयामाहात्म्य' का निर्देश न होना निश्चय ही इसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है।

वायुपुराण चार भागों में विभक्त है—(१) **प्रक्रियापाद** (अ० १—६), (२) **उपोद्घातपाद** (अ० ७—६४), (३) **अनुषंगपाद** (अ० ६५—९९), (४) **उपसंहारपाद** (अ० १००—११२) भागचतुष्टय की यह कल्पना बड़ी प्राचीन है। इन भागो की तुलना वेदचतुष्टय तथा कालचतुष्टय से की गयी है तथा समग्र पुराण की संख्या द्वादश सहस्र निश्चित रूप से दी गयी है। (३२।६६) जो उपलब्ध पुराण की श्लोकसंख्या से बहुत अधिक नही है। प्रचलित वायुपुराण की श्लोकसंख्या दस सहस्र नौ सौ इक्यानवे (१०,९९१) है। प्रतीत होता है कि इस पुराण के कुछ अंश छिन्न-भिन्न तथा त्रुटित हो गये हैं। इतना तो निश्चित ही है कि आजकल का उपलब्ध यह पुराण प्राचीन वायु-पुराण से विशेष भिन्न नहीं है।

मूल श्लोकों की संख्या का प्रतिपादक पुराणस्थ वचन ध्यान देने योग्य है—

एवं द्वादश साहस्रं पुराणं कवयो विदुः। ६६
यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम्
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्
चतुष्पादं पुराणं तु ब्रह्मणा विहितं पुरा ॥ ६७ ॥

—वायुपुराण, द्वात्रिंश अध्याय।

२. चतुर्थ पुराण का लक्षण

शिवपुराण तथा वायुपुराण में किसे महापुराण माना जाय ? यह समस्या गंभीर है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की संख्या अठा-

रह है; यह तो पौराणिको का निश्चित तथा प्रामाणिक सम्प्रदाय है। इससे विरुद्ध होने के कारण डा० फरकूहर का पुराणो की संख्या वीस मानने का आग्रह कथमपि समुचित नही है।[१] उन्होने शिव तथा वायु के अतिरिक्त 'हरिवंश' को पुराणो के भीतर अंतर्भुक्त कर पुराणसंख्या वीस मानी है। इस मत के लिए कोई भी आधार नही है—न संप्रदाय का और न किसी ग्रन्थ का ही। कूर्म-पुराण का वायु तथा शिवपुराण दोनों को एक साथ अष्टादश पुराणों के अंतर्गत मानना कथमपि समुचित नही है, क्योकि यह सूची 'अग्निपुराण' को महापुराण से वाहर फेक देती है, जो सब प्रकार से पुराणो के अन्तर्गत निश्चित रूप से माना गया है। फलतः वायुपुराण और शिवपुराण—इन दोनो मे से किसी एक को तो महापुराणो की सूची से हटाना ही पड़ेगा। परन्तु किसको ? इसी का समाधान करने का यह प्रयास है।

सवसे प्रथम चतुर्थ पुराण के समस्त लक्षणों को एकत्र करना चाहिए कि ये लक्षण दोनो पुराणो मे से किसके साथ सुसङ्गत घटित होते हैं। पुराणो के अनुक्रमणी भाग मे ये लक्षण दिये गये हैं, परन्तु इस भाग पर विशेष आस्था रखना भी न्याय्य नही, क्योकि ये अर्वाचीन काल की रचना है—सम्भवतः एकादश शताब्दी की। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध ९५ अ०), रेवामाहात्म्य तथा मत्स्यपुराण (५३ अ०) मे चतुर्थ पुराण के लक्षण दिये गये है। **नारदीयपुराण**[२] (११९५–११६ श्लोक) के अनुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक, चौवीस सहस्र श्लोको से सम्पन्न, श्वेतकल्प के प्रसङ्ग से वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके दो भाग हैं—पूर्व भाग मे सर्गादि मन्वंतरो के राजवंश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य, व्रत, दानधर्म, राजधर्म आदि विषयो का विवरण दिया गया है। उत्तर भाग मे नर्मदा का वर्णन तथा शिव का माहात्म्य प्रतिपादित है। **रेवामाहात्म्य**[३] के अनुसार पूर्व भाग मे शिव की महिमा तथा उत्तरार्ध मे रेवा (नर्मदा) का माहात्म्य वर्णित है। **मत्स्यपुराण**[४] **तथा वायवीय संहिता**[५] का संक्षिप्त वर्णन वतलाता है कि वायु ने श्वेतकल्प के प्रसङ्ग से रुद्र की महिमा चौवीस हजार श्लोको मे प्रतिपादित की है। इन लक्षणो को समन्वित करने से इस चतुर्थ पुराण के वैशिष्ट्य का परिचय निश्चयेन मिलता है। यह वायु के द्वारा प्रोक्त श्वेतकल्प के प्रसङ्ग में रुद्र की महिमा का प्रतिपादक पुराण है जिसमे दोनो खण्डो की श्लोकसंख्या मिलाकर २४ हजार है। नारदीयपुराण की अनुक्रमणी अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। उसके अनुसार पूर्वार्ध मे गयासुर के वर्णन का तथा उत्तरार्ध मे नर्मदा के माहात्म्य का

१. आउट लाइन आव् रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया, पृ० १३९।
२–५. द्रष्टव्य परिशिष्ट ३, ४, ५ तथा ६।

वर्णन है तथा दान, धर्म आदि अन्य विषयों का भी यहाँ संकेत है। अब देखना है कि इन लक्षणों का समन्वय किस पुराण में किया जा सकता है—शिवपुराण में अथवा वायुपुराण में ?

३. शिवपुराण में लक्षणसंगति

प्रथमतः शिवपुराण में इस लक्षण का समन्वय संघटित नहीं होता। शिव-पुराण के अन्तर्गत अन्तिम 'वायवीय संहिता' का ही प्रवचन वायु के द्वारा निर्दिष्ट है, समस्त पुराण का नहीं। उसी के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध नाम से दो खंड अवश्य विद्यमान हैं, परन्तु श्लोकों की संख्या केवल चार सहस्र है। शिव के माहात्म्य का वर्णन तथा शैवदर्शन के सिद्धान्तों का बहुशः प्रतिपादन अवश्य उपलब्ध हैं, परन्तु उसके पूर्वार्ध में न तो गयासुर के वध का प्रसङ्ग है और न उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) के माहात्म्य का ही कहीं संकेत है। समग्र शिवपुराण के श्लोकों की संख्या चौबीस हजार से कहीं अधिक है। ऐसी दशा में शिवपुराण को चतुर्थ पुराण होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं किया जा सकता। शिव-पुराण को महापुराण माननेवाले श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में 'वायवीय' से उद्धृत इस श्लोक की शिवपुराण में सत्ता पर भी अपना पक्ष आधारित करते हैं—

तथा च वायवीये—

> एतन्मनोरमं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
> यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः॥

यह श्लोक शिवपुराण की वायवीय संहिता (१।२।८८) में उपलब्ध होता है। इस उपलब्धि से हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीधर स्वामी के समय (१३वीं शती) में शिवपुराण ने 'वायुपुराण' को इतना दबा रखा था कि 'वायवीय संहिता' के द्वारा सामान्यजन 'वायुपुराण' का अर्थ समझने लग गए थे। निबन्धकारों का साक्ष्य इसके विपरीत है। वे लोग शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण से ही प्रमाण के लिए श्लोक उद्धृत करते हैं।[८] श्रीधर स्वामी के द्वारा उद्धृत श्लोक उपलब्ध वायुपुराण में भी कुछ भिन्न रूप में उपलब्ध होता है।[९] इससे पता चलता है कि श्रीधर स्वामी के सामने वायुपुराण का कोई भिन्न ही पाठ वर्तमान था। यदि शिवपुराण को महापुराण की गणना में निविष्ट माना

---

८. हाजरा: पौराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, पृ० १४।

९. भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्॥

—वायुपुराण (आनंदाश्रम) २।८।

जाय; तो उसकी परम्परागत एक लक्ष श्लोको के योग से तो पुराणों की श्लोक-संख्या चार लाख से बहुत ही बढ जायगी। यदि समग्र 'शिवपुराण' को इस गणना मे न रखकर केवल 'वायवीय सहिता' को ही अन्तर्भुक्त माने, तो विशेष विप्रतिपत्ति है उसके श्लोकों की संख्या की। अनुक्रमणीनिर्दिष्ट २४ सहस्र श्लोकों के विरोध मे यहाँ तो केवल ४ हजार ही श्लोक मिलते है। ऐसी दशा मे शिव-पुराण मे महापुराण की संगति कथमपि नही बैठती।

४. वायुपुराण मे लक्षणसंगति

अब इस लक्षण की संगति उपलब्ध वायुपुराण से मिलाने से इसके अनेक अंश—सर्वांश भले ही नही—निश्चित रूप से मिलते हैं। इसके वक्ता वायु है तथा रुद्र–शिव की महिमा का विशद तथा व्यापक प्रतिपादन यहाँ किया गया है। आज इसमे चार खड (पाद) अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु हस्तलेखों की समीक्षा बतलाती है कि प्राचीन काल मे कभी इसके दो ही खण्ड थे—पूर्वार्व तथा उत्तरार्ध। अडयार से उपलब्ध एक हस्तलेख मे यही विभाजन है।[1] यही विभाजन अनुक्रमणी मे निर्दिष्ट किया गया है। रहा वायुपुराण की श्लोकसंख्या का समन्वय। ग्रंथ की अन्तरंग परीक्षा से तथा हस्तलेखों के प्रामाण्य पर वायु-पुराण का उल्लेख 'द्वादशसाहस्री सहिता' के नाम से किया गया है। इसमे मूलतः १२ हजार ही श्लोक थे और इससे सम्बद्ध अनेक स्वतन्त्र माहात्म्यग्रन्थो का उदय कालान्तर मे होता गया जिससे अनुक्रमणीरचना से पूर्व उसमें २४ हजार श्लोको की मान्यता सिद्ध हुई। डाक्टर पुसालकर का कहना है कि इगलिंग के कैटेलाग (हस्तलेख सं० ३५९९) मे वायुपुराण के अन्तर्गत किसी लक्ष्मी संहिता का उल्लेख है[2] जिससे इस पुराण से सम्बद्ध अन्य संहिताओ के अस्तित्व की कल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। ये सहिताएँ जो मूल वायुपुराण की कभी अंशभूता थी, आज उससे हटकर पृथक् रूप से उपलब्ध होती हैं। इसलिए वायु-पुराण के श्लोको की संख्या की गणना अनुचित नही प्रतीत होती। वाराहकल्प से सम्बद्ध होने पर भी श्वेतकल्प की घटनाओ का भी उल्लेख गौणरूप से वायु-पुराण मे पाया जाता है। इस प्रकार वायुपुराण मे चतुर्थ पुराण के सब लक्षण तो पूर्णतया सगत नही होते, परन्तु अधिकाश की संगति बैठती है।

---

१. हस्तलेख की पुष्पिका—इति श्री महापुराण वायुप्रोक्ते द्वादश साहस्त्र्या संहिताया ब्रह्माडावर्तं समाप्तम्। समाप्तम् वायुपुराणं पूर्वार्धम्। अतः परं रेवामाहात्म्यं भविष्यति॥

२. डा० पुसालकर—स्टडीज इन दि एपिक्स ऐण्ड पुराणज, पृ० ३८ (बम्बई, १९५५)।

गयामाहात्म्य प्रथमार्ध मे उल्लिखित किया गया है, परन्तु आज यह ग्रन्थ के बिलकुल अन्त मे ही मिलता है (अध्याय १०५ से लेकर ११२ तक)। मेरी दृष्टि मे यह माहात्म्य मूल ग्रन्थ में पीछे से जोड़ा गया अंश है, परन्तु अनुक्रमणी की रचना से पूर्व ही यह वहाँ विद्यमान था। ऊपर मैंने दिखलाया है कि किस प्रकार उपलब्ध वायुपुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३ अध्याय मे ही है और उसके बादवाला अंश पीछे जोड़ा गया है। फलतः शिवपुराण में की अपेक्षा वायुपुराण मे पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

५. वायुपुराण का रचनाकाल

इतना ही नही, वायुपुराण की रचना, उल्लेख, विषयसंगति आदि का विवेचन ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण है जिनके द्वारा इसके महापुराण होने के तथ्य की पर्याप्तरूपेण पुष्टि होती है। वायुपुराण निश्चितरूपेण प्राचीन, तान्त्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से नितान्त विवर्जित पुराण है, जब कि शिवपुराण अर्वाचीन, तान्त्रिकता से मंडित तथा रौद्री साम्प्रदायिकता से समग्रतया संपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रन्थ है। इस तथ्य की संपुष्टि दोनों पुराणो के यथाविधि समय-निर्देश के पोषक प्रमाण से की जा सकती है। षष्ठ तथा सप्तम शतक मे वायुपुराण की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय हमे उपलब्ध होता है शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य द्वारा तथा बाणभट्ट के दोनो ग्रन्थों द्वारा। शङ्कराचार्य ने पुराण का न तो नामनिर्देश किया है और न पुराण का सामान्य उल्लेख ही किया है। वे पुराणस्थ वचनों को 'स्मृतिवचन' मानते है, परन्तु ये किसी भी स्मृति मे उपलब्ध न होकर 'पुराण' में ही उपलब्ध होते हैं—विशेषतः 'वायुपुराण' मे। उदाहरणार्थ, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (१।३।२८) मे 'नामरूपे च भूताना' पद्य स्मृतिवचन रूप से उद्धृत है। यह वायुपुराण के ९वे अध्याय का ६३वाँ श्लोक है। इसी प्रकार भाष्य (१।३।३०) में दो पद्य उद्धृत किये गये है स्मृतिवचन के रूप मे—

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते
> तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते॥

ये दोनो वायुपुराण मे अष्टम अध्याय के ३२ तथा ३३ संख्यक पद्य हैं। ये अगले अध्याय में पुनः उद्धृत किये गये है (९ अ०, ५७ तथा ५८ श्लोक)। इसी भाष्य के अन्त मे स्मृतिवचन के रूप से तीन पद्य उद्धृत किये गये है—

स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवास्य दधाति सः ।
यथर्तुष्वृतु-लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु ॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥

इन तीनो श्लोको मे से आदि के दोनो श्लोक वायुपुराण मे (९ अ०, ६४ तथा ६५ श्लोक) उपलब्ध होते है। इन उद्धृत श्लोकों के स्थान का निर्देश आचार्य शङ्कर ने नही दिया है। परन्तु मेरी दृष्टि मे ये श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किये गये हैं। इसका मुख्य कारण इस पुराण की उस युग मे—सप्तम शती मे—लोकप्रियता है, क्योंकि शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती प्रख्यात गद्यकाव्यनिर्माता बाणभट्ट ने अपने दोनो ग्रन्थो मे **वायुपुराण** का निःसंदिग्ध उल्लेख किया है। **कादम्बरी** के पूर्वभाग मे जाबालि आश्रम के वर्णनप्रसङ्ग मे बाणभट्ट की एक विख्यात परिसंख्यामयी उक्ति है—**पुराणे वायु-प्रलपितम्** (अर्थात् वायुजन्य प्रलपन पुराण मे था। अन्यत्र कही भी वायुजन्य प्रलाप—वायु के प्रभाव मे बकझक करना—नही था)। यह निःसन्देह 'वायुपुराण' के अस्तित्व का परिचायक है। इतना ही नही, उस युग मे वायुपुराण का प्रवचन भी एक सामान्य वस्तु था।[1] हर्षचरित (तृतीय परि०) मे बाणभट्ट का उनके मित्र पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने गीतवाद्य के द्वारा मनोरञ्जन किया जिसमे पवमान (वायु) प्रोक्त पुराण का पठन भी सम्मिलित था। यह पुराण व्यासमुनि के द्वारा गीत, अत्यंत विस्तृत, संसारभर मे व्यापक तथा प्रभावशाली, पवन के द्वारा प्रोक्त था और इस प्रकार 'हर्षचरित' से अभिन्न था। ध्यातव्य है कि इस आर्या मे पुराण के लिए प्रयुक्त विशेषण श्लेष के माहात्म्य से 'हर्षचरित' की विशिष्टता के प्रतिपादक है। यह वर्णन वायुपुराण की लोकप्रियता का निःसन्दिग्ध प्रमाण है। फलतः वायुपुराण सप्तम शती से निःसन्देह प्राचीनतर है।

---

१. पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः गीत्या पवमान-प्रोक्त पुराणं पपाठ।
तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावन तदपि
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि पुराणमिदम् ॥
इस आर्या मे 'पावन' (पवित्र तथा पवन सम्बन्धी अर्थ का द्योतक) एक विशिष्ट श्लिष्ट पद है।

महाभारत मे वायुप्रोक्त, ऋषियों द्वारा संस्तुत-प्रशंसित पुराण का स्पष्ट निर्देश है जिसमे अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) से संबद्ध चरितों का वर्णन किया गया है—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम् ॥

—महाभारत वनपर्व १९१।१६।

इस पद्य मे 'अतीतानागत' पद से तात्पर्य उन राजवंशावलियो से है जो कलिपूर्व मे तथा भविष्य मे होनेवाली हैं। उपलब्ध वायुपुराण में यह वंशावली केवल मिलती ही नहीं, प्रत्युत अन्य पुराणो की वंशावलियो से यह सर्वथा प्राचीनतम भी स्वीकृत की जाती है। 'शिवपुराण' मे ऐसी वंशावली का नितांत अभाव है। फलतः महाभारत के उक्त श्लोक के प्रमाण पर शिवपुराण तो कथमपि चतुर्थ महापुराण का स्थान ग्रहण नही कर सकता।

पुराण के लक्षण की दृष्टि से भी वायुपुराण एक नितात संपन्न तथा पुष्ट पुराण है जिसमे पुराण के पाँचो लक्षणो की सत्ता विद्यमान है। इस पुराण के भिन्न-भिन्न अध्यायो मे सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वंतर, वंश तथा वशानुचरित विद्यमान हैं, परन्तु शिवपुराण मे अधिक से अधिक सर्ग ही जहा-तहाँ मिलते हैं। राजाओ तथा ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथाएँ वायुपुराग मे स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं, परन्तु शिवपुराण मे नही। यह भी वायुपुराण की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। शिवपुराण एक भारी भरकम पुराण है जिसमे शिव से सम्बन्ध रखनेवाली नाना कथाओ, चरित्रो, पूजापद्धतियो, दीक्षा-अनुष्ठानो का वड़ा ही विशाल वर्णन है। इस पुराण की द्वितीय रुद्र संहिता के अवांतर सतीखंड मे दक्षकन्या सती के चरित्र का व्यापक विवरण ४३ अध्यायों मे दिया गया है जिसमे एक अध्याय मे सीता का रूप धारण कर सती द्वारा जंगल मे इतस्ततः भ्रमण करनेवाले जानकीवियुक्त रामचन्द्र की परीक्षा लेने का प्रसङ्ग हे जिसका ग्रहण तुलसीदास ने रामचरितमानस के वालकाड मे वड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इसी प्रकार पार्वतीखंड मे पार्वती के जन्म तथा तपश्चरण का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है। वायवीय संहिता में शैवतंत्र से सम्बद्ध उपासनापद्धति का ही विशद विवेचन नही है, प्रत्युत शैव-दर्शन के सिद्धातो का भी विवरण तांत्रिकता की पूरी छाप वतला रहा है। 'शिवपुराण' का यह रूप अनुक्रमणिका द्वारा प्रतिपादित वायुप्रोक्त पुराण के स्वरूपसे एकदम भिन्न है, नितांत पृथक् है। गया तथा रेवा के माहात्म्यपरक अंश भी एकदम अनुपस्थित है। इतना ही नही, इसका आविर्भावकाल भी वायुपुराण के पूर्वोक्ति काल की अपेक्षा नितांत अर्वाचीन तथा अवांतरकालीन है।

६. शिवपुराण की अर्वाचीनता

शिवपुराण के काल का निर्णय बहिरंग तथा अंतरंग उभय साक्ष्य के आधार पर पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। तमिल देश मे शिवपुराण प्राचीनकाल से लोकप्रिय है इसका पूरा प्राचीन अनुवाद तमिल भाषा मे तो आज उपलब्ध नही है, परंतु इसके तीन विशिष्ट आख्यानो का अनुवाद हस्तलिखित रूप मे मिलता है जिनमे **शरभपुराण** (जिसमे शिव के शरभ रूप धारण करने की कथा का वर्णन है), उपलब्ध शिवपुराण (वेंकटेश्वर द्वारा प्रकाशित) की तृतीत (शतरुद्रिय) संहिता के १० से लेकर १२ वे अध्याय तक मिलता है तथा **दधीचिपुराण** शिवपुराण की द्वितीय (रुद्र) संहिता के द्वितीय खंड के ३८-३९ अध्यायो मे मिलता है। इस तमिल अनुवाद के रचयिता तिरुमल्लैनाथ माने जाते है जिनका आविर्भाव काल १६वी शती है।[१] अलबरूनी के भारत-वर्णन ग्रन्थ में शिवपुराण का नामोल्लेख पुराणो की सूची मे निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। इन्होने पुराणो के नाम तथा विस्तार की दो सूचियाँ अपने पूर्वोक्त ग्रंथ मे दी हैं—एक सूची में वायुपुराण का तथा दूसरी सूची में उसी स्थान पर शिवपुराण का नामनिर्देश इस तथ्य का प्रमाण है कि शिवपुराण की रचना १०३० ईस्वी से पूर्व ही संपन्न हो चुकी थी जब इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। यह तो हुआ बहिरंग साक्ष्य। शिवपुराण की अंतरंग परीक्षा से भी इस पुराण का कालनिर्णय सुशक्य है। कैलास संहिता के १६–१७वे अध्याय मे प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धातो का विशद प्रतिपादन किया गया है जिसमे **'शिवसूत्र'** के दो सूत्रो का तथा तत्सम्बद्ध **'वार्तिक'** का सुस्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण है—

> चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ ४४ ॥
> चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान–क्रियात्मकम्।
> स्वातंत्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥
> इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
> ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः ॥ ४६ ॥
>
> —कैलास संहिता, अ० १६।

इस उद्धरण मे दो शिवसूत्रों का उल्लेख है जिनमें **चैतन्यमात्मा** प्रथम शिवसूत्र है तथा **ज्ञानं बंधः** दूसरा शिवसूत्र है। इतना ही नही, यहाँ शिवसूत्रों

---

१. पुराणम् (काशिराजन्यास से प्रकाशित) वर्ष २, जुलाई १९६०, पृष्ठ २२९–२३०।

के वार्तिक का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का आदि ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों का अविच्छिन्न संप्रदाय है कि भगवान् शंकर के स्वप्न में दिये गये आदेश के अनुसार वसुगुप्त को ये सूत्र (तीन उन्मेषों में विभक्त तथा संख्या में ७७) महादेव गिरि की चोटी पर किसी पत्थर के ढोके पर लिखे गये प्राप्त हुए थे, जो आजकल 'शकर पल' (शंकर उपल) के नाम से प्रख्यात है। इन्हीं वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे जो अवंति वर्मा (८५३ ई०—८८८ ई०) के राज्यकाल में महनीय सिद्ध पुरुष के अवतार माने जाते थे—कल्हण का ऐसा स्पष्ट कथन है।[1] शिष्य के समय से गुरु का समय भली भांति अनुमानित किया जा सकता है। वसुगुप्त का समय इसीलिए ८२५ ई० के लगभग माना जाता है। 'शिवसूत्र' के ऊपर दो वार्तिक उपलब्ध हैं—१—भास्कररचित तथा २—वरदराजप्रणीत। इनमें भास्कर कल्लट के संप्रदाय के अनुयायी थे तथा दोनों में चार पीढ़ियों का व्यवधान था।[2] फलतः एक पीढ़ी के लिए पच्चीस साल का समय मानने से भास्कर का समय कल्लट के समय (८५० ई० लगभग) से सौ वर्ष पीछे होना चाहिए, क्योंकि इन्होंने अभिनवगुप्त (९८० ई०-१०१५ ई०) के पट्टशिष्य क्षेमराज की शिवसूत्रवृत्ति के आधार पर अपने 'शिवसूत्र वार्तिक' का प्रणयन किया था। मेरी दृष्टि में शिवपुराण के पूर्वोक्त उद्धरण में भास्कर के शिवसूत्र वार्तिक का ही उल्लेख है। अलबरूनी (१०३० ई०) के द्वारा संकेतित होने से तथा भास्कररचित 'शिवसूत्र वार्तिक (रचनाकाल लगभग ८५० ई०) को उद्धृत करने के कारण शिवपुराण का समय दशम शती का अंत मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।[3]

इस प्रकार दोनों पुराणों की तुलना करने पर वायुपुराण ही प्राचीन तथा निश्चय रूप से महापुराण है तथा शिवपुराण अर्वाचीन और तांत्रिकता से मंडित उपपुराण है। पूर्वोक्त प्रमाणों के साक्ष्य पर इस तथ्य पर संदेह करने का कोई अवकाश नहीं है।

---

१. कल्लटाद्याः सिद्धा भुवमवातरन्।

—राजतरंगिणी।

२. शिवसूत्र वार्तिक का उपोद्घात् श्लो० ४ तथा ६॥

३. महामाहेश्वरश्रीमत्-क्षेमराज मुखोद्गताम्॥ ४॥
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जमञ्जसा क्रियते मया।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः॥ ५॥

—वार्तिक का आरंभ।

परिशिष्ट

विद्येशं च तथा रौद्र वैनायकमथौमिकम् ।
मात्र. रुद्रैकादशक कैलासं शतरुद्रकम् ॥ ४९ ॥
कोटिरुद्रसहस्राद्यं कोटिरुद्रं तथैव च ।
वायवीयं धर्मसंज्ञं पुराणमिति भेदतः ॥ ५० ॥
संहिता द्वादश मिता महापुण्यतरा मता ।
तासा संख्या ब्रुवे विप्राः शृणुतादरतोऽखिलम् ॥ ५१ ॥
विद्येशं दशसाहस्रं रुद्रं वैनायकं तथा ।
औमं मातृपुराणाख्यं प्रत्येकाष्टसहस्रकम् ॥ ५२ ॥
त्रयोदश-सहस्रं हि रुद्रैकादशक द्विजाः ।
षट् सहस्रं च कैलासं शतरुद्रं तदर्धकम् ॥ ५३ ॥
कोटिरुद्र त्रिगुणितमेकादशसहस्रकम् ।
सहस्रकोटि रुद्राख्यमुदितं ग्रन्थसंख्यया ॥ ५४ ॥
वायवीयं खाब्धिशत धर्म रविसहस्रकम् ।
तदेवं लक्षसख्याकं शैवसंख्याविभेदतः ॥ ५५ ॥

—विद्येश्वर संहिता, अध्याय २ ।

२

अक्षरस्याऽऽत्मनश्चापि स्वात्मरूपतया स्थितम् ।
परमानन्दसन्दोहरूपमानन्दविग्रहम् ॥
लीलाविलासरसिकं वल्लवीयूथमध्यगम् ।
शिखिपिच्छकिरीटेन भास्वद्रत्नचितेन च ॥
उल्लसद्विद्युदाटोपकुण्डलाभ्या विराजितम् ।
कर्णोपान्तचरन्नेत्रखञ्जरीटमनोहरम् ॥
कुञ्जकुञ्जप्रियावृन्दविलासरतिलम्पटम् ।
पीताम्वरधरं दिव्यं चन्दनालेपमण्डितम् ॥
अधरामृतससिक्तवेणुनादेन बल्लवाः ।
मोहयन्तं चिदानन्दमनङ्गमदभञ्जनम् ॥
कोटिकामकलापूर्ण कोटिचन्द्राशुनिर्मलम् ।
त्रिरेकहुण्ठविलसद्रत्नगुञ्जामृगाकुलम् ॥
यमुनापुलिने तुङ्गे तमालवनकानने ।
कदम्वचम्पकाशोकपारिजातमनोहरे ॥

शिखिपारावतशुकपिककोलाहलाकुले ।
निरोवार्थं गवामेव धावमानमितस्ततः ।।
राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।
श्रुतवानस्मि वेदेभ्यो यतस्तद्गोचरोऽभवत् ।।
एवं ब्रह्मणि चिन्मात्रे निर्गुणे भेदवर्जिते ।
गोलोकसञ्ज्ञके कृष्णो दीव्यतीति श्रुतं मया ।।
नातः परतरं किञ्चिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात्परतः परः ।।
गोलोकवासी भगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ गीयते श्रुतिभिः सदा ।।
उद्दिष्टो वेदवचनैर्विशेषो ज्ञायते कथम् ।
श्रुतेर्वाऽर्थोऽन्यथा बोध्यः परतस्त्वक्षरादिति ।।
श्रुत्यर्थे संशयापन्नो व्यासः सत्यवतीसुतः ।
विचारयामास चिरं न प्रपेदे यथातथम् ।।

—वायुपुराण अ० १०४, श्लो० ४४–५५ ।

३

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
यस्मिन् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ।। १ ।।
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मानत्राह मारुतः ।। २ ।।
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ।
सर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरम् ।। ३ ।।
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ।
गयासुरस्य हननं विस्तराद्यत्र कीर्तितम् ।। ४ ।।
मासाना चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।
दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ।। ५ ।।
भूपतालककुब्व्योमचारिणां यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनां च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ।। ६ ।।
उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहितोक्ता वै विस्तरेण मुनीश्वर ।। ७ ।।
संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।
नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्तितम् ।। ८ ।।

—नारदपुराण

४

पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥ ९ ॥
महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥ १० ॥
पुराणेपूत्तरं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नमद्वयविभूषितम् ॥ ११ ॥

—रेवामाहात्म्य

५

श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र यद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥ १२ ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥

—मत्स्यपुराण

६

प्रवक्ष्यामि परमं पुण्य पुराणं वेदसम्मितम् ।
शिवज्ञानार्णवं साक्षाद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥
शब्दार्थन्यायसंयुक्तैरागमार्थैर्विभूषितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन वायुना कथितं पुरा ॥

—वायुसंहिता

(ङ) श्रीमद्भागवत की महापुराणता

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित करनेवाले संस्कृत ग्रन्थो में श्रीमद्भागवत अन्यतम है। भागवत के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर गोस्वामीजी ने अपने रामायण को सर्वजन तथा सर्वलोक के लिए उपादेय तथा आवर्जक बनाया है। रामचरितमानस के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में मानसमर्मज्ञ विद्वानो का ऐकमत्य नही है। कुछ लोग अद्वैत को तथा इतर लोग विशिष्टाद्वैत को ही रामायण का प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं। मेरी दृष्टि मे इस विषय में भागवत से तुलसीदास ने अत्यधिक स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण की है। भागवत का सिद्धान्तपक्ष है अद्वैत तथा साधनापक्ष है भक्ति और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है—अद्वैत से समन्वित भक्तियोग। श्रीमद्भागवत के स्वरूप निर्णय करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है कि भागवत पुराण है अथवा उपपुराण तथा इसके प्रणेता अन्य पुराणों के रचयिता व्यासदेव हैं या वोपदेव नामधारी कोई विद्वान् ?

अष्टादश पुराणो तथा पुराणस्थ अनुक्रमणी में 'भागवत' का नाम ही सर्वत्र पुराणरूप के निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु आजकल 'भागवत' नामधारी दो पुराण की सत्ता विद्यमान है—(१) विष्णु की महिमा का प्रतिपादक श्रीमद्भागवत तथा (२) देवी के गौरव का प्रतिपादक देवीभागवत। ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन पुराण 'भागवत' नाम से उल्लिखित तथा प्रमाणित किया जाय। इस प्रश्न के समाधानार्थ कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(१) पद्मपुराण मे सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, नारद, गरुड, पद्म तथा वाराह के साथ 'भागवत' का भी स्पष्ट संकेत है।[१] गरुड पुराण में सात्त्विक पुराणो की तीन श्रेणियाँ—उत्तम, मध्यम तथा अधम-स्थापित कर उनका विभाजन किया गया—(क) मत्स्य तथा कूर्म को 'सत्त्वाधम' (ख) वायु को 'सात्त्विकमध्यम' तथा (ग) गरुड, विष्णु और भागवत को 'सत्त्वोत्तम'—पुराण माना गया है।[२] प्रश्न यह है कि पुराण की सात्त्विकता की कसौटी

---

१. वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥ —पद्मपुराण।

२. सत्त्वाधमे मात्स्य-कौर्मे समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्याः॥—गरुडपुराण

क्या है ? इसके उत्तर मे कूर्म तथा गरुड पुराण की स्पष्ट सम्मति है कि जिन पुराणो मे हरि का माहात्म्य अधिकता से प्रतिपादित हो तथा विष्णु के स्वरूप तथा चरित का विशेष उपन्यास हो उन्हे 'सात्त्विक' कहा जाता है।[१] गरुड पुराण के साक्ष्य पर भागवत सर्वोत्तम पुराण इसीलिए है कि उसमे विष्णुचरित सर्वापेक्षया अधिकता से चर्चित है।

इस कसौटी पर कसने से देवीभागवत सात्त्विक पुराण की कोटि मे आता ही नही, क्योकि उसमे विष्णु के माहात्म्य का प्रतिपादन न होकर देवीमहिमा का ही उत्कृष्ट विवरण है। फलतः इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत हो, जिसके समस्त स्कन्धो मे हरि का ही यश विशेष रूप से उनके नाना अवतारो के चित्रण के अवसर पर वर्णित हैं, अष्टादश पुराणो के अन्तर्गत होने की योग्यता रखता है।

(२) भागवत का लक्षण—पुराणो मे स्थान-स्थान पर भागवत का वैशिष्ट्य तथा लक्षण का निर्देश मिलता है। मत्स्यपुराण[२] तथा वामनपुराण[३] मे निर्दिष्ट लक्षणो के समन्वय करने पर भागवत के तीन वैशिष्ट्यो के परिचय आलोचको को मिलते हैं—(क) गायत्री के समारंभ; (ख) वृत्र के वध का प्रसङ्ग; (ग) हयग्रीव का विवरण।

इन तीनो वैशिष्ट्यो के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। देवीभागवत के आरम्भ मे मंगलात्मक श्लोक का उपन्यास 'गायत्र्या समारंभ' का संकेत माना जाता है। वह मंगल श्लोक है—

सर्व-चैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

इस श्लोक मे 'धीमहि' तथा 'प्रचोदयात्' दोनो ही गायत्री के साक्षात् पद हैं। यह तीन पादो का श्लोक है जो वेद की त्रिपदा गायत्री का बोधक माना गया है। परन्तु विचार करने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी लेखक ने बुद्धिपूर्वक वैदिक गायत्री की समता की दृष्टि से इस अनुष्टुप्

---

१. अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि।
सर्वाणि तानि सात्त्विकानीति चाहुः॥ —गरुडपुराण।
सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥ —कूर्मपुराण।

२. यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमिष्यते॥ —मत्स्यपुराण (५३।२०)

३. हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः॥ —वामनपुराण

में तीन ही चरणों की रचना की है। परन्तु 'गायत्र्या समारम्भः' का स्वारस्य गायत्री छन्द की समता से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसमें गायत्री के प्रतिपाद्य विषय का कथमपि स्पर्श नहीं है। 'धीमहि' से ध्यान तथा तृतीय चरण (बुद्धि या नः प्रचोदयात्) के पदों से बुद्धि की प्रेरणा की चेतना अवश्य होती है; परन्तु 'सवितुः', 'वरेण्यं', 'भर्गो' आदि पदों का न तो समानार्थक कोई पद ही उपलब्ध होता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ का ही कहीं संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत का आदिम पद्य (प्रथम स्कन्ध का प्रथम श्लोक अपने प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता तथा वैशिष्ट्य के निमित्त नितान्त प्रख्यात है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

—भाग० १।१।१

इस पद्य में गायत्री के कई पद और अर्थ विद्यमान है। गायत्री के 'सवितुः' शब्द का अर्थबोध 'जन्माद्यस्य यतः' अंश से होता है। 'देवस्य'=स्वराट्। 'वरेण्यं भर्गः'=धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' गायत्रीस्थ स्वराट् पद का प्रतिनिधि है। धीमहि=धीमहि। 'सत्यं परं धीमहि' का प्रयोग इस आदि श्लोक के समान भागवत के अन्तिम पद्य के अन्त में भी है।[१] इस प्रकार पद्य में गायत्री[२] अर्थतः तथा शब्दतः उभय विधया प्रतिपादित है। फलतः 'यत्राधिकृत्य गायत्रीम्', 'गायत्र्या च समारम्भः' तथा 'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ' आदि वचनों का लक्ष्य श्रीमद्भागवत ही है, देवीभागवत नहीं।

यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि गायत्री के द्वारा प्रतिपाद्य देवता कौन है? इस विषय में पुराण तथा योगी याज्ञवल्क्य[३] नारायण विष्णु को ही गायत्री

---

१. द्रष्टव्य भा०, १२।१३।१९।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य इस पद्य की मधुसूदनी व्याख्या, प्र०—काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

३. वरेण्यं वरणीयं च संसारभय-भीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले॥—योगी याज्ञवल्क्य।

द्वारा प्रतिपाद्य देव स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अध्याय २१६ मे गायत्री के अर्थ के प्रसङ्ग मे इस विषय का गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। उसमे अग्नि, सूर्य, शिव तथा शक्ति के अर्थ को सूचित कर विष्णुपरक तात्पर्य को ही मान्यता दी गयी है।[१] फलतः सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण ही गायत्री के द्वारा द्योत्य हैं और इस तात्पर्य की पूर्ण सत्ता भागवत के आद्य श्लोक मे विशदतया वर्तमान हैं; इसके विषय मे दो मत नही हो सकते।

(ख) वृत्रवध का प्रसङ्ग दोनो भागवतो मे मिलता है। श्रीमद्भागवत मे यह प्रसङ्ग वैशद्य के साथ वर्णित है।[२]

(ग) वामन पुराणस्थ भागवत लक्षण म हयग्रीव ब्रह्मविद्या का प्रधानतया निर्देश है। भागवत के कथनानुसार षष्ठ स्कन्ध के अध्याय आठ मे वर्णित 'नारायण कवच' ही पूर्वोक्त 'हयग्रीव विद्या' है। इस कवच के उपदेश की परम्परा भी अगले अध्याय (६।६) मे दी गयी है। दधीचि ऋषि नितान्त ब्रह्मज्ञानी थे। अभ्यर्थना की जाने पर उन्होने अश्विनीकुमारो को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना स्वीकार किया। इन्द्र ने इसका यह कहकर विरोध किया— 'वैद्य होने के कारण अश्विनौ ब्रह्मविद्या के अधिकारी नही हैं। यदि मेरी आज्ञा का उल्लंघन करोगे, तो मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा।' दधीचि से इस वार्ता की सूचना पाने पर अश्विनीकुमारो ने दधीचि का मूल शिर काटकर

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती।
नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः॥
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी।
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः॥ —सूर्यस्तव का श्लोक १।

१. शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं पठन्ति च।
केचित् सूर्यं केचिदग्निं वेदगा अग्निहोत्रिणः॥
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते।
तत् पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतम्॥ —अग्नि०, २१६।८-९।

अग्निपुराण के तात्पर्य को देवीभागवत की तिलक व्याख्या के रचयिता शैव नीलकण्ठ ने नास्तिकमूल कहकर उसका खण्डन किया है। उन्होने 'भर्गो वै रुद्रः' मैत्रायणी के इस वचन के आधार पर 'भर्ग' शब्द का अर्थ रुद्र किया है तथा नारायणपरक अर्थ की उपेक्षा की है। यदि नीलकण्ठ की दृष्टि मे अग्निपुराण का वचन अर्थवाद तथा स्तावकमात्र है, तो मैत्रायणी श्रुति तथा प्रपञ्चसार आदि तन्त्रों के वचन भी उसी प्रकार स्तावक माने जा सकते हैं।

२. द्रष्टव्य देवीभागवत, ६।२-६ तथा श्रीमद्भागवत, ६।६–१४।

अलग रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का शिर लगा दिया। दधीचि ने इसी 'अश्वशिर से' ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसे क्रुद्ध इन्द्र ने काट डाला। तब इन स्ववैद्यो ने अपनी शल्य चिकित्सा की अलौकिक चातुरी से मूल शिर दधीचि को लगा दिया। 'अश्वशिर' से उपदिष्ट होने से यह नारायण कवच 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' के नाम से विख्यात हुआ। भागवत मे इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

स वा अधिगतो दध्यङङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधाम्॥[१]

—भागवत, ६।९।५२।

इस कवच के सक्रमण की परंपरा इस प्रकार है—अथर्ववेदी दध्यङ् (या दधीचि) ऋषि→त्वष्टा—विश्वरूप—इन्द्र (भागवत, ६।९।५३)। यह कवच ही 'विद्या' के नाम से भागवत मे बहुशः निर्दिष्ट किया गया है—

'न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्'।—६।८।३७।
'इमां विद्यां पुरा कश्चित्'। —६।८।३८।
'एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः। —६।८।४२।

इस 'नारायण कवच' के स्वरूप तथा मन्त्रो का विशद विवरण भागवत के छठे स्कन्ध के अष्टम अध्याय मे है। इस कवच का उपदेश वृत्रासुर के वध के अवसर पर भागवत मे दिया गया है। वृत्रासुर की कथा देवीभागवत मे भी अनेक अध्यायो मे वर्णित है।[२] दोनो मे अन्तर इतना ही है कि देवीभागवत के अनुसार वृत्र फेन के द्वारा मारा गया जिसमें पराशक्ति ने प्रवेश कर उसे शक्ति-सम्पन्न बनाया था। अतः वृत्र-वध मे पराशक्ति का ही विशेष हाथ है।[३] श्रीमद्भागवत मे इसी प्रसंग मे नारायण कवच का उपदेश तथा शक्तिसम्पन्न इन्द्र के द्वारा वृत्र-वध का स्पष्ट वर्णन है। निष्कर्ष यह है कि वैष्णव भागवत के स्वरूपानुसार 'नारायण कवच' के उपदेश को संगति वही बैठती है, देवीभागवत में नही, जिसमें इस कवच का नितात अभाव है। फलतः 'गायत्र्या समारम्भः' तथा 'हयग्रीव ब्रह्मविद्योपदेशः' निःसन्देह श्रीमद्भागवत को ही पुराण-निर्दिष्ट 'भागवत' सिद्ध करने मे पर्याप्त लक्षणयुक्त है।

---

१. इसकी विशिष्ट व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इस श्लोक की श्रीधरी जिसमे प्राचीन पद्य इस कथानक के विषय मे उद्धृत किये गये हैं।

२. द्रष्टव्य स्कन्ध—६, अ० २, ६।

३. इत्थं वृत्रः पराशक्ति, प्रवेशयुत-फेनतः।
तया कृतविमोहाच्च शक्रेण सहसा हतः॥ —देवीभाग०; ६।६।६७।

(३) निबन्ध ग्रन्थो का साक्ष्य—(क) मध्ययुगीय धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थो मे उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत मे ही उपलब्ध होते है, देवीभागवत में नही। निबन्धकारो मे विशेषतः वल्लालसेन, हेमाद्रि, गोविदानंद, रघुनन्दन, गोपालभट्ट ने अपने-अपने निबंध ग्रन्थों मे किसी 'भागवत' से जितने उद्धरण उद्धृत किये है उनमे अधिकांश श्रीमद्भागवत मे ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत मे ऐसा एक भी श्लोक नही मिलता। इससे 'श्रीमद्भागवत' की प्राचीनता तथा पुराणत्वेन प्रख्यात निःसंदिग्ध है।

(ख) वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' (रचनाकाल १०९१ शक = ११६९ ई०) मे जिन पुराणों से उद्धरण दिये हैं उनके तथ्यातथ्य के विषय में अपनी बहुमूल्य आलोचना भी दी है। उस युग के निबन्धकार मे ऐसी आलोचनाशक्ति का सद्भाव सचमुच आश्चर्यकारी प्रतीत होता है। भागवत के विषय में वल्लालसेन का कथन है कि दानविषयक श्लोको के नितांत अभाव के कारण ही इस पुराण से श्लोक उद्धृत नही किये गये है—

भागवतं च पुराणं ब्रह्माण्डं चैव नारदीयं च।
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य ॥

—उपोद्घात श्लोक ५७।

यह कथन श्रीमद्भागवत के महापुराणतत्त्व की सिद्धि के निमित्त निर्णायक माना जा सकता है। वर्तमान देवीभागवत में एक पूरा अध्याय ही (नवम स्कन्ध, ३० अ०) दान की प्रशंसा तथा विविधरूपता के विषय में उपलब्ध होता है, परन्तु श्रीमद्भागवत के दानविषयक पद्य का सचमुच नितान्त अभाव है। यदि उनकी दृष्टि मे 'देवीभागवत' भागवत नाम के द्वारा लक्षित होता तो इस कथन की आवश्यकता न होती और वे उसी में से दानविषयक पद्य उद्धृत करते। यह पद्य इस विषय मे बड़े महत्त्व का है। अतः वल्लालसेन की दृष्टि में वैष्णव भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित होने की योग्यता रखता है।

(ग) अलबरूनी (१०३० ई०) ने अपने भारतविषयक ग्रन्थ में वैष्णव भागवत को प्रधान पुराणो में अन्यतम माना है, परन्तु यह देवीभागवत से अपनी अभिज्ञता प्रकट नही करता। यहाँ पुराणों की दोनों सूचियों मे से किसी भी सूची में इस भागवत का नाम निर्दिष्ट नही है। यह इसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादक है।

(घ) पद्मपुराण के उत्तरखण्ड मे तथा स्कन्दपुराण के विष्णुखण्ड मे भागवत के माहात्म्य का वर्णन कई अध्यायों में मिलता है। इन दोनो स्थलो पर माहात्म्य की सूचिका आख्यायिका भी भिन्न-भिन्न है। यह माहात्म्य श्रीमद्भागवत का ही है, भागवत नामधारी किसी अन्य पुराण का नही। स्कन्दपुराण मे पृथक्

से पांच अध्यायों में देवीभागवत का माहात्म्य वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दपुराण दोनों भागवतों का अस्तित्व पृथक् रूप से मानता है। दोनों में किसी प्रकार का साकर्य नहीं करता। देवीभागवत का माहात्म्य स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड'[१] का बतलाया गया है जिसका अस्तित्व ही ज्ञात नहीं है।[२]

(ङ) नारदीय पुराण ने अपने पूर्वभाग के ९६ अध्याय में भागवत के वर्ण्य विषय का निर्देश किया है जो वैष्णव भागवत में आज भी उपलब्ध होता है, देवीभागवत में नहीं।

(च) श्रीमद्भागवत में देवीभागवत का कहीं भी उल्लेख नहीं है और न अपने आपको मुख्य पुराण सिद्ध करने का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न है। परन्तु देवीभागवत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह श्रीमद्भागवत से भलीभाँति परिचय रखता है। देवीभागवत का अष्टम स्कन्ध जिसमें भूगोल तथा खगोल का विस्तृत विवरण है, श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध का अक्षरशः अनुकरण है—अन्तर इतना ही है कि जहाँ श्रीमद्भागवत वैज्ञानिक विषयों के वर्णन के लिए उपयुक्त गद्य के नैसर्गिक माध्यम का आश्रय लेता है, वहाँ देवीभागवत अपनी अधमर्णता को छिपाने के लिए पद्य का कृत्रिम माध्यम पकड़ता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। देवीभागवत के अष्टम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। यह अक्षरशः श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय से आनुपूर्वी गृहीत है—आरम्भ के ५ श्लोक = भागवत के ५।१९।११-१५ तथा इस अध्याय के अन्तिम ८१ श्लो० = भागवत के उसी अध्याय के २१-२८ श्लोक। भागवत के बीच के गद्यभाग देवीभागवत में पद्यात्मना परिणत कर दिये गये हैं। भारतवर्ष-विषयक ये सुन्दर पद्य भागवत की शैली में ही निबद्ध हैं—

> अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
> यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

---

१. 'स्कन्दपुराण' के सात ही खण्ड आज तक प्रख्यात थे और प्रकाशित भी थे। यह 'मानसखण्ड' उन सब से पृथक् तथा भिन्न है। इसकी एक प्रति कई वर्षों पूर्व सर्वभारतीय काशिराजन्यास (रामनगर) को नेपाल से मिली थी जिस उपलब्धि की सूचना गत व्यास-पूर्णिमा पर्व पर स्वयम् काशिराज डा० विभूति-नारायण सिंह ने दी। यदि यह अज्ञात खण्ड अन्य प्रमाणों के आधार पर सचमुच ही वास्तविक सिद्ध हो जाय तो पौराणिक संसार में यह निःसन्देह नूतन उपलब्धि है।

२. इस माहात्म्य के लिए देखिए देवीभागवत का मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित संस्करण, पूर्वार्ध, पृ० १-२३, कलकत्ता—१९६०।

भुवन कोष के अन्य विभागो के वर्णन के लिए भी यही रीति अपनायी गयी है। इससे देवीभागवत श्रीमद्भागवत से केवल परिचित ही नहीं है, प्रत्युत उसका विशेष-भावेन ऋणी भी है।

(छ) अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के लिए देवीभागवत को उपपुराणों के अन्तर्गत रखने मे नही हिचकता।[१] शुकदेव का चरित्र भी दोनो मे पृथक् दिखलाया गया है। श्रीमद्भागवत मे शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप मे चित्रित किये गये हैं, परन्तु देवीभागवत मे उनके गार्हस्थ्य धर्म के ग्रहण करने की विशद कथा दी गयी है। यह वर्णन अवान्तरकालीन प्रतीत होता है, क्योकि गार्हस्थ्यधर्म की महिमा का प्रदर्शन भारतीय समाज की प्रतिष्ठा के निमित्त नितात आवश्यक समझने पर किया गया।

(ज) अष्टादश पुराणो मे निर्दिष्ट 'भागवत' के निर्देश के विषय मे शाक्तों मे मतैक्य नही है। कुछ लोग कालिकापुराण को ही इस नाम से उल्लिखित करते है क्योकि उसमे 'भागवती' के चरित्र का आमूल वर्णन है, कुछ लोग 'देवीपुराण' को यह गौरव देने के पक्षपाती हैं, तो दूसरे जन 'देवीभागवत' को। यह अनैकमत्य इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि वैष्णवभागवत की प्रतिष्ठा तथा महिमा से उद्विग्न होकर शाक्त लोग अपने लिए नाना शाक्त ग्रन्थो को 'भागवत' का गौरव प्रदान करने के लिए उत्सुक थे। ऐकमत्य का अभाव किसी पुष्ट परम्परा के अभाव का स्पष्ट सूचक है।

(झ) मत्स्यपुराण का कथन है—

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युः नरोत्तमा.।
तदवृत्तान्तोद्भवं लोके तद् भागवतमुच्यते ॥

—मत्स्य ५३।२१।

इसके अनुसार भागवत मे सारस्वत कल्प की कथा होनी चाहिए, परन्तु द्वितीय स्कन्ध के 'पाद्मं कल्पमथो शृणु' वचन भागवत मे पाद्मकल्प के चरित का वर्णन वतलाया गया है। यह विरोध क्यो? इसका तात्पर्य यह नही है कि श्रीमद्भागवत मे सारस्वत कल्प कथा का अभाव है।

बृहद् वामनपुराण के वचन—

आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यमे।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥

के अनुसार कृष्णकथा सारस्वत कल्प की ही है। फलतः मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त वचन से कथमपि विरोध नहीं है।

१. द्रष्टव्य—देवीभागवत, १।३।१६।

इन तर्कों पर ध्यान देने से देवीभागवत की उपपुराणता तथा श्रीमद्भागवत की महापुराणता स्पष्ट सिद्ध होती है।

भागवत तथा बोपदेव

भारतीय साहित्य में बोपदेव की कीर्ति न्यून नहीं है। ये श्रीमद्भागवत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने भागवत के विषय को लेकर तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। (१) हरिलीलामृत (या भागवतानुक्रमणी)—जिसमें श्रीमद्भागवत के समस्त अध्यायों की सूची विस्तार से दी गयी है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रदर्शन मार्मिकता से किया गया है, (२) मुक्ताफल—यह भागवत के श्लोकों का रसानुयायी संग्रह है जिसमें श्लोकों का वर्गीकरण नवरस की दृष्टि से किया गया है, (३) परमहंस-प्रिया—श्रीमद्भागवत की टीका बतलायी जाती है, परन्तु अभी तक अप्रकाशित होने से इसके स्वरूप के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की संज्ञा का तो नहीं, परन्तु संख्या की ओर बोपदेव ने स्वयम् संकेत किया है—'साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयः'। बोपदेव ने श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया तथा भक्ति को केवल भाव माननेवाले कश्मीरी आचार्यों के मतों की तीव्र आलोचना की। भक्तिरस का यह प्रथम विन्यास बोपदेव के महत्त्व का प्रतिपादक है। ये भगवान् में 'मनोनिवेश' को भक्ति का स्थायीभाव मानते हैं तथा इन्होंने भक्ति की रसरूपता की पुष्टि युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर बड़े अभिनिवेश के साथ अपने 'मुक्ताफल' में की है।[1]

इन्होंने अपने को विद्वद्वर धनेश का शिष्य तथा भिषक् केशव का पुत्र बतलाया है। इनके ग्रन्थों की अन्तरङ्ग परीक्षा से सुस्पष्ट है कि ये रामगिरि के यादव नरेशों के महामात्य धर्मशास्त्री हेमाद्रि के आश्रय में रहते थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने पूर्वोक्त ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनका समय ईसा की १३वीं शती है।

ये ही बोपदेव श्रीमद्भागवत के रचयिता माने गये हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही अपने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में (पृ० ३३५ पर) इस बात का उल्लेख किया हो, ऐसी बात नहीं है। पण्डित नीलकण्ठ शास्त्री ने भी देवीभागवत टीका के उपोद्घात में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया है—'द्वितीयैकपक्षैकदेशिनोऽपि विष्णुभागवतं बोपदेव-कृतमिति वदन्ति।' इस किंवदन्ती का उदय कैसे हुआ? ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। हरि-

---

१. डा० रामनरेश वर्मा; हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० २८८-९०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२०।

लीलामृत जैसे भागवताध्यायानुक्रमणी को लक्ष्य कर ही किसी ने यह प्रवाद चला दिया होगा, तो कोई आश्चर्य नहीं। अब इस प्रवाद के खण्डनार्थ कतिपय तर्क यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

(१) बोपदेव के आश्रयदाता ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में भागवत के श्लोकों को प्रमाण दिखलाने के निमित्त उद्धृत किया है। यह स्थिति भागवत को समकालीन रचना नहीं सिद्ध करती। अपने आश्रित की रचना को कोई भी विज्ञ पुरुष प्रमाण देने के लिए कभी नहीं उद्धृत करेगा।

(२) द्वैतमत के प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व (या आनन्दतीर्थ) ने 'भागवत तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ में भागवत के तात्पर्य का विश्लेषण किया है तथा भक्ति को ही सर्वातिशायी साधन बतलाया है। स्मृत्यर्थसागर के श्लोक के आधार पर मध्वाचार्य का जन्म १२५७ विक्रमी (१२०० ई०) में माना जाता है[1] अर्थात् मध्वाचार्य बोपदेव से लगभग सौ वर्ष पहिले उत्पन्न हुए। यह ऐतिहासिक तथ्य पूर्वोक्त मत का स्पष्ट खण्डन करता है।

(३) श्री वैष्णवमत के उन्नायक श्रीरामानुजाचार्य (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति १०।८७ से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है।

श्रीशङ्कराचार्य के कतिपय स्तोत्रों के ऊपर भागवत की स्पष्ट छाप है। कहीं-कहीं शब्द-साम्य इतना अधिक है कि उनका भागवत से परिचित होना नितान्त स्वाभाविक है। एक-दो उदाहरण लीजिए। आचार्य के 'गोविन्दाष्टक' का यह श्लोक जिसमें श्रीकृष्ण के मिट्टी खाने का वर्णन है, भागवत के आधार पर है—

मृत्स्नामत्सीहेति यशोदा-ताडन शैशव-संत्रासम्।
व्यादितवक्त्रालोकित लोकालोक चतुर्दशलोकालम्॥

'प्रबोधसुधाकर' आदि शङ्कराचार्य की निःसन्दिग्ध रचना मानी जाती है। इसमें श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का, ब्रह्मा का मोहित होना, बछड़ों का चुराना, सबके रूप में श्रीकृष्ण का बदल जाना आदि के वर्णन भागवत का अनुसरण करते हैं। गोपियों के प्रेम का रसमय वर्णन तो बलात् भागवत की ही स्मृति दिलाता है जहाँ उसका परिपाक मधुरता से सम्पन्न है। शङ्कराचार्य ने इस पद्य में स्पष्टतः व्यास के वचनों की ओर संकेत किया है जो भागवत में निश्चयेन उपलब्ध है—

---

१. एकादशगते शाके विंशत्यब्दद्वये गते।
अवतीर्णं मध्वमुनिं सदा वन्दे महागुरुम्॥
११२२ शाके=१२५७ विक्रमी=१२०० ईस्वी।

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह।—शंकर।
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्॥—भागवत।

श्रीमद्भागवत के वचन को शङ्कराचार्य ने यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया है और स्पष्टतः कहा है कि यह व्यास का वचन है। फलतः भागवत वेदव्यास रचित है तथा शङ्कराचार्य से प्राचीनतर है—यह तथ्य स्वयमेव सिद्ध होता है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) मे वंगाक्षरो मे लिखी हुई भागवत की एक प्रति विद्यमान है जो लिपि की परीक्षा से दशम शती मे लिखी गयी मानी जाती है—अर्थात् यह हस्तलेख वोपदेव से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है।

(६) वेदान्त की प्रख्यात मान्यता है कि आचार्य शङ्कर के गुरु थे गोविन्दपाद और उनके गुरु थे श्री गौडपादाचार्य। इन्हीं गौडपाद ने अपने 'पञ्चीकरण व्याख्यान' मे 'जगृहे पौरुषं रूपम्' 'इति भागवतमुपन्यस्तम्' ऐसा लिखा है। यह श्लोक भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय का प्रथम श्लोक है। इन्होने उत्तरगीता की अपनी टीका मे 'तदुक्तं भागवते' लिखकर 'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' श्लोक उद्धृत किया है जो भागवत के दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय का चौथा श्लोक है।

आचार्य शङ्कर का समय मेरी दृष्टि मे सप्तम शती का उत्तरार्द्ध है। फलतः उनके दादागुरु गौडपाद का काल इससे लगभग पचास साल पूर्व सप्तम शती का आरम्भ होना चाहिए। उनके द्वारा उद्धृत किये जाने से स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत की रचना सप्तम शती से पूर्ववर्ती है अर्थात् तेरहवी शती मे उत्पन्न वोपदेव से छः-सात सौ वर्ष पूर्व। ऐसी निश्चित परिस्थिति में वोपदेव को भागवत का प्रणेता मानना नितान्त अनुचित, अप्रामाणिक तथा इतिहास-विरुद्ध है।

अलबरूनी और पुराण

अलबरूनी महमूद गजनी के साथ भारतवर्ष की यात्रा पर आया और यहाँ के विद्वज्जनो की सहायता से उसने भारतवर्ष के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त की, विशेषतः ज्योतिष तथा दर्शन के विषय मे। भारतविषयक अपने ग्रन्थ के १२वें परिच्छेद मे उसने हिन्दुओं के प्राचीन साहित्य का, विशेषतः धार्मिक साहित्य का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। १८ पुराणो की नामावली उसने दो प्रकार से दी है। एक सूची तो विष्णुपुराण के ऊपर आधारित है और इस सूची मे पुराणों के नाम तथा क्रम वे ही है जो आजकल प्रचलित है।

दूसरी सूची मे पुराण तथा उपपुराण का मिश्रण है। इस सूची के अनुसार १८ पुराणो के नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—(१) आदि पु०, (२) मत्स्य पु०, (३) कूर्म, (४) वराह पु०, (५) नरसिंह पु०, (६) वामन पु०, (७) वायु पु०, (८) नन्दी पु०, (९) स्कन्द पु०, (१०) आदित्य पु०, (११) सोम पु०, (१२) साम्ब पु०, (१३) ब्रह्माण्ड पु०, (१४) मार्कण्डेय, (१५) तार्क्ष्य पु० (=गरुड पु०), (१६) विष्णु पु०, (१७) ब्रह्म पु०, (१८) भविष्य पु०। इस सूची का विश्लेषण करने से अनेक तथ्यो का पता लगता है—

(क) उस समय तक ६ उपपुराणो की रचना हो चुकी थी जिनके नाम ये हैं—आदि, नरसिंह, नन्दी, आदित्य, सोम तथा साम्ब।

(ख) आदिपुराण ब्रह्मपुराण से भिन्न ही पुराण है।

(ग) सूर्य के विषय मे आजकल प्रचलित उपपुराण 'सौर पुराण' है परन्तु उस समय आदित्य पुराण का प्रचलन था जो आजकल प्रसिद्ध और प्रचलित नही है।

(घ) साम्बपुराण का प्रचलन आज भी है, परन्तु सोमपुराण आदित्य-पुराण के जोड़ पर बना हुआ चन्द्रविषयक उपपुराण प्रतीत होता है।

अलबरूनी का कहना है कि इनमे से उसने केवल तीन पुराण के—आदित्य, मत्स्य तथा वायु के ही कतिपय अंशो को देखा हैं। ग्रन्थ के भौगोलिक तथा खगोलीय विवरण देने मे उसने विष्णुपुराण और विष्णुधर्म से बहुत ही उद्धरण दिये हैं जिससे प्रतीत होता है कि उस काल मे ये दोनो ग्रन्थ बहुत ही अधिक लोकप्रिय थे। अलबरूनी के ग्रन्थ का समय ११वी शती का उत्तरार्द्ध (लगभग १०६७ ई०) माना जाता है। पूर्वोक्त ग्रन्थो के निर्देश से यह निश्चित हो जाता है कि उसके युग से पहले ही ये उपपुराण प्रणीत हो चुके थे और लोक-व्यवहार में आने लगे थे।

बल्लालसेन तथा पुराण

दानसागर बल्लालसेन का विशिष्ट धर्मशास्त्रीय निबन्ध है। दान के विषय मे पुराणो तथा स्मृतियो मे जिन-जिन विषयो का वर्णन उपलब्ध है उन सबका यहां साङ्गोपाङ्ग सन्निवेश किया गया है। निबन्धकारों की शैली के अनुसार यत्र-तत्र कठिन शब्दो का तात्पर्य भी प्रदर्शित किया गया है। बल्लालसेन ने ग्रन्थ के आरम्भ मे अपना परिचय भी दिया है। ये बंगाल के अन्तिम स्वतन्त्र शासक सेनवंशावतंस, लक्ष्मण संवत् के संस्थापक तथा जयदेव, गोवर्धनाचार्य आदि प्रख्यात कविजनो के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन (११६०–१२१०) के पिता थे। इनके पितामह का नाम था हेमन्तसेन तथा पिता का नाम था विजय-

सेन। इनका समय द्वादश शतक का (उत्तरार्ध है)। इन्होंने पाँच सागर-नामान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनमें से 'अद्भुत सागर' (काशी से) तथा दानसागर (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से) प्रकाशित हुआ है। इनके अन्य तीन ग्रन्थ हैं प्रतिष्ठासागर तथा आचार-सागर (दानसागर के पृष्ठ ६, श्लोक ५५-५६ में निर्दिष्ट) तथा व्रत-सागर (दानसागर के पृ. ५२ पर निर्दिष्ट) जिनकी रचना 'दानसागर' से पहिले ही की गयी थी। 'अद्भुत सागर' का आरम्भ १०८९ शक (११६७ ई०) में किया गया और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन ने पूर्ण किया। 'दानसागर' १०९१ शक (= ११६९ ई०) में प्रणीत हुआ। 'हारलता' तथा 'पितृदयिता' के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट इनके गुरु थे जिनकी विद्वत्ता तथा चारित्र्य की स्तुति दानसागर के आरम्भ में ही बड़े ही सुन्दर शब्दों में की गयी है। इन्हीं से वल्लालसेन ने पुराणों तथा स्मृतियों का रहस्य सीखा; ऐसा उनका कथन है। इस प्रकार वल्लालसेन के साहित्यिक जीवन का काल ११५५ ई० से लेकर ११८० तक माना जाना चाहिए[१]।

दानसागर की उपक्रमणिका में वल्लालसेन ने पुराणों के स्वरूप के विवेचन प्रसंग में जिस विवेचन शैली तथा प्रतिभा का परिचय दिया है वह मध्ययुगीय निबन्धकारों में नितान्त दुर्लभ है। पुराणों के वर्जन के विषय मे उनकी युक्ति बड़ी सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी है। दानसागर के लिए संगृहीत ग्रंथो में जिनके श्लोक प्रमाण के रूप में उपन्यस्त हैं—मे पुराण तथा धर्मशास्त्र का प्रामुख्य है। इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्म, वाराह, आग्नेय, भविष्य, मत्स्य, वामन, वायवीय, मार्कण्डेय, विष्णु, शैव, स्कन्द, पद्म (१२ पुराण); शाम्बपुराण, कालिका, नन्दी, आदित्य, नरसिंह, मार्कण्डेय, विष्णुधर्मोत्तर, विष्णुधर्म (= उपपुराण), गोपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, मनु, वशिष्ठ, संवर्त आदि अनेक स्मृतियाँ (आरम्भ, श्लोक १६—२० जिन्हे अनावश्यक समझकर पूरा नाम निर्देश यहाँ नही किया जाता)।

अन्य पुराण तथा उपपुराणों के श्लोक यहाँ संगृहीत नही किये गये हैं—इन ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में वल्लालसेन के विचार नितान्त आलोचनात्मक हैं तथा इनकी अलौकिक प्रतिभा और गाढ अध्ययन के द्योतक हैं। इन्ही विचारों का संक्षेप में यहाँ उपन्यास किया जाता है तथा मूलश्लोक टिप्पणी मे दिये गये हैं।[२]

---

१. द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १ पृ. ३४०-३४१ तथा खण्ड ५ भाग २ पृ. ८७०।

२. भागवतञ्च पुराणं ब्रह्माण्डञ्चैव नारदीयञ्च।
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य ॥ ५७ ॥

दानसागर का कथन है कि भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय— इन तीनो पुराणों से श्लोकों का संग्रह इसलिए नही किया गया कि ये तीनों दानविधि से शून्य हैं। यह कथन भागवत के लिए निर्णायक माना जा सकता है कि वल्लालसेन की दृष्टि मे श्रीमद्भागवत ही वास्तव 'भागवत' पुराण है, क्योकि सचमुच इसमे दानविधि का प्रतिपादन नही मिलता। देवीभागवत का भागवत शब्द से संकेत इन्हे मान्य नही है, क्योंकि इस भागवत मे एक समग्र अध्याय (स्कन्ध ९, अ० ३०) ही दान के विषय का सांगोपांग वर्णन करता है। ग्रन्थकार की दृष्टि मे 'देवीभागवत' अभिमत 'भागवत' पुराण होता, तो ऐसी आलोचना व्यर्थ होती। लिंगपुराण के श्लोको का चयन इसलिए नहीं किया गया कि मत्स्यपुराण मे वर्णित महादान का सार ही इस पुराण मे

बृहदपि लिङ्गपुराण मत्स्यपुराणोदितैर्महादानैः।
अवधार्य तुल्यसारं दाननिबन्धेऽत्र न निबद्धम् ॥ ५८ ॥
सप्तम्यैव पुराणं भविष्यमपि सगृहीतमतियत्नात्।
त्यक्त्वाष्टमी नवम्यौ कल्पौ पाषण्डिभिर्ग्रस्तौ ॥ ५९ ॥
लोकप्रसिद्धमेतद्विष्णु-रहस्यञ्च शिवरहस्यञ्च।
-द्वयमिह न परिगृहीतं संग्रहरूपत्वमवधार्य ॥ ६० ॥
भविष्योत्तरमाचार-प्रसिद्धमविरोधि च।
प्रामाण्यज्ञापकादृष्टेर्ग्रन्थादस्मात् पृथक् कृतम् ॥ ६१ ॥
प्रचरद्रूपतः स्कन्दपुराणैकाशतोऽधिकम्।
यत् खण्डत्रितयं पौण्डरेरावन्तिकथाश्रयम् ॥ ६२ ॥
तार्क्ष्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च।
त्रयोविंशतिसाहस्र पुराणमपि वैष्णवम् ॥ ६३ ॥
षट् सहस्रमितं लैङ्गं पुराणमपरं तथा।
दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्ड-युक्तिरत्नपरीक्षणैः ॥ ६४ ॥
मृषावंशानुचरितैः कोषव्याकरणादिभिः।
असङ्गतकथाबन्ध-परस्परविरोधतः ॥ ६५ ॥
तन्मीनकेतनादीना भण्डपाषण्डलिङ्गिनाम्।
लोकवञ्चनमालोक्य सर्वमेवावधीरितम् ॥ ६६ ॥
तत्तत्पुराणोपुराणसंख्याबहिष्कृतं कश्मलकर्मयोगात्।
पाषण्डशास्त्रानुमतं निरूप्य देवीपुराणं न निबद्धमत्र ॥ ६७ ॥
ये दानधर्मविधि संस्तुता ये पुराणपुण्यागमस्मृतिगिरां बहवो विवर्त्ताः।
ते ग्रंथविस्तरभयाददिविचित्य केचिदस्माभिरत्रकलिताः कलयन्तु सन्तः ॥ ६८ ॥
—दानसागरण : उपक्रमकि

उपलब्ध होता है। फलतः वल्लालसेन लिङ्गपुराण को मत्स्य से अवान्तरकालीन ही नहीं मानते, प्रत्युत महादान के विषय में उसे मत्स्य का अधमर्ण भी मानते हैं। भविष्यपुराण से सप्तमी तिथि के वर्णन तक तो श्लोकों का संग्रह किया गया, अष्टमी तथा नवमी तिथि के परित्याग का कारण पाखंडियों के द्वारा उनका दूषित किया जाना है। शिवरहस्य और विष्णुरहस्य तो लोक में प्रचलित हैं, परन्तु इनसे श्लोकसंग्रह इसीलिए नहीं किया गया कि ये संग्रहरूप हैं, मौलिक ग्रन्थ बिलकुल नहीं हैं। भविष्योत्तर आचार-वर्णन के कारण प्रसिद्ध तथा सिद्धान्तों से अविरोधी होने पर भी प्रामाण्य के ज्ञापन का कोई साधन नहीं है अर्थात् इस पुराण में दिये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता की पुष्टि कथमपि नहीं की जा सकती और इसी कारण वह वर्जित कोटि में रखा गया है, यद्यपि इस पुराण में आचारों का वर्णन है तथा इसके कथन शिष्ट सिद्धान्तों से कथमपि विरुद्ध नहीं हैं। अन्य पुराणों के वर्णन का कारण नीचे दिया गया है—स्कन्द पुराण के तीन खण्ड, जो पौण्ड, रेवा तथा अवन्ती की कथा पर आश्रित हैं—ये लोक में प्रचलित रूप से एकांश में अधिक हैं। गरुडपुराण, दूसरा ब्राह्म०, आग्नेय, तेइस हजार श्लोकोंवाला विष्णुपुराण, ६ हजार श्लोकोंवाला दूसरा लिङ्गपुराण-दीक्षा, प्रतिष्ठा, पाखण्डियों अर्थात् बौद्धों की युक्ति, रत्नपरीक्षण, मिथ्या वंशानुचरित, कोश-व्याकरण आदि, असद्भुत कथाओं का निवेश, परस्पर विरोध का अस्तित्व, कामदेव सम्बन्धी कथा, भण्ड, धूर्त, पाखण्ड (बौद्ध) तथा लिङ्गी (संन्यासी, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदि) के द्वारा लोक का प्रवञ्चन देखकर ऊपर निर्दिष्ट पुराणों तथा उपपुराणों का तिरस्कार किया गया है। 'देवीपुराण' का भी यहाँ संग्रह नहीं किया गया है, क्योंकि एक तो यह पुराण तथा उपपुराण की संख्या से बहिष्कृत है, दूसरे निन्दित कर्मों (जैसे मारण, मोहन आदि) का यहाँ सन्निवेश है और तीसरे पाषण्डशास्त्र—तन्त्रशास्त्र के मत का यह अनुसरण करनेवाला है। तात्पर्य है कि ऊपर लिखे गये ग्रन्थों का विभिन्न कारणों से प्रामाण्य है ही नहीं और इसी कारण इनके श्लोकों का संग्रह इस दानसागर में नहीं किया गया है।

दानसागर का रचनाकाल निश्चित होने से वल्लालसेन के पूर्वोक्त कथन बड़े महत्त्व तथा गौरव से सम्पन्न हैं। ऊपर इसका रचनाकाल ११६९ ईस्वी बतलाया गया है। फलतः १२वीं शती के मध्यकाल में पुराणों-उपपुराणों की स्थिति के विषय में ये कथन नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन कथनों के प्रमुख परिणाम इस प्रकार हैं—

(क) श्रीमद्भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित था। देवीभागवत नहीं। ऐसा यदि नहीं होता, तो दानविषयक एक पूरे अध्याय के रहने पर भागवत दानविधि से शून्य नहीं बतलाया जाता।

(ख) वायु तथा शिव दोनो पुराणो मे परिगणित किये गये हैं, यद्यपि मेरी दृष्टि मे वायु० ही महापुराण के अन्तर्गत है तथा शिवपुराण तान्त्रिक विधियों से सम्पन्न होने के हेतु उपपुराण ही है।

(ग) ब्राह्म, आग्नेय, लिङ्ग तथा विष्णु—ये पुराण दो प्रकार से उस समय वर्तमान थे। ६ हजार श्लोकोंवाला लिङ्गपुराण भी उसी प्रकार अप्रामाणिक था, जिस प्रकार २३ हजार श्लोकोवाला विष्णुपुराण। यह तथ्य कूर्मपुराण के एक विशिष्ट उल्लेख से भी समर्थित होता है। कूर्म (१।१७-२०) ने उपपुराणो का जो नाम निर्दिष्ट किया है उसमे स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय पुराणो के समान ही नाम मिलते हैं। इससे यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि बहुत से उपपुराण पुराणों के संक्षेप रूप थे और इसीलिए वे उन्ही नामो से प्रख्यात थे। बल्लालसेन का पूर्वोक्त कथन इसकी सत्यता प्रमाणित कर रहा है। बृहत् लिङ्गपुराण के उल्लेख के साथ ही साथ निर्दिष्ट ६ हजार श्लोकोवाला लिङ्गपुराण प्रमाणित करता है कि इनमेसे प्रथम तो महापुराण की कोटि मे था और दूसरा उपपुराण था। दोनो यहाँ संगृहीत नहीं है और इसके निमित्त कारण भी भिन्न-भिन्न बतलाये गये है।

(घ) वे तान्त्रिक विधियो से घृणा करते थे और इसीलिए 'देवीपुराण' को वे प्रमाण से बहिष्कृत मानते थे तथा स्कन्द के कतिपय अंशो को भी।

(ङ) गरुडपुराण भी बल्लालसेन की दृष्टि मे अनेक कारणो से, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है,-प्रमाण कोटि मे नही आता।

दानसागर के विस्तृत निर्देशो के आधार पर निकाले गये ये सिद्धान्त १२वी शती मे पुराण-उपपुराणो की सत्ता-असत्ता तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय पर विशेष प्रकाश डालते हैं जो ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए विशेष उपयोगी और उपादेय है।

चतुर्थ परिच्छेद

पुराण का परिचय

(क) पुराण का लक्षण

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पञ्च-लक्षण के भीतर निम्नलिखित विषय इस प्रख्यात श्लोक के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराण विषयक यह पद्य प्रायः प्रत्येक पुराण मे उपलब्ध होता है।[१] 'पञ्च-लक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द विना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्या-विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोक-प्रियता का संकेतक माना जाता है। इस शब्द के विषय मे भी यही तथ्य सर्वतोभावेन क्रियाशील माना जाना चाहिए।

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं :—

(१) सर्ग—

जगत् की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥

—भाग० १२।७।११

---

१. यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐक्यरूपेण इन पुराणो मे प्राप्त होता है—विष्णु पुराण ३।६।२४; मार्कण्डेय १३४।१३; अग्नि १।१४, भविष्य २।५, ब्रह्मवैवर्त १३३।६, वराह २।४, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड, २।८४), कूर्म (पूर्वार्ध १।१२) मत्स्य ५३।६४; गरुड (आचार काण्ड २।२८), ब्रह्माण्ड (प्रक्रियापाद १।३८); शिवपुराण (वायवीय संहिता, १।४१)।

आशय है कि जब मूल प्रकृति में लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्त्व से तीन प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक—के अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकार से ही पञ्चतन्मात्रा (भूतमात्र), इन्द्रिय तथा (पंच) भूतो की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

(२) प्रतिसर्ग—

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय। विष्णु पुराण मे प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग मिलता है (विष्णु १।२।२५)। श्रीमद्भागवत मे इस शब्द के स्थान पर 'संस्था' शब्द प्रयुक्त हुआ है (१२।७।१७):—

> नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
> संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥

इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। यही 'संस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।[१]

(३) वंश—

> राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः॥
>
> —भाग० १२।७।१६

अर्थात् ब्रह्माजी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तान-परम्परा को 'वंश' नाम से पुकारते हैं। भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओं की ही सन्तान-परम्परा का उल्लेख प्राधान्यधिया है, परन्तु 'वंश' को राजवंश तक ही सीमित करना उपयुक्त नही है। इस शब्द के भीतर ऋषियों के वंश का ग्रहण अन्य पुराणों मे किया गया है।

(४) मन्वन्तर—

पुराण के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काल-मान का द्योतक यह शब्द है। पौराणिक काल-गणना का महत्त्व तथा स्वरूप आगे दिखलाया जायगा।

---

१. भागवत (३।१०।१४) मे प्रलय के लिए प्रयुक्त प्रति संक्रम शब्द प्रतिसर्ग के समान ही संक्रम (सर्ग) से विपरीत तत्त्व का द्योतक है—

> काल-द्रव्य-गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः॥

विष्णु पुराण का 'प्रतिसंचर' शब्द इसी शैली का शब्द है।

मन्वन्तर १४ होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु हुआ करता है जिसके सहयोगी पांच पदार्थ और भी होते है।

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥

—भाग० १२।७।१५

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार—इन छः विशिष्टताओं से युक्त समय को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

(५) वंश्यानुचरित—

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। —भाग० १२।७।१६

पूर्वोक्त वंशों मे उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा मूलपुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमे वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। यहाँ मनुष्य वंश में प्रसूत महर्षियो का तथा राजाओं का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। महर्षियो के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है।

राजनीति शास्त्र मे 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' का एक नया ही संकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्व निर्दिष्ट लक्षण से ही नितान्त भिन्न है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१–५) की व्याख्या में जयमङ्गला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया है—

सृष्टि–प्रवृत्ति–संहार–धर्म–मोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

इसमे 'पञ्चलक्षण' की एक नितान्त नूतन व्याख्या दी गयी है। ध्यान देने की बात है कि धर्म पुराण का एक अविभाज्य लक्षण स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल रूप से पुराण मे धार्मिक विषयो का सन्निवेश अभीष्ट था। धर्म का सम्बन्ध पुराण के साथ अवान्तर शताब्दियों की घटना है जब वह विकसित होकर अन्य विषयो को भी अपने मे सम्मिलित करने लगा था—आधुनिक संशोधको का प्रायः यही सर्वमान्य मत है। परन्तु जयमंगला के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह मत यथार्थतः विशुद्ध नहीं प्रतीत होता। 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' कहकर भागवत ने भी मन्वन्तर के भीतर धर्म का उपन्यास न्याय्य माना है। यह कथन पूर्वोक्त सिद्धान्त का पोषक माना जा सकता है।[१]

---

१. द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग ४, अंक १) में पण्डित राजेश्वरशास्त्री द्रविड का लेख 'भारतीयराजनीतौ पुराणपञ्चलक्षणम्' पृ० २३६–२४४। जुलाई १९६४। प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, वाराणसी।

इस संक्षिप्त विवरण मे 'वंश' के अन्तर्गत देवताओ तथा ऋषियों के वंशों का भी समावेश समझना चाहिए। इन विषयों को पुराण का मौलिक वर्ण्य विषय मानने मे प्रधान हेतु 'सूत' के कार्यों के साथ इसकी पूर्ण संगति है। पहिले कहा गया है कि पुराण का वाचन तथा व्याख्यान करना 'सूत' का प्रधान कार्य था। वायुपुराण के प्रथम अध्याय[१] मे 'सूत' ने स्वयं ही 'स्वधर्म' का निर्देश इन महत्त्वपूर्ण शब्दो मे किया है पुरातन सज्जनो के द्वारा दृष्ट या उपदिष्ट सूत का स्वधर्म है—देवताओ, ऋषियो, अमिततेजसम्पन्न राजाओ का तथा लोकविश्रुत महात्माओ के वंशो का धारण करना। ये महात्माजन आदि इतिहास-पुराणो मे ब्रह्मवेत्ताओ के द्वारा दिष्ट होते हैं। सूत का अधिकार वेद मे नही होता। वायुपुराण के इन वचनो के द्वारा इतिहास, पुराण और वेद का द्वैविध्य विशद-तया द्योतित किया गया है। यह पौराणिक वचन हमारे कथन की पुष्टि करता है कि पुराण की धारा वैदिकधारा से पृथक् विभिन्न धारा थी जिसके संरक्षण—संवर्धन, प्रचार-प्रसार का कार्य सूत की अधिकार सीमा के भीतर था।

पुराण का दश लक्षण

श्रीमद्भागवत मे (२।१०।१–७ तथा १२।७.८–) दो स्थानो पर तथा ब्रह्मवैवर्त मे दश लक्षण महापुराण के निर्दिष्ट हैं और पूर्वोक्त पांच लक्षणो को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया है। यहाँ दशलक्षण तथा पञ्चलक्षण के तुलनात्मक विवेचना का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। एक बात ध्यातव्य है कि श्रीमद्भागवत के दोनो स्थलों पर दिये गये लक्षणो मे मूलतः साम्य है, नामतः वैषम्य भले ही दृष्टिगोचर हो। इन दोनों स्थानो मे शब्द-भेद अवश्य है, परन्तु अभिप्राय भेद नही। भागवत के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दश लक्षण हैं :—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ —भाग १२।७।९

(१) सर्गः
(२) विसर्गः,
(३) वृत्तिः,
(४) रक्षा,
(५) अन्तराणि
(६) वंशः,
(७) वंशानुचरितम्
(८) संस्था
(९) हेतुः
(१०) अपाश्रयः

१. स्वधर्म एष सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः।
देवतानामृषीणा च राज्ञा चामिततेजसाम्॥ ३१॥
वंशानां धारणं कार्यं श्रुताना च महात्मनाम्।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभिः॥ ३२॥
न हि वेदेष्वधीकारः कश्चित् सूतस्य दृश्यते। —वायुपुराण, १ अध्याय

(१) सर्गः—पूर्ववर्णित 'सर्ग' से यह भिन्न नही है।

(२) विसर्ग—जीव की सृष्टि। परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा सृष्टि का सामर्थ्य प्राप्त करके महत् तत्त्व आदि पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओ की प्रधानता के कारण जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव की सृष्टि किया करते हैं इसे ही 'विसर्ग' कहते हैं। इसकी उपमा के विषय मे कहा गया है कि जैसे एक बीज से दूसरे बीज का जन्म होता है, उसी प्रकार एक जीव से दूसरे जीव की सृष्टि को इस नाम से पुकारते हैं।[१] इस प्रकार विसृष्टिः=विविधा सृष्टिः, न तु वैपरीत्येन सृष्टिः प्रलयः।

(३) वृत्ति—जीवो के जीवन-निर्वाह की सामग्री भागवत के अनुसार चर पदार्थों की अचर पदार्थ वृत्ति है।[२] मानव जीवन को चलाने के लिए जिन वस्तुओ का उपयोग मनुष्य करता है वही उसकी वृत्ति है। चावल, गेहूँ आदि अन्न सब वृत्ति के अन्तर्गत आते है। कुछ वृत्ति को तो मनुष्य ने स्वभाववश अपनी कामना से निश्चित कर लिया है और कुछ वृत्ति को शास्त्र के आदेश के कारण वह ग्रहण करता है। दोनो का उद्देश्य एक ही है—मानव जीवन का धारण तथा संरक्षण।

(४) रक्षा—इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतारो से है। भगवान् युग-युग मे पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदि के रूप मे अवतार ग्रहण कर अनेक लीलाएँ किया करते हैं। इन अवतारो के द्वारा वे वेदत्रयी—वेदधर्म—से विरोध करने वाले व्यक्तियों का संहार भी किया करते हैं। इस कारण भगवान् की यह अवतार लीला विश्व की रक्षा के लिए ही होती है। इसलिए इसकी संज्ञा है—रक्षा।[३]

भागवत ने इस पद्य के द्वारा संक्षेप में अवतार-तत्त्व के हेतु पर प्रकाश डाला है। अवतार का लक्ष्य वेद के विरोधियो का संहार करना तथा वेदधर्म की

---

१. पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्।

—भाग० १२।७।१२

इसका स्वरूप द्रष्टव्य देवीभागवत ६ स्कन्द, ३ अ०।

२. वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥

तत्रैव, श्लो० १३

३. रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यङ्-मर्त्यर्षि-देवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥

—भाग० १२।७।१४

रक्षा करना है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रख्यात श्लोकों की ओर यहां स्पष्ट संकेत है। परन्तु त्रयीद्वेषकों का हनन विभु भगवान् के लिए तो एक सामान्य कार्य है। इसी के लिए वे अवतार का ग्रहण नही करते; प्रत्युत लीला-विलास ही उसका प्रधान लक्ष्य है जिसका चिन्तन तथा कीर्तन करता हुआ जीव इस तापबहुल संसार से अपनी मुक्ति प्राप्त करने मे समर्थ होता है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

—भाग० १०।२९।१४

लीला के द्वारा आनन्द रस का आस्वादन कराना तथा करना ही भगवान् के अवतारो का लक्ष्य है। भगवान् अपनी इच्छा से ही देह का ग्रहण करते हैं, भक्तो की आर्त पुकार इसमें कारणभूत अवश्य होती है, परन्तु रहती है भगवान् की स्वेच्छा ही प्रधान प्रयोजिका। भक्तों का रक्षण करना भी उनकी ललित लीला से वहिर्भूत नही होता—

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्ववीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥

—भाग० १०।२७।११

जीव को मुक्ति प्रदान करना ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का एकमात्र लक्ष्य होता है। भागवत की दशम स्कन्ध की प्रख्यात देवस्तुति मे (१०।२) इसका बरावर निर्देश है—

शृण्वन् गृणन् संस्मरयँश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

—भाग० १०।२।३७

इन समग्र तथ्यो का ग्रहण 'रक्षा' के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(५) अन्तराणि—पूर्ववर्णित मन्वन्तर के समान ही।

(६) वंश } पूर्ववत्
(७) वंशानुचरित }

(८) संस्था = पूर्व सूची का 'प्रतिसर्ग'।

(९) हेतु—हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। वह अविद्या के द्वारा कर्म का कर्ता है। संसार की सृष्टि मे जीवको कारण मानने का रहस्य यह है कि जीवके अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होने से विश्व का सर्ग तथा प्रतिसर्ग आदि होता है। फलतः

जीव अपने अदृष्ट के द्वारा विश्व-सृष्टि या विश्व-प्रलय का कारण होता है और इसी अभिप्राय से वह भागवत मे 'हेतु'[१] जैसे सार्थक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। चैतन्य के प्रधान से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि प्राधान्य को विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से पुकारते है। जो लोग उसे चैतन्यप्रधान की दृष्टि मे देखते हैं, वे उसे अनुशयी-प्रकृति में शयन करने वाला-कहते है, और जो उपाधि की दृष्टि से कहते है, वे उसे 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप कहते है।

(१०) **अपाश्रय**—ब्रह्म का द्योतक महनीय अभिधान है। जीव की तीन वृत्तियाँ या अवस्थाएँ होती है—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति और इन दशाओं में चैतन्य का निवास है जो क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ के नाम से प्रख्यात है। इन मायामयी वृत्तियो मे साक्षिरूपेण जो सन्तत प्रतीत होती है वही अधिष्ठान-रूप **अपाश्रय** तत्त्व है। वह इन अवस्थाओं से परे तुरीय तत्त्व के रूप में लक्षित होता है वही ब्रह्म है और उसे 'अपाश्रय'[२] कहते है। नाम-विशेष (देवदत्त, घट, पट आदि) तथा रूप-विशेष (कोई मानव आकार का है, तो पशु आकार का है आदि आदि) के युक्त पदार्थों पर विचार करे, तो वे सत्तामात्र-वस्तु के रूप मे सिद्ध होते है और उनकी बाहरी विशेषताएँ नष्ट हो जाती हैं। वह सत्ता ही एकमात्र उन विशिष्टताओ के रूप मे प्रतीत होती है और वह उनसे पृथक् भी है। ठीक यही दशा है देह तथा ब्रह्म के सम्बन्ध मे। इस देह का आदि बीज है तथा पञ्चता (पञ्चत्व, नाश) है इसका अन्त (बीजादि पञ्च-तान्तासु)। शरीर तथा विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु और महाप्रलयपर्यन्त जितनी नाना विशेष अवस्थाएँ होती हैं उन सब में सब रूपो में परम सत्य ब्रह्म ही प्रतीत होता है और वह उनसे पृथक् भी है। वह 'युतायुत'[३] रूप मे प्रतीत हो रहा है अनुस्यूत होने से अर्थात् वह

१. हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
तं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ —भाग० १२।७।१८

२. व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिस्वपाश्रयः ॥

—भाग० १२।७।१९

जाग्रदादिस्ववस्थासु जीवतया वर्तन्ते इति जीववृत्तयः विश्व-तैजस-प्राज्ञाः। तेषु मायामयेषु साक्षितयान्वयः समाध्यादौ च व्यतिरेको यस्य तद् ब्रह्म संसार-प्रतीति-बाधयोरधिष्ठानावधिभूतमपाश्रय उच्यते।

—श्रीधरी

३. पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु।
बीजादि पञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्। वही, २०।

नाम रूपात्मक पदार्थों के साथ 'युत' भी है और उनसे पृथक् रूप में रहने के कारण 'अयुत' भी है। यही अधिष्ठान और साक्षी रूप मे प्रतिभासित होने वाला ब्रह्म ही भागवत–सम्मत अपाश्रय तत्त्व है।

इसी ब्रह्म के ज्ञान होने से ईहा (चेष्टा या जगत्) की निवृत्ति हो जाती है। कब ? और कैसे ? इसका उत्तर संक्षेप मे भागवतकार देते हैं—जब[1] चित्त स्वयं आत्मविचार से अथवा योगाभ्यास के द्वारा सत्त्व-रज-तम गुणो से सम्बन्ध रखने वाली व्यावहारिक वृत्तियों का और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि स्वाभाविक वृत्तियो का परित्याग कर जगत् के व्यापार से विराम पा लेता है—शान्त हो जाता है, तब शान्त वृत्ति के उदय होने पर 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यो के द्वारा आत्म-ज्ञान का उदय होता है—वह आत्मा को जान लेता है। उस समय आत्मज्ञानी पुरुष अविद्याजनित कर्मवासना से और कर्म प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है।

संक्षेप मे यही आश्रय तत्त्व है और यही भागवत का अन्तिम ध्येय है। इसीकी विशुद्धि के लिए पूर्व नव लक्षणो का उपपादन किया गया है। आत्मा की उपलब्धि ही वास्तव परम ध्येय है, परन्तु इस ज्ञान की पुष्टि के लिए पूर्व नव—सर्ग, विसर्ग आदि–लक्षणो का इसी निमित्त से विवरण दिया गया है—

दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम्।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम अध्याय मे दश लक्षणों का निवेश है जो पूर्वोक्त लक्षणो के साम्य रखने पर भी नामतः है :—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

—भाग० २।१०।१

दश लक्षणो के नाम इस प्रकार है :—

(१) सर्गः	(६) मन्वन्तरम्
(२) विसर्गः	(७) ईशानुकथा
(३) स्थानम्,	(८) निरोधः
(४) पोषणम्	(९) मुक्तिः
(५) ऊतयः	(१०) आश्रयः।

---

१. विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्
योगेन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्तते॥ २१

—भाग० १२।७ अध्याय।

पूर्वोक्त लक्षणों के साथ तुलना करने से पहले इनके स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। इस सूची मे कतिपय नूतन लक्षण अवश्य प्रतीत होते हैं। फलतः उनके विश्लेषण की आवश्यकता है—

(१) सर्गः — पूर्ववत् सर्गः
(२) विसर्गः — „ विसर्गः।
(३) स्थानम् = 'स्थिति-र्वैकुण्ठविजयः'

वैकुण्ठ भगवान् की विजय का नाम है स्थिति या स्थान। भगवान् ने पूर्व दोनो लक्षणों के द्वारा जिस विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है वह अपनी नियमित मर्यादा के भीतर ही रहकर अपनी उन्नति या उत्कर्ष को धारण करता है। मर्यादा का उल्लंघन कर वह कभी अपना अभ्युदय प्राप्त नही कर सकता। प्रकृति के गुणवैषम्य से जो विराट् सृष्टि होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। विराट् के एक अण्ड में ब्रह्मा के द्वारा जो व्यष्टि सृष्टि या विविधा सृष्टि होती है, उसका नाम 'विसर्ग' है। जिस सर्ग के पदार्थ अनुभूत होने पर जगत् की समष्टि का पूर्ण परिचय करा देते हैं सर्ग के रूप में। सर्ग से परे परमात्मा का दर्शन कर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसी भाँति 'विसर्ग' भी परमात्मा के अनुभव कराने का एक साधन है। अन्तर दोनो में इतना ही है कि सर्ग होता है महान् और विसर्ग होता है अपेक्षाकृत अल्प। फलतः दोनों तत्त्वों के वर्णन के पश्चात् उनकी स्थिति का विवरण भी न्यायप्राप्त है।

भुवन कोश का समस्त विषय स्थिति या स्थान के भीतर अन्तर्निविष्ट समझना चाहिए। एक ब्रह्माण्ड में कितने लोक हैं, लोकों का विस्तार कितना है और उनका धारण किस प्रकार होता है, किन मर्यादाओं के पालन से ब्रह्माण्ड मे स्थिरता है—आदि विषयो का विचार इस तृतीय लक्षण के भीतर निश्चित रूप से किया जाता है। भागवत का पञ्चम स्कन्ध, जिसमे भूगोल तथा खगोल का विशद विस्तृत विवरण प्रस्तुत है, 'स्थान' का उज्ज्वल उदाहरण है। इस विशाल आकाश में विचरणशील इन संख्यातीत ब्रह्माण्डो के जनक, स्थापक, मर्यादापालक भगवान् ही हैं। 'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः' इसीलिए इसका यह विलक्षण लक्षण है। भगवान् की विजय का, सर्वश्रेष्ठता का, लोकाधिपत्य का सूचक तत्त्व ही 'स्थिति' नाम से भागवत में अभिहित है।

(४) पोषणम्=तदनुग्रहः।

पोषण का अर्थ है भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की दया। यह लक्षण पूर्व लक्षण के साथ नैसर्गिकरूपेण सम्बद्ध है। ब्रह्माण्ड के नियन्त्रण को, नियमन को तथा न्याय को अवलोकन कर जीव भगवान् की अलौकिक घटना-पटीयसी मायाशक्ति के रहस्य को समझने लगता है। वह जान लेता है कि यह समग्र

विश्व ही भगवान् की कृपा का विलास है। भगवान् ताप-संताप से पीड़ित जन्तुओं के ऊपर अहैतुकी कृपा का वर्षण किया करते हैं। 'पोषण' जीव को भगवदुन्मुख बनाने मे एक प्रेरक तत्त्व है। भागवत के षष्ठ स्कन्ध मे तीनो प्रकार के जीवो—मानव, देवता तथा दैत्य—के ऊपर भगवान् की नैसर्गिक कृपा का बडा ही विस्तृत विवरण है। अजामिल जैसा दुराचारी मानव, गुरु का अपकर्ता तथा विश्वरूप ब्राह्मण का हन्ता देवराज इन्द्र, हाथी समेत इन्द्र को निगल जानेवाला अत्याचारी दैत्य वृत्रासुर—इन तीनो जीवो पर भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्तिमयी कृपा का स्वाभाविक विलास दिखलाया था और तीनों का उद्धार किया था। इन आख्यानो से सिद्ध होता है कि भगवान् साधक के हृदय की रुझान, अभिरुचि तथा प्रेम-प्रवणता के पारखी हैं।

एक ही बार के नामस्मरण से ही अगणित जन्म के पातक बालू की भीत के समान छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तब साक्षात् दर्शन के प्रभाव की बात क्या कही जाय ? चित्रकेतु का यह वचन इस विषय मे कितना औचित्यपूर्ण है—

न हि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनान् नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्
पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥

—भाग० ६।१६।४४

भागवत का यह 'पोषण' तत्त्व शाक्ततन्त्र के 'शक्तिपात' का प्रतिनिधि माना जा सकता है। यह वैदिक तत्त्व है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। श्री वल्लभाचार्यजी ने इस 'पोषण' को अपने वैष्णव सम्प्रदाय का अनिवार्य तत्त्व मानकर अपने मार्ग की ही संज्ञा इसी के आधार पर रखी है—**पुष्टिमार्ग**। फलतः यह लक्षण भागवत के संग विशद रूप से अनुस्यूत है।

(५) ऊतयः[1]=कर्मवासनाः

विचारणीय प्रश्न है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा की वृष्टि प्रतिक्षण होती रहती है, तब भी जीव इतना दुःखी क्यो है ? उस वृष्टि का एक फीका छीटा

---

१. 'ऊति' की व्याख्या श्रीधर स्वामी के अनुसार यह है—

कर्मणा वासनाः वेञ् तन्तुसंताने। ऊयन्ते कर्मभिः—संतन्यन्त इत्यूतयः। यद्वा वृष्यर्थात्संश्लेषार्थाद्वाऽवतेर्धातोरिदं रूपम्। ऊयन्ते कर्मभिर्वृह्यन्ते संश्लिष्यन्त इति वा ऊतय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

—श्रीधरी, भाग० २।१०।४

मिल जाने पर भी वह सौख्य-शान्ति से प्रफुल्लित हो उठता। इस प्रश्न का समाधान यह पञ्चम लक्षण कर रहा है। ऊति के कारण ही ऐसी दयनीय स्थिति है जीव की। ऊति का अर्थ है कर्मवासना—कर्म करने के लिए या करने से जो वासना जीव मे उत्पन्न होती है वही प्रतिपक्षी होता है दया से लाभ न उठाने का। ऊति है कर्म-वन्धन जिससे जकड़ा हुआ जीव भगवत्सान्निध्यरूपी अमृत की ओर लपकता ही नही। वासना के दो प्रकार होते हैं शुभवासना और अशुभ वासना। शुभ वासना का दृष्टान्त है प्रह्लाद स्वयं जिसे गर्भस्थिति की दशा मे ही नारद जी का सत्सङ्ग प्राप्त हुआ था और माता कयाधू के दानवी होने पर भी जिसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर स्वतः प्रसूत हुई। अशुभ वासना का उदाहरण है जय-विजय का चरित्र जिन्होने वैकुण्ठ के द्वारपाल होकर भी सनकादिको से द्वेष किया और जिसके कारण उन्हे तीन जन्मों तक असीम क्लेश भोगना पड़ा था।

(६) मन्वन्तराणि = सद्धर्मः

मन्वन्तर काल का विशिष्ट रूप माना है जिसमें सज्जनों के धर्म का प्रत्यक्षीकरण साधको को होता है। पौराणिक कालतत्त्व का विश्लेषण विशदरूप से आगे किया जायगा।

(७) ईशानुकथा—

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
सतामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥

एक मन्वन्तर के वाद दूसरा मन्वन्तर और एक कल्प के वाद दूसरा कल्प आता है और सृष्टि का प्रवाह सदा जारी रहता है। सृष्टि में प्रवाह-नित्यता है। जीव इस सृष्टि मे पड़ा हुआ इसके वाहर निकलने की कोशिश किया करता है। परन्तु उसे सफलता अपने प्रयत्न मे तभी मिलेगी जव वह भगवान् की लीलाओ की अमृतधारा मे डुवकी लगाता रहेगा। इसीलिए मन्वन्तर के पश्चात् 'ईशानुकथा' का लक्षण निर्दिष्ट है। भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के अवतारों की कथा 'ईशानुकथा' कहलाती है।

(८) निरोध

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः॥

—भाग० २।१०।६

जव आत्मा अपनी शक्तियो के साथ सो जाता है, तव सारे जगत् का निरोध अर्थात् प्रलय हो जाता है। पञ्चलक्षण में 'प्रतिसर्ग' का यह प्रतिनिधि लक्षण है।

(९) मुक्ति

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

—तत्रैव, श्लोक० ६

जब जीव अपने अन्यथा रूप को छोड़कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसे मुक्ति कहते हैं। संसार-दशा में जीव अपने को देह इन्द्रियों के साथ अध्यस्त कर अपने को देह ही तथा इन्द्रियां ही मान बैठता है और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। 'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः' इस मान्य कथन के आधार पर ज्ञान के उदय होने पर 'मुक्ति' प्राप्त होती है। उस समय जीव मिथ्या ज्ञान या अध्यासजात समस्त भ्रमों से उन्मुक्त होकर अपने यथार्थ सच्चिदानन्द रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। दुःखो के आत्यन्तिक विलयन होने से यह 'मुक्ति' कहलाती है।

(१०) आश्रय

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥

——तत्रैव श्लोक ७

जिस तत्त्व से सृष्टि तथा प्रलय प्रकाशित होते हैं, वही आश्रय है—पर ब्रह्म तथा परमात्मा शास्त्रो मे वही कहा गया है। जो नेत्र आदि इन्द्रियो का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियो के अधिष्ठातृ देवता सूर्य आदि के रूप मे भी है और नेत्र-गोलक आदि से युक्त जो यह देह है, वही उन दोनो को अलग-अलग करता है। इन तीनो मे यदि एक का भी अभाव हो जाय, तो इतर दोनों की उपलब्धि नही हो सकती। अतः जो इन तीनो को जानता है वही परमात्मा सबका अधिष्ठान आश्रय तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नही (भाग० २।१०।८-९)

दोनों की पारस्परिक तुलना

भागवत के दो विभिन्न स्कन्धों में प्रतिपादित १० लक्षणों का स्वरूप संक्षेप में ऊपर निर्दिष्ट किया गया है। दोनों की तुलना करने पर दोनों मे विशेष पार्थक्य प्रतीत नही होता।

द्वादशस्कन्ध	द्वितीयस्कन्ध
१. सर्ग २. विसर्ग	दोनो मे समानभावेन गृहीत हैं।
३. 'अन्तराणि' के स्थान पर स्पष्टतः 'मन्वन्तर' का उल्लेख।	
४. 'अपाश्रय'— ,, 'आश्रय' का निर्देश।	

५. हेतु—जीव का बोधक है। जीव को संसारप्राप्ति करानेवाले वासना-रूप अविद्या कर्मादि ही हैं। उसके लिए 'ऊति' शब्द का प्रयोग पाते हैं। फलतः हेतु तथा ऊति के समानार्थक लक्षण निष्पन्न होते हैं।

६+७. वंश तथा वंशानुचरित का ग्रहण 'ईशानुकथा' मे समझना चाहिए, क्योकि हरि तथा उनके अनुवर्ती जनो की कथा के भीतर ऋषि तथा राजवंशों का समावेश अनुचित नही माना जा सकता।

८. संस्था के चार प्रचार :

(क) नैमित्तिक, प्रलय }
(ख) प्राकृतिक ,, } का अन्तर्भाव निरोध मे
(ग) नित्य ,, }

(घ) आत्यन्तिक प्रलय = मोक्ष मे अन्तर्भाव

९. 'रक्षा'—के भीतर भगवान् के अवतार का तथा उसके लिए उनके हृदय में जगनेवाली कृपा का भी बोध समझना चाहिए। द्वितीय स्कन्ध में इसी लक्षण को दो लक्षणों मे विभक्त कर दिया है—ईशानुकथा तथा पोषण। फलतः

रक्षा = (क) ईशानुकथा
(ख) पोषण

१०. वृत्ति—वृत्ति शब्द के द्वारा जीवो की आपस में संघर्षात्मक जीवन स्थिति का द्योतन होता है। इसी का द्योतन करता है स्थान या स्थिति शब्द द्वितीय स्कन्ध में। 'वैकुण्ठ विजय' का अर्थ होगा 'स्वकार्य साधकता' = जीवों का परस्पर उपमर्दक-भावेन अवस्थान।

ब्रह्माण्डपुराण मे निर्दिष्ट दश लक्षण प्रायः वही भागवतवाले ही है। थोड़ा ही यत्र क्वापि पार्थक्य है। यथा (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थितिः, (४) कर्मणां वासना, (५) मनूनां वार्ता, (६) प्रलयानां वर्णनम्, (७) मोक्षस्य निरूपणम्—ये सातो लक्षण समान ही है। (८) हरेः कीर्तनम्—के भीतर आश्रय तथा पोषण समझना चाहिए। (९) 'वेदाना च पृथक्-पृथक्' ईश की कथा का द्योतन करता है, क्योकि वेदों में 'हरिः सर्वत्र गीयते' के अनुसार भगवान् की ही तो कथा अनुवर्णित है। (१०) वंशानुचरित का पृथक् से निर्देश है। इस प्रकार ये दश लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षणो से साम्य रखते ही हैं—

ऊपर प्रतिपादित दश लक्षणो को पंचलक्षणो का ही आवश्यकतानुसारी विस्तार समझना चाहिए। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तराणि तथा वंशानु-चरित—ये पञ्चलक्षण तो भागवत के १२ स्कन्ध (अध्याय ७) मे स्वशब्देन प्रतिपादित हैं—इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इतर अव-शिष्ट पञ्च लक्षणो का भी समावेश इन्ही पञ्चलक्षण मे भली भांति किया जा

सकता है। उदाहरणार्थ देखिए। विसर्ग सर्ग का ही अवान्तर भेद है। सर्ग ठहरा ब्रह्माण्ड की सृष्टि और विसर्ग ठहरा उसी के अन्तर्गत जीव-जन्तुओ की सृष्टि। फलतः विसर्ग की गतार्थता सर्ग मे मानना ही न्याय्य है। अपाश्रय (या आश्रय) शब्द से उपात्त परमात्मा का सर्ग के कर्ता होने से प्रतिपादन उचित है। हेतु (जीव) तथा ऊति (=कर्मवासना) का सर्ग-हेतु होने के कारण 'सर्ग' के भीतर अन्तर्भाव यथार्थ है। वृत्ति या स्थान का भी ग्रहण वंशानुचरित के भीतर समझना चाहिए। भगवान् के अवतारो की उत्पत्ति तो किसी वंश को लेकर ही होती है। इसलिए तद्विषय-द्योतक ईशानुकथा, पोषण अथवा रक्षा का भी अन्तर्भाव 'वंशानुचरित' के भीतर करना सर्वथा मान्य है। इसलिए भगवान् की लीला के बोधक चरित का—अवतार कथा का—समावेश वंशानुचरित मे करना उचित ही है। इस प्रकार तारतम्य परीक्षण करने पर भागवत की दशलक्षणी पञ्चलक्षणी का ही विकसित अथ च परिबृंहित स्वरूप है।

दशलक्षण पुराण-सामान्य का लक्षण न होकर पुराण-मूर्धन्य श्रीमद्भागवत का ही निजी लक्षण है—यही मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। भगवान् के स्वरूप का तथा भागवत धर्म का विवेचन ही श्रीमद्भागवत के उदय का प्रधान हेतु है। फलतः भगवान् ही वहाँ प्राधान्येन विवेच्य तत्त्व है। इतर नव लक्षण तो उन्ही के पोषक होने के कारण यहाँ उपन्यस्त है अर्थात् वे केवल ईश्वर-स्वरूप के परिज्ञान के लिए ही विवेचित है। उनका विवेचन प्रकृत परमेश्वर के स्वरूपाधायक होने के कारण है; उनमे अपनी कोई भी पृथक् उपयोगिता अथवा सत्ता नही है। इसीलिए भागवतकार की स्पष्ट उक्ति है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

आदि के नव लक्षण दशम तत्त्व अथाश्रम तत्त्व की विशुद्धि अर्थात् यथार्थ निश्चय के लिए है। परमात्मा तथा जीव के परस्पर सम्बन्ध का अवलम्बन कर इन तत्त्वो का प्रतिपादन भागवत मे किया गया है। पञ्चकृत्यकारी परमशिव के समान ही परमेश्वर की पञ्चकृत्यकारिता की कल्पना कथमपि अप्रासङ्गिक नही है[१]। सर्ग, स्थिति, निरोध, विसर्ग तथा पोषण परमशिव के पञ्चकृत्य उत्पत्ति, स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रह के क्रमशः भागवत प्रतिनिधि माने जा सकते है। पञ्चकृत्यकारी परमेश्वर के दो रूप होते है—

(क) उपासना के निमित्त ग्राह्य अनुग्राहक रूप, जिसका अभिधान 'अपाश्रय' या 'आश्रय' है।

---

१. द्रष्टव्य 'पुराणम्' (१ वर्ष, २ संख्या) मे 'पुराणलक्षणानि' शीर्षक लेख।
—पृ० १३५–१३८ (फरवरी १९६०)।

(ख) जगत् का परिचालन करने वाला कालरूप, जिसका संकेत 'मन्वन्तर' शब्द से किया गया है।

निगृहीत जीवभाव को प्राप्त होने वाले व्यक्ति को संसार में बन्धन में डालने वाला है ऊति (कर्मवासना), संसार से विमुक्त करने वाला साधन है ईशानुकथा और भगवान् के पोषण तत्त्व (अनुग्रह) का साक्षात् फल है मुक्ति। इस प्रकार ये दशों भगवान् तथा उनके स्वरूप से ही सम्बन्ध रखते हैं। फलतः ये श्रीमद्भागवत् के निजी वैशिष्ट्य के प्रतिपादक होने से भागवत के ही लक्षण हैं, पुराण-सामान्य के नहीं। इसीलिए भागवत में इनका द्विः उल्लेख या पुनरावृत्ति मीमांसकों के द्वारा अर्थनिर्णय के लिए निर्धारित 'अभ्यास' का ही अभिव्यक्त रूप है।

श्रीमद्भागवत का वर्ण्य विषय ही है भगवान् और इस भगवान् के साथ तन्मयता की प्राप्ति के लिए आवश्यक भागवत धर्मों का भी विश्लेषण इसी निमित्त उपादेय मानकर किया गया है। भागवत का समग्र शरीर ही इस तात्पर्य को अग्रसर करता है, परन्तु भागवत के प्रथम स्कन्ध मे (५।१०-१७) तथा द्वादश स्कन्ध में १२ वे अध्याय मे पुनरावृत्त उन्ही पद्यों को पढ़कर किसी को भी सचेता को समझते देर न लगेगी कि **भगवान् ही भागवत का साध्यतत्त्व है और भक्तियोग ही साधनतत्त्व है**। फलत: पूर्वोक्त दशलक्षणों का भागवत के साथ अविनाभाव सम्बन्ध मानना सर्वथा न्याय्य और सुसंगत है। भागवतकार का यह बड़ा ही मार्मिक कथन है कि वर्णाश्रम के अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदि के लिए जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है यश अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति। परन्तु भगवान् के गुण, लीला आदि के कीर्तन का फल है श्रीधर के चरणों की अविस्मृति। और इसीके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने से भक्ति तथा विज्ञान, वैराग्य-युक्त ज्ञान की उपलब्धि होती है जो मानवजीवन का परमोच्च लक्ष्य है :—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविराग-युक्तम्॥

—भाग० १२।१२।५४

(ख) पुराणों का परिचय

(१) ब्रह्मपुराण

यह पुराण 'आदि ब्राह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायो की संख्या २४५ है और श्लोको की संख्या १४,००० के आस-पास है। पुराण-सम्मत समस्त विषयो का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि-कथन के अनन्तर सूर्यवंश तथा सोमवंश का अत्यन्त सक्षिप्त विवरण है। पार्वती-आख्यान बड़े विस्तार से १० अध्यायो मे—(३० अध्याय से ५० तक)—दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गंगा, कृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यमतीर्थ, आपस्तम्ब–तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत (अ० ७०—१७५) दिये गये है। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) मे वडे विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध मे है। मरण के अनन्तर होनेवाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायो मे किया गया है। इस पुराण मे भूगोल का विशेष वर्णन नही है। परन्तु उड़ीसा मे स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छः अध्यायो (अ० २८—३३) मे है।

इस पुराण मे साख्ययोग की समीक्षा भी वडे विस्तार के साथ दस अध्यायो (अ० २३४—४४) मे की गयी है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने साख्य के महनीय सिद्धान्तो का विवेचन किया है। ध्यान देने को बात है कि इन पुराणो मे वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण वातो मे अवान्तर-कालीन साख्य से भेद रखता है। पिछले साख्य मे तत्त्वो की संख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६वे तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक साख्य निरीश्वर नही है तथा उसमे ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ मे एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२वे पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायो से अक्षरशः मिलते है। धर्म ही परम पुरुषार्थ है; इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त मे कितनी सुन्दर भाषा मे किया गया है :—

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां,
स ह्येक एव परलोकगतस्य वन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,
नैव प्रभावमुपयन्ति न च स्थिरत्वम् ॥
—(ब्र० पु० २४५।३५)

(२) पद्मपुराण

यह पुराण परिमाण मे स्कन्दपुराण को छोडकर अद्वितीय है। इसके श्लोको की संख्या ५०,००० बतलायी जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवतपुराण से तिगुना परिमाण में समझना चाहिए। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते है। (१) बंगाली संस्करण और (२) देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियो मे पड़ा है। देवनागरी संस्करण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली मे चार भागों मे प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम संस्करण मे छः खण्ड है; (१) आदि (२) भूमि (३) ब्रह्मा (४) पाताल (५) सृष्टि और (६) उत्तर खण्ड। परन्तु भूमिखण्ड (अध्याय १२५—४८।४९ से ही पता चलता है कि छः खण्डो की कल्पना पीछे की है। मूल मे पाँच ही खण्ड थे जो बंगाली संस्करण मे आज भी उपलब्ध होते हैं।

प्रथमं सृष्टिखण्डं हि, भूमिखंडं द्वितीयकम्।
तृतीयं स्वर्गखंडं च, पातालञ्च चतुर्थकम्॥
पंचमं चोत्तरं खंडं, सर्वपापप्रणाशनम्।

अब इन्ही मूलभूत पाँच खंडों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(१) सृष्टि-खण्ड—इसमे ८२ अध्याय है। इसके प्रथम अध्याय (श्लोक ५५—६०) से पता चलता है इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पाँच पर्वो में विभक्त था—(१) पौष्कर पर्व—जिसमे देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यो की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। (२) तीर्थपर्व—जिसमे पर्वत, द्वीप तथा सप्त सागर का वर्णन है। (३) तृतीय पर्व—जिसमें अधिक दक्षिणा देनेवाले राजाओ का वर्णन है। (४) राजाओं का वंशानुकीर्तन है। (५) मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है। इस खंड मे समुद्र-मंथन, पृथु की उत्पत्ति, पुष्कर तीर्थ के निवासियो का धर्मकथन, वृत्रासुर-संग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित, तारकासुरवध आदि कथाएँ विस्तार के साथ दी गयी है।

(२) भूमि-खण्ड—इस खंड के आरम्भ मे शिवकर्मा नामक ब्राह्मण को पितृभक्ति के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेशधारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुन कर वेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दोनो के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रतसूचक कथा बड़े विस्तार के साथ दी गयी है। ययाति और मातलि के अध्यात्म-विषयक

सम्वाद मे पाप और पुण्य के फलो का वर्णन और विष्णुभक्ति की प्रशंसा की गयी है। महर्षि च्यवन की कथा भी बड़े विस्तार के साथ दी गयी है। यह पद्मपुराण विष्णु भक्ति का प्रधान ग्रंथ है। परन्तु इसमे अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावो का प्रदर्शन कही भी नही किया गया है। शिव और विष्णु की एकता के प्रतिपादक ये श्लोक कितने महत्त्वपूर्ण हैं :—

शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम।
द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः ॥
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे।
शिवस्य हृदये विष्णुःविष्णोश्च हृदये शिवः ॥
एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति, गुणभेदाः प्रकीर्तिता ॥

(३) **स्वर्ग-खण्ड**—इस खण्ड मे देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोको का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड मे शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है; परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से विल्कुल मिलता-जुलता है। इससे कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक को कथावस्तु महाभारत से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध मे भी यही वात है।

(४) **पाताल-खण्ड**—इसमे नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसंगतः रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमें कही गयी है। इसमे विशेष वात यह है कि कालिदास के द्वारा 'रघुवंश' मे वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती-जुलती है। रावण के वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेध की कथा भी इसमे सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के 'उत्तर रामचरित' मे वर्णित रामचरित से वहुत-कुछ मिलती है। इस पुराण मे व्यासजी के द्वारा १८ पुराणो के रचे जाने की वात उल्लिखित है जिसमे भागवत पुराण की विशेष रूप से महिमा गायी गयी है।

(५) **उत्तर-खण्ड**—इस पाँचवे खंड में विविध प्रकार के आख्यानों का संग्रह है। इसमे विष्णुभक्ति की विशेष रूप के प्रशंसा की गयी है। क्रियायोग-सार' नामक इसका एक परिशिष्ट अंश भी है जिसमे यह दिखलाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतो तथा तीर्थों के सेवन से विशेषरूप से प्रसन्न होते हैं।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सवसे वड़ा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध है? आदि प्रश्नो का उत्तर इस पुराण मे बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है। इसीलिए अवान्तर-कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्त्व वहुत

अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप् का ही साम्राज्य रहता है; परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप् के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है। भगवान् की स्तुति के ये दोनों पद्य कितने सुन्दर हैं—

संसारसागरमतीव गभीरपारं,
दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं,
तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां, सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव,
विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयैर्मे।
मोहान्धकारपटलैर्मयि नष्टदृष्टे,
दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥

(३) विष्णुपुराण

दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवतपुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव-दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिए आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी इसका महत्त्व अधिक है। इसके खंडों को 'अंश' कहते हैं। इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में यह भागवतपुराण का तृतीयांश मात्र है। प्रथम अंश में सृष्टि-वर्णन है (अ० ११–२०)। द्वितीय अंश (खंड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। तृतीय अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है। इसके तीन अध्यायों (अ० ४–६) में वेद की शाखाओं का विशिष्ट वर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिए बड़े काम की वस्तु है। चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु – इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पंचम वंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव-भक्तों का आलम्बन है। इस खंड में दशम स्कन्ध के समान कृष्णचरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेष रूपसे विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा सुन्दर है। इसके चतुर्थ अंश में प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान

साथ भक्ति का सामञ्जस्य इस पुराण मे बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण मे साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं महादेव शिव के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है :—

योऽहं स त्वं जगच्चेदं, सदेवासुरमानुषम् ।
मत्तो नान्यदशेषं यत्, तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि ॥
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः ।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति, चावयोरन्तरं हर ॥

(५।३३।४८-९)

सुन्दर भाषण के लाभ का यह कितना अच्छा वर्णन है :—

हितं, मितं, प्रियं काले, वश्यात्मा योऽभिभाषते ।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान् ॥

(४) वायुपुराण

यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी मे इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अतः इससे जान पड़ता है की इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण मे अन्य पुराणो से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायो की संख्या केवल ११२ है तथा श्लोको की ११,००० के लगभग है। इस पुराण मे चार खण्ड है जो 'पाद' कहलाते हैं—(१) प्रक्रिया पाद, (२) अनुषङ्ग पाद, (६) उपोद्घात पाद, (४) उपसहार पाद। इसके आरम्भ मे सृष्टि-प्रकरण बडे विस्तार के साथ कई अध्यायो मे दिया गया है। तदनन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनो के लिए विशेष रूप से पठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेष रूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपो का भी वर्णन बड़ी सुन्दरता से यहाँ (अ० ३४—३९) किया गया है। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ मे विस्तृत रूप मे उपलब्ध होता है (अ० ५०-५३)। अनेक अध्यायो मे युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० मे चारों वेदो की शाखाओ का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति-वंशवर्णन (अ० ६१—६५), कश्यपीय प्रजासर्ग (अ० ६६—६९) तथा ऋषिवंश (अ० ७०) प्राचीन ब्राह्मण-वंशो के इतिहास को जानने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायो मे है। अध्याय ८६ और ८७ मे संगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ९९वाँ अध्याय प्राचीन राजाओ का

विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहाँ उपलब्ध है। पशुपति की पूजा से सम्बद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुपत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता। परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ (अ० ११—१५) दी गयी है। यह अंश प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित 'शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक 'रुद्राध्याय' के पौराणिक रूप हैं—

> **नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।**
> **चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्त-चक्षुषे ॥**
> **विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।**
> **नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः ॥**

(५) श्रीमद्भागवत

यह पुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी-अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवत-तात्पर्यनिर्णय' से जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुक-पक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका', माध्वमत में विजय-ध्वज की 'पदरत्नावली', निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य की 'सिद्धान्तप्रदीप', वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी', तथा गिरिधराचार्य की

टीका, चैतन्यमत मे श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सबसे अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्रश्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों मे करता है। श्री भगवान् ने अपने विषय मे ब्रह्माजी को इस प्रकार उपदेश दिया है :—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

—भाग० २।९।३२

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमे लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान के नाम से पुकारते हैं[१]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। 'परमार्थभूत[२] ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दो के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा', तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष'

---

१. वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

—भाग० १।२।११

२. ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति॥

—भाग० ५।१२।११।

कहते है। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार-व्यापार मे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अतः भागवत के मत मे ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते है। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित् शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते है। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥
—भाग० १।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् है (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥
२।९–३४

वास्तविक वस्तु के विना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पडते है) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नही होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल मे नही दीख पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्य शक्तिसमन्वित हैं। वे एक समय मे भी एक होकर भी अनेक है। नारदजी ने द्वारकापुरी मे एक समय मे ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियो के महलो मे विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों मे सलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन-मार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत को विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का

निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य-पुत्रों मे प्राण का ही संचार नही हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को भी प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

—११।१४।२०

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दो मे किया है कि भगवान् चरित्र, वहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नही होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न वहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

—७।७।५१-५२

भागवत के अनुसार भक्ति हो मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक है, साक्षाद्रूपेण नही। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने मे है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (भाग० ११।२०।९)। कर्मफलो को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है (भाग० ११।११२)। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल वोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटनेवालो का यत्न (१०।१४।४)।

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका मे 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कहो अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक मे उत्पन्न वोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है।

अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन। भागवत मे सत्सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों मे किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियो को कौन कहे, मोक्ष को भी नही चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन मे ललित विहार की कामना करनेवाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं :—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धारपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥

—भाग० ११।१०।१४।

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियो के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह मे व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है :—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

—भाग० ६।११।२६

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकाएँ थी जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपञ्चाध्यायी मे किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनो के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों मे एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है :—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

(६) नारदपुराण

बृहन्नारदपुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अतः उससे इसे पृथक् करने के लिए इसे नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में

दो भाग है। पूर्व भाग के अध्यायो की संख्या १२५ है और उत्तर भाग मे ८२ है। सम्पूर्ण श्लोको की संख्या २५,००० है। डाक्टर विलसन इस पुराण का रचना-काल १६वी शताब्दी बतलाते है तथा इसे विष्णु-भक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते है। परन्तु ये दोनो बाते सर्वथा निराधार हैं। १२वी शताब्दी मे बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ मे इस पुराण के श्लोको को उद्धृत किया है। अलबरूनी (११वी शताब्दी) ने भी अपने यात्रा-विवरण मे इस पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह पुराण निश्चय ही इन दोनो ग्रन्थकारो के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग मे वर्ण और आश्रम के आचार (अ० २४।२५) श्राद्ध (अ० २८), प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय मे विवेचन है। अनेक अध्यायो में विष्णु, राम, हनुमान्, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रो का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर उत्तर भाग मे (अ० ७–३७ तक) विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अठारहो पुराणो के विषयो की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ (अ० ९२–१०९ पूर्व भाग) दी गयी है। यह अनुक्रमणी सभी पुराणो के विषयो को जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणो के मूल रूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छानबीन बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति की इसमे प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणो के पञ्च लक्षणो से रहित नही है।

(७) मार्कण्डेयपुराण

इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। परिमाण मे यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायो की सख्या १३७ है और श्लोको की सख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अंग्रेजी मे अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है (बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता; १८८८ से १९०५ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायो का अनुवाद जर्मन भाषा मे भी हुआ है जिसमे मरणोत्तर जीवन की कथा कही गयी है। इन पश्चिमी विद्वानो की सम्मति मे यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि मे भी यह सम्मति ठीक ही जान पडती है। प्राचीन काल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रन्थ मे बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामजस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गा सप्तशती' एक विशिष्ट

अंश है। इसमें देवीभक्तोंके लिए सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तार के साथ दिया गया है।

(८) अग्निपुराण

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण मे ज्ञातव्य विद्याओ का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों मे नाना प्रकार के विषयो का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओ का संक्षेप मे वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गयी है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप मे सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्दःशास्त्र का निरूपण आठ अध्यायो मे किया गया मिलता है। अलङ्कार-शास्त्र का विवेचन वड़े ही मार्मिक ढङ्ग से किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायों मे की गयी है। कोश के विषय मे भी कई अध्याय लिखे गये है जिनके अनुशोलन से पाठको के शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठो अङ्गों का वर्णन संक्षेप मे वड़ा ही सुन्दर है। अन्त मे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तो का सार-सङ्कलन है। एक अध्याय मे गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिए इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि—

> आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।
>
> —अ० ३८३।५२

(९) भविष्यपुराण

इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गड़वड़ी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य मे होनेवाली घटनाओ का वर्णन किया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर होनेवाले विद्वानो ने इसमें अपने समय मे होनेवाली घटनाओ को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या, इसमे 'इंग्रेज' नाम से उल्लिखित अंग्रेजो के आने का भी वर्णन मिलता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थी जो आपस में विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न

थी। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्यपुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारो प्रतियो का मिश्रण है। यही इस पुराण की गडबड़ी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं—(१) ब्राह्म पर्व, (२) विष्णु पर्व, (३) शिव पर्व, (४) सूर्य पर्व, (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसके श्लोको की संख्या १४,००० है। इस पुराण मे सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था जिसकी चिकित्सा करने के लिए गरुड़ शाकद्वीप से ब्राह्मणों को लिवा लाये जिन्होने सूर्य भगवान् की उपासना से शाम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्ही ब्राह्मणों को शाकद्वीपी, मग या भोजक ब्राह्मण कहते है। सूर्योपासना के रहस्य तथा कलि मे उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवंशो के इतिहास जानने के लिए यह पुराण नितान्त उपादेय है।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

इस पुराण के श्लोको की संख्या १८,००० के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण मे छोटा नही। इस पुराण में चार खण्ड हैं—(१) ब्रह्म खण्ड, (२) प्रकृति खण्ड, (३) गणेश खण्ड, (४) कृष्णजन्म खण्ड। इनमे कृष्णजन्म खण्ड आधे से भी अधिक है। इस खण्ड मे १३३ अध्याय हैं। कृष्णचरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति है और इस राधा का वर्णन वडे साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है। इस राधा-प्रसङ्ग के कारण अनेक ऐतिहासिक इस पुराण को वहुत ही पीछे का वतलाते है। परन्तु राधा की कल्पना बडी प्राचीन है। महाकवि भास ने अपने 'वालचरित' नाटक मे कृष्ण की वाललीला तथा राधा का वर्णन विस्तार के साथ किया है। भास का काल तृतीय शतक है। अतः इस पुराण की रचना तृतीय शतक से पहले हो चुकी होगी। सच पूछिये तो भागवत के दशम स्कन्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कही नही मिलता।

(१) ब्रह्म खण्ड—इसमे केवल तीस (३०) अध्याय है जिनमे कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६वाँ अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। (२) प्रकृति खण्ड—इसमे प्रकृति का वर्णन है जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा के रूप मे अपने को समय-समय पर परिणत किया करती है। इस खण्ड मे सावित्री तथा तुलसी की कथा वडे विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। (३) गणेश खण्ड—इसमे गणपति के जन्म, कर्म तथा चरित का वर्णन है। गणेश कृष्ण के अवतार के रूप मे दिखलाये गये है। इस पुराण के नामकरण का कारण

स्वयं इसी पुराण में इस प्रकार दिया हुआ है कि कृष्ण के द्वारा ब्रह्म के विवृत (प्रकाशित) किये जाने के कारण इसका नाम 'ब्रह्मवैवर्त' पड़ा।

विवृतं ब्रह्म कात्स्र्न्येन, कृष्णेन यत्र शौनक।
ब्रह्म-वैवर्तकं तेन, प्रवदन्ति पुराविदः॥

—ब्र० वै० १।१।१०

दक्षिण भारत मे यह पुराण 'ब्रह्म कैवर्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नही होता। नारदपुराण मे जो इस पुराण की अनुक्रमणी उपलब्ध होती है, उससे वर्तमान पुराण से पूरा सामञ्जस्य है। कृष्णपरक होने के कारण कृष्णभक्त वैष्णवों मे इस पुराण की बड़ी मान्यता है। विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों में इस पुराण का बड़ा आदर है।

(११) लिङ्गपुराण

इसमें भगवान् शङ्कर की लिङ्गरूप से उपासना विशेष रूप से दिखलायी गयी है। शिवपुराण का कहना है कि—

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसमें अध्यायो की संख्या १३३ और श्लोकों की संख्या ११,००० है। इसमें दो भाग है—(१) पूर्व भाग, (२) उत्तर भाग। यहाँ लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शङ्कर के द्वारा बतलाया गया है। शङ्कर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमे यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव व्रतों का और शैव तीर्थो का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग में पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या (अ० ९) की गयी है, वह शैव तन्त्रों के अनुकूल है। यह पुराण शिवतत्त्व की मीमांसा के लिए बड़ा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

(१२) वराहपुराण

विष्णु ने वराहरूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा से मुख्यतः सम्बन्ध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराहपुराण पड़ा है। हेमाद्रि (१३वी शताब्दी) ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौडनरेश वल्लालसेन (१२वी शताब्दी) ने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। अतः यह पुराण १२वी शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते है—(१) गौड़ीय, (२) दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायो की संख्याओं मे भी अन्तर है। आजकल गौड़ीय

पाठवाला संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है। परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा भाग अब तक नहीं मिला है। इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत—भिन्न-भिन्न मासों का द्वादशी व्रत—का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न-भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखलाया गया है जो निम्नाङ्कित हैं—

मास	**शुक्ल द्वादशी का नाम**
अगहन	मत्स्य द्वादशी
पौष	कूर्म ,,
माघ	वराह ,,
फाल्गुन	नृसिंह ,,
चैत्र	वामन ,,
वैशाख	परशुराम ,,
ज्येष्ठ	राम ,,
आषाढ़	कृष्ण ,,
श्रावण	बुद्ध ,,
भाद्रपद	कल्कि ,,
आश्विन	पद्मनाभ ,,
कार्तिक	× ,,

इस पुराण के दो अंश विशेष महत्त्व के हैं—(१) **मथुरा माहात्म्य** (अ० १५२–१७२) जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। (२) **नचिकेतोपाख्यान** (अ० १९३–२१२) जिसमें नचिकेता का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि इस उपाख्यान में नहीं है।

(१३) स्कन्दपुराण

इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैव तत्त्वों का निरूपण किया है, इसीलिए इसका नाम स्कन्दपुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से

मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,००० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पंचमांश ही कम है। इस पुराण के अन्तर्गत अनेक संहिताएँ, खण्ड तथा माहात्म्य हैं। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता (अ० श्लो० २०-१२) के अनुसार इस पुराण मे छः संहिताएँ हैं जो अपने ग्रन्थ-परिमाण के साथ इस प्रकार हैं :—

संहिता	श्लोक संख्या
(१) सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२) सूत संहिता	६,०००
(३) शंकर संहिता	३०,०००
(४) वैष्णव संहिता	५,०००
(५) ब्राह्म संहिता	३,०००
(६) सौर संहिता	१,०००
	८१,००० श्लोक

इन संहिताओं के विषय मे विस्तृत निर्देश नारदपुराण में दिया गया है।' स्कन्दपुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रकार खण्डो में हैं। ये खण्ड संख्या में सात हैं :—(१) माहेश्वर खंड, (२) वैष्णव खंड, (३) ब्रह्म खंड (४) काशी खण्ड, (५) रेवा खण्ड, (६) तापी खण्ड, (७) प्रभास खण्ड।

संहिताओं में सूत संहिता शिवोपासना के विषय मे एक अनुपम खण्ड है। यह संहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस संहिता की इसी विलक्षणता के कारण विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य[१] की दृष्टि इसपर पड़ी और उन्होने 'तात्पर्य दीपिका' नामक बड़ी ही प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (नं० २५) से प्रकाशित हुई है। इस संहिता मे चार खण्ड हैं:—(१) पहला खण्ड जिसका नाम 'शिव माहात्म्य' है १३ अध्यायो मे शिव-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। (२) ज्ञानयोग खण्ड—यह २० अध्यायो मे आचार-धर्मों का वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। (३) मुक्तिखण्ड—यह ९ अध्यायों मे मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। (४) यज्ञ वैभव खण्ड—यह सब खण्डो में बड़ा है। इसके दो भाग है—(१) पूर्व

१. माधवाचार्य की जीवनी के लिए देखिए—
बलदेव उपाध्याय : 'आचार्य सायण और माधव'।
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

भाग और (२) उत्तर भाग। पूर्व भाग में ४७ अध्याय हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का शैव भक्ति के साथ सम्पुटित कर बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बड़ा ही उपादेय, प्रमेयबहुल तथा मीमांसा करने योग्य है इसके उत्तर भाग में दो गीताएँ सम्मिलित हैं—(१) ब्रह्मगीता और (२) सूतगीता। पहली गीता १२ अध्यायों में विभक्त है और दूसरी ८ अध्यायों में। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बड़ी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। इस संहिता में शिव के प्रसाद से ही सब कर्मों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। इस विषय के दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं :—

> प्रसाद-लाभाय हि धर्मसञ्चयः
> प्रसाद-लाभाय हि देवतार्चनम्।
> प्रसाद-लाभाय हि देवतास्मृतिः,
> प्रसाद-लाभाय हि सर्वमीरितम्॥
> शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः,
> शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः।
> शिवप्रसादेन विना न देवताः,
> शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः॥

शङ्कर[1] संहिता—यह अनेक खण्डों में विभक्त है। इसका प्रथम खण्ड शिवरहस्य कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है, जिसमें १३,००० श्लोक हैं तथा ७ काण्ड हैं, जिनके नाम ये हैं:—(१) सम्भव काण्ड, (२) आसुर काण्ड, (३) माहेन्द्र काण्ड, (४) युद्ध काण्ड, (५) देव काण्ड, (६) दक्ष काण्ड, (७) उपदेश काण्ड। छठी संहिता सौर संहिता है जिसमें शिवपूजा सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है। पहली संहिता—

सनत्कुमार संहिता—बीस-बाइस अध्यायों की एक छोटी-सी संहिता है। इन संहिताओं को छोड़कर अन्य संहिताएँ उपलब्ध नहीं होतीं।

अब खण्डों के क्रम से इस पुराण का वर्णन किया जाता है :—

(१) **माहेश्वर खण्ड**—इसके भीतर दो छोटे खंड हैं—(क) केदार खण्ड, (ख) कुमारिल खण्ड। इन दोनों खंडों में शिव-पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।

---

१. इन दोनों संहिताओं की विस्तृत विषयानुक्रमणी के निमित्त देखिए अष्टादशपुराणदर्पण पृ० ३२१–३२७।

(२) **वैष्णव खंड**—इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खंड है जिसमें उड़ीसा के जगन्नाथजी के मन्दिर, पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बद्ध अनेक उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारदजी के उपदेश से किस प्रकार जगन्नाथजी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड में पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

(३) **ब्रह्म खंड**—इसमे दो खण्ड हैं (१) ब्रह्मारण्य खण्ड, (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विशद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड में उज्जैनी में स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान है।

(४) **काशी खण्ड**—इसमे काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओ, शिवलिङ्गों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहाँ विशेष रूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(५) **रेवा खण्ड**—इसमें नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थो का विस्तृत वर्णन मिलता है। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

(६) **अवन्ति खण्ड**—अवन्ति (उज्जैन) में स्थित भिन्न-भिन्न शिवलिङ्गों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बड़े ही विस्तृत रूप में दिया गया है। प्राचीन अवन्ती की धार्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

(७) **तापी खण्ड**—इसमें नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थो का वर्णन मिलता है। नारदपुराण के मत से इसके षष्ठ खंड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसमें तीन परिच्छेद हैं—(१) विश्वकर्मा उपाख्यान, (२) विश्वकर्मा वंशाख्यान, (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड में नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त उपादेय है।

(७) **प्रभास खण्ड**—इसमें प्रभास क्षेत्र का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारका के आसपास का भूगोल जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

महापुराणों में महाकाय स्कन्दपुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण मे जगन्नाथ जी के मन्दिर का वर्णन होने से कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि यह पुराण १३वी शताब्दी मे लिखा गया। क्योकि १२६४ ई०

के आसपास जगन्नाथ जी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ९३० शक (१००८ ई०) मे लिखी गयी इसकी हस्त-लिखित प्रति कलकत्ते मे उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७वी शताब्दी मे लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नेपाल के राजकीय पुस्तकालय मे सुरक्षित है जिसका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र मे किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूल रूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया ? यह भी पुराण के पण्डितो के लिए अनुसन्धान का विषय है।

(१४) वामनपुराण

इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमे केवल ९५ अध्याय है तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णुपरक होने के कारण इसमे विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारो का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेष रूप से दिया हुआ है। इस पुराण मे शिव, शिव का माहात्म्य, शैव तीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयो का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नही है।

(१५) कूर्मपुराण

इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहिताएँ थी—(१) ब्राह्मी संहिता, (२) भागवती, (३) सौरी, (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्मपुराण है। भागवत तथा मत्स्यपुराणों के अनुसार इसमे १८,००० श्लोक होने चाहिए परन्तु उपलब्ध पुराण मे केवल ६००० ही श्लोक मिलते हैं। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयाश ही उपलब्ध हैं। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसीलिए यह कूर्मपुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमे सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप मे वर्णित हैं और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश मे किसी प्रकार का अन्तर नही है। ये एक ही ब्रह्म की पृथक्-पृथक् तीन मूर्तियाँ है। इस ग्रन्थ मे शक्ति-पूजा पर भी बड़ा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहाँ दिये गये हैं (१।१२)। विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलायी गयी हैं। शिव देवाधिदेव के रूप मे इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये है कि उन्ही के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति मे समर्थ होते है।

इस पुराण मे दो भाग हैं। पूर्व भाग में ५२ अध्याय और उत्तर भाग में ४४ अध्याय हैं। पूर्व भाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इसके सहस्र नाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य (अ० ३५–३७) दिया गया है। उत्तर भाग में ईश्वर गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वर गीता (१–११ अ०) मे भगवद्गीता के ढंग पर ध्यान-योग के द्वारा शिव के साक्षात्कार का वर्णन है। व्यास गीता मे चारों आश्रमो के कर्तव्य कर्मों का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है (१२–४६ अ०)। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूल रूप में इसमें चार संहिताएँ थी और आजकल ब्राह्मी संहिता (६,००० श्लोक) ही उपलब्ध होती है—

ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्त्तिताः।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्मता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥

—१।२५

(१६) मत्स्यपुराण

यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १५,००० के लगभग है। स पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३वें अध्याय मे, अग्निष्वात्त पितरो का १४वे मे तथा बर्हिषद् पितरो का वर्णन १५वे अध्याय मे विशेष रूप से वर्णित है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन ७ अध्यायों (अ० १६–२३ तक) मे किया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषतः ययाति के चरित्र का (अ० २७ से ४२ तक)। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतो का वर्णन इस पुराण की महत्ती विशेषता है (अ० ५५–१०२)। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायो (अ० १०३–११२) मे किया गया है। भगवान् शकर का त्रिपुरासुर के साथ जो सग्राम हुआ था उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते है (अ० १२९–१४०)। तारक-वध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिए तो यह पुराण लिखा ही गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायो मे यहाँ (अ० १८०–१८५) विराजमान है। वही दशा नर्मदा माहात्म्य की भी (अ० १८७ से १९४) है।

इस पुराण में तीन-चार बातें विशेष महत्त्व की दीख पड़ती हैं। पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३वें अध्याय में समस्त पुराणो की विषयानुक्रमणी

दी गयी है जिससे हम पुराणो के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते है। दूसरी विशेषता है प्रवर ऋषियो के वंश का वर्णन। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य—इन ऋषियो के वंशो का वर्णन बड़े सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रम-पूर्वक पाते है। तीसरी विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। २१५वे अध्याय से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहाय-सम्पत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी बड़ी नवीनता लिये हुए है (अ० २२८ से ३३८)। चौथी विशेषता है प्रतिमा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओ की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओ की मूर्तियो की रचना तालमान के अनुसार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता है। इन सब विषयो का वर्णन इस पुराण मे अनेक अध्यायो (अ० २५७–२७०) मे बड़े प्रामाणिक रूप से दिया गया है। राजा को अपने शत्रु पर चढाई करते समय किन-किन बातो का ध्यान रखना चाहिए—इसका कितना सुन्दर वर्णन इस पुराण के राजधर्म मे दिया गया है—

> विज्ञाय राजा द्विजदेशकालो,
> दैवं त्रिकालं च तथैव बुद्ध्वा।
> यायात् परं कालविदां मतेन,
> संचिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः॥

(१७) गरुडपुराण

इस पुराण मे विष्णु ने गरुड को विश्व की सृष्टि बतलायी थी। इसीलिए इसका नाम गरुडपुराण पड गया। इसमे १८,००० श्लोक है और अध्यायों की संख्या २६४ है। इसमे दो खण्ड हैं। पूर्व खण्ड मे उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन हैं। आरम्भ मे विष्णु तथा उनके अवतारो का माहात्म्य कथित है। इसके एक अंश मे नाना प्रकार के रत्नो की परीक्षा है जैसे मोती की परीक्षा (अ० ६९), पद्मराग की परीक्षा (अ० ७०), मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रुधिराख्य रत्न, स्फटिक तथा विद्रुम की परीक्षा (अ० ७१–८० तक) क्रमशः की गयी है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ० १०८ से ११५ तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेक अध्यायो (अ० १५०–१८१) मे किया गया है। नाना प्रकार के रोगो को दूर करने के लिए औषध-व्यवस्था भी यहाँ (अ० १७०–१९६ तक) की गयी है। इसके अतिरिक्त

एक अध्याय (१९७) में पशु-चिकित्सा का भी वर्णन इसमे पाया गया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ० १९९) बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए औषध की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दःशास्त्र के विषय मे ६ अध्याय (अ० २११–२१६) यहां मिलते है। साख्ययोग का भी इसमे (अ० २३० और अ० २४३) वर्णन है। एक अध्याय (अ० २४२) में गीता का साराश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुडपुराण का यह पूर्व अंश अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओ का विश्वकोश कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तर खण्ड 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमे ४५ अध्याय हैं। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है ? वह किस योनि मे उत्पन्न होता है तथा कौन-कौन सा भोग भोगता है ? इसका वर्णन अन्य पुराणों मे यत्र-तत्र पाया जाता है, परन्तु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नही होता। इसमे गर्भावस्था, नरक, यम-नगर का मार्ग, प्रेतगण का वासस्थान, प्रेतलक्षण तथा प्रेतयोनि से मुक्ति, प्रेतो का रूप, मनुष्यो की आयु, यमलोक का विस्तार, सपिण्डीकरण की विधि, वृषोत्सर्ग-विधान आदि विषयो का भिन्न-भिन्न अध्यायो मे बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तर खण्ड' का जर्मन भाषा मे अनुवाद हुआ है।

(१८) ब्रह्माण्डपुराण

इस पुराण में समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्डपुराण पड़ा है। भुवन-कोष का वर्णन प्रायः हर एक पुराण मे उपलब्ध होता है, परन्तु इस पुराण मे पूरे विश्व का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराण मे, जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है— प्रक्रिया पाद तथा उपोद्‌घात पाद आदि चारो पाद उपलब्ध हैं। नारदपुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ मे इसके १२,००० श्लोक थे तथा प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्‌घात और उपसंहार नामक चार पाद[1] थे। इन चारों पादो की

---

१. शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि, ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम्।
यच्च द्वादश साहस्रं, भाविकल्प-कथायुतम् ॥
प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्यः उपोद्‌घातः तृतीयकः।
चतुर्थ उपसंहारः, पादाश्चत्वार एव हि ॥

विषय-सूची भी नारदपुराण मे दी हुई है। कूर्मपुराण की विषय-सूची में इस पुराण को 'वायवीय ब्रह्माण्डपुराण' कहा गया है। इस नामकरण ने अनेक पश्चिमी विद्वानो को भ्रम मे डाल दिया है। उनके मत से इस पुराण का मूल वायुपुराण है और ब्रह्माण्डपुराण उसी वायुपुराण का विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारदपुराण के वचन से हम जानते है कि व्यासजी को वायु ने इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिए इसका वायु-प्रोक्त ब्रह्माण्डपुराण नाम पडना उचित ही है। नारदपुराण का महत्त्वपूर्ण वाक्य यह है—

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत्, प्रभञ्जनमुखोद्गतम्।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन्, प्रावर्तयदनुत्तमम्॥

इस पुराण के प्रथम खण्ड मे विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायो में (अ० ६६–७२ तक) है। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवर्ष, कैलास, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपो का भिन्न-भिन्न अध्यायो में बडा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रो तथा युगो का भी विशेष विवरण इसमे दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पाद मे भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशो का वर्णन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराण के विषय मे एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ईस्वी सन् ५वी शताब्दी मे इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहाँ उसका जावा की प्राचीन 'कवि भाषा' मे अनुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराण का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

पञ्चम परिच्छेद

पुराण में अवतारतत्त्व

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तॄ' धातु से घञ् प्रत्यय से सिद्ध होती है। इस विषय में पाणिनि का विशिष्ट सूत्र है—अवे तॄस्त्रोर्घञ् (३।३।१२०) जिससे 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया अथवा उतरने का स्थान। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है—किसी महनीय शक्तिसम्पन्न भगवान् या देवता का नीचे के लोक मे ऊपर से उतरना तथा मानव या अमानव रूप का धारण करना। इसी अर्थ में पुराणों मे 'आविर्भाव' शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। 'अवतार' की सिद्धि दो दशाओं मे मानी जाती है—एक तो रूप का परिवर्तन (स्वीय रूप का परित्याग कर कार्यवश नवीन रूप का ग्रहण), दूसरा है नवीन जन्म ग्रहण कर तत्तद्रूप में आना जिसमे माता के गर्भ में उचित काल तक स्थिति की बात भी सन्निविष्ट है। भगवान् के लिए ये दोनों अवस्थाएँ उपयुक्त तथा सुलभ हैं। 'अवतार' की बात किसी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति-भगवान् विष्णु, शंकर या इन्द्र आदि के लिए ही उपयुक्त मानी जाती है। कार्यवश भगवान् का बिना रूप परिवर्तन किये ही आविर्भाव होना 'अवतार' के भीतर ही माना जाता है। जैसे प्रह्लाद को विपत्ति से उद्धार के लिए विष्णु का अपने ही रूप में आविर्भाव विष्णुपुराण[1] मे तथा गजेन्द्र के उद्धार के लिए विष्णु का स्वरूपतः प्रादुर्भाव भागवत पुराण (१।३) में वर्णित है। इन अवतारों में रूप-परिवर्तन की बात नहीं है।

अवतार की प्रक्रिया

भगवान् के अवतार धारण करने के विषय मे पुराण तथा इतिहास में चार मत बतलाये गये हैं जिनमें अवतार की कल्पना का स्पष्ट विकास लक्षित होता है।

---

१. तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः।
आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः॥

—विष्णु १।२०।१४

(१) प्रथम[1] मत—इसको हम लोकप्रिय सामान्य मत कह सकते हैं। इस मत के अनुसार भगवान् अपनी दिव्य मूर्ति का सर्वथा परित्याग कर ही भूतल पर अवतीर्ण होते हैं—चाहे नवीन जन्म धारण करके या बिना जन्म धारण के ही रूप-परिवर्तन करके। यह मत आदिम मानवों की कल्पना तथा विश्वास से प्रसूत माना जा सकता है। (२) द्वितीय[2] मत यह है कि भगवान् का केवल एक अंश ही—चाहे वह आधा हो, चतुर्थांश हो या एक बहुत ही छोटा भाग हो—इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। अवतीर्ण अंश से अवशिष्ट भाग मूल स्थान में ही निवास करता है और ये दोनों भाग, एक साथ ही एक ही काल में विभिन्न व्यापार करते हैं। अवतीर्ण अंश जिस समय एक विशिष्ट (जैसे संरक्षण) कार्य करता है, अवतारी अंश उसी समय अन्य कार्य में निपक्त पाया जाता है। श्रीकृष्ण के अवतारकाल में विष्णु का स्वर्ग में भूमि के साथ वार्तालाप का वर्णन महाभारत करता है। तात्पर्य यह है कि दो भिन्न कार्य एक साथ ही निष्पन्न होते हैं।

(३) तृतीय मत है कि विष्णु ने अपनी मूर्ति का दो भाग कर दिया। पहली मूर्ति स्वर्ग में स्थित होकर दुश्चर तपस्या करती है और दूसरी मूर्ति योग-निद्रा का आश्रयण कर प्रजाओं के संहार तथा सृष्टि के विषय में विचार किया करती है। एक सहस्र युगों तक यह मूर्ति शयन करने के बाद अपनी समुद्री शय्या से उत्थित होती है तथा कार्य के अनुकूल आविर्भूत होती है। हरिवंश (१।४१।१८ आदि) के इस मत के प्रतिपादक पद्यों की व्याख्या में नीलकण्ठ मूर्ति को 'सात्त्विकी' तथा द्वितीय मूर्ति को 'तामसी' कहते हैं। इस मत के अनुसार अवतार-कार्य भगवान् के अर्धभाग का विलास है। प्रथम मूर्ति, जो तपस्या के निष्पादन में ही संलग्न रहती है, अवतार के कार्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती। महाभारत प्रथम मूर्ति को वासुदेव तथा द्वितीय मूर्ति को 'संकर्षण' नाम से पुकारता है।[3]

---

१. त्यक्त्वा दिव्यां तनुं विष्णुर्मानुषेस्विह जायते।
युगे त्वथ परावृत्ते काले प्रशिथिले प्रभुः॥ —मत्स्य ४७।३४

२. यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः।
धर्मश्च ह्रासमभ्येति तदा देवो जनार्दनः॥
अवतारं करोत्यत्र द्विधाकृत्वाऽऽत्मनस्तनुम्।
सर्वदैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः॥
स्वल्पांशेनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम्।—ब्रह्म ७२।२–३ तथा ९

३. तस्यैका महाराज मूर्तिर्भवति सत्तम।
नित्यं दिविष्ठा या राजन्! तपश्चरति दुश्चरम्॥

(४) चतुर्थमत–जो इस विषय मे विशेषतः विकसित मत प्रतीत होता है, यह है ब्रह्मपुराण का कथन कि समस्त जगत् को व्याप्त करनेवाले नारायण ने अपनी मूर्ति को चार भागो मे विभाजन किया जिनमे एक मूर्ति 'निर्गुण' तथा अन्य तीन 'सगुण' रूप है। निर्गुण मूर्ति का नाम है (१) वासुदेव तथा सगुण मूर्ति के नाम हैं—(२) संकर्षण, प्रद्युम्न तथा (४) अनिरुद्ध। इन चारों मूर्तियो को महाभारत के क्रमशः पुरुष, जीव, मनः तथा अहंकार कहा गया है और इस प्रकार इनका दार्शनिक रूप अभिहित किया गया है। ब्रह्मपुराण के अनुसार 'वासुदेव' मूर्ति निर्देश-विहीन शुक्ल, ज्वाला के समूह से दीप्तमान शरीरवाली, योगियो के द्वारा उपास्य, दूर तथा अन्तिक दोनो जगह रहनेवाली तथा गुणो से अतीत होती है। दूसरी मूर्ति का नाम है **शेष या संकर्षण** जो अपने मस्तक पर नीचे से पृथ्वी को धारण करती है और सर्परूप को धारण करने के हेतु, वह तामसी कही जाती है। तृतीय मूर्ति—प्रद्युम्न का कार्य धर्म का संस्थापन तथा प्रजा का पालन है और इसीलिए यह सत्त्वप्रधान मूर्ति मानी गयी है। चतुर्थ मूर्ति अनिरुद्ध—समुद्र के बीच सर्प की शय्या पर शयन करती है। रज इसका गुण होता है और इसी से यह संसार की सृष्टि करनेवाली होती है। इन चारों मूर्तियों मे से तृतीय मूर्ति, जिसका कार्य प्रजा का पालन है, नियतरूप से धर्म की व्यवस्था करती है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब यह अपने को स्पष्ट कर भूतल पर अवतीर्ण होती है। 'अवतार' करनेवाली यह प्रद्युम्न मूर्ति है जिसका मुख्य कार्य रक्षण कार्य की निष्पत्ति है। इस मत के अनुसार भगवान् की प्रद्युम्न मूर्ति का ही कार्य अवतार लेना तथा धर्म की व्यवस्था करना है अर्थात् अवतार भगवान् के चतुर्थ अंश का ही विलास है। इस पुराण का यह और भी कथन

द्वितीया चास्य शयने निद्रायोगमुपाययौ।
प्रजासंहार सर्गार्थं किमव्यात्मविचिन्तकम् ॥
सुप्त्वा युग सहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यतः।
पूर्णे युगसहस्रे तु देवदेवो जगद्पतिः ॥

—हरिवंश प्रथम खण्ड ४१।१८–२०।

१. स देवो भगवान् सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः।
चतुर्धा सस्थितो ब्रह्मा सगुणो निर्गुणस्तथा।
एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालामालाऽवनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा ॥
दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा।
वासुदेवाभिधानासौ निर्ममत्वेन दृश्यते ॥

है कि देव, मनुष्य तथा तिर्यग्योनि मे जहाँ कही यह मूर्ति अवतीर्ण होती है वहाँ वह उसके स्वभाव को ग्रहण[१] करती है तथा पूजित होने पर वह अभिमत कामना की पूर्ति करती है। देव तथा गन्धर्व, जो धर्म के रक्षण में तत्पर रहते हैं, को तो वह बचाती है, परन्तु उद्धत असुरो को, जो धर्म के नाश करने मे आसक्त होते हैं, सर्वथा नष्ट कर[१] देती है। इस प्रकार धार्मिक सन्तुलन की व्यवस्था करना, जो अवतार का मुख्य उद्देश्य होता है, प्रद्युम्न मूर्ति के ही द्वारा सम्पन्न होता है[२]।

इस प्रकार अवतार का सम्बन्ध पुराणो की दृष्टि मे चतुर्व्यूहवाद से सिद्ध होता है। चतुर्व्यूहवाद भागवतो का विशिष्ट सिद्धान्त था जैसा शांकरभाष्य से स्पष्टतः संकेतित होता है (शारीरिक भाष्य २।२।४२) अवतार के विकसित सिद्धान्त की प्रतिपादिका श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्व्यूह के सिद्धान्त का उल्लेख नही करती। महाभारत के नारायणीय पर्व मे चतुर्व्यूह का वर्णन उपलब्ध

द्वितीया पृथिवी मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपागता॥
तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा।
सत्वोद्रिक्ता च सा ज्ञेया धर्मसंस्थानकारिणी॥
चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा।
रजस्तस्या गुणः सर्गं सा करोति सदैव हि॥
या तृतीया हरेर्मूर्तिः प्रजापालनतत्परा।
सा तु धर्मव्यवस्थानं करोति नियतं भुवि॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः समुपजायते।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजत्यसौ॥
इति सा सात्विकी मूर्तिरवतारं करोति च।
प्रद्युम्नेति समाख्याता रक्षा-कर्मण्यवस्थिता॥

—ब्रह्म० ७१।१६ आदि। इस कल्पना को महा० शान्तिपर्व (अ० ३४२, ३४७ तथा ३५६) से मिलाइए।

१. देवत्वेऽथ मनुष्यत्वे तिर्यग्योनौ च संस्थिता।
गृह्णाति तत्-स्वभावं च वासुदेवेच्छया सदा।
ददात्यभिमतान् कामान् पूजिता सा द्विजोत्तमाः॥

—ब्रह्म० ७१।४१-४२

२. प्रोद्धतानसुरान् हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिणः।
पाति देवान् सगन्धर्वान् धर्मरक्षापरायणान्॥

—तत्रैव ७१।२४

है कतिपय विद्वानो की मान्यता है कि महाभारत के मूल मे (जैसा प्राचीन हस्तलेखो से सिद्ध होता है) वासुदेव तथा संकर्षण केवल इन्ही दोनां व्यूहों का ही उल्लेख था। प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की कल्पना अवान्तर युग की घटना है क्योंकि ये दोनो व्यूह पिछले हस्तलेखो मे ही निर्दिष्ट किये गये हैं। महाभाष्य के एक उदाहरण—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव—को डाक्टर भण्डारकर इस चतुर्व्यूहवाद का समर्थक मानते हैं। यदि यह मत ठीक हो, तो चतुर्व्यूह का सिद्धान्त ईसापूर्व द्वितीय शती से निःसन्देह प्राचीन सिद्ध होता है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार परमात्मा के प्रतीकभूत वासुदेव से जीवप्रतीक संकर्षण की उत्पत्ति होती है और संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की (शाङ्करभाष्य २।२।४२)। शंकर के मत में जीव की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त अवैदिक है, परन्तु रामानुज के मत मे यह पूर्ण वैदिक है[१]। पाञ्चरात्र ग्रन्थो में अवतार का सिद्धान्त विशेष रूप से उपलब्ध नही होता, परन्तु वैखानस आगम मे इसकी संक्षेप मे सूचना मिलती है। जो कुछ भी हो, पुराणो के आधार पर अवतार का सिद्धान्त पाञ्चरात्रो के चतुर्व्यूहवाद के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और इस तरह अवतार के विकास के ऊपर इस तन्त्र का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

अवतार का प्रयोजन

यह अवतार-तत्त्व पुराण के प्रधान विषयों मे अन्यतम है। अवतार का तत्त्व भगवान् के धर्मनियामकत्व रूप पर प्रतिष्ठित है। इस विश्व को एक सूत्र में धारण करनेवाला, नियमित रखनेवाला तत्त्व धर्म है। इस धर्म का नियमन सर्वशक्तिमान् परमात्मा की एक विशिष्ट शक्ति का विलास है। जब-जब इस धर्म की ग्लानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान (उदय) होता है तब-तब भगवान् अपने को इस विश्व मे पैदा करते हैं। ऊर्ध्व लोक से इस अधो लोक मे भगवान् का उतरकर आना ही 'अवतार' पद वाच्य होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का यह स्वतः कथन है कि साधुओं (दूसरे के कार्य को सिद्ध करनेवाले व्यक्तियो) के परित्राण (सर्वत्र, चारो ओर से रक्षा) के निमित्त तथा पापियो के नाश के लिए मैं युग-युग मे अपनी माया का आश्रयण कर स्वयं उत्पन्न होता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता के ये श्लोक अवतारवाद का मौलिक तथ्य प्रकट करते हैं—

---

१. आगम के प्रामाण्य पर द्रष्टव्य यामुनाचार्य का 'आगम प्रामाण्य', वेदान्त देशिक की 'पाञ्चरात्र रक्षा' तथा भट्टारक वेदोत्तम का 'तन्त्रशुद्ध', भागवत सम्प्रदाय पृ० १०९-१११

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

—गीता ४।३-४

ये श्लोक अवतारवाद के मानों रीढ है और इन्हीं वचनो का प्रभाव पुराणों पर पड़ा है। इसलिए इस तथ्य के द्योतक श्लोक इसी रूप मे उपलब्ध होते है।[१]

इस प्रयोजन के अतिरिक्त भागवत मे एक अन्य प्रयोजन की सूचना मिलती है जिसे इसकी अपेक्षा उदात्ततर स्थान दिया गया है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

—भाग० १०।२९।१४

---

१. अवतार की आवश्यकता के समर्थक पौराणिक वचन अनेक है। उनमे से कुछ चुने हुए वचन यहां दिये जाते है :—

(१) जज्ञे पुनः पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिलः प्रभुः।
कर्तुं धर्मव्यवस्थानम् अधर्मस्य च नाशनम् ॥

—वायु० ९८।६९।

मत्स्यपुराण (४७।२३५) में यह श्लोक मिलता है। पाठभेद के साथ—धर्मे प्रशिथिले तथा असुराणां प्रणाशनम्'—ये दो नये पाठ हैं।

(२) बह्वीः संसरमाणो वै योनोर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥

—आश्वमेधिक पर्व ५४।१३

(३) असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये।
स एव भगवान् विष्णु कृष्णेति परिकीर्त्यते ॥

—वनपर्व, २७२।७१-७२

(४) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूधर।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा वेषान् विभर्म्यहम् ॥

—देवी भागवत (७।३९)

(५) ब्रह्मपुराण (१८०।२६-२७ तथा १८१।२-४) मे गीता के पूर्वोक्त वचनो के सदृश वचन पाये जाते हैं।

अव्यय, अप्रमेय, गुणहीन तथा गुणात्मक भगवान् की अभिव्यक्ति—अवतार—मनुष्यों के परमकल्याणभूत मोक्ष के साधन के लिए है। यदि भगवान् का प्राकट्य इस जगतीतल पर न होता, तो उनके अशेष गुण-समुच्चय का पता ही अल्पज्ञ जीव को किस प्रकार चलता ? भगवान् का भौतिक सौन्दर्य, चारित्रिक माधुर्य, अप्रमेय आकर्षण का परिचय जीव का तभी मिलता है, जब उनकी अभिव्यक्ति अवतार के रूप में इस धराधाम के ऊपर होती है। भगवान् के विलास, हास, अवलोकन और भाषण अत्यन्त रमणीय होते हैं तथा उनके अवयवों से अलौकिक आभा निकलती है। इनके द्वारा भक्तों का मन तथा प्राण विषयों से आहृत होकर भगवान् मे ही केन्द्रित हो जाता है और न चाहने पर भी भक्तिमुक्ति का वितरण करती है; परन्तु यह तभी सम्भव है जब भगवान् का अवतार भूतल पर होता है। भागवत के शब्दों मे—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार–विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते ॥
—भाग० ३।२५।३६

अलौकिक रागात्मिका भक्ति का वितरण ही भगवान् के प्राकट्य का उच्चतर तात्पर्य है जिसके सामने धर्म का व्यवस्थापन एक लघुतर व्यापार है।

ज्ञान का वितरण भी भगवान् के अवतार का प्रयोजन है। भगवान् ही सब गुरुओं के गुरु हैं तथा सब ज्ञानो के आधार हैं। वहीं से ज्ञान की धारा लोक-मंगल के लिए प्रवाहित होती है जिसके कतिपय विन्दुओं को पाकर भी मानव धन्य हो जाता है। 'कपिल' अवतार का उद्देश्य ही तत्त्व-प्रसंख्यान तत्त्वों का निरूपण तथा आत्मा की उपलब्धि का मार्ग बतलाना था। कर्दम तथा देवहूति के घर कपिलरूप से अवतरण के समय भगवान् का अपना कथन है—

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥
—भाग० ३।२४।३६

अन्यत्र (३।२५।१) भी इसी का संकेत किया गया है—

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवान् आत्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥

फलतः जीव को मोक्ष प्रदान करना ही भगवान् के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है। बद्ध जीव दूसरे बद्ध को मुक्त नहीं कर सकता—

स्वयं बद्धः कथमपरान् तारयति ।

शुद्ध-बुद्ध-मुक्त भगवान् ही बद्ध जीव के बन्धन को काटने का मार्ग बतलाकर उसे मुक्त कर सकते हैं। यही मुख्य तात्पर्य है अवतार का। भौतिक क्लेश

का विनाश तो एक लघुतर अभिप्राय है अवतार का। श्रीमद्भागवत का यह शंखनाद इस विषय का चूडान्त विमर्श है—

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ॥

अवतार का बीज

अवतार का बीज वैदिक ग्रंथो मे स्पष्टतः मिलता है। ऋक् संहिता के अनुशीलन से इसके बीजो का संकेत इसके अनेक मन्त्रो मे उपलब्ध होता है। अवतार का सम्बन्ध पुनर्जन्मवाद के साथ घनिष्ठ रूप से माना जाता है और विद्वानो की दृष्टि मे पुनर्जन्म अथवा आत्मा के संसरण के सिद्धान्त ऋग्वेद के मन्त्रो मे यत्र-तत्र पाये जाते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रो मे इन्द्र को अपनी माया के द्वारा नाना रूपों के धारण करने का तत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

(क) रूपं रूपं मघवा बोभवीति
माया कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ३।५३।८

(ख) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ६।४७।१८

इन मन्त्रो मे इन्द्र मायाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेवाले बतलाये गये हैं। 'माया' का वैदिक अर्थ अवान्तर लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न माना जाता है। इसीलिए सायण ने इसका अर्थ ज्ञान, शक्ति अथवा आत्मीय संकल्प किया है। परन्तु महाभारत के काल मे इसका व्यवहार प्रचलित अर्थ मे हो गया था; क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रों के आधार पर ही वहाँ इन्द्र को 'बहुमायः' बतलाया गया है।[१] यह प्रयोग नवीन अर्थ मे ही किया गया है। ऋग्वेद (१।५१।१३) मे इन्द्र वृषणश्व की मेना नाम्नी दुहिता का रूप धारण करनेवाले कहे गये हैं। सायण के इस मन्त्र के अर्थ का आधार

---

१. स (इन्द्रः) हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम।
बहुमायः स विप्रर्षे बलहा पाकशासनः ॥
—महा० भा० अनुशासन ७५।२५

शाट्यायन तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के तत्तत् स्थल हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणयुग में यह आख्यायिका बहुशः प्रचलित हो गयी थी। ऋग्वेद (८।१७।१३) में इन्द्र 'शृङ्गवृष' के पुत्र का रूप धारण करनेवाले माने गये हैं। इन दोनों स्थलों पर इन्द्र के अवतार का स्पष्ट आभास मिलता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् का प्रथम अवतार 'पुरुष'[1] है जिसका वर्णन ऋग्वेद के प्रख्यात पुरुषसूक्त में किया गया है। भागवत इस रूप को ही नाना अवतारो का बीज मानता है जिसके अंशांश से देव, तिर्यक् तथा नर आदि की सृष्टि होती है[2]। निष्कर्ष यह है कि अवतार का संकेत ऋग्वेद के पूर्वोक्त मन्त्रों मे, अस्पष्ट रूप से सही, अवश्यमेव विद्यमान है। यह तो इन्द्र–विषयक मन्त्रो के आधार पर है। पुरुषसूक्त में वर्णित 'पुरुष' को भागवत भगवान् का आद्य अवतार ही नही, प्रत्युत नाना अवतारों का बीज (उद्गम स्थान) तथा निधन (संहारस्थान) भी मानता है।

अवतारवाद[3] के ऋग्वेद-संहिता मे दिये गये बीज ब्राह्मण ग्रन्थों मे विशेष विकसित दृष्टिगोचर होते हैं—इस भावना का स्पष्ट रूप हमे शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है। प्रजापति ने ही मत्स्य (१. ८. १. १) का, कूर्म का (७. ५. १.५. १४. १. २–११) तथा वराह का (१४. १. २. ११) अवतार लिया था, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है। प्रजापति के वराहरूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. १. ३. ५) मे तथा काठक संहिता मे भी (८. २) बीजरूप से मिलती है। रामायण मे भी वराह अवतार का वर्णन है (रामा० २।११०) तथा महाभारत मे ब्रह्मा के द्वारा मत्स्यरूप लेने का संकेत है (३।१८७)। अभीतक इन अवतारो का सम्बन्ध अधिकतर प्रजापति के साथ था, कालान्तर मे विष्णु के प्राधान्य की स्थापना होने पर ये अवतार विष्णु के ही माने गये। परन्तु वामनावतार के विषय मे

---

१. जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
संभूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

—भाग० १।३।१

२. एतन्नानावताराणां निधनं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

—भाग० १।३।५

३. द्रष्टव्य याकोबीः इनकार नेशन, इ. आर. ए० भाग ७;
काणे : हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग २, पार्ट २, पृ० ३१७ आदि।
राय चौधरीः अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णव सेक्ट पृ० ९६।

ऐसा नही कहा जा सकता। आरम्भ से ही ऋग्वेद मे विष्णु 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' के विशेषणों से मण्डित किये गये हैं और तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना (विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय:) उनका एक विशिष्ट वीर्यसम्पन्न कार्य माना गया है तथा शतपथ ब्राह्मण मे (१. २. ५. १) विष्णु के वामन होने की विस्तार से कथा दी गयी है। अतः वामनावतार का सम्बन्ध मूलतः विष्णु से है, अन्य अवतारो (मत्स्य, कूर्म, वाराह) का प्रजापति के साथ वैदिक साहित्य मे वर्णित सम्बन्ध विष्णु के प्रधान देव होने पर उन्ही के साथ जोड़ दिया गया; ऐसा मानना अनुचित न होगा।

एक बात ध्यान देने योग्य है। अवतारवाद ब्राह्मण साहित्य मे अवश्यमेव वर्तमान था, परन्तु न तो उस समय विष्णु का प्राधान्य था और न इन अवतारो की पूजा ही होती थी। भागवत सम्प्रदाय के उदय होने पर जब कृष्ण-बलराम की भक्ति उद्घोषित हुई तब अवतारवाद का उत्कर्ष सम्पन्न हुआ। वासुदेव कृष्ण के विष्णु के अवतार होने की कल्पना का उदय आरण्यक युग मे हो गया था जब तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक १०, अनुवाक १।) उनको गायत्री इस मन्त्र मे दे रहा है—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।
तन्नो विष्णु. प्रचोदयात्॥

पाणिनि ने अपने सूत्र (वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्) मे वासुदेव तथा अर्जुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वैष्णव-आगमन के उदय होने पर वासुदेव कृष्ण का नारायण के साथ ऐक्य स्थापित हो गया और अवतारवाद के विकास का युग आ गया। श्रीमद्भगवद्गीता के युग मे (इस्वी पूर्व चतुर्थ-पंचम शती में) अवतारवाद वैष्णव धर्म का एक विशद तथ्य स्वीकृत हो गया था; इसे विशेष रूप से सिद्ध करने की आवश्यकता नही। श्रीकृष्ण के पूर्वोदाहृत वचन इस विषय मे स्पष्ट प्रमाणभूत है।

अवतारों की संख्या

अवतारवाद का सिद्धान्त मान्य होने पर भी अवतारो की कितनी संख्या थी ? इसके विषय मे महाभारत तथा पुराणो मे अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। विषय तरल अवस्था मे था; किसी ठोस अवस्था को उसने प्राचीन ग्रन्थो मे नही पाया था। इसका पता इस घटना से लग सकता है कि एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अध्यायो मे ही पार्थक्य नही है, प्रत्युत कभी-कभी एक ही अध्याय मे भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अवतारवाद का मौलिक तथ्य भगवद्गीता की देन है, परन्तु गीता मे दो ही अवतार निर्दिष्ट है—

राम (रामः शस्त्रभृतामहम्) तथा कृष्ण। नारायणीय पर्व (शान्तिपर्व अ० ३३९।७७–१०२) में केवल छः ही अवतार अपने विशिष्ट कार्यों के साथ निर्दिष्ट किये गये हैं—वराह, नरसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम तथा कृष्ण। इन अवतारों के कार्य वे ही हैं जो लोक में सर्वत्र प्रख्यात हैं। इसी अध्याय में दश अवतार भी उल्लिखित[1] हैं जिनमें दशावतार के लोकप्रिय नामों में बुद्ध का अभाव है तथा 'हंस' की सत्ता होने से संख्या की पूर्ति होती है। साधारणतः स्वीकृत दश अवतारों का निर्देश पुराणों में बहुलतया उपलब्ध है (वराह ४।२; ४८।१७–२२; मत्स्य २८५।६–७; अग्नि अध्याय २–१६ दशों के कार्यों का विवरण भी), नरसिंह (अ० ३६), पद्मपुराण (६।४३।१३–१५)। इन नामों के अतिरिक्त भी अवतारों की गणना पुराणों में मिलती है। भागवत में चार स्थलों पर निर्देश हैं।

भगवान् ने कितने अवतारों को धारण किया? इस विषय में ऐकमत्य नहीं। श्रीमद्भागवत के चार स्कन्धों में भगवान् के अवतारों की गणना दी गयी है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में अवतारों की संख्या बाइस (२२) दी गयी है इस क्रम से—(१) कौमार सर्ग (= सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार); (२) वराह, (३) नारद, (४) नर-नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभदेव, (९) पृथु (१०) मत्स्य, (११) कच्छप, (१२) धन्वन्तरि, (१३) मोहिनी, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) रामचन्द्र, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण, (२१) बुद्ध तथा (२२) कल्कि। यहाँ केवल २२ अवतारों का ही निर्देश है, परन्तु साधारणतया भगवान् के तो २४ अवतार प्रसिद्ध हैं। इस वैषम्य को दूर करने के लिए टीकाकारों ने एक युक्ति दी है जिसका निर्देश आगे किया जायेगा। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भी भगवान् के इन अवतारों का वर्णन क्रमशः किया गया है—वराह, यज्ञ, कपिल, दत्तात्रेय, चतुःसन (कौमारसर्ग) नर-नारायण, पृथु, ऋषभ, हयशीर्ष (=हयग्रीव), मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, गजेन्द्र-मोक्षदाता, वामन, हंस, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, कल्कि। इस द्वितीय सूची को प्रथम सूची से मिलाने पर अनेक नामों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय सूची में अवतारों की संख्या वही बाइस है। प्रथम सूची के २२ नामों में हंस तथा

---

१. हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम।
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च॥
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥
—शान्ति ३३९।१०३–१०४

हयग्रीव अवतारो को सम्मिलन कर देने पर यह संख्या २४ हो जाती है। कुछ विद्वान् इसकी उपपत्ति अन्यथा वतलाते है। उनका कथन है—प्रथम् सूची मे (वल) राम तथा कृष्ण को छोड़ देने पर २० अवतार वच जाते हैं। शेप चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अंश है। श्रीकृष्ण स्वयं तो पूर्णपरमेश्वर हैं। अतः वे अवतारी है, अवतार नही हो सकते। उनके चार अंश है जो अवतार की गणना मे गिने जाते है—एक तो केश का अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा करनेवाला अवतार, तीसरा संकर्षण (वलराम) तथा चौथा पर-ब्रह्म। इस प्रकार इन चार अवतारो से विशिष्ट पाँचवे साक्षात् भगवान् वासुदेव है। इस प्रकार २४ अवतारो की पूर्ति टीकाकारो ने की है।

भागवत के दशम तथा एकादश स्कन्धो मे अवतारो का वर्णन है जो पूर्व वर्णन से कही मिलते है और कही-कही पृथक् भी है। दशम स्कन्ध (४०।१७–२२) मे इस क्रम से अवतारो का निर्देश है—मत्स्य, हयशीर्ष, कच्छप, वराह, नृसिह, वामन, भृगुपति (परशुराम), रघुवर्य, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध (=चतुर्व्यूह), वुद्ध तथा कल्कि। एकादश (४।१७– २) मे अवतारो का विशेष विवरण उपलब्ध है—नर-नारायण, हंस, दत्तात्रेय, कुमार, ऋषभ, हयास्य, मत्स्य, वराह, कूर्म, गजेन्द्रमोक्षकर्ता, वालखिल्य के रक्षक, इन्द्र के शापमोचक, देवस्त्रियो के उद्धारक, नृसिह, वामन, राम, सीतापति, कृष्ण, वुद्ध तथा कल्कि। इन चारो अवतार-सूचियो का अनुशीलन हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि अवतारो की गणना अभी तरल रूप मे थी जिसमे नये-नये नाम जोडे-घटाये जाते थे। अभी तक वह ठोस रूप मे, एक निश्चित परम्परा मे अन्तर्भुक्त होनेवाली दृष्टिगोचर नही होती।

तथ्य तो यह है कि वाइस या चौवीस रूपो मे अवतारों का नियमन करना श्रीमद्भागवत के प्रणयन के पीछे की घटना है। इसीलिए भागवत का कथन[1] है कि सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरि के अवतार असंख्येय है; उनकी

---

१. अवतारा ह्यसख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ २६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥ २७॥
एते चाशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। —भागवत १।३।

हरिवंश तथा शान्तिपर्व मे भी अवतारो के इसी गणनातीत रूप का उल्लेख मिलता है—

प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः।
भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः॥ —हरिवंश १।४१।४१

गणना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, उसी प्रकार अवतारों की बात समझनी चाहिए। ऋषि, मनु, मनुपुत्र, देव, प्रजापति तथा शक्तिशाली पुरुष—ये सब भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) हैं, अवतार नहीं। श्रीमद्भागवत का यह परिनिष्ठित सिद्धान्त कि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् धार्मिक जगत् का एक समग्र तथ्य है जिसमें वैष्णव मतों का अनुयायी ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक विचारशाली मानव अपनी पूर्ण श्रद्धा रखता है। आजकल तो भगवान् के अवतारों की संख्या, प्रचलित रूप में, दश[1] ही मानी जाती है जिनका नाम और क्रम इस प्रकार है—

वनजौ वनजौ खर्वः त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

अवतार तो दश ही हैं—वनजौ (=जल में उत्पन्न होनेवाले दो अवतार—मत्स्य तथा कच्छप), वनजौ (जंगल में पैदा होनेवाले दो अवतार—वराह तथा नृसिंह), खर्व (= वामन), त्रिरामी (= तीन राम परशुराम, दाशरथी राम तथा बलराम), सकृपः (कृपायुक्त अवतार = बुद्ध) तथा अकृपः (= कृपाहीन अवतार = कल्कि)। कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं जिनसे ये अवतार संभूत होते हैं। अवतारों का इस सङ्ख्या में नियमन कब हुआ? यह अनुशीलन का विषय है। द्वादश शती में तो यह संख्या तथा क्रम दृढमूल हो गया था जब जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के प्रथम सर्ग में इसी दशावतार की स्तुति की तथा क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतार-चरित' महाकाव्य में इन अवतारों का चरित विस्तृत रूप से निबद्ध किया।

अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः॥
—(शान्ति ३३९।१०६)

१. यही क्रम और संख्या अग्निपुराण में भी स्वीकृत है (द्रष्टव्य अग्निपुराण अध्याय २—१६) तथा पद्मपुराण में भी—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश॥

—पद्मपुराण, उत्तर २५७।४०-४१

लिंगपुराण (२।४८।३१-३२) में भी यही श्लोक उपलब्ध होता है। = वराहपुराण (४।२) तथा ११३।४२। = मत्स्यपुराण २८५।६-७ = गरुडपुराण १।८६।१०-११, २।२०।३१-३२।

दशावतार की कल्पना, जिसमे बुद्ध अवतार के रूपमे गृहीत किये गये, कब स्वीकृत हुई ? इसका अनुमान लगाया जा सकता है। कुमारिल[1] ने तन्त्रवार्तिक (जैमिनि सूत्र १।३।७) मे लिखा है कि पुराणमे धर्म के लोप करनेवाले शाक्य (गौतम बुद्ध) आदि का चरित कलि प्रसंग मे वर्णित है परन्तु इनका वचन कौन सुनेगा ? कुमारिल के इस कथन से तात्पर्य निकलता है कि उन पुराणों मे, जिनके साथ उनका परिचय था, बुद्ध की निन्दा का गई थी। फलतः वे उस समय (सप्तम-अष्टम शती) तक अवतार के रूप मे गृहीत नही हुए थे। एक और तथ्य का पता चलता है कि कुमारिलके समय मे कलियुग से सम्बद्ध विशेषताओं का वर्णन पाया जाता था। यह भी एक ध्यान देने की बात है। दशावतार की कल्पना का उदयकाल अष्टम तथा एकादश शती के मध्य की शताब्दियाँ है। एकादश शती मे दशावतार की बुद्धि-सहित योजना स्वीकृत हो गयी थी। ११५० ई० के आसपास जयदेव ने अपने गीत गोविन्द की आरम्भिक स्तुति मे दशावतारों मे बुद्ध को भी स्थान दिया है। क्षेमेन्द्र ने १०६६ ईस्वी मे अपने दशावतारचरित महाकाव्य का प्रणयन किया तथा अपरार्क (शिलाहार वंशीय राजा, समय ११००–११३० ई०) ने याज्ञवल्क्य की विशद टीका मे मत्स्य-पुराण से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमे बुद्ध के साथ दश अवतारो का नाम निर्देश किया गया है (मत्स्य, अ० २८५। श्लो० ७)। इस प्रमाण के आधार पर यही सिद्ध होता हे कि १००० ईस्वी से पूर्व ही बुद्ध अवतारों के मध्य परिगणित किये गये थे, यद्यपि कुमारिल के समय तक उन्हे वह गौरव-पूर्ण स्थान नही मिला था और वे तिरस्कार की—धर्म-विप्लावक की—दृष्टि से ही देखे जाते थे। अतः विभिन्न पुराणो मे उपलब्ध दशावतार (बुद्ध संवलित) की कल्पना के उदय का यही काल मानना चाहिए—लगभग नवम शती का काल। मेरा यह कथन पुराण के समग्र अंश की रचना के विषय मे न होकर उसके दशावतारविषयक अंश के प्रणयन के विषय मे अवश्य है। दश अवतारो की गणना भिन्न रूपसे भी प्राप्त है। मत्स्य (अ० ४७) ने दश अवतारो मे तीन को दिव्य माना है—नारायण, नरसिंह तथा वामन और सात को मानुष=दत्तात्रेय, मान्धाता चक्रवर्ती, परशुराम, राम, व्यास, बुद्ध तथा कल्कि। हरिवंश (१।४१) मे दश अवतारों के नाम ये है—पौष्करक, वराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, कृष्ण, व्यास, कल्कि। ब्रह्म मे भी ये ही नाम पाये जाते है; व्यास वहा स्वयं वक्ता थे और इसीलिए उनका नाम नही है। इस प्रकार हम देख

१. स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः।
कलौ शाक्यादयस्तेषा को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥
तंत्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

सकते हैं कि दश अवतारों की संज्ञा के विषय मे पुराणों में वैविध्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु विभिन्न शताब्दियो से होकर यह अभिधान आजकल के प्रचलित नामो मे सीमित तथा मर्यादित कर दिया गया है।

अवतारवाद तथा विकासतत्त्व

अवतार के इस क्रमबन्ध के भीतर एक वैज्ञानिक रहस्य निगूढ है जिधर विचारशीलो का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त अभीष्ट है। एक तो इसका सामान्य तात्पर्य नितरां सुस्पष्ट है कि भगवान् को कोई एक विशिष्ट योनि अभीष्ट नही है, क्योकि वे छोटी से छोटी योनि से लेकर ऊँची से ऊँची योनि में पैदा होते हैं। प्रत्येक योनि मे उनका प्राकट्य सम्भावित है। और ऐसा होना उचित ही है। जब सब योनियो का निर्गम-स्थान स्वयं भगवान् ही ठहरते हैं, तब उनके लिए कौन योनि ग्रहण के निमित्त ग्राह्य हो और कौन योनि त्याज्य हो ? इस भेदभावना के लिए यहाँ स्थान ही नही। दूसरा मार्मिक तथ्य यह है कि इस क्रमबद्धता मे वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त का तत्त्व छिपा हुआ है। पाठक जानते है कि अंग्रेज वैज्ञानिक डारविन ने १९वी शती के मध्य भाग मे अपने वैज्ञानिक अन्वेषणो के आधार पर विकासवाद (थ्योरी आफ इवोल्यूशन) का तत्त्व पश्चिमी जगत् मे सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया। तब से लेकर आज तक इसने ज्ञान के सब विभागो मे अपना सिक्का जमा लिया है। सृष्टि के विषय मे विकासवाद का यही तात्पर्य है कि सृष्टि का आरम्भ लघुकाय जीवो मे प्रथमतः हुआ और धीरे-धीरे सृष्टि दीर्घकाय प्राणियो मे आविर्भूत हुई। प्रथमतः जन्तु बुद्धि से विहीन थे और पीछे से उनमे बुद्धि तत्त्व का विकास सम्पन्न हुआ। इस प्रकार पश्चिमी जगत् मे विकासवाद सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नही है।

परन्तु इस अवतार-तत्त्व की समीक्षा विकासवाद की भित्ति पर निःसन्देह आधारित प्रतीत होती है। सबसे पहले सृष्टि का आरम्भ जलीय प्राणी से होता है। मत्स्य उसी का प्रतीक है। मछली का वास केवल पानी ही है। वह पानी में ही जीती-जागती है और पानी से बाहर निकलते ही वह गतप्राण हो जाती है। आगे चलकर जल तथा थल दोनो के ऊपर समान रहनेवाले जीवो का सर्जन हुआ और इस युग का प्रतिनिधित्व करता है कछुआ, जो जमीन के ऊपर भी चल सकता है और जीवित रहता है। पानी तक उसकी गतिविधि सीमित तथा मर्यादित नही रहती। इसके अनन्तर हम स्थलीय जीवो, जमीन के ऊपर रहनेवाले प्राणियो का विकास पाते हैं और इसका प्रतिनिधि हम 'वराह'= शूकर को मानते है। वह जंगल का ही जीव है; जमीन पर रहकर जीवन-यापन करना उसकी विशिष्टता है।

अब मानव का प्राकट्य होनेवाला है। परन्तु विशुद्ध मानव की उत्पत्ति से पूर्व हम ऐसे प्राणी की कल्पना करते हैं जिसमे पशुत्व तथा मनुष्यत्व दोनो का समभावेन मिश्रण पाया जाता है और वह प्राणी है नरसिंह जो आधा पशु है और आधा मनुष्य है। नरसिंह के अनन्तर मानव आविर्भूत होता है, परन्तु वह होता है बहुत ही ठिगना, लघुकाय; और वामन रूप इसी का प्रतिनिधि है। मानव का बौना रूप ही प्राथमिक रूप है जहाँ से वह आगे बढता है। मनुष्य का खूँखार, भयानक, रक्तपिपासु रूप वामन के अनन्तर सामने आता है और अपने हाथ मे परशु धारण करनेवाले तथा इक्कीस बार दुर्दान्त शासको का नाश करनेवाले 'परशुराम' इस रूप के प्रतिनिधि है। दाशरथी राम हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम है जिनमे मानव के जीवन की समग्र मर्यादाओ का विकास सम्पन्न होता है। यहाँ आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श राजा आदि समग्र आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है तथा मानव अपने चरम विकास तक पहुँचने के लिए उत्सुक होता है। 'बलराम' मे हम बल के ऊपर अधिक आग्रह रखनेवाले मानव रूप का साक्षात्कार करते हैं जो प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए अनियन्त्रित बल का ही आश्रयण करता है। 'बुद्ध' मे कृपा की ही अधिकता पाते हैं। यहाँ मानव कृपा के आधिक्य से इतना सम्पन्न रहता है कि वह शत्रु के ऊपर बल का प्रयोग न कर कृपा, करुणा तथा मैत्री के उपायों द्वारा उसे अपने वश मे करने मे समर्थ होता है। ऐसा करने पर भी मानव को समस्या सुलझती नही। कृपा का प्रयोग कुछ सीमा तक प्राणियों की समस्याओं का समाधान करता है, परन्तु दुर्दान्त तथा उद्दण्ड प्राणी कृपा-करुणा के कोमल साधनो से पराक्रान्त नही होता। 'कल्कि' के रूप में हम मानव के 'अकृप' रूप का साक्षात्कार करते है। दुर्दान्त का दमन हिंसा की सहायता चाहता है। उद्दण्ड का स्वभाव करुणा की मीठी पुड़िया से शान्त नही होता। फलतः 'कल्कि' के अवतार मे हम प्राणियों के वर्तमान युग की समस्याओ का समाधानकारक रूप पाते है।

इस प्रकार अन्तःप्रविष्ट होकर विचार करने पर अवतारवाद विकासवाद के वैज्ञानिक तथ्य के ऊपर आधारित नितान्त सत्य तथा बहुमूल्य देन है, इसमें संशय के लिए स्थान न होना चाहिए। विकासवाद का तत्त्व भारतवर्ष मे सुदूर प्राचीन काल मे विवेचित किया गया था।

पौराणिक अवतारवाद का मूल स्रोत

अवतारवाद पौराणिक साहित्य का विशिष्ट क्षेत्र है, परन्तु इसे पुराणों की ही अपनी मनमानी मौज तथा उपज मानना नितान्त भ्रान्त है। अवतारों का मूल स्रोत स्वयं वेद ही है—मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, जहाँ से ये संगृहीत कर

विभिन्न पुराणों में उपन्यस्त तथा परिबृंहित हैं। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वेदों का परिबृंहण इतिहास-पुराण में है और इसी सिद्धान्त का एक पोषक साधन यहाँ उपस्थित किया जाता है।

(१) मत्स्य अवतार की वैदिक कथा शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१) में उपलब्ध होती है[१]। वैदिक कथा का रूप इस प्रकार है—नदी के तट पर अवनेजन करते समय मनु के हाथ में मछली का एक बच्चा अकस्मात् आ गया। उसने कहा कि मेरा पालन-पोषण करो, तो मैं तुम्हें पार उतार दूँगा। मनु ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा कि किससे पार उतारोगे ? मछली ने कहा—बड़ी बाढ़ (ओघ) आनेवाली है जो समग्र प्रजाओं को अपने में समेट ले जावेगी। उससे मैं तुम्हें बचाऊँगा। मनु ने उसे बचाया और उसके कथनानुसार उसे घड़े में, पीछे तालाब में और अन्त में समुद्र में रखा जहाँ उसने विशाल काय धारण कर लिया। ओघ-जलप्लावन-आया और सब वस्तुओं को नष्ट कर डाला। मत्स्य के कथनानुसार मनु ने सब अन्नों के बीजों को पहिले से ही उसमें बचाकर रखा था। ओघ शान्त होने पर मनु ने यज्ञ किया और उन्हीं सुरक्षित बीजों से फिर पदार्थों का सर्जन किया। मत्स्यावतार की यही कथा प्रायः अनेक पुराणों में आती है। मत्स्य पुराण तो इसी के कारण तन्नामधारी है। श्रीमद्भागवत के एक ही अध्याय में (स्कन्ध ८, अध्याय २४) यह कथा संक्षेप रूप में दी गयी है। अन्तर इतना ही है कि वैदिक आख्यान में कथानक का भौगोलिक क्षेत्र हिमाचल है, तो भागवत में द्रविड़ देश की 'कृतमाला' नदी (८।२४।१२) तथा तद्देशीय राजा सत्यव्रत के सम्बन्ध से यह कथा द्रविड़ देश में चरितार्थ मानी गयी है। इस भौगोलिक भेद का जो भी हेतु हो, कथा के रूप में कोई भी विशेष अन्तर नहीं है।

एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। जलप्लावन की कथा, जिसमें संसार के पूर्वसृष्ट समस्त पदार्थों का नाश होने तथा नये प्रकार से सृष्टि का आरम्भ होने का वर्णन किया गया है, भारत में ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत सामी जातियों की कथा परम्परा में भी यह विराजमान है। बाइबिल में यह कथा प्रायः इसी

---

१. मनवे ह वै प्रातः······मत्स्य पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाच बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मां पारयिष्यसीति ? ओघ इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा। ततस्त्वा पारयिष्यामीति।

—शतपथ

२. भाग० १।३।१५, २।७।१२; ८ स्कन्ध, २४ अध्याय ११–६१ श्लो०। मत्स्य पुराण १ अ० २५९; अग्निपुराण २ अ०। ४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४। ७३; महाभारत १२।३४०

से मिलते-जुलते रूप मे मिलती है। वहाँ 'नूह' की 'किश्ती' का हाल विस्तार से दिया गया है। कुरान इसी का अनुकरण करता है। अन्य देशो के कथासाहित्य मे, यहाँ तक कि जंगली जातियो की दन्तकथाओ मे भी यही कथा उपलब्ध होती है जिससे इसके ऐतिहासिक होने की सम्भावना विद्वानो ने मानी है। वेद की इस कथा ने कब तथा किस प्रकार अन्य देशो मे भ्रमण कर अपना अस्तित्व बना लिया—यह गम्भीर अनुशीलन का विषय है।

इतना तो निश्चित है मत्स्यावतार की कथा पुराण की कल्पना न होकर वेद के द्वारा अनुमोदित तथ्य है। फलतः इस अवतार की कल्पना पूर्णरूपेण वैदिक है। इसमे सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नही है।

(२) कूर्मावतार का प्रसग तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।३) मे भले प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसग का आशय यह है कि प्रजापति के शरीर से रस कम्पायमान हुआ। जल के भीतर कूर्मरूप से विचरण करते हुए देखकर प्रजापति ने कहा—हे कूर्म, तुम मेरी त्वचा तथा मास से उत्पन्न हुए हो। कूर्म ने उत्तर दिया—नही, मै यहाँ तो तुमसे भी पहिले था। इसीलिए उसे 'पुरुष' की सज्ञा हुई अर्थात् पुरस्तिष्ठतीति पुरुषः इस व्युत्पत्ति के अनुसार पहिले से (पुर.) रहनेवाला व्यक्ति 'पुरुष' पद वाच्य होता है। कूर्म वहाँ पहिले से निवास करता था। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार कूर्म 'पुरुष' कहलाया। उसके हजार सिर थे (सहस्रशीर्षा), हजार आँखे थी तथा हजार पैर थे। इस रूप मे वह कूर्मपुरुष उठा। इसका तात्पर्य है कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' पुरुषसूक्त के इस मन्त्र द्वारा वही कूर्म निर्दिष्ट है। इस आरण्यक के भाष्य ने उस कूर्मरूप को परमात्मा से अभिन्न माना है।[1] शतपथ ब्राह्मण ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया है—

स यत् कूर्मो नाम एतद् वै रूप कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत

—(शतपथ ७।५।१।५)

इस मन्त्र मे कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति के द्वारा प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख स्पष्टतः किया गया है।

इस वैदिक तत्त्व का उपबृंहण समुद्रमन्थन के अवसर पर पुराणो मे किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे समुद्रमन्थन के

---

१. अन्तरतः कूर्मभूत-पर्यन्तं तमब्रवीत्—मम वै त्वङ्मासात् समभूत। नेत्यब्रवीत्। पूर्वमेवाहमिहासमिति। तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वोदतिष्ठत्।

—तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।३

अवसर पर निराधार होने के हेतु जब मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा और समुद्र-मन्थन में महान् प्रत्यूह उत्पन्न हुआ, तब भगवान् ने कच्छप का अद्भुत रूप धारण कर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण कर लिया। अद्भुत का तात्पर्य है कि वह कच्छप शरीर से बहुत विशाल था—एक लाख योजन फैला हुआ, ठीक जम्बू द्वीप के समान।[१] इसी दृढ़ आधार के ऊपर रखकर मन्दराचल से नाना वस्तुओं की सहायता से जब समुद्र का मन्थन किया गया तब एक के बाद एक १४ रत्न क्रमशः उत्पन्न हुए। फलतः यहाँ भी एक महान् संकट से उद्धार करने के कारण ही भगवान् ने कच्छप का रूप धारण किया।

इस प्रकार कूर्म अवतार[२] के लिए पर्याप्त वैदिक आधार उपलब्ध है। फलतः इसे पुराणों द्वारा वैदिक तत्त्व का उपबृंहण समझना चाहिए।

(३) वराह अवतार का प्रसंग तैत्तिरीय संहिता में, तैत्तिरीय ब्राह्मण में तथा शतपथ ब्राह्मण में तीन स्थानों पर पृथक् रूप से, परन्तु एक ही आकार में, उपलब्ध होता है। इन तीनों स्थलों[३] का सारांश नीचे उपस्थित किया जाता है—

---

१. विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥ ८॥

× × ×

दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन—
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान्॥ ९॥

—भाग० ८।७।

२. द्रष्टव्य भाग० ८।७, कूर्म पु० १।१६।७७–७८, अग्नि ४ अ०। ४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४, १३; ब्रह्म १८०; २१३, विष्णु १।४।

३. (क) आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। तं वराहो भूत्वाऽहरत्

—तैत्ति० सं० ७।१।५।१

(ख) स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथ्वीमधः आर्च्छत्

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) इतीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री
तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिरिति।

—शत० ब्रा० १४।१

(क) पहिले इस विश्व मे जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप होकर उसमे विचरण करने लगा। वहाँ उसने पृथ्वी को देखा। तब वह वराह के रूप मे उस पृथ्वी को (उस लोक से उद्धार कर) हरण किया।

—तैत्ति० सं० ७।१।५।१

(ख) प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया। वह पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आये।

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) यह इतनी बड़ी पृथ्वी प्रादेशमात्र थी। तब पृथ्वी के पति प्रजापति वाराह रूप धारण कर इसे नीचे से ऊपर लाये।

—शतपथ १४–२।११

इन वैदिक ग्रन्थो मे प्रकटित तथ्य अक्षरशः पुराणो[१] मे स्वीकृत है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के १३ अध्याय मे इसका बड़ा ही यथार्थ तथा आकर्षक वर्णन किया गया है। इस स्थल पर वराह 'यज्ञवराह' के रूप मे चित्रित किया गया है अर्थात् यज्ञ मे जितने साधन तथा अंग स्रुव, चमस आदि प्रयुक्त किये जाते हैं उन सबका प्रतीकरूप वराह के देह मे विद्यमान था। वराह को यज्ञवराह के रूप मे चित्रण स्पष्टतः वैदिकत्व की छाप को स्पष्ट कर रहा है। फलतः वराह अवतार के द्वारा पाताल लोक से भूतधात्री पृथ्वी का उद्धारकार्य प्रजापति के कार्यो मे एक विशिष्ट स्थान रखता है, और यह वेद मे स्पष्टतः निर्दिष्ट होकर पुराणो मे उपबृंहित किया गया है। आजकल प्रचलित रूप मे मत्स्य का प्रथम अवतार बतलाया गया है, परन्तु अनेक स्थलो पर वराह अवतार को ही आदि अवतार होने का गौरव दिया जाता है। यह उचित भी प्रतीत होता है।[२] जिस पृथ्वी के ऊपर अन्य अवतारो का लीला-विलास

(घ) वाराहेण पृथिवीसविदाना (अथर्व १२।१।४८)

(ङ) उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना (तै० आ० १।१।३०)

१. द्रष्टव्य ब्रह्म० २१३। ३२–३९; वायु ६।१६-२३; ब्रह्माण्ड १।५।१६-२३; मत्स्य २४८।६६–७४; भाग० ३।१३।३५-३९; विष्णु १।४।३२ ३६; अग्नि ५।१–३।

२. भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे अवतारो की द्वितीय सूची मे वराह अवतार ही प्रथमतः वर्णित है—

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडी तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार॥

सम्पन्न होता है, उसी पृथ्वी के उद्धारकर्ता अवतार (वराह) को प्रथम अवतार के रूप में मान्यता प्रदान सर्वथा समुचित तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पुराणो में वराह के साथ यज्ञ का प्रतीक इतना संवलित माना गया है कि वह 'यज्ञवराह' के नाम से ही विश्रुत हैं।[१]

(४) नृसिंहावतार की पूर्ण सूचना तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक १० के प्रथम अनुवाक मे दी गयी है। वह नृसिंह की गायत्री दी गयी है—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि
तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्।

इस गायत्री मे नरसिंह अवतार के लिए 'वज्रनख" तथा 'तीक्ष्णदंष्ट्र' पदो का प्रयोग उसकी भयकरता की ओर स्पष्टतः लक्ष्य कर रहा है। इसी का उपबृंहण हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद को आशीर्वाद देनेवाले श्रीनृसिंह भगवान् के चरित-चित्रण के अवसर पर पुराणो[२] मे किया गया है, विशेषतः श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध मे। अष्टम अध्याय मे नृसिंह का जो सटामण्डित कराल रूप का वर्णन किया गया है, वह पूर्वोक्त गायत्री के वज्रनखाय तथा तीक्ष्णदंष्ट्राय शब्दो के ऊपर मानो भाष्यरूप है :—

प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुटत् सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥ २० ॥
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकटीमुखोल्वणम्
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥ २१ ॥

(५) वामनावतार के लिए वैदिक स्रोतो को विशेष प्रयत्नपूर्वक खोजने की आवश्यकता नही है। वह तो ऋग्वेद के विष्णुसूक्तो के अनेक मन्त्रो मे बहुशः संकेतित है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, १५४ सूक्त के अनुशीलन से विष्णु के वैदिक स्वरूप का पूर्ण परिचय हमे प्राप्त होता है। उनके विशिष्ट कार्यो मे तीन डगो मे पृथ्वी को माप लेना अपनी प्रधानता रखता है (विचक्रमा-

---

यह तो सूचना मात्र है, परन्तु विशेष वर्णन के प्रसंग पर भी इसी अवतार का प्रथम वर्णन है। द्रष्टव्य भागवत तृतीय स्कन्ध, १३ अध्याय।

१. यज्ञवराह के सांगोपांग विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य डा० अग्रवाल का एतद्विषयक लेख—पुराणम्, वर्ष ५, भाग २, पृष्ठ १९९-२३६; जुलाई १९६३ (रामनगर, वाराणसी)

२. भाग० ७।८ अ०; अग्नि ४।३–५, २७६।१०, २७६।१३

णस्त्रेधोरुगायः), विष्णु ने अकेले ही तीन पदो मे माप लिया इस दीर्घ दूर तक फैलने वाले सधस्थ (अन्तरिक्ष) को जहाँ पितर लोगो का एकत्र निवास होता है (य इदं दीर्घं प्रयत्नं सधस्थम्, एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः १।१५४।३) तीन डगो से पृथ्वी की माप लेने के कारण ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण केवल विष्णु के लिए ही वेद मे प्रयुक्त किये गये है। यह प्रसिद्ध मन्त्र इसी तथ्य का द्योतक है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्
समूढमस्य पांसुरे

ऋ० वे० १।२२।१७

मन्त्र का तात्पर्य यह है कि विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणो से आक्रान्त कर पैर रखा और इनके धूलि-धूसर (पासुरे) पद मे यह भूमि आदि समस्त लोक अन्तर्हित हो गये। विष्णु के लिए 'वामन' शब्द का प्रयोग हमे शतपथ ब्राह्मण मे (१।२।५।५) की इस उक्ति मे मिलता है—वामनो ह विष्णुरास। फलतः वेद मे विष्णु के तीन डगो को भरने की, उरुगाय-उरुक्रम आदि अन्वर्थक नामो के धारण करने की ही उपलब्धि नही होती, प्रत्युत 'वामन' विशिष्ट नाम का भी प्रयोग हमे वेद मे उपलब्ध होता है। फलतः वामनावतार की कथा का मूल स्रोत वेद मे प्रामाणिकरूप मे हमे प्राप्त होता है।

एक तथ्य पर और विचार करना आवश्यक है। विष्णुसूक्तो के अनुशीलन से गोपाल कृष्ण की भी कथा का संकेत उपलब्ध होता है।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
अतो धर्माणि धारयन्॥ —ऋ० १।२२।१८

यह मन्त्र विष्णु को 'गोपाः' के विशेषण से संबोधित करता है। फलतः उरुक्रम वामन तथा गोपवेषधारी विष्णु की एकता का स्पष्ट प्रतिपादक यह मन्त्र अध्यात्मदृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इतना ही नही, वैष्णव-मत मे भगवान् विष्णु के सर्वोच्च पद को 'गोलोक' नाम से पुकारते है और इसके लिए वैदिक आधार हमे प्राप्त है इस मन्त्र मे—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमव भाति भूरि॥

—१।१५४।६

तात्पर्य है कि हम इन्द्र-विष्णु के उन लोको को जाने की सतत कामना करते हैं जहाँ बहुत ही सीग वाली तथा चंचल गाये निवास करती है। फलतः

गायो के संचार के कारण वह लोक 'गोलोक' के नाम से भक्ति साहित्य में सर्वत्र अभिहित है। यह भी ध्यातव्य है कि विष्णु के सौरदेवता होने के कारण उनका किरणों के साथ अभेद्य सम्बन्ध स्थापित है वैदिक मन्त्रो मे। अतः 'गो' शब्द का तात्पर्य यहाँ किरणो से समझा जाता है। विष्णु के सूक्तों के गाढ़ अनुशीलन से परवर्ती काल में उनके स्वरूप के विकाश का पूरा परिचय आलोचक के सामने स्वतः प्रस्तुत हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।५–७) में वामन का प्रसंग, आता है जो पौराणिक प्रसंग का मूलरूप माना जा सकता है। संक्षेप मे यह प्रसंग इस प्रकार है:—

देव और असुर—दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं। ये दोनों आपस में विवाद करने लगे। उनमें से तीक्ष्ण स्वभाववाले असुरों से देवगण परास्त हो गये, तब असुरो ने माना कि यह समस्त भुवन हमारा ही है॥ १॥

उन लोगों ने विचार किया कि समस्त पृथ्वी को हम विभाजित कर दे और उसे बाँटकर उसी के द्वारा आजीविका निर्वाह करें। यह विचार कर उन्होने वृषचर्म की बहुत बारीक तात बनाया और पश्चिम से लेकर पूरब तक उसका बँटवारा करने के लिए उद्यत हुए॥ २॥

इस बात को देवो ने सुना कि असुर लोग पृथ्वी का बटवारा कर रहे हैं। देवगण विचार कर कहने लगे—चले जहां असुर लोग पृथ्वी का विभाजन कर रहे हैं। यदि हमको इसका अंश न मिलेगा, तो हमारा क्या होगा? हमारा काम कैसे चलेगा? तब वे यज्ञरूपी विष्णु को आगे कर अर्थात् अपना नेता बनाकर असुरों के स्थान पर गये॥ ३॥

देव बोले—"हमारे पीछे पृथ्वी का बटवारा मत करो। हमारा भी तो इसमे भाग है"। इस बात को सुनकर असुर लोग असूया करने लगे और बोले कि जितने स्थान पर यह विष्णु सोता है (अर्थात् व्याप्त कर लेता है), उतनी पृथ्वी तुमको दे देगे॥ ४॥

विष्णुजी वामन थे (अर्थात् यदि विष्णु के शयनयोग्य भूमि ही देवो को प्राप्त होती, तो वह बहुत थोड़ी थी, क्योंकि विष्णु का रूप बौने का था) इसलिए देवों ने यह बात स्वीकार नही की और आपस मे कहने लगे—असुरों ने यज्ञ के बराबर जो भूमि हमें दी, सो ठीक ही है। यह कम नही बहुत ही है॥ ५॥

देव लोगों ने पूर्व दिशा में विष्णु को स्थापित कर छन्दो के द्वारा उन्हे चारों ओर से घेर लिया। पूर्व दिशा मे गायत्री छन्द से घेर दिया, दक्षिण में त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा, पश्चिम दिशा में जगती छन्द से तथा उत्तर दिशा मे उन्हे छन्दों से चारों ओर से घेर दिया॥ ६॥

पूर्व दिशा मे अग्नि की स्थापना की और उसकी पूजा-अर्चा करते हुए वे चारो ओर घूमने लगे और इस अर्चा के प्रभाव से उन्होने समग्र पृथ्वी को प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

इस कथानक के द्वारा देवो के द्वारा असुरो से समस्त पृथ्वी को जीतने का वृत्तान्त उपस्थित किया गया है। इस कार्य मे यज्ञरूपी विष्णु का ही हाथ था। यहाँ स्पष्टत: विष्णु वामन के रूप मे चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद के उरुगाय विष्णु के त्रिविक्रम को तथा शतपथ के इस वामन आख्यान को एक संग मे मिलाकर पुराणो मे वामनावतार का पूर्ण प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ शतपथ मे असुरो से भूमि जीतने की कथा है, वहाँ पुराणो मे असुरो के राजा बलि से। शतपथ का कथानक यज्ञ की महिमा का प्रतिपादक है और देवो ने असुरो की भूमि पर यज्ञ का विस्तार कर उसे आत्मसात् कर लिया; पुराणो मे तीन क्रमो मे पृथ्वी, स्वर्ग तथा बलि के शरीर को मापने के अनन्तर समग्र पृथ्वी असुरो से छीनकर देवो को समर्पित की गयी है। दोनों आख्यान विष्णु के माहात्म्य—द्योतक है। पुराणो ने ऋक्संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण दोनों पर आधारित कर स्वाभीष्ट कथन को प्रामाणिक बनाया है।

पुराणो मे, विशेषत: भागवत के अष्टम स्कन्ध मे वामन अवतार का वर्णन राजा बलि के प्रसंग मे किया गया है। स्वर्ग को जीतकर बलि स्वयं इन्द्र बन गया और देवताओ को पराजित कर उन्हे स्वर्ग से निकाल भगाया। देवो की तीव्र प्रार्थना पर भगवान् अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस कामना की पूर्ति के निमित्त अदिति ने 'केशव तोषण' नामक व्रत किया था (भाग० ८।१६) वामन रूप मे उत्पन्न होकर भगवान् बलि की [1]यज्ञशाला मे पधारे और तीन डगो जमीन माँगी। शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी बलि ने वामन की इच्छा पूर्ण की। वामन ने दो ही डगो मे पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों को नाप डाला और तीसरा चरण बलि के आत्मसमर्पित मस्तक के ऊपर रखकर

---

१. बलि का यह यज्ञ नर्मदा के उत्तर तट पर 'भृगुकच्छ' 'आधुनिक नाम भड़ोंच' मे हुआ था जहाँ भृगु लोगो ने ऋत्विज् बनकर यज्ञ का कार्य सम्पन्न कराया था। आज भी यहाँ भार्गव ब्राह्मणो की प्रसिद्ध बस्तियाँ हैं।

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षदारादुदितं यथा रविम् ॥

—भाग० ८।१८।२१

—भाग० ८ १८ अ०, अग्नि० ४।५।१-३

अपने 'त्रिविक्रम' नाम को चरितार्थ बनाया। भागवत में निर्दिष्ट यह कथा प्राय: इसी रूप मे अन्य पुराणो मे भी आती है। ध्यान देने की बात है कि भागवत वामन के लिए वैदिक विशेषणों का बहुश: प्रयोग करता है। पृश्निगर्भ, वेदगर्भ, त्रिनाभ, त्रिपृष्ठ, शिपिविष्ट, ब्रह्मण्यदेव आदि नामो के साथ ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' प्रयोग वेद का सर्वथा अनुसरण करता है (भाग० ८।१७।२५–२६)। निष्कर्ष यह है कि वामन अवतार का सकेत ही नहीं, प्रत्युत विशद उल्लेख भी वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है तथा अन्य अवतारों के समान इस अवतार को भी वेदानुकूल सिद्ध कर रहा है।

इस प्रकार विष्णु के आद्य पाँच अवतारो के वैदिक स्रोतो का यहाँ विस्तार से अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इसके आगे अवतारो मे अन्तिम दो अवतारो के विषय मे हम जानते है कि बुद्ध को जन्म लिये केवल अढाई हजार वर्ष हुए तथा कल्कि का अवतार इसी कलियुग मे अभी भविष्य मे होने वाला है। अत: इनके लिए वैदिक मूल ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। रह गये बीच के तीन अवतार—परशुराम, राम तथा कृष्ण। इनके लिए वेद मे पर्याप्त पोषक सामग्री उपलब्ध नही होती। भार्गवेय राम का निर्देश ऐतरेय ब्राह्मण (७।५।३४) के जिस वाक्य में (प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय) माना गया है, उसमे यथार्थ पाठ 'मार्गवेयो' है, भार्गवेयो नही। रामायण के कथानक को वैदिक मन्त्रो के आधार पर सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास नीलकण्ठ (महाभारत के व्याख्याकार)[१] ने अपने **मन्त्ररामायण** मे किया है तथा **मन्त्रभागवत** का प्रणयन कर उन्होंने ही ऋग्वेदो के मन्त्रो से भागवत का पूरा आख्यान—श्रीकृष्ण की नाना लीलाओ का प्रसंग सिद्ध किया है। नीलकण्ठ के इस प्रयास की हम भूयसी प्रशंसा करते है, परन्तु आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से हम इसका प्रामाण्य अक्षरश: मानने के लिए तैयार नही है। फिर भी राम तथा कृष्ण का प्रसंग वैदिक साहित्य मे यत्र तत्र अवश्यमेव उपलब्ध होता है। इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ अब दिया जायगा।

---

१. नीलकण्ठ चतुर्धुरीण वंश मे उत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज महाराष्ट्र से आकर काशी मे रहने लगे थे। नीलकण्ठ ने काशी मे ही अपना प्रधान ग्रन्थ समग्र महाभारत का टीका ग्रन्थ ('भारतभावदीप' नामक) बनाया जो आज भी महाभारत के मूल अर्थ को जानने के लिए हमारे पास बहुमूल्य साधन है। इस ग्रन्थ के नाना हस्तलेखो का समय १६८७ ई० से लेकर १६९५ ई० तक है। फलत: नीलकण्ठ का समय १७वी शती का उत्तरार्ध (१६५० ई०–१७०० ई०) मानना सर्वथा समुचित है। विशेष द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० १०४, षष्ठ सं०, काशी)

(६) परशुराम—परशुराम के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है—कार्तवीर्य हैहय का नाश तथा उद्धत क्षत्रिय शासको का २१ बार संहार। इनका चरित महाभारत तथा पुराणो मे बहुशः वर्णित है। इन कथाओ के मूल स्रोत हैं—महाभारत II, 49; III, 98, 116–117 आदि; मत्स्यपुराण ४७ अ०, विष्णुपुराण ४।७, ४।११; भागवत १।३।२०; २।७।२२ ९।१५–१६। परशुराम का अवतार षष्ठ माना जाता है—वामन तथा राम के बीच मे। मत्स्यपुराण की गणना मे भी यह अवतार षष्ठ है। विशेष बात यह है कि मत्स्य के [1]अनुसार यह अवतार १९वे त्रेतायुग मे हुआ था तथा विश्वामित्र विष्णु के यज्ञ के पुरोहित थे। भागवत के अनुसार यह सोलहवाँ (१।३) तथा सत्रहवाँ अवतार विष्णु के २२ अवतारो के बीच मे माना गया है (२।७)।

यह अवतार राम तथा कृष्ण के समान ही ऐतिहासिक माना जाता है, क्योंकि परशुराम ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनके द्वारा सम्पादित कार्य अलौकिक भले ही हो, वे कथमपि अतिमानव नही है। 'क्षतात् किल त्रायते इति क्षत्रियः' इस व्युत्पत्ति के विरुद्ध जब क्षत्रिय शासक प्रजा का तथा विशेषतः अध्यात्म-परायण ब्राह्मण वर्ग का, पोषक होने के स्थान पर शोषक बन जाता है, तब इस अवतार का उदय होता है। दुर्दान्त तथा अभिमानी शासक का दमन तथा ब्राह्मण की रक्षा इस अवतार का उद्देश्य है। महाभारत-पूर्व युग मे इस अवतार के अस्तित्व का पता नही मिलता। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' मे जमदग्नि के पुत्र राम किन्ही वैदिक मन्त्रो के द्रष्टा माने गये है (१०।११०)। सम्भव है ये ही जामदग्न्य राम पौराणिक परशुराम हो, परन्तु वैदिक ऋषि के ऊपर वीर योद्धा के शौर्यमण्डित कार्यकलापो का आरोप सामान्यतः नैसर्गिक नही प्रतीत होता।

(७) वेदो में रामकथा—वेदो मे राम की प्रख्यात कथा संकेतरूप से भी मिलती है या नही? इसका संक्षेप मे निरूपण करना आवश्यक है। रामायण कथा के प्रसिद्ध कतिपय पात्र वैदिक साहित्य मे अवश्य मिलते है, परन्तु इनका पारस्परिक सम्बन्ध कही भी निर्दिष्ट नही मिलता जिससे कथा का सूत्र विच्छिन्न ही रहता है। 'इक्ष्वाकु' शब्द ऋग्वेद के एक बार (१०।६०।४) तथा अथर्ववेद मे भी एक बार (१९. ३९. ९) आया है। दशरथ का

१. एकोनविंश्यां त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तकृद् विभुः।
जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्र पुरःसरः॥

—मत्स्य ४७।२४१

उल्लेख वैदिक साहित्य में एक ही बार हुआ है—ऋग्वेद की एक दानस्तुति में, जहाँ अन्य राजाओं के साथ दशरथ की भी प्रशंसा की गयी है (१।१२६।४)—चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नमन्ति (अर्थात् दशरथ के चालीस भूरे रंग के घोड़े एक हजार घोड़ों के दल का नेतृत्व करते हैं)। राम नामक अनेक व्यक्तियों का उल्लेख वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होता है (१) एक राजा के रूप में (ऋग्वेद १०।९३।१४); (२) ब्राह्मण कुल मे 'राम' नामधारी अनेक व्यक्तियो का निर्देश मिलता है—

राम मार्गवेय (ये श्यापर्ण कुल के तथा जनमेजय के समकालीन थे; ऐत० ब्रा० ७।२७।३४)

राम औपतस्विनी (याज्ञवल्क्य के समकालीन दार्शनिक आचार्य, शत० ब्रा० ४, ६, १. ७)

राम क्रातुजातेय (एक वैदिक आचार्य; जैमिनीय उप० ब्रा० में दो स्थलो पर निर्दिष्ट)

इन नामो का अस्तित्व यही दिखलाता है कि राम ऐसा अभिधान वैदिक काल मे राजाओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध था। इससे आगे किसी बात का पता नही।

इसी प्रकार **जनक वैदेह** का बहुल परिचय मिलता है तै० ब्रा० में तथा शत ब्रा० में। वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द अनेकत्र उपलब्ध होता है। **सीता सावित्री** की कथा तैत्तिरीय ब्रा० मे (२, ३, १०) मिलती है। कृषि की अधिष्ठात्री देवी से रूप मे सीता का उल्लेख मिलता है ऋग्वेद के सूक्त ४।५७ मे तथा अथर्ववेद के सूक्त ३।१७ मे तथा अन्यत्र भी यह कल्पना उपलब्ध होती है।

इस प्रकार रामायणीय कथा के प्रधान व्यक्तियों के नाम तो अवश्य वैदिक साहित्य में मिलते हैं, परन्तु इनका आपस मे किसी सम्बन्ध का परिचय नही मिलता। इक्ष्वाकु के वंश मे उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम थे, इस घटना का परिचय इक्ष्वाकु, दशरथ तथा राम नामों के मिलने पर भी नही होता। सीता तथा जनक के उल्लिखित होने पर भी सीता जनक की पुत्री थी; यह तथ्य अपरोक्ष ही है वैदिक साहित्य मे और न राम का सीता से कोई सम्बन्ध ही है।

इसका निष्कर्ष यही हो सकता है कि वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा राम सम्बन्धी गाथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थी, इसको असंदिग्ध

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य फादर कामिल बुल्के रचित **रामकथा** पृ० १–२९। प्रकाशक हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, १९५०।

सूचना वैदिक साहित्य के आधार पर उपस्थित नहीं की जा सकती। कुछ पात्रों के नाम अवश्य मिलते है, परन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

(८) वेदों में कृष्ण-कथा

अवतारों के बीच मे कृष्ण का अवतार नौवाँ अनेकत्र माना गया है, परन्तु कहीं-कहीं कृष्ण के संग मे बलराम भी अवतार माने गये हैं। भागवत की प्रथम सूची (३।२३) मे राम (बलराम) तथा कृष्ण दोनों ही अवतार माने गये है। परन्तु जब श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा के रूप मे गृहीत कर लिये गये, तब नवम अवतार बलराम के रूप मे परिगृहीत किया गया। इसलिए अनेक पुराणो मे बलराम का भी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अग्निपुराण मे बलभद्र अनन्त की मूर्ति माने गये हैं (१५।१५) जिनकी मूर्ति चतुर्भुजी बनायी जाती थी। बायें भाग के ऊपर हाथ मे 'लाङ्गल' (हल) तथा निचले हाथ मे 'शंख' रखने का विधान है। दाहिने भाग के ऊपरी हाथ मे मूसल तथा निचले हाथ मे चक्र रखने का नियम है। अग्नि० (४९।६-७) के पूर्व मे दाशरथी राम का तथा इसी अध्याय के आठवें श्लोक मे बुद्ध का वर्णन उपलब्ध होता है जिससे दोनो का बीचवाला अवतार श्रीकृष्ण के स्थान पर नवम अवतार माना गया है। कृष्ण का संकेत वैदिक साहित्य मे है। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७।६) ने घोर आंगिरस के शिष्य जिस देवकी पुत्र कृष्ण की चर्चा की है वे पुराणो मे वर्णित देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं प्रतीत होते। 'वासुदेव' शब्द का उल्लेख न होने पर भी 'देवकी पुत्र' विशेषण ही दोनो के ऐक्यसाधन के लिए पर्याप्त माना जाता है। इसलिए कृष्णावतार की सूचना वेद-प्रतिपाद्य ही है[1]।

(९) **बुद्ध का अवतार**—बुद्ध का जीवनचरित नितान्त विख्यात है। हीनयान सम्प्रदाय मे बुद्ध का वैयक्तिक जीवन ही आदर्श माना जाता है जिसका अनुकरण तथा जिनके उपदिष्ट अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण साधक को 'अर्हत्' की उन्नत दशा पर पहुँचा देता है, परन्तु थोडी ही शताब्दियाँ पीछे महायान में गौतम बुद्ध अवतार के रूप मे गृहीत किये गये, उनकी मूर्ति का निर्माण होने लगा तथा कारुण्य और दया की मूर्ति 'बोधिसत्त्व' का आदर्श सर्वत्र परिगृहीत किया गया। इस प्रकार महायान में वे तुषित स्वर्ग के निवासी लोकोत्तर बुद्ध माने जाने लगे तथा इस लोकोत्तरवाद के आगे उनका मानवरूप एकदम ह्रास पाकर तिरोहित-सा हो गया। यही तो बौद्ध धर्म मे बुद्ध

---

१. कृष्णचरित के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य भागवत १० स्कन्ध। ब्रह्म (अ० १८२-२१२ अ० पूरे ३० अध्यायो मे।

के अवतार का निर्देश है। ब्राह्मण वैदिकधर्म मे भी बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। कब तथा किस परिस्थिति मे? यही विचार का विषय है।

विक्रम की आरम्भिक शताब्दियो में बुद्धधर्म का भूयान् अभ्युत्थान हुआ। इसमे राजाश्रय ही प्रधान हेतु था। मौर्य सम्राट् अशोकवर्धन कलिंग युद्ध में भूयान्-नरसंहार से इतना संतप्त तथा व्यथित हुआ कि उसने सदा-सर्वदा के लिए युद्ध को बन्द कर दिया और बुद्धधर्म को राजधर्म बनाकर इसके प्रचार के निमित्त विदेशों मे भिक्खुओं को भेजा विक्रम पूर्व तृतीय शती मे। इसके लगभग चार सौ वर्ष के अनन्तर कुषाण नरेश कनिष्क ने प्रथम शती मे बुद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अश्रान्त परिश्रम किया। चतुर्थ संगीति बुलाई तथा चीन जैसे देश मे अपने प्रचारक भेजे। बुद्धधर्म के बाहरी देशो मे अभूतपूर्व विजय के साथ ही साथ भारत मे भी इसका अश्रुतपूर्व प्रसार हुआ। भारतीय जनता, विशेषतः निम्नस्तर की, जो वैदिक धर्म में श्रद्धा रखती थी, बौद्धधर्म की सरलता के चाकचिक्य के आगे उस श्रद्धा को भूलकर इस नवीन धर्म मे दीक्षित होने लगी। पुराणो ने इसी भूली जनता को वैदिक धर्म मे पुनर्दीक्षित के करने के निमित्त एक सार्वभौम धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की। अवतारो मे बुद्ध की गणना भी इस क्रान्ति का एक महनीय साधन था।

कुमारिल भट्ट ने बौद्धो के दार्शनिक सिद्धान्तो का बड़ा ही प्रौढ़ खण्डन अपने श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक ग्रन्थो मे किया। तथ्य तो यही है कि कुमारिल तथा शङ्कर—इन दोनो आचार्यों की तर्ककर्कश वाणी ने बौद्धधर्म की धज्जियाँ उड़ा दी जिसके कारण इसने अपने मूलस्थान भारत से निष्कासित होकर भारतेतर प्रदेशों मे अपना आश्रयण लिया। फलतः कुमारिल बुद्ध के प्रति श्रद्धा का भाव रखेगे—यह सोचना ही गलत है। उन्होने पुराण का हवाला देकर स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की है की शाक्य आदि (बौद्ध धर्म आदि) कलियुग मे धर्म मे विप्लव मचाने वाले है; पुराणों मे यह कथन बहुशः संस्मृत है। तब उनके वाक्य को कौन सुनने लायक है?

> स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्म-विप्लुति-हेतवः।
> कलौ शाक्यादयस्तेषा को वाक्यं श्रोतुमर्हति॥
>
> —तन्त्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

कुमारिल के इस प्रकार प्रख्यात होने पर भी, पुरातत्वीय प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि अष्टम शती में बुद्ध को अवतार रूप मे गणना जन-समाज मे परिगृहीत होने लगी थी। दक्षिण भारत के महाबलिपुरम् के पर्वत से काटकर बनाये गये मन्दिर मे एक शिलालेख उपलब्ध है जिसका एक अधूरा श्लोक इस प्रकार है—

..........................हस्य नारसिंहश्च वामनः।
रामो रामस्य (श्च)रामस्य(श्च) बुद्धः कल्की च ते दश ॥

इस शिलालेख का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध बताया गया है। मध्य-प्रदेश के 'सीरपुर' नामक स्थान में ८म शती के आसपास का एक मन्दिर है जिसमें राम की मूर्ति के बगल में बुद्ध की अपनी ध्यानावस्थित मुद्रा में मूर्ति मिलती है। मन्दिर का निर्माणकाल अष्टम शती के आसपास माना गया है। ये दोनों उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं।[१] पिछले युग में काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतार महाकाव्य' (समाप्ति काल १०६० ई०) बुद्ध को नवम अवतार के रूप में वर्णित किया है। फलतः बुद्ध का विष्णु-अवतारों में गणना का समय नवम शती मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।

पुराणों में, एक-दो को छोड़कर, सर्वत्र ही बुद्ध अवतारों में परिगणित किये गये हैं। परन्तु पौराणिकों के सामने विकट समस्या थी कि बुद्ध के वेद-बाह्य सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्त के साथ आनुकूल्य कैसे दिखलाया जाय? जिसने वैदिक यज्ञयागों की जमकर निन्दा की, वेद को धूर्तों का प्रलाप माना, तथा वेदप्रतिपाद्य ईश्वर तथा आत्मा का भी अभाव ही माना, उस बुद्ध को वैदिक अवतारों के बीच स्थान देना बड़े ही साहस का काम था। परन्तु एक आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुराणों को यही करना पड़ा। वह व्याज था वेदविरोधी असुरों का व्यामोहन। इस तर्क की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है भागवत के इस श्लोक में—

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्ना जिन–सुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

—भाग० १।३।२४

और इसी श्लोक का भाव अन्य पुराणों के एतद्-विषयक प्रसंगों में पाया जाता है। विष्णुपुराण (अंश ३, अ० १८) में दिगम्बर महामोह प्रथमतः जैनधर्म का उपदेश देता है (१–१३ श्लोक) जो इस प्रसंग में प्रयुक्त 'अनेकान्तवाद' तथा 'आर्हत' आदि शब्दों से सुस्पष्ट है। इसके बाद का उपदेश, श्रीधर स्वामी की टीका के अनुसार, बौद्धधर्म के उपदेशरूप में पुराणकार को अभीप्सित है (श्लोक १४-२१)। विष्णुपुराण में इस उपदेष्टा महामोह के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण नहीं है, परन्तु अग्निपुराण तो स्पष्ट ही कहता है कि यह महामोह

१. Memoir No. 26 of the Archaeological Survey of India by H. Krishna Shastri p. 5.

शुद्धोदन का पुत्र बन गया तथा दैत्यो को वेदधर्म छोड़ने के लिए मोहित किया:—

महामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ।
मोहयामास दैत्यांस्तान् त्याजिता वेदधर्मकम् ॥

—अग्निपु० १६।२

यही तथ्य भविष्यपुराण (४।१२।२६-२६) मे पाया जाता है। श्रीमद्भागवत में बुद्धावतार का अनेकत्र वर्णन किया गया है (भाग०२।७।३७; ६।८।१९; १०।४०।२२ तथा ११।४।२३) फलतःबुद्ध अवतार मे प्रायः सब पुराणों में स्वीकृत हैं।[१] बुद्ध का निश्चित निर्देश महाभारत के असली पाठो मे नही मिलता। महाभारत शान्ति ३४८ अ० मे यह श्लोक अवश्य पाया जाता है—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति ते दश ॥

परन्तु इसके अन्तिम चरण का पाठ अन्य हस्तलेखो में है—कृष्णः कल्कीति ते दश। 'बुद्ध' की इस गणना पर अश्रद्धा का कारण यह भी है कि इसी अध्याय के ५५ श्लोक मे दशावतारों की पुनर्गणना की गयी है जहाँ 'बुद्ध' के स्थान पर 'हंस' का नाम आता है—

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम।
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्त्वतः कल्किरेव च ॥

एक ही अध्याय मे यह पूर्वापर विरोध कैसा ? फलतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूल महाभारत में बुद्ध की गणना अवतारों के अन्तर्गत नही है।[२]

---

१. द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य : इतिहासपुराण का अनुशीलन, पृष्ठ २८०—२८६, काशी, १९६३। यहाँ पुराणो से बुद्धविषयक वचन परिश्रम से एकत्र किये गये हैं।

२. बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख अग्नि ४९।८ मे इस प्रकार है—

शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः।
ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः ॥

यह श्लोक ध्यानावस्थित बुद्ध की अभय मुद्रा का वर्णन करता है। 'लम्बकर्ण' उनकी निजी विशेषता है। गान्धार में निर्मित बुद्ध की मूर्ति पर यह वर्णन पूरे तौर पर लागू होता है। अन्य पुराणों मे भी बुद्धमूर्ति का प्रसङ्ग आता है।

(१०) कल्कि अवतार—इस अवतार के विषय मे शास्त्र का कथन है कि यह अवतार अभी भविष्य मे होने वाला है—कलियुग के अन्त मे, जब शासको के दुष्टकर्मो से प्रजाओ का नितान्त उत्पीडन होगा, जब अधर्म अपनी चूडा पर पहुँच जायेगा तथा ब्राह्मणधर्म की सार्वत्रिक निन्दा तथा अपमान होगा। अवतार के स्थान का भी पता मिलता है। महाभारत (वनपर्व १९०–९१), हरिवंश (१।४१) ब्रह्म १०४ अ० आदि के अनुसार संभल या शम्भल कल्कि का जन्मस्थान होगा। हरिवंश का कथन है कि कल्कि तथा उनके अनुयायियो का कर्मक्षेत्र गंगा तथा यमुना के बीच का प्रदेश (अन्तर्वेदी) होगा और यह अनुमेय है कि इसी अन्तर्वेदी में कही सम्भल होना चाहिए। महा० (सभापर्व ५० तथा वनपर्व १९०) मे 'विष्णुयशस्' कल्कि का ही नामान्तर-रूप से दिया गया है, परन्तु महा० (शान्ति ३४८ अ०), मत्स्य ४७।२४८–२४९ तथा भाग० (१।३।२५) के अनुसार यह कल्कि के पिता का अभिधान है। हरि० के अनुसार याज्ञवल्क्य विष्णु के पुरोहित माने गये हैं, परन्तु मत्स्य के अनुसार इस कार्य के निमित्त याज्ञवल्क्य के साथ पाराशर्य का भी नाम उल्लिखित है।

महाभारत तथा मत्स्य दोनो मे कल्कि के अवतार-कार्य को शैली का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मण कल्कि ब्राह्मणो से घिर कर अधार्मिक जनो का अपने नाना तीव्र आयुधों के द्वारा संहार करेगे तथा सबका विध्वंसन कर नये सुखद युग—कृतयुग—की स्थापना करेगे। कल्कि का वर्ण हरित पिंगल होगा—हरा तथा भूरा का सम्मिश्रण तथा वे घोड़े पर सवारी कसकर अपना काय सम्पादन करेगे और उनके सहायक ब्राह्मणगण भी घोड़े पर सवार रहेगे। कल्कि के द्वारा विध्वंसनीय दस्यु तथा अधार्मिको के परिचय का संकेत हरिवंश (१।४१।६५) तथा मत्स्य (४७।२४९) के एक विशिष्ट उल्लेख से मिलता है। ये दोनो ग्रन्थ कल्कि अवतार को 'भाव्य सम्भूत'[१] अथवा 'भाव्यसंपन्न' बतलाते है। नीलकण्ठ ने हरिवंश के इस श्लोक को व्याख्या में इसका अर्थ लिखा है—भाव्यसंपन्नः = भाव्यैः क्षणिकवादिभिः सह संपन्नः वादे युद्धे च संगतः॥ इस व्याख्या के अनुसार वे धर्मविरोधी बौद्ध ही हैं जिनको कल्की के वाद तथा युद्ध दोनों में परास्त किया था। इसी प्रसङ्ग मे उल्लिखित 'पाखण्ड'[२] शब्द भी इस तथ्य का पोषक माना जा सकता है। विष्णु

---

१. कल्की तु विष्णुयशसः पाराशर्यपुरःसरः।
दशमो भाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्यपुरःसरः॥ —मत्स्य ४७।२४५

२. सर्वांश्च भूतान् स्विमितान् पाखण्डांश्चैव सर्वशः।
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैर्वृतः शतसहस्रशः॥ —तत्रैव, २४६ श्लो०

के अवतारों मे यह अन्तिम अवतार माना गया है—दसवाँ अथवा बाइसवाँ। भागवत (२।७।३८) का स्पष्ट कथन है कि वैदिक धर्म की स्थापना के निमित्त तथा अवैदिक धर्म के विध्वंसन के लिए ही इस अवतार का उदय हुआ था। फलतः इस अवतार का उद्देश्य भी वही है जो इतर अवतारो का ऊपर बतलाया गया है—धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश।[1]

इतर अवतार

यहाँ प्रख्यात दश अवतारों की विशिष्ट चर्चा समाप्त होती है। भागवत के अवतारो की दोनों सूचियो के मिलाने पर ये इतर अवतार प्रतीत होते हैं। इनका वर्णन भागवत के अन्य स्कन्धों मे कम या अधिक मात्रा में मिलता है तथा अन्य पुराणो मे भी। महाभारत में बहुतों का अस्तित्व मिलता है। भागवत के प्रथम क्रम (१।३) को ही मुख्य मानकर इनका निर्देश संक्षेप में इस प्रकार है—

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(११) चतुःसन (या कौमार सर्ग)	दोनों स्थान पर अवतार १।३।६ तथा २।७।५	ब्रह्मा के मानसपुत्र तो माने गये हैं, परन्तु विष्णु के अवतार की कल्पना नहीं।
(१२) नारद	१।३।८	भागवत में अवतार, अन्यत्र नहीं।
(१३) नर-नारायण	१।३।९ } २।७।६–८ }	महाभारत शान्ति ३४२; मत्स्य ४७।२३७–३८.
(१४) कपिल	१।३।१०, २।७।३; ३।२२–२३.	महा० सभा १०६–१०७, हरि० १।१४।२४; विष्णु० ४।४
(१५) दत्तात्रेय	१।३।४, २।७।४	महा० सभा, ४८, हरि० १।३३.४१; मत्स्य ४७; विष्णु ४।११; ब्रह्म० ७१, १०४
(१६) यज्ञ (सुयज्ञ)	१।३।१२; २।७।२	कूर्म ५१
(१७) ऋषभ	१।३।१३; २।७।१०; ५।३–६	अन्यत्र नहीं

---

१. यह्मालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ॥
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥

—भाग० २।७।३८

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(१८) पृथु	१।३।१४; २।७।९	पुराणों में बहुशः वर्णित परन्तु अवतार कल्पना केवल भागवत में ही।
(१९) धन्वन्तरि	१।३।१७ २।७।२१	भागवत में अवतार, अन्यत्र नहीं :
(२०) मोहिनी	१।३।१७	केवल भागवत में ही अवतार कल्पना, अन्यत्र नहीं।
(२१) वेदव्यास	१।३।२१; २।७।३६	महा० शान्ति, ३५९, हरिवंश १।४१; मत्स्य ४७; कूर्म १४।५१
(२२) मान्धाता चक्रवर्ती	भाग० ९।६ मे वर्णन होने पर भी अवतार कल्पना नहीं	केवल मत्स्य में अवतार कल्पना, अ० ४७
(२३) हंस	भाग० २।७ प्रथम सूची में नही	महा० शान्ति ३४८।५५ जहाँ वे बुद्ध के स्थान पर उल्लिखित हैं।
(२४) पौष्करक	भाग० में नही	हरि० १।४१।२६-२७, ब्रह्म० १०४। ३०—३१ स्पष्ट रूप नही चलता।
(२५) हयशीर्ष (अथवा) हयग्रीव	भाग० २।७।११, १०।४०।१७ वेद का उद्धार ही लक्ष्य ५।१८।६	महा० शान्ति० ३४७ में अवतार का कार्य विस्तरशः उल्लिखित। मत्स्य के समान ही वेद के उद्धार का कार्य[1]
(२६) गजेन्द्र मोक्षकारक	भाग० मे त्रयोदश अवतार २।७।१५-१६	अन्यत्र नही।
(२७) पृश्निगर्भ	भागवत में उल्लिखित	

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण के ५१वे अध्याय मे अन्य पाँच अवतारो का निर्देश मिलता है जिनमेसे अनेक का अभिधान नही दिया गया है, केवल सामान्य निर्देश ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार सकलन करने पर विष्णु के ३२ अवतारो का परिचय मिलता है, जिनमे से आरम्भ मे वर्णित १० तो मुख्य है, इतर २२ गौण तथा अल्प प्रसिद्ध। शिव के २८ अवतारो का नाम कूर्म-पुराण के ५३ अध्याय (पूर्वार्ध) मे उपलब्ध होता है —

---

१. एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः॥

—शान्ति ३४७।५७—५८

(१) सुतार, (२) मदन, (३) सुहोत्र, (४) कङ्कण, आदि। अन्तिम (२८) अवतार नकुलीश्वर हैं जो स्पष्टतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पाशुपत मत की संज्ञा लकुलीश पाशुपत होने का यही कारण है कि वह नकुलीश (या लकुलीश) के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था।

इस प्रकार अवतार की कल्पना तथा उसके विविध रूपों के चरित और लीला का वर्णन पुराणों का प्रधान विषय है। पुराणों का एक बड़ा भाग अवतारों के लीलावर्णन मे प्रस्तुत किया गया है[१]। इसीलिए इस विषय का एक ऐतिहासिक अनुशीलन ऊपर किया गया है।

१, इन अवतारों के विशेष वर्णन के लिए देखिए Allahabad University Studies भाग १० (१९३४) मे श्री स. ल. कात्रे लिखित Avataras of God शीर्षक लेख।

परिशिष्ट

श्रीकृष्ण के लौकिक चरित्र का विश्लेषण

वृन्दावन-विहारी नन्द-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति-साहित्य तथा कृष्ण-काव्यो मे है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचको तथा सामान्य जनो की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है—सत्ता होने पर भी वह असत्ता के साम्राज्य मे ही अधिकतर विचरण करता दीखता है। भक्तो की उधर दृष्टि ही नही जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त है जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर है। पुराणो मे विशेषकर श्रीमद्भागवत मे, श्रीकृष्ण परमैश्वर्य-मण्डित, निखिल ब्रह्माण्डनायक, अघटित घटना-पटीयान् भगवान् के रूप मे ही चित्रित किये गये है। वे वाणी के परमवर्णनीय विषय माने गये है। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नही करती, वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है, हंस-तीर्थ के समान श्लाघनीय तथा आदरणीय नही—

> न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
> जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
> तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
> यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥
>
> —भागवत १२।१२।५०

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। अलौकिक से पृथक् तथा भिन्न उनका एक लौकिक चरित्र भी था जिसमे उदात्तता का कम निवास न था। श्रीकृष्ण के इसी लौकिक व्यक्तित्व की संक्षिप्त मीमासा यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

हरिवंश तथा पुराण—दोनो ही जनता मे कृष्ण के प्रति भव्य-भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ है। फलतः इन दोनो मे श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत्त ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार है महाभारत जहाँ श्रीकृष्ण पाण्डवो के उपदेशक तथा जीवन-निर्वाहक मुख्य सखा के रूप मे चित्रित किये गये हैं। जीवन के नाना पक्षो के द्रष्टा, स्वयं कार्य करने वाले, महाभारत युद्ध के लिए पाण्डवो के मुख्य प्रेरक के रूप मे महाभारत उन्हे प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण कर उसकी उदात्तता तथा मूर्धन्यता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

(१) श्रीकृष्ण की अद्वयता

प्रथमतः विचारणीय है कि कृष्ण एक थे। अथवा अनेक ? कृष्ण के बाल्य-काल तथा प्रौढकाल के जीवन-वृत्तो का असामंजस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बालजीवन इतने अल्हड़पने से भरा है—नाच, गान, रंगरेलियो की इतनी प्रचुरता है उसमे कि लोगो को विश्वास ही नही होता कि वृन्दावन का बाल कृष्ण ही महाभारत के युद्ध मे अर्जुन का सारथि तथा गीता के अलौकिक ज्ञान का उपदेष्टा है। यूरोपियन विद्वानो ने ही इस असामञ्जस्य के कारण दो कृष्णो के अस्तित्व की कल्पना की जो डा० रामकृष्ण भण्डारकर के द्वारा समर्थित[१] होने पर भारतीय विद्वानो के लिए एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत हुआ। परन्तु श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रांत तथा सर्वथा अप्रामाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र मे पार्थक्य होना तत्तत् आधार ग्रन्थो की भिन्नता के ही कारण है। पुराणो का लक्ष्य कृष्णचन्द्र के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलतः अपने लक्ष्य से बहिर्मुख होने के कारण इन्होने श्रीकृष्ण के प्रौढ़ जीवन की लीला का वर्णन नही किया। पुराणो मे केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभय-भागीय वृत्तो का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध कंसवध तक ही सीमित है, परन्तु इसके उत्तरार्ध मे महाभारत-युद्ध से सम्बद्ध कृष्ण-चरित्र का पूर्ण संकेत तथा संक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की घटनाओ का वर्णन है—उन घटनाओ का, जब ये पाण्डवो के सम्पर्क मे आते है तथा भारत युद्ध का संचालन करते है। फलतः वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओ का वर्णन नही करता अपने उद्देश्य पूर्ति बहिरंग होने के कारण। परन्तु समय-समय पर उन घटनाओ का संकेत अभ्रान्त रूप मे करता है। सभा-पर्व मे राजसूय की समाप्ति पर अग्रपूजा के अवसर पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार का लाञ्छन जब लगाया था तब उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था।

> यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
> तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥
> चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
> पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥
> वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
> तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर सेक्ट्स (पूना का संस्करण)

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागता ॥ १० ॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

—सभापर्व, ४१ अध्याय।

इन पद्यो मे श्रीकृष्ण के सामान्यतः आश्चर्यभरी लीला का यौक्तिक उपहास किया गया है। सप्तम श्लोक से पूतना, केशी तथा वृषभासुर के वध का संकेत है। आठवे श्लोक मे चेतनारहित शकट के पैर से तोड़ डालने का उपहास है; नवम श्लोक बतलाता है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण करना कोई अचरज भरी घटना नही है, क्योंकि इसे तो चीटियो ने खोखला बना डाला था !!! पहाड़ के शिखर पर नाना पकवानो के भक्षण की बात सुन कर दूसरे लोग ही अर्थात् मूर्ख लोग ही आश्चर्य मे पड़ते है। जिस कंस के अन्न को इसने खाया था, उसे ही मार डालना अद्भुत काम नही है—यह तो कृतघ्नता की पराकाष्ठा है !!!

शिशुपाल की यह निन्दाभरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व स्थापन मे पर्याप्त प्रमाण है। यह स्पष्ट बतला रही है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गयी है, वह उस व्यक्ति से भिन्न नही है जिसने[१] बाल्यकाल मे पूतना, वृषासुर, केशी नामक राक्षसो का वध किया था, गोवर्धन पर्वत को हाथ पर धारण किया था तथा उसके शिखर पर बहुत सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कंस का वध किया था। ये ही श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की आश्चर्य-रस से भरी लीलाएँ है। फलतः महाभारत की दृष्टि से कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता सर्वतोभावेन समर्थित तथा प्रमाणित है।

द्रोणपर्व मे धृतराष्ट्र ने सञ्जय से श्रीकृष्ण की स्तुति मे जो बाते निर्दिष्ट की, वे उनके बाल्य-जीवन से सम्बन्ध रखती है। इस प्रसंग से श्रीकृष्ण के ऐक्य प्रतिपादक कतिपय पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥

---

१. इन लीलाओ का वर्णन अनेक पुराणो मे एक समान ही किया गया है—विशेषत. विष्णुपुराण के पचम अश मे तथा श्रीमद्भागवत के १० म स्कन्ध (पूर्वार्ध) मे। यथ —पूतना-वध (भाग० १०।३), वृषासुरवध (१०। ३६), केशीवध (१०।३७), गोवर्धनधारण तथा अन्नभक्षण (१०।२४–२५), कंस का वध (१०।४४)।

गोकुले वर्धमानेन बालेनैव महात्मना।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम्।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम्।
मुरं चामरसंकाशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजं च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली।
अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत् तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥

इन पद्यो मे गोकुल, मथुरा, हस्तिनापुर की लीलाओ का स्पष्ट उल्लेख है। धृतराष्ट्र की दृष्टि मे इन त्रिस्थानों की लीला करने वाला व्यक्ति एक ही कृष्ण था। फलतः महाभारत श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे द्वैविध्य नही रखता। श्रीकृष्ण एक हो व्यक्ति थे—महाभारत का अकाट्य प्रमाण इस तथ्य का स्पष्ट साधक है।

(२) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य

श्रीकृष्ण की बाह्य आकृति, उनका साँवला रंग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की गठन—आदि भौतिक शरीर उस युग के मानवो के ही लिए आकर्षक न था, प्रत्युत गत सहस्रों वर्षो से वह कवियो के आकर्षण का विषय बना हुआ है। बाल्यकाल मे उनकी रूपछटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोप-वधू तथा नगर की स्त्रियाँ आनन्द से आप्लुत हो उठती थी, तो यह हमारे चित्त मे इतना कौतुक नही उत्पन्न करता। जब हम देखते है कि भीष्म पितामह, श्रीकृष्णके पितामह के समवयस्क, सौ वर्ष ऊपर वय वाले, शरशय्या पर योग के द्वारा अपने जीवन समाप्त करने के इच्छुक इच्छामरण भीष्म—श्रीकृष्ण के सामने आने पर उनके शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नही रहते,

तब तो श्रीकृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण को हठात् मानना ही पड़ता है। यह है उनकी प्रौढावस्था की घटना। इसीलिए तो शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म नारायण के रूप मे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भी उनकी शारीरिक-सुषमा का विशद सकेत करते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्ण
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।
ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।
—भागवत १।९।३३,४०

इन कमनीय पद्यो का आशय है कि उनका शरीर त्रिभुवन-सुन्दर तथा तमाल के समान सावला है, जिस पर सूर्य-किरणो के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता है, और कमल-सदृश मुख पर घुंघराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुनसखा कृष्ण मे मेरी निष्कपट प्रीति हो। जिनकी लटकीली सुन्दर चाल, हावभाव-युक्त सुन्दर चेष्टा मे, मधुर मुसकान और स्नेह-भरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपियाँ रासलीला मे उनके अन्तर्धान होने पर प्रेमोन्माद के मतवाली होकर जिनकी लीलाओ का अनुकरण कर तन्मय हो गयी थी, उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण मे मेरा परम प्रेम हो।

यह वर्णन है श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था की रूप-शोभा का और वर्णनकर्ता हैं उस युग के सबसे विद्वान्–ज्ञानी शिरोमणि बाबा भीष्म जिनके ऊपर पक्षपात का दोपारोपण कथमपि नही किया जा सकता। तब तो हठात् मानना ही पड़ेगा कि श्रीकृष्ण की देह-कान्ति सचमुच ही अत्यन्त ही चमत्कारी थी। पीताम्बर के बाह्य परिधान से वह और भी सुसज्जित की गयी थी। इस बाह्य शोभा को श्रीकृष्ण ने मानसिक गुणो के सवर्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। क्योंकि उस युग के सबसे प्रौढ़ विद्वान् काशीवासी साम्प्रत उज्जयिनीप्रवासी सान्दीपनि गुरु से चतुष्षष्टि विद्याओ और कलाओ का अध्ययन कर उन्होंने विद्या के क्षेत्र मे भी अपनी चरम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात मे ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्ति-संगत प्रतीत होता है (भागवत, १०म स्कन्ध उत्तरार्ध)।

(३) श्रीकृष्ण की अग्रपूजा

युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ के पर्यवसान मे अग्रपूजा का प्रसंग उपस्थित था।' यज्ञ के अन्त में किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है जो 'अग्रपूजा' की संज्ञा से याज्ञिको द्वारा अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म-पितामह ने श्री कृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थतः इनकी उदात्तता, तथा अलोकसामान्य वैदुष्य और वीरता का स्पष्ट प्रतिपादक है। इस प्रसंग के एक–दो ही श्लोक पर्याप्त होगे—

एष त्वेषां समस्तानां तेजो·बल-पराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

—सभा० ३६।२८–२९

इन पद्यो का तात्पर्य है कि इस सभा मे एकत्र राजाओ के बीच—जहाँ भारतवर्ष के समस्त अधीश्वर उपस्थित थे-तेज बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही ज्योतियो के मध्य सूर्य के समान तपते हुए की भाँति प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से विरहित अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देता है और निर्वातस्थान को, जहाँ लोगो का हवा के बिना दम घुटता रहता है, वायु आह्लादित कर देता है—ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित की गयी है।

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषो का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर मे परम ज्ञानी दीर्घजीवी तथा जगत् के व्यवहारो के नितान्त अनुभवी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है। कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नहीं है, प्रत्युत उनमे अलोकसामान्य गुणो का निवास ही मूल हेतु है—उनमे दान, दक्षता, श्रुत (शास्त्र का परिशीलन), शौर्य, ह्री, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि तथा पुष्टि का नियत निवास है। इसीलिए वे अर्च्यतम हैं (सभा० ३८।२०)। अपने गुणो से कृष्ण ने चारों वर्णों के वृद्धों को अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु, विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय हैं। इसीलिए उनकी अर्चा अन्य महापुरुषो के रहते हुए की गयी है (३८।२२)। "सबसे बड़ी बात तो यह है कि वेद-वेदाङ्ग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्त्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनो ही कृष्ण मे एक साथ अन्यूनभाव से विद्यमान है। इसलिए

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानवलोक मे केशव से बढकर कोई भी व्यक्ति वर्तमान नही है ?" भीष्मपितामह की यह सम्मति यथार्थरूपेण श्रीकृष्ण के परम गौरव की तथा उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापिका उक्ति है—

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥

—तत्रैव ३८।१९

संजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवो के हित-चिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देने वाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का संकेत उनके ये शब्द कितनी विशदता से दे रहे है—

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥
भस्म कुर्यात् जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम्॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

—उद्योगपर्व ६८।६-१०

इस प्रसंग मे ये श्लोक निःसन्देह महनीय तथा मननीय है। समस्त जगत् तथा केवल कृष्ण की तुलना की जाय, तो सार—मूल्य—गौरव की दृष्टि मे समस्त जगत् से कृष्ण बढकर है। जनार्दन मे इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त संसार को भस्म कर सकते है। इस पद्य मे 'मनसैव' पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नहीं है, प्रत्युत वह एक मानसिक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचारशक्ति का स्पष्ट निर्देशक है। मेरी दृष्टि मे यही इसका व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है। जिस ओर सत्य रहता है, धर्म होता है, ह्री (=अकार्यात् निवृत्तिः ह्रीः अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना) रहती है, और जिधर आर्जव (ऋजुता, स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही रहते है गोविन्द और जिधर कृष्ण रहते है, उधर ही जय रहता है। फलतः कृष्ण का आश्रयण विजय का प्रतीक है।

कितना सुन्दर चरित्रविश्लेषण है। श्रीकृष्ण का इन नपे-तुले शब्दो मे! और ये वचन है भी किसके? ये कौरव-पक्ष के अनुयायी व्यक्ति के है जिसके ऊपर पक्षपात करने का आरोप कथमपि मढा नही जा सकता। पाण्डवपक्ष का व्यक्ति मिथ्या प्रशंसा का दोषी ठहराया भी जा सकता है, परन्तु भीष्म तथा संजय के इन वचनो मे पक्षपात का भला कही गन्ध भी सूँघा जा सकता है?

× × ×

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है। शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था; उसे यह अग्रपूजा तनिक भी नहीं जँची। लगा वह कृष्ण पर गालियो की बौछार बरसाने। ध्यान देने की बात है कि इन गालियो मे कृष्ण के शौर्याभास का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का संकेत भी नही है (जो आजकल लोग उनके चरित्र पर लाञ्छन लगाया करते है गोपी प्रसंग को लेकर)। कृष्ण के बाद वह टूट पड़ा भीष्म के ऊपर और लगा उन्हे कोसने नाना प्रकार की पक्षपातभरी बातो का हवाला देकर। भीष्म ने तो अपने पक्ष के समर्थन मे बहुत ही युक्तियाँ दी तथा तर्क उपस्थित किये; परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भंजन तब किया जब अपनी बूआ को दी गयी पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गयी। श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा के पालन में एक धुरन्धर व्यक्ति थे, जिसका संकेत उन्होने द्रौपदी को आश्वासन देते समय स्वयं किया था—

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यति।
पतेत् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत्।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥

—वनपर्व १२।३०-३१

आकाश भले ही गिर जाय; हिमालय भले ही चूर्ण-विचूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े हो जाय और समुद्र भले ही सूख जाय, परन्तु हे कृष्णे द्रौपदी ! मेरा वचन व्यर्थ नही हो सकता। ऐसे सत्यप्रतिज्ञ की प्रतिज्ञा कभी झूठी नही होती।

इस प्रसंग मे श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढप्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(४) श्रीकृष्ण की स्पष्टवादिता

स्पष्टवादिता महापुरुष का एक महनीय लक्षण है जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियो को जानता ही नही, प्रत्युत वह उन्हे भरी सभा मे, गण्य-मान्य पुरुषो के सामने निःसंकोच भाव से कहने का भी साहस रखता है, वह सचमुच एक महान् पुरुष है, आदर्श उदात्त मानव है। इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वतः प्रस्फुटित होती है। एक ही दृष्टान्त उनकी प्राञ्जल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने मे पर्याप्त होगा। विष्णुपुराण (४ अंश, अध्याय १३) मे स्यमन्तकमणि की कथा विस्तार के साथ सुबोध संस्कृत गद्य में निबद्ध की गयी है। शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर स्यमन्तक मणि को छीन लिया। कृष्ण को सत्यभामा ने अपने पिता

की निर्मम हत्या की सूचना स्वयं दी। वारणावत से वे द्वारिकापुरी मे आये। उसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वड़वा पर चढ पूरब की ओर भाग खडा हुआ और श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज वलभद्र के साथ चौकडी-जुते रथ पर चढकर उसका पीछा किया। द्वारिका मे भागा हुआ शतधन्वा नाना प्रान्तो को पार करता मिथिला पहुँचा जहाँ उसकी वह तेज घोडी रास्ते के थकान के मारे अकस्मात् गिर कर मर गयी जिससे वह पैदल ही भागा। कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर वही काट डाला, परन्तु उनके विषाद की सीमा न रही जब उसके कपड़ो के टटोलने पर भी वह मणि नही मिला, बलभद्र ने तो सत्या के मिथ्या वचनो में आसक्ति रखने वाले अपने अनुज की वडी भर्त्सना की और रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गये। क्या करते? खाली हाथ कृष्ण द्वारका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर उन्होने खेद प्रकट किया। शतधन्वा ने वह मणि श्वफल्क के पुत्र अक्रूर के पास रख दिया था जिन्होने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले सोने का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त की थी। 'दानपति' अक्रूर जी ने स्यमन्तकमणि को श्रीकृष्ण को देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यादवो की भरी सभा मे उन्होने इसे अस्वीकार करते समय जिस स्पष्टवादिता का परिचय दिया, वह वास्तव मे श्लाघनीय तथा वन्दनीय थी।

श्रीकृष्ण ने कहा—यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है; ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता से धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण साधन करता है, अन्यथा यह अमंगल कारक है। दस हजार स्त्रियो से विवाह करने से उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता प्रदान नही करता; सत्यभामा तब कैसे ले सकती है? हमारे अग्रज बलरामजी को मद्यपान आदि समस्त उपभोगो को तो इसके लिए तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसलिए अक्रूरजी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष में है। इस प्रसंग मे श्रीकृष्ण के मूल शब्दो पर ध्यान दीजिए—

एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेष-राष्ट्रस्योपकारकम्; अशुचिना ध्रियमाणम् आधारमेव हन्ति ॥ १५५ ॥ अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्रपरिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ॥१५६॥ आर्यबलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्यागः कार्यः ॥१५७॥ तदलं यदुलोकोऽयं बलभद्रः सत्या च त्वां दानपते प्रार्थयामः—तद् भवानेव धारयितुं समर्थः ॥ १५८ ॥

—विष्णुपुराण ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था, परन्तु उन्होने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुँह से यादव सभा में

स्वीकार की। यह निःस्पृहता तथा इतनी स्पष्टवादिता श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध कर रही है। इतना ही नहीं, वे निरभिमानता की उज्ज्वल मूर्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है युधिष्ठिर के राजसूय में, जब ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और यज्ञ के महनीय तथा उच्च पदों का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवों के सुपुर्द कर दिया था। 'कृष्णः पादावनेजने'। (भागवत ७५।५)

चरणप्रक्षालने कृष्णः ब्राह्मणानां स्वयं स्वभृत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम्॥
—सभापर्व ३५।१०

उत्तम फल पाने की इच्छा से कृष्ण ने ब्राह्मणों के पैर पखारने का काम अपने जिम्मे लिया—यह काम सचमुच ही श्रीकृष्ण के निरभिमान व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचायक है।

(५) श्रीकृष्ण का सन्धि-कार्य

महाभारत-युद्ध के आरम्भ होने से पहले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवों तथा कौरवों के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयंकरता तथा विषम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय से चाहते थे कि भारत में रणचण्डी का यह प्रलयंकरी नृत्य न हो। और इसके लिए उनके मनोभावों का तथा तीव्र प्रयत्नों का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योगपर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वयं सन्धि का सन्देश लेकर जाना और दूत-कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवों के सामने अपने दौत्यकर्म की सम्भाव्य असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं कि पार्थ, वहाँ मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है कदाचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाय—सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। इतना न हो, तो भी अन्त में हमें निन्दा का तो पात्र नहीं बनना पड़ेगा—

न जातु गमनं पार्थ! भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थ-प्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता॥

इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण भावी आलोचना का स्वयं उत्तर प्रस्तुत करते हैं कि अधर्मिष्ठ, मूढ़ तथा शत्रु लोग मुझे ऐसा न कहें कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवों और पाण्डवों को नहीं रोका—इसलिए यह दौत्य कर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समञ्जस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य हैं—

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

—उद्योग पर्व–९३।१६

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥
मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥
अहापयन् पाण्डवार्थं यथावत् शमं कुरूणां यदि चाचरेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन् मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥

—उद्योग ९३ । १७–१९

आशय है कि मैं दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ । मैं इसके लिए पूर्ण यत्न करूँगा जिससे मैं जनता में निन्दा के भाजन होने से बच जाऊँगा । मेरे दौत्यकार्य का उद्देश्य क्या है ? महात्मन्, यदि मैं पाण्डवों के न्याय स्वत्व में बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवों में सन्धि करा सकूंगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव लोग भी मृत्यु के पाश से बच जायेंगे ।

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनों पक्षों के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुरजी से कहे थे जिनसे उनके विशुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओं की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है ।

ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं और कितनी रुचिरता से श्रीकृष्ण की शान्ति-भावना के प्रख्यापक हैं ।

पाण्डवों के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवों के लिए केवल पाँच गाँवों के देने का प्रस्ताव रखने कौरव-सभा में गये और अपना बड़ा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (९५ अध्याय) जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दुष्ट भाष्य है । युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखलाकर उन्होंने कहा कि युद्ध में कभी कल्याण नहीं होता । न धर्म सिद्ध होता है और न अर्थ की ही प्राप्ति होती है; तब सुख कहाँ ? और विजय भी अनिवार्य रूप से युद्ध में सम्भव नहीं होती । ऐसी दशा में युद्ध में अपना चित्त मत रखो—युद्ध बड़ी भयानक वस्तु है ।

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं न युद्धे चेत आधिथाः ॥

—उद्योग १२९।४०

अर्थ और काम का मूल धर्म होता है। उसका आश्रय न करना राजा के लिए सर्वथा विनाशकारी होता है—

> कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
> न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥
> इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः।
> कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति॥

—उद्योग, १२४।३६-३७

किसी सभा के सभासदों का भी यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे न्याय के पक्ष का अवलम्बन कर न्यायोपेत तथ्य का ही निर्णय करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, न्याय की उपेक्षा करते हैं तथा जानबूझकर सत्य का गला घोंटते हैं तो सभासद ही उस अधर्म से स्वयं विद्ध हो जाते हैं। पाण्डवों के एतद्-विषयक वचनों को कहकर श्रीकृष्ण इन विशिष्ट शब्दों में सभासदों के उदात्त कर्तव्य की चेतावनी देते हैं—

> यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
> हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
> विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते।
> न चास्य शल्यं कृन्तति विद्धास्तत्र सभासदः॥
> धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥

—तत्रैव, ९५।४८-५०

कितनी नीति भरी है इन वचनों में तथा धर्माधर्म का कितना मार्मिक विवेचन करना न्याय्य है सभासदों की ओर से। श्लोकों का अभिप्राय है—जहाँ सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद नष्ट हुए माने जाते हैं। जिस सभा में अधर्म से विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासदगण उस अधर्म-रूपी काँटों को काटकर निकाल नहीं देते, वहाँ उस काँटे से सभासद ही बिंधे जाते हैं अर्थात् उन्हें ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है। जैसे—नदी अपने तट पर उगे हुए वृक्षों को गिराकर नष्ट कर देती है; उसी प्रकार वह अधर्म (विरुद्ध धर्म) ही उन सभासदों का नाश कर डालता है।

श्रीकृष्ण के वचन सभाधर्म का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। ऐसी भावना विदुरजी ने द्रौपदी के चीर-हरण के प्रसङ्ग पर सभा-पर्व (अ० ५८) में भी प्रकट की थी, जहाँ 'विद्धो धर्मो' वाला श्लोक पहले ही आया है (श्लोक७७)।

श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ़ अभि-लाषी थे और इसके लिए धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरों में अंकित

करने योग्य हैं—अपने पुत्रों से समन्वित धृतराष्ट्र वन हैं तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र हैं। व्याघ्रयुक्त वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आए कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जायँ—

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै सञ्जय पाण्डुपुत्राः।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं
मा व्याघ्राऽनानशन् वनात्॥

—तत्रैव, २९ अ०, ५४ श्लो०

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बड़ा ही हृदयग्राही और तथ्य-पूर्ण है। बिना जंगल का व्याघ्र मार डाला जाता है और बिना व्याघ्र का जंगल भी काट डाला जाता है। अर्थात् दोनों में उपकार्योपकारक भाव हैं। दोनों के परस्पर सौहार्द से दोनों का मंगल सिद्ध होता है। इसलिए व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए—

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥

—तत्रैव, श्लोक ५५

कितना सुन्दर है यह दृष्टान्त और कितनी रुचिर है परस्पर उपकार की भावना। परन्तु इनके तर्कपूर्ण उपदेश का पर्यवसान क्या हुआ? दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण को वन्दी बनाने का उपहासास्पद उद्योग। कृष्ण तो इस अवसर पर अपनी अलौकिक महिमा से अपना विराट् रूप दिखलाकर बच गये, परन्तु ऐसे सदुपदेशों की उपेक्षा करनेवाला कौरवराज दुर्योधन महाभारत युद्ध में भस्म होने से न बच सका। इतनी सद्भावना देखकर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लाञ्छन लगाना न्याय्य है? नहीं, कभी नहीं।

(६) श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता

श्रीकृष्ण अपने युग में राजनीति के—पुस्तकस्था राजनीति के ही नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक राजनीति के प्रौढ़ विद्वान् थे—इस तथ्य के अंगीकार करने को अनेक प्रबल प्रमाण हैं। शान्तिपर्व के ८१वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय में विशेषतः महत्त्वशाली है। वह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य, व्यावहारिक पटुता और निःसहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के संचालन-पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवों में दो प्रधान कुल थे—वृष्णि तथा अन्धक और दोनों का गणतन्त्र राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस

गणतन्त्र के दो मुख्य 'अध्यक्ष' (आजकल की भाषा में प्रेसिडेण्ट) थे—उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह में उतने जागरूक नहीं थे, फलतः उस गणतन्त्र के संचालन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ऊपर ही अकेले था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक संघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारदजी से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णि कुल की ओर से उस लोकसभा में आहुक नेता थे तथा अन्धक कुल की ओर से अक्रूर। दोनों में अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर संघर्ष चला करता था, जिसका प्रशमन कर गणतन्त्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनैतिक वैदुषी तथा व्यावहारिकता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण के वचन कितने मर्मस्पर्शी तथा तथ्यपूर्ण हैं—

> दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
> अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाक्-दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥
> बलं सङ्कर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
> रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥
> सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
> नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥ ११ ॥

नारदजी महाराज, आपसे मैं अपनी दुरवस्था की बात क्या कहूँ? मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं अपने दायादों की चाकरी करता हूँ। अपने राजकार्य में एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनों ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं। मेरे अग्रज संकर्षण (बलराम) में बल है[1], मेरा अनुज गद तो सुकुमारता

---

१. महाभारत-युग में चार वीर महाबलशाली माने जाते थे—इसी क्रम से बलराम, भीम, मद्रराज शल्य तथा मत्स्यराज का सेनानी कीचक, परन्तु इन चारों में भी बलरामजी सबसे अधिक बलिष्ठ थे। उन्होंने गदायुद्ध में भीम को भी परास्त किया था। श्रीकृष्ण के कथन का ध्वन्यर्थ यह भी प्रतीत होता है कि शारीरिक बल से सम्पन्न होने से वे राजकाज में विशेष सहायता देने के योग्य भी नहीं हैं। महाभारत के श्लोक इस विषय में ध्यातव्य हैं—

> साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्य-नर-राक्षसे।
> चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि॥
> उत्तमप्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः।
> बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान्॥
> चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुम।
> अन्योऽन्यान्तरबलाः परस्परजयैषिणः॥
> × × ×
> तेन गदागतप्राणोऽसकृत् भीमः पराजितः॥

तथा कोमलता का (नजाकत का) जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न अपने अलौकिक रूप पर मतवाला बना फिरता है। कहिए, मेरी असहायता का क्या कहीं अन्त है ? आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक कूट चालों से तथा आपसी संघर्ष से मैं भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनों को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा तो जुआड़ी पुत्रोंवाली उस माता के समान है (जिसके दोनों पुत्र आपस में जुआ खेलते हैं और एक दूसरे को हराने की चिन्ता में लगे रहते हैं) जो दोनों का भला चाहती है। फलतः न तो वह एक की जय चाहती है और न दूसरे की पराजय।

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यञ्जक है। उसे दोनों पुत्रों का मंगल अभीष्ट है। फलतः वह न तो एक की जय की अभिलाषिणी है और न दूसरे की पराजय की। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूपा है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिमत्ता थी कि इस वृष्ण्यन्धक संघ ने इतने दिनों तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त में बनाये रखा।

महाभारत युद्ध के प्रधान सूत्रधार होने से भी श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता का परिचय अनुमेय है। उन्होंने अपने मुख से भी इसका परिचय तथा संकेत स्थान-स्थान पर किया है—

> मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत्।
> हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥
> यदि नैवंविधं तात, कुर्यां जिह्ममहं रणे।
> कुतो वा विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥
>
> —शल्यपर्व, ६१।६३–६४

श्लोकों का तात्पर्य है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा भूतल पर अतिरथी के नाम से विख्यात थे। माया-युद्ध का आश्रय लेकर ही मैंने अनेक उपायों से उन्हें मार डाला है। यदि कदाचित् युद्ध में इस प्रकार माया-कौशलपूर्ण कार्य नहीं करता, तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती ? राज्य कैसे हाथ में आता और सुख कैसे मिल पाता। यह नयी बात नहीं है। देवों ने भी प्राचीन काल में ऐसा ही आचरण किया था। यह मार्ग सज्जनों के द्वारा पूर्वकाल में समादृत हुआ है और ऐसा करने में मेरा कोई दोष नहीं है—

> पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः।
> सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥
>
> —शल्यपर्व, ६१।६८

उपसंहार

यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र के राजनीतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण स्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा का रूप स्वतः विख्यात है। अतः उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। महाभारत के सन्देह-हीन स्थलों का उद्धरण देकर दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण उस युग के महामहिमाशाली राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने कौरवों को पूर्णतया समझाकर पाण्डवों का हितसाधन करते हुए भी युद्ध रोकने का यथावत् प्रयत्न किया था। परन्तु कौरवों के दुराग्रह तथा हठधर्मिता से वे अपने इस सार्वभौम मंगलकारी कार्य में कृतकार्य न हो सके थे। राजनीतिक दूरदर्शिता में, भारतीय राष्ट्र की मंगलचिन्तना में तथा राष्ट्र को धर्ममार्ग में अग्रसर करने में श्रीकृष्ण की वैदुषी अनुपमेय थी—इसमें सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। व्यासजी का यह कथन 'इतिहास' के पृष्ठों में सदा-सर्वदा गूंजता रहा है और भविष्य में गूंजता रहेगा—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
>
> —गीता १८।७८

षष्ठ परिच्छेद

वेद और पुराण

वेद और पुराण के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके प्रामाण्य का विचार पुराणग्रन्थों में तथा दर्शन-ग्रन्थों में पाया जाता है। पुराण में वेदार्थ का उपबृंहण अनेकशः प्रतिपादित किया गया है। इस कथन की पुष्टि में श्री जीवगोस्वामी ने 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति एक नये प्रकार से की है। वह निष्पत्ति है—'पूरणात् पुराणम्' अर्थात् जो (वेदार्थ का) पूरण करता है, वह 'पुराण' कहलाता है। इस व्युत्पत्ति का व्यङ्ग्यार्थ अतिशय गम्भीर है। लोक में यह बहुशः अनुभूत है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का पूरण किया जाता है, उन दोनों में एकरसता, अनन्यता रहती है। यदि सोने के अपूर्ण कंकन को पूर्ण करने का अवसर आता है, तो यह पूरण सोने के ही द्वारा किया जाता है, लाह के द्वारा तो कभी नहीं, क्योंकि सोना और लाह दो भिन्नजातीय पदार्थ हैं। वेद और पुराण का भी सम्बन्ध इसी प्रकार का है। वेद के अर्थ का उपबृंहण या पूरण वेदभिन्न वस्तु के द्वारा कभी नहीं किया जा सकता। इस व्युत्पत्तिलभ्य युक्ति से पुराण का वेदत्व सिद्ध होता है।[1] 'पुराण' स्वयं अपने को वेद के समकक्ष ही समझता है। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड का कथन[2] है कि "सृष्टि के आदि में देवों के पितामह ब्रह्मा ने उग्र तप किया, जिसके फलरूप षडङ्ग, पद तथा क्रम से सम्पन्न वेदों का आविर्भाव हुआ। उसके अनन्तर सर्वशास्त्रमय पुराण का भी आविर्भाव हुआ, जो नित्य-शब्दमय, पुण्यदायक और विस्तार में एक सौ करोड़ श्लोकोंवाला था। यह पुराण भी वेद के समान ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ"। श्रीमद्भागवत

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इति पूरणात् पुराणमिति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य बृंहणं सम्भवति, नहि अपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते ॥

—भागवत सन्दर्भ, पृ० १७ (कलकत्ता सं०)

२. यदा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः।
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात्.................॥

—प्रभास खण्ड

के तृतीय स्कन्ध में भी यह बात प्रकारान्तर से कही गयी है। भागवत का कथन[1] है—"ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व ब्रह्मा के पूर्वादि मुखों से क्रमशः उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने पञ्चम वेदरूप इतिहास-पुराण को अपने चारों मुखों से उत्पन्न किया।" यहाँ इतिहास-पुराण के लिए साक्षात् रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह तथ्य—पुराण की वेदरूपता—पुराण ही प्रकट नहीं करते प्रत्युत बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) ने बहुत पहले ही वेदों के सदृश ही इतिहास और पुराण को महान् भूत—ब्रह्म का निःश्वास होने की बात कही है।[2] फलतः पुराण वेद के सदृश ही स्वतः प्रमाण हैं।

पुराणों का वेद और तन्त्र के साथ कैसा सम्बन्ध है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। सनातनी विद्वानों की दृष्टि में पुराण वेदों के समान ही मान्य तथा अपौरुषेय हैं तथा तन्त्रों के सदृश ही प्रामाणिक हैं। इस मत के प्रदर्शन के लिए श्री करपात्रीजी के विवेचन का एक अंश 'सिद्धान्त' (षष्ठ वर्ष, १९४५, पृ० १८–१९) से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

पुराणों की वेदता

'बृहन्नारदीय पुराण' में बतलाया गया है कि श्री रघुनाथचरित रामायण की तरह सभी पुराण शतकोटिप्रविस्तर हैं। वहाँ का वचन है—

"हरिर्व्यासस्वरूपेण जायते च युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोके निर्दिशत्यपि।
अद्यापि देवलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्॥"

इससे भूलोक में चार लाख का और देवलोक में सौ करोड़ का विस्तार पुराणों का जानना चाहिए। 'वेद' ही की तरह 'पुराण' भी अनादि हैं, क्योंकि वेदों ही की तरह व्यासरूपधारी भगवान् के द्वारा इनका भी आविर्भाव ही सुना जाता है। तभी तो इतिहास-पुराणों का 'वेदोपबृंहकत्व' उपपन्न है। सोने के 'कड़े' में यदि कोई कमी होगी, तो क्या वह 'त्रपु' (पीतल) से पूरी होगी? पूरण करने के कारण ही उनका नाम पुराण है—"पूरणाच्च पुराणम्"।

---

१. इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

—भाग०, ३।१२।३९

२. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणम्।

—बृ० उ०, २।४।१०

जैसे असुवर्ण के द्वारा सुवर्ण की पूर्णता सम्भव नहीं है, वैसे ही अवेद के द्वारा वेद की पूरणा अथवा उपवृंहण सम्भव नहीं है। अतएव **'पुराणं वेदसम्मितम्'** यह उक्ति सङ्गत है। इनका वेदत्व स्पष्ट ही है। इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना चाहिए—**"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।"** इसीलिए इतिहास और पुराण को पाँचवाँ वेद कहा जाता है—**"इतिहासः पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।"** 'बृहदारण्यक' में—**"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद"** इत्यादि श्रुति में **'इतिहासः पुराणम्'** ऐसा भी पाठ है। यहाँ प्रसिद्ध इतिहास, पुराण को छोड़कर दूसरा अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वैसा करने से प्रसिद्धि का विरोध होगा। साथ ही नित्य ब्रह्मयज्ञ में इतिहास, पुराण का पाठ भी वेद की तरह उनके प्रामाण्य को बतलाता है। कहा जा सकता है कि यदि यही बात है, (वेद और पुराण की एकता ही है) तो वेद से उसका भिन्न निर्देश क्यों हुआ है ? इसका उत्तर यही है कि स्वर और क्रम का वैलक्षण्य ही इसका मूल है। दोनों ही (वेद, पुराण) अनादि हैं, दोनों ही प्रतिकल्प में आविर्भूत होते हैं—इन अंशों में समानता होने पर भी स्वर और क्रम के वैलक्षण्य से ही परस्पर भेद उपपन्न है। उसी पुराण में एकादशी व्रत के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि एकादशी व्रत वेद में वर्णित नहीं है, अतः वैदिकों को वह न करना चाहिए। इस आक्षेप का यही समाधान किया गया है कि वेद में जो स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता, वह भी पुराणोक्त होने से ग्राह्य है ही, क्योंकि वेद में ग्रह-संचार, कालशुद्धि, तिथियों की क्षय-वृद्धि और पर्व, ग्रह आदि का निर्णय नहीं किया गया। परन्तु इतिहास, पुराणों के द्वारा यह निर्णय पहले से ही किया हुआ है। जो बात वेदों में नहीं मिलती, वह स्मृतियों में लक्षित हो जाती है, जो दोनों में नहीं उपलब्ध होती, उसका वर्णन पुराणों में मिल जाता है। शिवजी पार्वती से कहते हैं कि मैं वेदार्थ की अपेक्षा पुराणार्थ को अधिक (विशद) मानता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराण में वेद अच्छी तरह प्रतिष्ठित हैं—

> **"न वेदे ग्रहसञ्चारो न शुद्धिः कालबोधिनी।**
> **तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः॥**
> **इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा।**
> **यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ॥**
> **उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते।**
> **वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने॥**
> **वेदाः प्रतिष्ठिताः सम्यक् पुराणे नात्र संशयः।"**

—उत्तरार्द्ध, अध्याय २४

कहीं तो श्रुति-स्मृति को दो नेत्र और पुराण को हृदय बतलाया गया है। एक नेत्र से हीन मनुष्य काना और दोनों से हीन अन्धा कहा गया है, परन्तु पुराण से हीन तो हृदयशून्य है, काने और अन्धे उनकी अपेक्षा कहीं अच्छे हैं—

"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एकेन हीनः काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः॥
पुराणहीनाद् हृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ॥"

इतिहास-पुराण से हीन के लिए हृदयहीनता कही गयी, जो काणत्व और अन्धत्व से अधिक पापमयी है।

पुराणों की तन्त्रमूलकता

'देवीभागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध के आरम्भ में, श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति की प्रबलता और स्मृति एवं पुराण के विरोध में स्मृति की प्रबलता कही गई है—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा।" वहाँ पुराणों के वेदमूलकत्व की तरह उनका तन्त्रमूलकत्व भी हेतुत्व से उपन्यस्त हुआ है। कहा जा सकता है कि पुराणों के तन्त्रमूलकत्व होने पर भी उनका प्राबल्य क्यों न हो, क्योंकि तन्त्र भी तो लीलाविग्रहधारी विष्णु भगवान् के द्वारा ही प्रोक्त हैं। बल्कि वेद तो घुणाक्षरन्याय से श्वास-प्रश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न हुए; इसलिए उनकी अपेक्षा सर्वज्ञबुद्धि-पूर्वक निर्मित तन्त्रों का ही प्राबल्य युक्त प्रतीत होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वेद के अविरोधी तन्त्रों के प्रामाणिक होने पर भी वेदविरुद्धों के अप्रामाण्य से तन्मूलक पुराणों का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है। निःश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक प्रकट वेदों के सामने बुद्धिपूर्वक बने तन्त्रों की प्रबलता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वेदों के अबुद्धिपूर्वक होने से ही उनकी अपौरुषेयता है और इसी कारण वे समस्त पुन्दोषशङ्काकलङ्कपङ्क से विरहित हैं। तन्त्र में यह बात नहीं है, वे बुद्धिप्रभव होने के कारण सम्भावित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित हैं। कहा जा सकता है कि जीवों की रचना में भ्रमादि दोष हो सकते हैं, तन्त्र तो सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा विरचित हैं, उनमें भ्रमादि दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः उनका स्वतः प्रामाण्य स्पष्ट ही है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस युक्ति से तन्त्रकारों की सर्वज्ञता, परमेश्वरता सिद्ध करना चाहेंगे, उसी युक्ति से बाह्य भी अपने आगमकारों को सर्वज्ञतादिसाधनसम्पन्न और उनके आगमों को प्रामाणिक कहेंगे। कोई भी ऐसा विशेष हेतु नहीं हो सकता, जिससे तन्त्रकारों की ही सर्वज्ञता सिद्ध हो, उन्हीं की रचनाओं का प्रामाण्य

हो और अन्यान्यों का नहीं। बिना विशेष हेतु के अमुक सर्वज्ञ है, अमुक अल्पज्ञ—यह निर्णय न हो सकेगा। कथञ्चित् सबकी सर्वज्ञता मान भी ली जाय, तो फिर सर्वज्ञों की उक्तियों में परस्पर विरोध न होना चाहिए, क्योंकि अभ्रान्तों को एक ही रज्जुखण्ड में सर्प, धारा, माला आदि विशेषित विविध ज्ञान सम्भव नहीं है। परन्तु ऐसी बात नहीं है, आत्मादि पदार्थों के निरूपण-प्रसङ्ग में परस्पर की उक्तियों का विरोध उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में क्यों नहीं सुन्दोपसुन्दन्याय से यह सर्वज्ञता का व्यापादक होगा? इधर अपौरुषेय वेद के प्रामाण्य से पशुपति आदि तन्त्रकारों की सर्वज्ञता सिद्ध हो सकेगी, तत्पश्चात् तन्त्रों का प्रामाण्य भी। तब उपजीव्य होने से वेदों का ही मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में जो तन्त्र वेदानुकूल होंगे, उनका प्रामाण्य होने पर भी स्पष्ट वेदवाक्यविरुद्ध उनका अप्रामाण्य ही है। इस प्रकार वैसे तन्त्रमूलक पुराणों का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य और श्रुतिमूलक तन्त्रोपजीवियों का भी साक्षात् श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है। धर्म चोदनैकवेद्य है, पौरुषेय वाक्य का वहाँ प्रामाण्य नहीं, योगियों और ईश्वर के प्रत्यक्ष का वह अविषय है, क्योंकि वह **"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"**, **"शब्दात्"** इत्यादि अपौरुषेय शब्दमात्र से ही समधिगम्य है। योग्य ही सबके दर्शन से **"सर्वदर्शिता"** है—अयोग्य से नहीं, अदाह्य के अदहन से अग्नि में सर्वदाहकत्व अनुपपन्न नहीं समझा जाता। **'भगवन्नामकौमुदीकार'** आदि तो **'पञ्चमो वेद उच्यते'** इस पुराणों के साक्षात् वेदत्व श्रवण से तन्मूलकत्व की अनुपपत्ति द्वारा स्मृति की अपेक्षा भी पुराणों के प्राबल्य को अधिक मानते हैं। **'शारीरिकमीमांसा'** और उसके भाष्यकार आदि पुरुषसम्बन्ध से पौरुषेय होने के कारण पुराणों का स्मृतित्व ही स्वीकार करते हैं।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि **"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे"**, **"ऋग्वेदोऽग्नेरजायत"** इस रूप में वेदों का पुरुषसम्बन्ध सुना जाता है, इसलिए इनका भी अपौरुषेयत्व क्यों माना जाय? क्योंकि—**"वाचा विरूपनित्यया"** **"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"** इत्यादि वचनों के अनुरोध से सम्प्रदायप्रवर्त्तनलक्षण आविर्भाव ही उपर्युक्त 'जनि' श्रुत्यर्थ है। प्रमाणान्तर से अर्थ को न प्राप्त कर सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से परमेश्वर के ज्ञान, कर्म और संस्कारातिशय से अथवा पुरुषान्तर के पूर्वकल्पीय वेदस्मरण से सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हो सकता है। गुरु से पढ़े गये और प्रमाणान्तर से अर्थोपलब्धि द्वारा न विरचित मन्त्रों का पुरुषसम्बन्ध नहीं है। उतने पुरुषसम्बन्ध से उनका पौरुषेयत्व नहीं कहा जा सकता। धर्म वेदप्रणिहित है, उसके विपरीत अधर्म है। वेद साक्षात् स्वयम्भू नारायण हैं, ऐसा सुनते आये हैं। वेद ईश्वरात्म हैं, उनमें बड़े-बड़े विद्वानों को मोह प्राप्त होता है—

"वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥"

इत्यादि वचनों से पुराणों में ही वेदों का अपौरुषेयत्व, नित्यत्व और स्वतः प्रामाण्य कहा गया है। किञ्च जिस योगज प्रभाव से पुराणार्थ का साक्षात्कार करके पुराण बनाये गये हैं, वह भी वेदैकसमधिगम्य ही है। इससे भी वेदों का पुराणोपजीव्यत्व है।

पुराणों से वेदों का वैलक्षण्य

कहा जा सकता है कि तब तो पुराणों का भी नित्यत्व और आविर्भूतत्व पुराणों में सुना जाता है, अतः उन्हें भी सर्वथा अपौरुषेय ही क्यों न माना जाय? परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'श्रीमद्भागवत' आदि में समाधि के द्वारा अर्थ (वस्तु) को प्राप्त करके विरचितत्व श्रुत है, अतः यहाँ दृढ़ कर्तृस्मरण सम्भव है। सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता के साथ अस्मर्यमाण-कर्तृकत्व का अभाव होने से पुराणों में अपौरुषेयत्व नहीं है। वेदोपबृंहक पुरुषार्थ के, जो अनादि परम्परागत हैं, अनादि होने पर भी समाधि आदि के द्वारा उनकी अभिव्यञ्जक वर्ण-पद-वाक्यानुपूर्वी का अर्थोपलब्धिपूर्वक विरचितत्व होने से भेद भी सम्भव है। परन्तु वेद में यह बात नहीं है, वहाँ तो पुरुषबुद्धिपूर्वकरचितत्व का अभाव होने से आनुपूर्वी भी प्रत्येक कल्प में एकरस होती है। यह भी पुराणों की अपेक्षा वेदों का वैलक्षण्य है। इसीलिए पुराणों को स्मृतिकोटि में गिना गया है। इसपर **"स्मरन्ति च"** (३-१-३), **"स्मर्यतेऽपि च लोके"** (३-१-३), **"स्मर्यंतेऽपि च लोके"** (३-१-१९), इस व्याकरण-सूत्र पर **"अपि च स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनामयोनिजत्वम्"** यह भाष्य है। शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि **"सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वे स्मर्यन्ते पौराणिकैः"**। इस प्रकार पुराणों का स्मृतित्व व्यवस्थित हो जाने पर स्मृति की अपेक्षा उनको दौर्बल्य नहीं कहा जा सकता। विरोध होने पर प्रत्यक्ष वेदवाक्य के सहकार और असहकार की आलोचना करके बलाबल का निर्धारण करना चाहिए अथवा **"यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्"** इस तरह श्रुतिप्रशस्त मनुवचन के अनुरोध से स्मृति और पुराणों के विरोध का परिहार लेना चाहिए।

(१)

पुराण-प्रामाण्य पर विचार

पुराण के प्रामाण्य विषय में तार्किकों का मत इससे नितान्त पृथक् है। पुराण का प्रामाण्य दर्शनकारों ने विशेष रूप से विवेचित किया है। वेद का प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध माना जाता है। वेद का जो भी कथन है वह प्रामाण्य से सम्पन्न है। अवश्य ही वेद के कथन को मीमांसकों ने दो भागों में विभक्त किया है—विधि तथा अर्थवाद। अर्थवाद से तात्पर्य उन प्रशंसात्मक वाक्यों से है जिनमें किसी अनुष्ठानविशेष की स्तुति की गयी है। मीमांसा के अनुसार विधि ही वेद-वाक्यों का परिनिष्ठित तात्पर्य है, अर्थवाद तो विधिवाक्यों का अङ्गभूत होकर अपना प्रामाण्य धारण करता है एवं वेद का स्वतः प्रामाण्य है—अर्थात् उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु की किसी अन्य के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं रहती। स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलक है।

पुराण के प्रामाण्य के विवेचन के अवसर पर वात्स्यायन-रचित **न्यायभाष्य** का भी यह कथन ध्यान देने योग्य है। वात्स्यायन का कथन है[1]—

"मन्त्रब्राह्मण के जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता (व्याख्यान करनेवाले) ऋषि-मुनि हैं वे ही इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र के भी द्रष्टा-व्याख्याता हैं। अर्थात् द्रष्टा तथा व्याख्याता की दृष्टि से साहित्य के इन तीनों अङ्गों में समानता का ही भाव विद्यमान है। तब इनका प्रामाण्य भी क्या एक ही प्रकार है? वात्स्यायन का उत्तर है—नहीं, इन तीनों के विषय पृथक् रूप से व्यवस्थित हैं और उन्हीं के प्रतिपादन में इनका विषयानुसार प्रामाण्य है। मन्त्रब्राह्मण का विषय है—यज्ञ। इतिहास-पुराण का है लोकवृत्त (संसार का चरित्र)। धर्मशास्त्र का विषय है लोक-व्यवहार का व्यवस्थापन (अर्थात् लोकव्यवहार किस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से चलेगा—उन नियमों का तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन)। फलतः वात्स्यायन की दृष्टि में इन विशिष्ट विषयों में ही इन ग्रन्थों का प्रामाण्य है।" तात्पर्य यह है कि इतिहास-पुराण वेद तथा धर्मशास्त्र का परिपूरक है। इन दोनों के द्वारा अव्याख्यात तत्त्व की वह व्याख्या करता है। जिस प्रकार वैदिक धर्म का स्वरूप जानने के लिए वेद की अपेक्षा है और धर्मशास्त्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार इतिहास-पुराण की भी। इसीलिए

---

१. "य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य-धर्मशास्त्रस्य चेति विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"।

'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' न्यायसूत्र ४।१।६२ पर वात्स्यायनभाष्य।

वात्स्यायन इतिहास-पुराण को प्रमाण मानते हैं। लोकवृत्त के ज्ञान के ही लिए सही; पर मानते तो हैं।

इसी प्रसङ्ग में कुमारिल ने इतिहास-पुराण के प्रामाण्य पर विशद विचार किया है जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

कुमारिल के कथन का सारांश

सब स्मृतियों का प्रामाण्य उस प्रयोजन के कारण है जिसकी सिद्धि वे करती हैं। स्मृतियों का प्रयोजन द्विविध प्रकार से लक्षित होता है। स्मृतियाँ धर्म तथा मोक्ष से सम्बद्ध विषय के लिए प्रमाणभूत हैं, क्योंकि वह वेद के ऊपर आश्रित रहता है। स्मृतियों में अर्थ (धन) तथा सुखविषयक जो तात्पर्य है वह भी प्रमाणभूत है, क्योंकि वह लोक-व्यवहार के ऊपर आश्रित रहता है। इस प्रकार दोनों में एक प्रकार का पार्थक्य अवश्य मानना चाहिए। पुराण तथा इतिहास के उपदेश-वाक्यों की भी यही गति है—इस शैली से उन वाक्यों के प्रामाण्य का निर्णय करना चाहिए। उपाख्यानों की व्याख्या अर्थवाद के समान ही करनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार वैदिक अर्थवाद का प्रामाण्य मीमांसा-ग्रन्थों में निर्णीत किया गया है वह शैली उपाख्यानों की व्याख्या के विषय में अपनानी चाहिए। पुराणों में पृथ्वी के विभागों का जो वर्णन है उसका उद्देश्य धर्म तथा अधर्म के साधनभूत फलों को भोगने के लिए उपयुक्त स्थानों का निर्देश है। आशय है कि तीर्थस्थलों में क्रियमाण कार्य धर्म का सम्पादन करता है तथा दुष्ट स्थानों का कर्म अधर्म का सम्पादन करता है—इन विषयों के यथार्थ ज्ञान के लिए भुवनकोष का वर्णन पुराणों में किया जाता है। इस वर्णन में से कुछ तो अनुभव के ऊपर आश्रित रहता है और कुछ वेद के ऊपर। पुराणों का वंशानुक्रमण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के गोत्रों के ज्ञान के लिए है और यह भाग दर्शन तथा वेद, लोकानुभव तथा श्रुति, दोनों के ऊपर आश्रित रहने से प्रामाण्य है। पुराणों में देश तथा काल की परिगणना की जाती है जिसका उद्देश्य लोक तथा ज्योतिःशास्त्र के व्यवहार की सिद्धि है और पुराणों का यह यथार्थ अनुभव, गणित, सम्प्रदाय तथा अनुमान के ऊपर आश्रित होने से प्रमाण माना गया है। भविष्यकाल में कौन-कौन सी वस्तुएँ होनेवाली हैं (भाविकथन) वेद के ऊपर आश्रित है। इसका कारण यह है कि युगों का स्वभाव अनादि काल से प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार प्राणी धर्म तथा अधर्म का अनुष्ठान किया करता है जिसके फल के विकार की विचित्रता का ज्ञान होता है। कुमारिल के इस सारगर्भित वाक्य का तात्पर्य है कि पूर्वकाल से युगधर्म के स्वभाव के कारण मानव के

कार्यों का विचित्र फल देखने को मिलता है। इसी के ज्ञान के आधार पर पुराणों का 'भाविकथन' वाला अंश चरितार्थ होता है।[1]

इस अनुशीलन से पुराणों के वर्ण्य विषय तथा प्रामाण्य का विवेचन भली-भाँति होता है :—

(१) वर्ण्य विषय की दृष्टि से कुमारिल की मान्यता के अनुसार इतिहास-पुराणों में कथानक, पृथ्वी के भूगोल, वंश की नामावली तथा उनका चरित, काल की गणना तथा भविष्यकाल में होनेवाली घटना—इन सभी का वर्णन नियमित रूप से वर्तमान रहता है।

(२) प्रामाण्य के विषय में कुमारिल का मत है कि वेदानुसारी होने से पुराणों का प्रामाण्य है अर्थात् पुराण स्वतः प्रमाण न होकर वेदमूलक होने के हेतु प्रमाण माना जाता है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः है, ठीक स्मृतियों के समान। इसीलिए पुराण का वेदविरुद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नहीं रख सकता। कुमारिल के मत की ही पुष्टि आचार्य शङ्कर ने अपने ग्रन्थों में की है।

पुराण-प्रामाण्य और श्री शङ्कराचार्य

आदि शङ्कराचार्य के पुराणविषयक मत जानने के लिए उनके शारीरक भाष्य का अनुशीलन कार्यसाधक है। इसमें उन्होंने पुराणों के वर्ण्य विषय तथा वैशिष्ट्य का वर्णन भली-भाँति किया है, यद्यपि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम अपने भाष्य में निर्दिष्ट नहीं करते। पुराण के वर्ण्य विषयों की आचार्यीय समीक्षा अन्यत्र दी गयी है। यहाँ उनके पुराण-प्रामाण्यविषयक मत का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. तेन सर्वस्मृतीनां प्रयोजनवती प्रामाण्यसिद्धिः। तत्र यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद् वेद-प्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैव इतिहासपुराणयोरप्युपदेश-वाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि अर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवी विभागकथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय किञ्चिद् दर्शनपूर्वकं किञ्चिद् वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मण-क्षत्रिय-जाति-गोत्रज्ञानार्थंदर्शनस्मरणमूलम्। देशकालपरिणाममपि लोक-ज्योतिःशास्त्रव्यवहार-सिद्ध्यर्थं दर्शन-गणित-सम्प्रदानानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपि त्वनादिकालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठान-फलविपाक-वैचित्र्य-ज्ञानद्वारेण वेदमूलम्।

—जै० सू० (धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्—१।३।१ सूत्र) का तन्त्रवार्तिक।

शङ्कराचार्य का मत है—समूलमितिहासपुराणम्—अर्थात् इतिहास और पुराण समूल है, निर्मूल नहीं। और इस तथ्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक युक्तियों और तर्कों का प्रदर्शन किया है। देवों का विग्रह तथा सामर्थ्य के विषय में आचार्य कहते हैं कि इतिहास-पुराण का कथन मन्त्र तथा अर्थवाद-मूलक सम्भावित हो, तो वह भी देवताओं के विग्रह (शरीर-धारण) को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। पुराण का कथन प्रत्यक्षादि-मूलक भी है। जो वस्तु आजकल के मानवों को अप्रत्यक्ष है, वह प्राचीनों को प्रत्यक्ष होता था। इसीलिए तो पुराणों में व्यास आदि ऋषियों की देवादिकों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करने की घटना का अनेकत्र वर्णन उपलब्ध होता है।

शंका—आधुनिक लोगों के समान प्राचीन लोगों को भी देवादिकों के साथ व्यवहार करने की सामर्थ्य नहीं थी। उत्तर—तब तो आप जगत् की विचित्रता का ही निषेध करते हैं। आशय है कि विचित्रता ही संसार का स्वरूप है। **वैचित्र्यं जगत्**। अतः पूर्व शंका का रखना जगत् के इस महनीय रूप के प्रति अनास्था व्यक्त करना है। दृष्टान्त देखिए। आजकल (शङ्कर के समय में) सार्वभौम क्षत्रिय (सम्राट्) नहीं है, तो क्या प्राचीन काल में सम्राट् का अभाव था ? तब तो राजसूय की विधि (जो वेदों में प्रतिपादित है) ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी। आजकल जैसी अव्यवस्था वर्णाश्रम धर्म में वर्तमान है, वैसी ही प्राचीन काल में थी[1]। तब तो व्यवस्था-विधायक शास्त्र ही निष्फल हो जायेगा।

निष्कर्ष—धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवादिकों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। यही कथन यथार्थ तथा वास्तविक है।

योग का साधक प्रमाण—आचार्य अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि में योग-शास्त्र का प्रमाण उद्धृत करते हैं—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (योगसूत्र २।४४) अर्थात् मन्त्र के जप से देवता का सान्निध्य तथा उनके साथ सम्भाषण दोनों उत्पन्न होते हैं। योग अणिमादि सिद्धियों तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति करानेवाला होता है—शास्त्र के इस सिद्धान्त को साहसमात्र से कोई प्रत्या-

---

१. आचार्य का यह कथन—सार्वभौम क्षत्रिय का अभाव तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था—उनके समय-निरूपण लिए ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। आचार्य शङ्कर के समय में ये दोनों बातें वर्तमान थीं और भारतीय इतिहास में यह विलक्षणता हर्षवर्धन के पश्चात् के युग में पायी जाती है। फलतः मेरी दृष्टि में आदि शङ्कर के आविर्भाव का यही युग था—सप्तम शती का उत्तरार्ध। आचार्य के समय-निरूपण के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—श्रीशङ्कराचार्य (द्वितीय सं०, प्रयाग, १९६३) पृष्ठ ३५–४९।

ख्यान नहीं कर सकता। क्योंकि इस विषय में योग की महिमा का प्रतिपादन श्रुति (श्वेताश्वर उप० २।१२) साक्षात् करती है। अतः श्रुतिसम्मत योग-माहात्म्य में अश्रद्धा किसको हो सकती है? मन्त्र तथा ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषियों का सामर्थ्य हमारे जैसे लोगों के सामर्थ्य के साथ क्या कथमपि बराबर किया जा सकता है? नहीं, कभी नहीं। इतिहास-पुराण इन्हीं ऋषियों के सामर्थ्य का वर्णन उनके चरितवर्णन के प्रसंग में करता है। ऐसी दशा में हमें मानना ही पडता है—**समूलम् इतिहास-पुराणम्।**

आचार्य शङ्कर का अभिमत सिद्धान्त कुमारिलभट्ट के सिद्धान्तों को अग्रसर करनेवाला तथा पोषक है। आचार्य का इतिहास-पुराण के वैशिष्ट्य का यह प्रतिपादन कुमारिल के कथन में नये तथ्यों तथा युक्तियों को जोड़ रहा है। तात्पर्य यह है कि वैदिकधर्म के अभ्युदयकारी इन आचार्यों की सम्मति में पुराण स्मृतिवत्[1] है—वेदमूलक होने से उसमें प्रामाण्य को स्वीकार करना ही चाहिए।

---

१. शङ्कराचार्य ने पुराणों के श्लोकों का उद्धरण **'स्मृतिश्च भवति'** कहकर दिया है। अर्थात् वे पुराण का प्रामाण्य स्मृति-कोटि में मानते हैं। कालिदास का 'श्रुतेरिवार्थस्मृतिरन्वगच्छत्' कथन पुराण के ऊपर अक्षरशः घटित होता है। द्रष्टव्य, शाङ्करभाष्य १।३।३३।

"इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलकत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति हि अस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवताभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमक्षत्रियाऽस्तीति ब्रूयात् ततश्च राजसूयादि चोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशात् चिरन्तन-देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति स्वाध्यायादिष्ट-देवतासम्प्रयोग इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्य्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रत्याख्यापयतिः पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरमिति। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मण—दर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तं तस्मात् समूलमितिहासपुराणमिति" (शारीरकभाष्यम् १।३।३३)।

(२)

पुराणों में वैदिक और पौराणिक मन्त्र

पुराणों में वैदिक अनुष्ठान का ही वर्णन है, जो सामान्य जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं। श्रौत-यज्ञों का तो वर्णन अप्रासंगिक होने से विशेष उपलब्ध नहीं है, परन्तु गृह्य-यज्ञों का देवों की बलि, पूजन तथा हवन का प्रसंग ही प्रचुरतया उपलब्ध होने से तत्तत् प्रसङ्ग में वैदिक मन्त्रों का बहुशः उल्लेख किया गया है—कहीं प्रतीकरूप से और कहीं पूर्णरूप से। कभी-कभी तीर्थों के वर्णन में पवित्रता के सूचनार्थ प्राचीन वैदिक आख्यान भी दिये गये हैं और साथ ही साथ वैदिक मन्त्र भी दिये गये हैं, जो वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर विभिन्न देवों के प्रसङ्ग में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए पुराणों में उद्धृत कतिपय वैदिक मन्त्रों का उल्लेख किया जा रहा है।

ब्रह्मपुराण में—

(१) गौतमी नदी (गोदावरी) से सम्बद्ध आत्रेय तीर्थ के प्रसंग में आत्रेय ने इन्द्र के स्वरूप का परिचय दिया है, 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (अ० १४०।२२–२३ में पूरा मन्त्र उद्धृत है)। यह प्रख्यात 'स जनास' सूक्त का आदिमन्त्र है (ऋग्वेद २।१२।१)।

(२) ब्रह्मपुराण के १७४ अ० १४–१७ श्लोक इन्द्र की स्तुति में प्रयुक्त हैं। ये ऋग्वेद में ९।११४।३, ४,२ तथा ९।११२।३ मन्त्र हैं। पुराण में पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है। इन चारों मन्त्रों में इन्दु से (सोम से) इन्द्र के लिए प्रवाहित होने की प्रार्थना की गयी है। प्रति मन्त्र के अन्त में आता है—इन्द्रायेन्दो परि स्रव।

(३) सोम (चन्द्रमा) ने बृहस्पति की भार्या तारा का हरण किया था—इस कथा के प्रसङ्ग में ब्रह्मपुराण (१५२।३४) जो मन्त्र उद्धृत करता है, वह ऋग्वेद का १०।१०९।६ मन्त्र है जिसका प्रतीक है—पुनर्वै देवा अददुः (यहाँ भी पूरा मन्त्र ही उद्धृत किया गया है)।

(४) ब्रह्म (२३३।६२) का कहना है—'द्वे विद्ये वै वेदितव्ये' इति चाथर्वणी श्रुतिः अर्थात् यह मन्त्र का प्रतीक अथर्ववेद का है। यह मुण्डक उपनिषद् १।१।४ मन्त्र है। 'आथर्वणी श्रुतिः' पद बड़े महत्त्व का है। यह इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि पुराणकर्त्ता की दृष्टि में ब्राह्मण भी श्रुति माना जाता था। ज्ञातव्य है कि उपनिषद् ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग होता है। इस पुराणोल्लेख से आधुनिकों का यह मत ध्वस्त हो जाता है कि 'ब्राह्मण' श्रुति से बहिर्भूत है और संहिता ही श्रुति के अन्तर्गत मान्य है।

(५) ब्रह्म के अन्य स्थानों पर छोटे-छोटे वैदिक मन्त्रों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं—

अर्धो जाया इति श्रुतेः (ब्रह्म १२९।६२)।

=तैत्ति० सं० ६।१।८।५ तथा शतपथ ब्रा० ५।२।१।१०=अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।

इषे त्वा (ब्रह्म १७०।६४)=तैत्ति० सं० १।१।१।१ यज्ञो वै विष्णुः ब्रह्म)=१६१।१५ ब्राह्मण का प्रख्यात वाक्य।

(६) ब्रह्म १५१ अध्याय में उर्वशी और पुरुरवा का प्रख्यात वैदिक आख्यान दिया गया है, जिसमें श्लोक ४ और १२ प्रायः ऋग्वेद (१०।९५।१६ तथा १५) के मन्त्रों के ही सर्वथा प्रतिरूप हैं।

(७) ब्रह्म अ० १२८, श्लोक २७ में शिव के ही इन्द्र, मित्र, अग्नि नाम से प्रख्यात होने की बात कही गयी है—

एक एकाद्वयः शम्भुरिन्द्रमित्राग्निनामभिः।
वदन्ति बहुधा विप्रा भ्रान्तोपकृतिहेतवे॥

यह ऋग्वेद के प्रख्यात मन्त्र (१।१६४।४६) से तात्पर्यतः और शब्दतः दोनों प्रकार से मिलता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्-
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥

(८) ब्रह्म १६१ अध्याय में पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) के अनेक मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद किया गया है। विशेषतः श्लोक ३५ और ३७ तथा ४७-४८ पुरुषसूक्त के प्रख्यात मन्त्रों के शब्दों की छाया लेकर निर्मित हैं।

(९) ब्रह्मपुराण अध्याय १७१ (श्लोक ३२ तथा ३३) में जुआड़ी (कितव) की निन्दा प्रायः उन्हीं शब्दों में करता है, जिस प्रकार ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त १०।३४ के १०—११ मन्त्रों में किया गया है। अन्त में उपदेश देता है कि कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य करना चाहिए। 'अकैतवी तु या वृत्तिः सा प्रशस्ता द्विजन्मनां कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यमपि कुर्यान्न कैतवम्' (१७१।३६)। कैतव (जुआड़ी का पेशा) कभी नहीं करना चाहिए—यह उपदेश ऋग्वेद के 'अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व' का ही पक्षान्तर में अनुवाद है।

(१०) 'हरिश्चन्द्रतीर्थ' के प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र का तथा शुनःशेप का

---

१. ब्रह्मपुराण में अन्य वैदिक आख्यानों की सत्ता के विषय में द्रष्टव्य पी. वी. काणे का लेख—कुन्हनराजा अभिनन्दन ग्रन्थ (अंग्रेजी) में पृष्ठ ५—८; अडयार १९४६।

आख्यान ब्रह्मपुराण के अध्याय १०४ में प्रायः ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) के ही समान शब्दों में दिया गया है ।

नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म १०४।७)=नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तद् सर्वे पशवो विदुः (ऐत० ब्रा०) ।

स्कन्दपुराण में—

स्कन्दपुराण में वेद-विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध होती है[1] । जिसमें वेद की महिमा के प्रतिपादन के साथ-साथ वेद के अध्ययन की रीति का भी सुस्पष्ट वर्णन है । ध्यान देने की बात है कि वेदाभ्यास केवल वेद के स्वीकार अर्थात् पठन-मात्र से सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उसमें अर्थविचार, अभ्यास, तप तथा शिष्यों को अध्यापन भी क्रमशः सम्मिलित बतलाये गये हैं—

श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम् ।
अभ्यासश्च तपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम् ।।

—स्कन्द (ब्रह्मखण्ड, उत्तरभाग ५।१४)

वैदिक सूक्तों तथा उपनिषदों के नाम तथा उल्लेख इस पुराण में बहुशः मिलते हैं । इस पुराण के विभिन्न खण्डों में पचासों वैदिक मन्त्र प्रतीकरूप से ही तत्तद् स्थलों पर पूजा, जप आदि के प्रसङ्ग में उद्धृत किये गये हैं । कतिपय मन्त्रों का निर्देश इस प्रकार है—

(१) शन्नो देवी
(२) आपो ज्योतिः
(३) चित्रं देवानाम्
(४) मधुव्वाता
(५) अग्निमीडे
(६) नमो वः पितरः
(७) आपो हि ष्ठा
(८) उद्वयं तमसस्परि
(९) सुमित्रिया नः
(१०) मा नस्तोक तनये

मत्स्यपुराण में—

मत्स्यपुराण में नाना वैदिक विधान-अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण है, जिनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग पद-पद पर किया गया है । इस प्रसंग में दो अध्याय विशेष

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य : इतिहास-पुराण का अनुशीलन, पृ० २३८-२४६ (काशी, १९६३) ।

महत्त्व रखते हैं—अध्याय ९२, जिसमें ग्रहों की शान्ति का विशिष्ट विवरण है तथा अध्याय २६४, जिसमें देव-प्रतिष्ठा का विषय उपनीत है। इन अध्यायों के अनुशीलन से वेदों तथा वैदिक विषयों के प्रति पुराण की गम्भीर आस्था, पुंखानुपुंख आग्रह तथा मौलिक आदरभाव का तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है। अध्याय ९२ में ग्रहों की शान्ति का महत्त्वशाली विषय है, जो गृहस्थों के जीवन में अपना विशेष गौरव रखते हैं। यहाँ नवग्रह के मन्त्रों के प्रतीक दिये जाते हैं, जो इस अध्याय में निर्दिष्ट हैं। यहाँ पूरा मन्त्र न देकर मन्त्र का प्रतीक ही उल्लिखित है। नवग्रहों के लिए हवन विभिन्न मन्त्रों से करना चाहिए (३३–३७)।

(१) सूर्य का हवनमन्त्र	आकृष्ण।
(२) सोम	आप्यायस्व।
(३) मंगल	अग्निर्मूर्धा दिवः।
(४) बुध	अग्ने विवस्वदुषसः।
(५) बृहस्पति	बृहस्पते परिदीया रथेन।
(६) शुक्र	शुक्रं ते अन्यत्।
(७) शनैश्चर	शन्नो देवी।
(८) राहु	कया नश्चित्र आभुवः।
(९) केतु	केतुं कृण्वन्।

इसके अनन्तर रुद्र, उमा, विष्णु, स्वयम्भू, इन्द्र, यम, अग्नि, जल, सर्प, विनायक आदि अनेक देवी-देवों के बलि देने के मन्त्रों का प्रतीक यहाँ उपस्थित किया गया है (३७–५०)।

वैदिक मन्त्रों के अनन्तर पौराणिक मन्त्रों का पूर्ण उल्लेख यहाँ मिलता है। एक दो पौराणिक मन्त्र नीचे दिये जाते हैं। ये सरल-सुबोध मन्त्र हैं। इनके अर्थ समझने के लिए विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं—

सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः
वासुदेवो जगन्नाथस्तथा सङ्कर्षणो विभुः।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विजयाय ते॥ ५१॥

—मत्स्य०, ९२ अध्याय

यह अन्तिम मन्त्र चतुर्व्यूहों का निर्देश करता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अर्थात् मत्स्यपुराण की रचना से पूर्व पाञ्चरात्र मत का यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था। इस प्रकार १५९ श्लोकों का यह बृहत् अध्याय वैदिक

कर्मों के अनुष्ठान तथा तदुपकारक मन्त्रों (वैदिक तथा पौराणिक) से अच्छी तरह पूर्ण है।

मत्स्यपुराण का २६४ अध्याय देव-प्रतिष्ठा-विधि का वर्णन करता है। वेदी के चारों द्वारों पर चार द्वारपालों के रखने का विधान है, जहाँ प्रतिद्वार पर विभिन्न मन्त्रों के पाठ की व्यवस्था बतलायी गयी है (२३-२७)। श्रीसूक्त, पवमानसूक्त, सोमसूक्त, शान्तिकाध्याय, इन्द्रसूक्त, रक्षोघ्नसूक्त आदि अनेक सूक्तों के पाठ का इस प्रसंग में वर्णन है। इस प्रकार यह समस्त अध्याय वैदिक मन्त्रों के विपुल निर्देश से परिपूर्ण है।

अग्निपुराण में भी वैदिक मन्त्रों का समुल्लेख विभिन्न विधि-विधानों के अवसर पर विधिवत् किया गया है। उदाहरणार्थ मन्दिर के शिलान्यास के अवसर पर अध्याय ४१ (५-९ श्लोक) में निर्दिष्ट 'आपोहिष्ठा', 'शन्नो देवी', पावमानी ऋचा (ऋग्वेद ९।१।१-१०), 'उदुत्तमं वरुणम्', 'कया नः', 'वरुणस्य', 'हंसः शुचिषत्' तथा श्रीसूक्त से शिला का न्यास करना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में—

मेरी दृष्टि में श्रीमद्भागवत में वैदिक सूक्त तथा मन्त्रों की उपलब्धि इतर पुराणों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भागवत के रचयिता वेद के मूर्धन्य ज्ञाता और प्रकाण्ड पण्डित थे। भागवत की प्रशंसा में इस तथ्य का उल्लेख है कि भागवत सब वेदान्त का सार है (सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते १२।१२।१५) और यह कथन कथमपि अत्युक्तिपूर्ण न होकर वास्तविक और यथार्थ है। भागवत में वैदिक सामग्री का सन्निवेश अनेकविधया है। कहीं तो पूरा वैदिक सूक्त ही किञ्चित् शब्दवैषम्य के साथ यहाँ निविष्ट है, तो कहीं उपनिषदों के मन्त्रों तथा संहिता के मन्त्रों का यथानुपूर्वी संकलन है।

(क) वैदिक सूक्तों का निर्देश—

(१) **पुरुषसूक्त** (ऋ० १०।९०)=पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।
(भाग० १०।१।२०)

(२) **पुरुरवा सूक्त** (ऋग्० १०।९५) के अनेक मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद नवम स्कन्ध के ऐलोपाख्यान में उपलब्ध है, यथा—

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥ ३४ ॥

यह ऋग्वेद के मन्त्र का ही सुबोध परिवर्तन है।

(३) **सरमासूक्त**—सरमा और पणि का आख्यान, जिसमें सरमा नामक देवशुनी इन्द्र की गायों के अपहर्ता पणियों को डराकर गायों को छुड़ाने के

लिए दूतकर्म करती है, वेद में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। यथा—ऋग्वेद १।६२।३, १।७२।८ में। प्रधान कथा १०।१०८ सूक्त में उल्लिखित है। अथर्व में भी उल्लेख है ९।४।१६ तथा २०।७७।८=ऋग्० ४।१६।८ बृहद्देवता में भी सरमा के विषय में ११ श्लोक मिलते हैं। यही कथानक भागवत के पञ्चम स्कन्ध के २४ अ०, ३० गद्य अनुच्छेद में निर्दिष्ट है, जहाँ रसातल के निवासी दैतेय दानव ही 'पणि' नाम से बतलाये गये हैं और इन्द्रदूती सरमा ने मन्त्र-वर्णों का उच्चारण कर इन्द्र से इनके हृदय में भय उत्पन्न कराया था।[1]

(४) ऐतरेय ब्रा० में निर्दिष्ट **हरिश्चन्द्र का उपाख्यान**, जिसमें शुनःशेप की कथा अनुस्यूत है, भागवत के नवम स्कन्ध (अध्याय सप्तम) में प्रायः उसी भाषा और शैली में विद्यमान है।

(५) **पुरुषसूक्त** के विभिन्न मन्त्रों को भागवत ने उन्हीं शब्दों में अपनाया है। मन्त्रों का भाव विभिन्न अध्यायों में बहुशः मिलता है—

(क) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र का भाव
=ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा —२।१।३७
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म —२।५।३७

(ख) 'चन्द्रमा मनसो जातः'
=मनश्च। स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः। —२।१।३४

(ग) नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्
=इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः—आदि श्लोक
—२।१।२९–३३

(ख) उपनिषदों के सिद्धान्त का प्रतिपादन

उपनिषदों के सिद्धान्तों को श्रीमद्भागवत ने अनेक स्थलों पर स्वायत्त किया है। भागवत ने वेद, सांख्ययोग तथा सात्वत तन्त्र के साथ उपनिषदों को भी हरि के माहात्म्य के प्रतिपादक ग्रन्थों में गिना है[2]। उसकी दृष्टि में ये चारों समभावेन भगवान् के ही गुणानुवाद में अपनी चरितार्थता सिद्ध करते हैं। अन्यत्र (१०।१३।५४) भागवत ने उपनिषद् के अध्ययन करनेवाले पुरुषों का उल्लेख किया है। ५।१८।३४ में उत्तरकुरु वर्णन-प्रसंग में यज्ञवाराहरूपधारी भगवान्

---

१. ततोऽधस्ताद् रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम···ये वै सरमयेन्द्र-दूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद् बिभ्यति। —भाग० ५।२४।३०

२. त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगेन सात्वता।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम्॥
—भाग० १०।८।४५

की चर्चा है, जहाँ उनके विषय में अनेक श्लोकों को 'उपनिषद्' की संज्ञा से संकेतित किया जाता है[1]। इतना ही नहीं, भागवत शैवतन्त्र से सम्बद्ध रहस्य ग्रन्थों को भी 'उपनिषद्' नाम से पुकारता है। भागवत के, शिवस्तुति में प्रयुक्त, एक श्लोक[2] का तात्पर्य है—सद्योजात आदि पाँच उपनिषद् ही तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव तथा ईशान नामक भगवान् शिव के पाँच मुख हैं। उन्हीं के पदच्छेद से अड़तीस कलात्मक मन्त्र निकलते हैं। जब आप समस्त प्रपंचों से उपरत होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थिति का नाम होता है—'शिव'। वास्तव में यही स्वयंप्रकाश परम-तत्त्व है। बृहदारण्यक आदि प्रख्यात उपनिषदों के तत्त्व भागवत में कहाँ और किस प्रकार गृहीत हैं—यह विषय अन्यत्र विवेचित होगा।

पुराणों में पौराणिक मन्त्र

वैदिक मन्त्रों का धार्मिक विधि-विधानों में पुराणों ने अत्यन्त उपयोग किया, परन्तु साथ ही साथ पौराणिक मन्त्रों का भी प्रयोग उचित माना गया। यह बात ईस्वी सन् के आरम्भ अथवा उससे एक-दो शताब्दी पीछे सम्पन्न हुई—ऐसा मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता। याज्ञवल्क्य ने अपने स्मृति-ग्रन्थ में श्राद्ध के अवसर पर ऋग्वेद का प्रख्यात मन्त्र उल्लिखित किया है, जिसमें पितृगणों को श्राद्ध में पधारने का निमन्त्रण दिया गया है और कुश पर बैठने की प्रार्थना है। इस पर मिताक्षरा (लगभग ११०० ई०) का कथन है कि इस अवसर पर—

'आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।
ये तर्पणेऽत्र विहिताः सावधाना भवन्तु ते'॥

इस पौराणिक मन्त्र का भी प्रयोग वैदिक मन्त्र के साथ अवश्य करना चाहिये। वायु (७४।१५-१६) तथा ब्रह्माण्ड (तृतीय खण्ड, २।१७-१८) में श्राद्ध के अवसर पर इस प्रसिद्ध पौराणिक मन्त्र का उल्लेख किया

---

१. ···इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति। ओं नमो भगवते मन्त्रतत्त्व-लिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते॥

—भाग० ५।१८।३५-३६

२. मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत् तत् शिवाख्यं परमार्थतत्त्वं
देव स्वयं ज्योतिरवस्थितिस्ते॥ —भाग० ८।७।२९

गया है, जिसे श्राद्ध के आरम्भ में तीन बार और अन्त में भी यजमान द्वारा तीन बार उच्चारण करने का विधान है—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवन्त्युत ॥

इस मन्त्र के अन्त में 'नित्यमेव नमो नमः' पाठ भी मिलता है। मिताक्षरा की इस पर टिप्पणी है कि किन्हीं के मत में शूद्रों को भी इसका पूजानुष्ठान में पाठ करने का अधिकार है, परन्तु अन्य आचार्यों के मत में शूद्रों को केवल 'नमः' कहने से कार्यसिद्धि होती है। पूरे मन्त्र के पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

श्राद्ध तथा तर्पण के अवसर पर ही उभयविध मन्त्रों का प्रयोग अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत अभिषेक के समय में भी ऐसे मन्त्र प्रयुक्त किये जाते थे। अग्निपुराण (अ० २१८) ने ७० पौराणिक मन्त्रों का उल्लेख किया है, जो अभिषेक के अवसर पर नियमतः प्रयुक्त किये जाते थे। विष्णुधर्मोत्तर के द्वितीय खण्ड अ० २१ में राज्याभिषेक के लिए उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का विधान है तथा उसी खण्ड के अग्रिम अध्याय २२ में १८४ पौराणिक मन्त्रों का भी साथ-साथ पाठ न्याय्य बतलाया गया है। मध्ययुगीन अनेक निबन्धकारों ने विष्णुधर्मोत्तर के इन्हीं पौराणिक मन्त्रों में से कतिपय मन्त्रों को अपने निबन्ध-ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

धीरे-धीरे पुराण का प्रभाव भारतीय समाज पर बढ़ता गया और एक समय ऐसा आया, जब वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा पौराणिक कृत्यों का अनुष्ठान ही श्रेयस्कर माना जाने लगा। ऐसी स्थिति का परिचय पद्मपुराण तथा नारदीय पुराण के कथनों से हमें भली-भाँति मिलता है। पद्मपुराण में धनशर्मा नामक एक वैदिक ब्राह्मण की कथा दी गयी है जिनके पिता वेद में निष्णात थे। परन्तु वैशाख में विहित स्नान न करने के कारण उन्हें प्रेतयोनि प्राप्त हुई थी। इस अवसर पर उन्होंने पुराण-महिमा का प्रतिपादन कर वेद से भी अधिक लाभकारी और उपादेय पुराण को ही बतलाया[1]।

---

१. उनके उद्गार सुनने लायक हैं—

मया केवलमेकैव श्रौतमार्गानुसारिणा ।
उद्दिश्य माधवं देवं न स्नातं मासि माधवे ॥
वैदिकं केवलं कर्म कृतमज्ञानतो मया ।
पापेन्धनदवज्वालापापद्रुमकुठारिका ॥
कृता नैकापि वैशाखी विधिना वत्स ! पूर्णिमा ।
अव्रता यस्य वैशाखी सोऽवैशाखो भवेन्नरः ॥
दश जन्मानि च स ततस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥

—पद्म, खंड ४, अ० ९४

नारदीय पुराण वेद, स्मृति तथा पुराण के परस्पर सम्बन्ध के विषय में बड़ा ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करता है। इन तीनों धार्मिक ग्रन्थों के विषय तथा क्षेत्र के विभाग को दिखलाते हुए वह कहता है—वेद का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। वेद का प्रधान क्षेत्र है यज्ञ कर्म का सम्पादन—इसी कार्य में वेद का महनीय तात्पर्य है। गृहाश्रमियों के लिए स्मृति ही वेद है अर्थात् गृहस्थ के आचार-व्यवहार आदि के ज्ञान का प्रकाशक धर्म स्मृति ही है। ये दोनों प्रकार के ग्रन्थ पुराण में केन्द्रित रहते हैं। जिस प्रकार यह आश्चर्यमय जगत् उस पुराण पुरुष (अर्थात् भगवान् नारायण) से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार समस्त वाङ्मय—विस्तृत अर्थ में साहित्य—पुराण से ही उत्पन्न हुआ है; इसमें तनिक भी संशय नहीं है[1]। वेद के अर्थ (तात्पर्य) से मैं पुराण के अर्थ (अभिप्राय) को अधिक (विस्तृत अथवा श्रेष्ठतर) मानता हूँ। पुराण की सहायता वेद भी अपने रहस्य के उपबृंहण के निमित्त सर्वदा चाहता है। वह अल्प शास्त्रों के ज्ञाता से सदा डरा करता है कि वह मुझे मार न डाले[2]। नारदीय के ये कथन बड़े महत्त्व तथा गम्भीर अर्थ के प्रकाशक हैं। नारदीय के इन पद्यों में पुराण तथा वेद के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना है। इनमें सबसे भव्य श्लोक वह है, जो वेद के अर्थ से पुराण के अर्थ को कहीं अधिक मानता है और इसीलिए समग्र वेदों को पुराणों में ही प्रतिष्ठित स्वीकारता है—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा॥

—नारदीय, २।२४।१७

इस सिद्धान्त की पुष्टि में इस पुराण का कथन यह है कि वेद में ज्योतिष सम्बन्धी व्यावहारिक बातों का सर्वथा अभाव है। कौन तिथि कब होती है? दो एकादशी होने पर कौन ग्राह्य होगी? इत्यादि तिथिनिर्णय और कालशुद्धि

---

१. श्रृणु मोहिनि ! मद् वाक्यं वेदोऽयं बहुधा स्थितः।
यज्ञकर्म क्रिया वेदः स्मृतिर्वेदो गृहाश्रमे॥
स्मृतिर्वेदः क्रिया वेदः पुराणेषु प्रतिष्ठितः।
पुराणपुरुषाज्जातं यथेदं जगदद्‌भुतम्॥
तथेदं वाङ्मयं सर्वं पुराणेभ्यो न संशयः॥

—नारदीय पुराण, २।२४।१५-१६

२. बहु शास्त्रं समभ्यस्य बहून् वेदान् सविस्तरान्।
पुंसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्याति दर्शनम्॥

—तत्रैव, १०५।१३

का विषय पुराण में ही सर्वथा विवेचित है । इसलिए पुराण की महिमा वेद से कहीं अधिक है[1] । इसी स्वर में देवीभागवत की यह प्रख्यात उक्ति है—

श्रुती स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥

—११।१।२१

श्रुति-स्मृति तो धर्म-पुरुष के नेत्र हैं, परन्तु पुराण हृदय है । इससे बढ़कर पुराण की महिमा क्या हो सकती है ?

---

१. न वेदे ग्रहसञ्चारो न शुद्धिः कालबोधिनी ।
तिथिवृद्धिः क्षयो वापि पर्वग्रहविनिर्णयः ॥
इतिहासपुराणैस्तु निश्चयोऽयं कृतः पुरा ।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत् सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रणीयते ॥

—नारदीय, २।१२।१८–२०

पुराण और शूद्र

पुराण की रचना सार्ववर्णिक है। पुराण का लक्ष्य भारतीय समाज के अन्तर्गत विराजमान प्रत्येक वर्ण के कल्याण तथा उद्धार की भव्य भावना है। वेद के गम्भीर रहस्यों को लौकिक बोधगम्य भाषा में सरल-सुबोध शैली के द्वारा जन-हृदय तक सरलता से पहुँचा देना ही पुराण के मुख्य उद्देश्यों में अन्यतम उद्देश्य है। वेद की भाषा स्वयं दुरूह है और कालक्रम से जब समझनेवालों की संख्या पण्डित-समाज में भी न्यून हो चली, तब यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि वेदों के उपदेश, जो गम्भीर रूप से संहिता तथा उपनिषदों में निबद्ध हैं, भारतीय प्रजा के सामने रखे जायँ, जिससे उसे सदाचार की शिक्षा मिले, भारतीय समाज का उन्नयन हो तथा समाज के भीतर पाप की प्रवृत्ति का उन्मूलन या ह्रास हो और जनसाधारण ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक कल्याण को पाकर अपने इहलोक तथा परलोक दोनों को सुधारें। कहना न होगा कि पुराणों का यह उद्देश्य पूर्णमात्रा में चरितार्थ हुआ। आज भारत में जो कुछ भी धर्म में अभिरुचि दीख पड़ती है, लोगों में धार्मिकता का जो अवशेष आज है, वह सब पुराण के ही व्यापक प्रभाव का अभिव्यक्त परिणाम है।

कालान्तर में बौद्ध-धर्म का जन्म हुआ। तथागत बुद्ध ने अपने धर्म का—अष्टांगिक मार्ग का—प्रचार समाज के समग्र वर्गों के लिए किया। परन्तु समाज के दलित वर्ग—धर्म तथा धर्म के उग्र आचारों से उत्पीडित वर्ग के प्रति उसका आकर्षण बड़ा जोरदार था। वैदिक समाज के अनेक बन्धनों को शिथिल कर गौतम बुद्ध ने जो धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की, वह पूर्व समाज के समग्र वर्गों को, विशेषकर शूद्रों को, अपनी लपेट में इतनी तेजी से बाँधने में समर्थ हुई कि देखते ही देखते समाज की अधिकांश जनता बुद्धधर्म में बिल्कुल मिल गयी और जो न भी मिली तो उसकी अभिरुचि, सहानुभूति तथा झुकाव उस धर्म के प्रति निःसन्देह हो गया। अशोक तथा कनिष्क जैसे राजाओं का आश्रय इस धर्म के परिबृंहण का मुख्य हेतु बन गया। इन बौद्ध राजाओं ने तथागत के नैतिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी सारी राजकीय शक्ति लगा दी। दूर-दूर विदेशों में बौद्ध भिक्खु भेजे गये, जिन्होंने विषम परिस्थिति में भी अपने व्यक्तिगत सुख-सौख्य का बिना विचार किये धर्म-प्रचार के पावन कार्य में अपने आप को गला दिया। फल यह हुआ कि जिस प्रकार बौद्ध-धर्म ने भारतवर्ष के कोने-कोने को अपने प्रभाव-क्षेत्र के

भीतर खींच लिया, उसी प्रकार भारत के बाहरी देशों में भी वह पुष्पित तथा फल-भार से सम्पन्न बन गया। इस बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रभाव को खर्व करना पुराण का व्यापक और महत्त्वशाली कार्य था, जिससे जनता ब्राह्मण-धर्म के आस्तिकवाद की ओर झुके तथा वैदिक धर्म का आश्रय ग्रहण करे।

वैदिक-धर्म के उन्नायक कुमारिल भट्ट भली-भाँति जानते थे कि शूद्र ही बौद्ध-धर्म के विशिष्ट अनुयायी हैं, जब वे कहते हैं—"शाम (बुद्ध) आदि के समस्त वचन, केवल दम, दान विषयक वचनों को छोड़ देने पर, समस्त चौदह विद्यास्थानों से विरुद्ध हैं। ये वचन वेदमार्ग को छोड़कर विरुद्ध आचरण करनेवाले बुद्ध आदिकों के द्वारा प्रचारित किये गये हैं। ये उपदेश उन लोगों को समर्पित किये गये हैं जो व्यामूढ़ हैं, जो तीनों वेदों के द्वारा प्रतिपादित धर्म के क्षेत्र से बहिर्भूत हैं, तथा जो मुख्यतः चतुर्थ वर्ण (शूद्र) के अन्तर्गत हैं तथा अन्य जो समाज से नितान्त बहिष्कृत किये गये हैं[1]। इस प्रकार सप्तम शती में समाज का जो चित्र ऊपर कथन में कुमारिल भट्ट ने खींचा है, वह वैदिक समाज की दृष्टि से कथमपि उपेक्षणीय नहीं था। वैदिक धर्म के उन्नायकों ने इन बौद्धानुयायी शूद्रों को अपने समाज में फिर खींचकर लाने का जो अश्रान्त उद्योग किया, उसका पूर्ण परिचय पुराणों के अनुशीलन से भली-भाँति मिलता है। इस कार्य की सिद्धि के लिए विद्वानों ने हजारों की संख्या में पौराणिक मन्त्रों का निर्माण किया तथा पुराणों में वैदिक मन्त्रों के संग में इन मन्त्रों का भी सन्निवेश किया।

पुराणों के साथ शूद्रों का किंरूप सम्बन्ध है? वेदमन्त्रों से पुराणों का कलेवर शून्य नहीं है; इसका सप्रमाण प्रतिपादन पहले ही किया गया है। वेद के पठन तथा श्रवण में शूद्रों का अधिकार कथमपि नहीं है—इस तथ्य का प्रतिपादन प्रायः सर्वत्र धर्मशास्त्र तथा पुराण में समभावेन किया गया है। श्रीमद्भागवत का यह प्रसिद्ध वचन इसी सिद्धान्त का सर्वथा पोषक माना जा सकता है—

---

१. शामादिवचनानि तु कतिपयदमदानानि वचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन सम्भाव्यन्ते।

—जै० सू०, १।३।४ पर तन्त्रवार्तिक।

कुमारिल ने यहाँ 'निरवसित' पद का प्रयोग पाणिनिदत्त अर्थ में किया है—

शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१० तथा इस सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य।

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ —१।४।२५

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक को मित्र मिश्र ने 'परिभाषाप्रकाश' में उद्धृत किया है तथा उस पर यह टिप्पणी भी लिखी है—वेदकार्यकारित्वावगमाद् भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञानकारित्वसिद्धिः (परिभाषाप्रकाश, पृ० ३७)। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि महाभारत वैदिक कार्यों के सम्पादन का वर्णन करता है और इसीलिए वेद से उत्पन्न जो आत्मज्ञान है उसके उत्पादन की भी सिद्धि उससे अवश्यमेव होती है। फलतः महाभारत के श्रवण से स्त्री-शूद्रादिकों को आत्मज्ञान और तज्जन्य मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव होती है—भागवत के वचन का यही स्वारस्य है। देवीभागवत भी भागवत के पूर्वोक्त कथन की ही पुष्टि करता है—

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च ॥
—देवीभाग०, १।३।२१

भागवत के पद्य में भारत की रचना का जो हेतु बतलाया गया है, देवीभागवत की दृष्टि में पुराणों के प्रणयन का भी वही हेतु है। फलतः इतिहास तथा पुराण दोनों की रचना का एक ही समान उद्देश्य है—वेद से वर्जित प्राणियों के लिए वेद-प्रतिपाद्य आत्मज्ञान तथा मुक्ति-प्राप्ति की शिक्षा। त्रयी (=वेदत्रयी) जिन व्यक्तियों को श्रुतिगोचर नहीं होती (अर्थात् जिन्हें वेद के श्रवण का अधिकार नहीं है) ऐसे व्यक्तियों में स्त्री की गणना प्राथम्येन की गयी है। तदनन्तर शूद्रों की तथा सबके अन्त में उन द्विजों की जो जन्मना द्विज हैं, परन्तु कर्मणा नहीं। अर्थात् जन्मना द्विज होने पर भी जो द्विज के कर्म से हीन हैं, उन्हें श्रुति के सुनने का अधिकार नहीं है। पुराण में इसी त्रयी के मन्त्रों का स्थलविशेष पर प्रतीक रूप से या पूर्णरूप से उल्लेख है। फलतः पुराणों के साथ शूद्र का सम्बन्ध एक अन्वेषणीय विषय है। इस विषय की मीमांसा पुराण तथा धर्मशास्त्र दोनों शास्त्रों ने अपनी दृष्टि से की है।

प्रथमतः पुराणीय मीमांसा पर ध्यान देना आवश्यक है। भविष्यपुराण का यह प्रख्यात वचन शूद्रों को पुराण के अध्ययन का अधिकार नहीं देता; केवल श्रवण का ही अधिकार देता है। अर्थात् शूद्र स्वयं पुराण का पाठ नहीं कर सकता, ब्राह्मण द्वारा पठ्यमान पुराण का वह केवल श्रवण कर सकता है। यह वचन[1] इस प्रकार है—

[1] इस वचन का उल्लेख श्री राधामोहन गोस्वामी ने भागवत सन्दर्भ की अपनी व्याख्या में किया है। पृ० ३० (कलकत्ता सं०)

अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥

प्रायश्चित्तविवेक में उद्धृत पाद्म का यह श्लोक जो स्वयं सूत की उक्ति है, पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण है । सूत का वचन है कि वेद में किसी भी शूद्र का अधिकार नहीं है, तब मुझे वेद-तुल्य पुराण में अधिकार कैसे ? मुझे यह अधिकार अर्थात् पुराण के पठन-पाठन, पठन-प्रवचन का अधिकार ब्राह्मणों के द्वारा दिखलाया गया है, अन्यथा शूद्र होने के नाते मुझे भी पुराण में अधिकार नहीं था—

न हि वेदेष्वधिकारः कश्चित् शूद्रस्य जायते ।
पुराणेष्वधिकारो मे दर्शितो ब्राह्मणैरिह ॥

तथ्य तो यह है कि सूत विलोमजात प्राणी होता है—'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इस स्मृतिवचन के अनुरोध से क्षत्रिय पिता की ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान 'सूत' कहा जाता है । फलतः सूत का अधिकार वेदश्रवण में कथमपि नहीं । इसकी पुष्टि शौनक ऋषि के इस कथन से स्पष्टतः होती है—

मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ।

—भाग०, १।४।१३

शौनक के कथन का अभिप्राय है कि सूत वेद को छोड़कर अन्य वचनों में सर्वथा निष्णात अर्थात् कुशल थे । परन्तु पुराणों के वे वक्ता थे । इस विप्रतिपत्ति का उत्तर वे भागवत के प्रथम स्कन्ध के[1] दो श्लोकों में स्वयं देते हैं । सूत के कथन का सारांश यही है कि विलोमजात होने पर भी आज भी हमारा जन्म इसी कारण सफल हुआ कि शौनक आदि महर्षियों की मुझ में आदर बुद्धि उत्पन्न हुई (वृद्धानुवृत्त्या) । मुझे उन्होंने आदर देकर कथा-श्रवण करने, भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक की लीला का गुण-गान करने के निमित्त वक्ता के रूप में वरण किया । लोक में यह बहुशः प्रत्यक्ष है कि महान् पुरुष के साथ सम्भाषण का योग ही नीच कुल में उत्पन्न होने से जायमान मानसिक

---

१. अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हा स्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधान योगः ॥
कुतः पुनर्मे गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥

पीड़ा को दूर भगा देता है। ऐसे महान् पुरुषों के भी आराध्य तथा सेवनीय, अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान् अनन्त के नाम के कीर्तन से मेरी यह आधि एकदम दूर भाग गयी है, इस विषय में वहुत कहने की आवश्यकता क्या है ? नहीं, कभी नहीं। श्रीमद्भागवत (१२।१२।६४) का (अधीत्य) 'शूद्रः शुध्यति पातकात्' वचन[1] (अर्थात् शूद्र पुराण के पठन के पातक से शुद्ध हो जाता है) पूर्वोक्त कथन से स्पष्टतः विरुद्ध होने से अपनी संगति चाहता है। इसकी संगति टीकाकारों ने 'अधीत्य' पद को अन्तर्भावित ण्यर्थक क्रिया मानकर 'पाठयित्वा' अर्थ देकर की है अर्थात् शूद्र को ब्राह्मण द्वारा पुराण पढ़वाकर सुनने का अधिकार है, स्वयं पढ़ने का नहीं। इसी तथ्य का समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त है। मध्वाचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में 'व्योम संहिता'[2] से कतिपय पद्य उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है कि भगवान् की भक्ति से सम्पन्न, अन्त्यज—शूद्र से भी नीची जाति में उत्पन्न व्यक्ति—को भगवान् के नाम तथा ज्ञान का अधिकार प्राप्त है। स्त्री, शूद्र तथा द्विजवन्धुओं को वेद से इतर धर्मग्रन्थों अर्थात् तन्त्र आदि के ज्ञान में अधिकार है, परन्तु ग्रन्थपुरःसर नहीं; केवल एकदेश में—मन्त्र तथा पूजा आदि में ही।

निष्कर्ष यह है कि स्वयं पुराण शूद्र को पुराण के श्रवणमात्र का ही अधिकार देता है, पठन का नहीं। वह पुराण के वाचन को ही सुन सकता है, स्वयं उसका वाचन या पठन नहीं कर सकता।

पुराणों की आलोचना का समर्थन शङ्कराचार्य जैसे आत्मवेत्ता वेदान्तप्रतिष्ठापक आचार्य के द्वारा भी किया गया है। शङ्कराचार्य ने (शारीरक भाष्य १।३।३८) बड़ी सावधानी से शूद्रों को वेदाधिकार का निषेध किया है अवश्य, परन्तु वे उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति करने से कभी निषेध नहीं करते। इस विषय में उन्होंने विदुर तथा धर्मव्याध का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जो

---

१. विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुध्यति पातकात् ॥

—भाग० १२।१२।६४

२. अन्त्या अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः।
स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां तन्त्र ज्ञानेऽधिकारिता ॥
एकदेशोपरक्ते तु न तु ग्रन्थपुरःसरे।
त्रैवर्णिकानां वेदोक्तं सम्यग् भक्तिमतां हरौ ॥

—व्योमसंहिता

भागवतसन्दर्भ की श्रीराधामोहन गोस्वामी कृत टीका में उद्धृत वचन, पृ० ३३।

इस जन्म में शूद्र योनि में अवश्य उत्पन्न हुए थे, परन्तु पूर्व जन्म के संस्कार उनमें जागरूक थे—पूर्व जन्म में वे उच्च योनि में उत्पन्न होकर शुभ कर्मों के निष्पादक थे। उसी संस्कार के वश इस योनि में उन्हें आत्मज्ञान का उदय हुआ और तज्जन्य मोक्ष की—संसार से आवागमन की मुक्ति की—उन्हें सद्यः प्राप्ति हुई—इसका निषेध कथमपि नहीं किया जा सकता। शङ्कर की दृष्टि में शूद्रों को इतिहास-पुराण के श्रवण करने का पूरा अधिकार है, क्योंकि 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' के नियम से इतिहास-पुराण के श्रवण में चारों वर्णों का अधिकार है और इस प्रकार वे आत्मा का ज्ञान तथा तन्निष्पन्न मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव कर सकते हैं। आचार्य के वचन इस प्रकार हैं—

येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारश्रवणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्।

—ब्र० सू० १।३।३८ पर शां० भा०

'अन्तरा चापि तद्दृष्टेः' ३।४।३६ के भाष्य में आचार्य ने रैक्व तथा वाचक्नवी का दृष्टान्त वर्तमान रहने से आत्मविद्या में अधिकार सम्पन्न होता है, इस तथ्य के समर्थन में दिया है—'रैक्व वाचक्नवी प्रभृतीनामेवं भूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः'। यहाँ वाचक्नवी स्त्री थी, जिसके चरित का वर्णन बृहदा० उप० (३।६।१, ३।८।१) में विशेषरूपेण दिया गया है। महाभारत स्वयं इस तथ्य का समर्थन बहुशः करता है कि यह चारों पुरुषार्थों के साधनों का वर्णन करता है। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के समान ही मोक्ष की प्राप्ति कराता है और इसलिए मोक्ष के इच्छुकों के द्वारा, ब्राह्मण, राजा तथा गर्भिणी स्त्रियों के द्वारा इसका श्रवण सर्वदा करना चाहिए—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता॥

—स्वर्गा० पर्व, ५।५०—५१

पुराण तथा शूद्र के सम्बन्ध की मीमांसा मध्ययुगीन निबन्धकारों ने की है, जिसकी विशिष्ट चर्चा काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में भली-भाँति की है। धर्मशास्त्रीय लेखकों के सामने बौद्धधर्म के मनोरम तथा हृदयावर्जक क्षेत्र के भीतर जीवन-यापन करनेवाले शूद्रों को वहाँ से निकालकर वैदिकधर्म में पुनः सम्मि-

करने की विषम समस्या थी। इस समस्या का समाधान पुराण के नवीन संस्करण बनाकर किया गया, लेखक का यह परिनिष्ठित मत है। इसी कार्य के लिए पुराण का प्रणयन हुआ—यह मत समीचीन नहीं, क्योंकि पुराण की प्राचीनता इस युग से पूर्व थी, जिसका प्रतिपादन किसी पहले परिच्छेद में सप्रमाण किया गया है। प्राचीन पुराण में ये नवीन संस्करण तथा कतिपय नूतन पुराणों का प्रणयन दो उद्देश्यों को लेकर सप्तम-अष्टम शती में किया गया। पहला उद्देश्य था जैन तथा बौद्धधर्मों के बुद्धिशील प्रभाव को रोकना अर्थात् उनके सिद्धान्तों को आत्मसात् कर वैदिकधर्म में उन लोभनीय तथ्यों की सत्ता उत्पन्न करना। दूसरा उद्देश्य था कि बुद्धधर्म के अनुयायी जनों को, जो अधिकतर शूद्र तथा अन्त्यज थे, अपनी ओर आकृष्ट करना। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि में पुराण विशेषरूपेण सफल तथा कृतकार्य हुए और आज हिन्दूधर्म का जो लोकप्रिय स्वरूप वर्तमान है, वह पुराणों के ही व्यापक प्रभाव का महनीय परिणाम है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निबन्धकारों ने शूद्रों की समस्या का समाधान किया। काणे का कथन है कि प्राचीन निबन्धकारों में शूद्रों को सन्तुष्ट करने की भावना कुछ मात्रा में थी और इसलिए उन्होंने उस भावना के अनुकूल विशेष उदार वृत्ति का परिचय दिया। श्रीदत्त (पितृभक्ति, समय-प्रदीप आदि ग्रन्थों के प्रणेता—समय १२७५ ई०—१३१० ई० लगभग) का कथन है कि शूद्र पौराणिक मन्त्रों का धार्मिक कृत्यों में स्वयं उच्चारण कर सकता है, परन्तु पुराण का श्रवण ब्राह्मण द्वारा ही कर सकता है, स्वयं उसका पाठ नहीं कर सकता। यह निर्णय उदार वृत्ति का परिचायक है। कमलाकर (निर्णयसिन्धु के लेखक; समय १६१०–१६४० ई० के आसपास) का समय श्रीदत्त से तीन शताब्दियाँ पीछे है। इस युग में शूद्र हिन्दू समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। अब प्राचीन सन्तुष्टि-भावना का सर्वथा ह्रास हो गया था। फलतः कमलाकर की भावना उग्र तथा कठोर है और इसीलिए उन्होंने अपने 'शूद्र कमलाकर' नामक एतद्विषयक ग्रन्थ में शूद्रों के विषय में अपना विशिष्ट मत दिया है—(क) शूद्र धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का स्वयं प्रयोग नहीं कर सकता, प्रत्युत उसे यह कार्य किसी ब्राह्मण द्वारा ही कराना न्याय है (यह मत श्रीदत्त से एकदम विपरीत तथा विरुद्ध है)। (ख) शूद्र ब्राह्मण द्वारा पुराण का पाठ सुन सकता है, स्वयं पाठ नहीं कर

---

१. द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ५, भाग २, पृष्ठ ९२४–९२७।

सकता। इस निर्णय से वैदिक मन्त्रों से सम्पन्न पुराणों के शूद्रों द्वारा उपयोग किये जाने की समस्या का समाधान निबन्धकारों ने भली-भाँति कर दिया।

प्रश्न है क्या शूद्रों के लिए ही पुराण की उपयोगिता थी? उत्तर है—नहीं, द्विजों के लिए भी उसकी उपयोगिता उसी प्रकार मान्य थी। इस तथ्य की अभिव्यक्ति अनेक पुराण-वचनों से वैशद्येन होती है। फलतः मध्ययुग में पुराण का बोलबाला था और भारत के समग्र समाज तथा समस्त वर्ण इसी का उपयोग धार्मिक कृत्यों में करते थे। वेद के दुर्बोध तथा दुर्ज्ञेय होने से तत्प्रतिपाद्य विधि-विधानों का अब ह्रास हो गया और वैदिक मन्त्रों के स्थान को पौराणिक मन्त्रों ने ले लिया। उदाहरणार्थं नवग्रह की पूजा के लिए वैदिक मन्त्रों के स्थान पर नवीन पौराणिक मन्त्रों का अब प्रयोग होने लगा। आज के प्रचलित कर्मकाण्ड की पद्धति में धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का प्रयोग अधिकतर पाया जाता है, वैदिक मन्त्रों के सह-प्रयोग की प्रथा वेद-ज्ञान के ह्रास के कारण आजकल नामशेष रह गयी है।

---

(४)

वेदार्थ का उपबृंहण

पुराण में वेद के अर्थ का उपबृंहण है। यह तथ्य महाभारत काल में अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था, क्योंकि महाभारत में इस तथ्य के साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। महाभारत (१।१।८६) का स्पष्ट कथन है कि पुराण-रूपी पूर्णचन्द्र ने श्रुति की चाँदनी को प्रकाशित किया—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।

वह प्रख्यात श्लोक, जिसमें इतिहास-पुराण के द्वारा वेदार्थ के उपबृंहण करने का उपदेश है, कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद सर्वदा डरा करते हैं कि कहीं वह उसे प्रहार न करे (या दूसरे पाठ के अनुसार प्रतारण न करे=ठग न ले), मूलतः महाभारत का ही है और अन्य पुराणों में सम्भवतः पीछे उद्धृत किया गया है। वह विश्रुत श्लोक है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥–(प्रतरिष्यति)

'उपबृंहण' शब्द का अर्थ है किसी तथ्य की पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करना। बृंह धातु का मुख्य अर्थ वर्धन ही तो है। फलतः वेद के मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का, सिद्धान्त का तथा तथ्य का विस्तार तथा पोषण पुराणों के श्लोकों में किया गया है। पूर्वोक्त श्लोक का यही तात्पर्य समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत ने अपने को इसी परम्परा के भीतर अन्त-र्भुक्त माना है। भागवत ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में अपने-आप को वेदार्थ का प्रतिपादक माना है। भागवत ने अपने को निगम-कल्पवृक्ष का गलित, सुपरिपक्व, अतएव मधुरतम फल माना है (निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्—१।१।३)। ग्रन्थ के अन्त में वह अपने को 'सर्ववेदान्तसार' बतलाता है (भाग० १२।१२।१५)। फलतः पुराण सामान्य में, श्रीमद्भागवत में विशेषतः वेदार्थ का उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहण के प्रकार

वेदार्थ के उपबृंहण के अनेक प्रकार पुराणों के अन्वेषण से विशदरूपेण प्रतीयमान होते हैं।

(क) वैदिक मन्त्रों के कहीं पर विशिष्ट पद ही पुराणस्थ स्तुतियों में स्पष्टतः गृहीत किये गये हैं। विष्णु-स्तुतियों में विष्णु-मन्त्रों के विशिष्ट पद

तथा शिवस्तोत्रों के विशिष्ट पद तथा समग्र भाव अक्षरशः संचित किये गये हैं। उदाहरणार्थ, वायुपुराण के ५५ अध्याय में दी गयी दार्शनिक शिवस्तुति में यजुर्वेदस्थ रुद्राध्याय (अ० १६ माध्यन्दिन संहिता) के मन्त्रों के भाव तथा पद बहुशः परिगृहीत हैं। वैष्णवों में **पुरुषसूक्त** (ऋग्वेद १०।९०) की महिमा अपरिमेय तथा असीम है। इसका उपयोग विष्णु भगवान् की स्तुति के अवसर पर तद्रूप से या किञ्चित् परिवर्तित रूप से बहुशः पुराणों में किया गया है। भागवत में समग्र सूक्त का उपयोग अनेक वार किया गया है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में नारायण की स्तुति के अवसर पर(अ० ६, श्लोक १५–३०) तथा १०।१।२० में पुरुषसूक्त का विस्तार से उपयोग किया गया है। इस सूक्त के 'पुरुष' का समीकरण कभी नारायण के साथ और कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य भागवत २।५।३५–४२; विष्णुपुराण १।१२।५६–६४; ब्रह्म १६१।४१–५०; पद्म ५।४।११६–१२४ तथा ६।२५४। ६२–८३। भागवत में विष्णु के लिए प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण पूर्णतः वैदिक हैं (द्रष्टव्य ऋग्वेद १।१५४ सू०)।

(ख) वैदिक मन्त्रों की व्याख्या

पुराणों में वैदिक (संहिता तथा उपनिषद् के) मन्त्रों की बहुशः व्याख्या मिलती है, जिसमें मूल मन्त्र का तात्पर्य कभी थोड़े ही शब्दों में और कभी विस्तार से बड़े वैशद्य से दिखलाया गया है। मूल अर्थ की असन्दिग्ध तथा परिवृंहित व्याख्या पुराणों का निजी वैशिष्ट्य है।

(१) **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** (ऋ० १।१५४।१) की विशद व्याख्या भाग०, २।७।४० में की गयी है, जिसमें मूल तात्पर्य का स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम् ॥

(२) **ईशावास्यमिदं सर्वम्** (ईशावास्योपनिद् के मन्त्र) की व्याख्या केवल आदि पद के परिवर्तन के संग में **आत्मा वास्यमिदं विश्वम्** (भाग०, ८।१।१०) में की गयी है। यहाँ श्लोक ९ से लेकर १६ तक **मन्त्रोपनिषद्** नाम से व्यवहृत किया गया है (८।१।१७)। यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार उपनिषद् के ही मन्त्रों का प्रयोग साक्षाद्भावेन कर रहा है।

(३) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (ऋ० १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०; श्वेताश्वतर ४।६) नामक विख्यात मन्त्र की व्याख्या भाग०, ११।११।६ में

बड़े वैशद्य से की गयी है, जिससे मूल का गम्भीर भाव अभिव्यक्त होता है। वायु०, ९।११९ में भी इसी मन्त्र का अर्थ संकेतित किया गया[1] है, परन्तु उतने वैशद्य से नहीं, जैसे भागवत में।

(४) ओं तत् सवितुर्वरेण्यं (ऋ० ३।६२।१०) गायत्री मन्त्र की अत्यन्त विशद व्याख्या अग्निपुराण अ० २१३ (१–१८) में की गयी है। प्रश्न उठाया गया है कि गायत्री के उपास्य देव कौन हैं ? शिव, शक्ति, सूर्य तथा अग्नि जैसे विविध विकल्पों का परिहार कर विष्णु को ही गायत्री-मन्त्र द्वारा संकेतित देव माना गया है, जो अग्निपुराण के वैष्णव रूप से सर्वथा संगत ही है।

(५) प्रणवो धनुः (मुण्डक २।२।४) की व्याख्या भागवत, ७।१५।४२ में की गयी है—

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।

यह व्याख्या मूलगत सन्देह को दूर करती है कि शर यहाँ जीव है, प्रत्यगात्मा ही है, परमात्मा नहीं। यहीं पर ७।१५।४१ श्लोक में 'रथशरीर' की कल्पना कठोपनिषद् के आधार पर की गयी है।

(६) आत्मानं चेद् विजानीयात् (भागवत, ७।१५।४०) में बृहदारण्यक के 'आत्मानं वेद' (४।४।१२) के अर्थ का परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है।

(७) मुण्डक १।२।४ में अग्नि की सप्त जिह्वाओं का—काली, कराली, मनोजवा आदि का—समुल्लेख है। इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेय, ९९।५२-५८ श्लोकों में की गयी है।

(८) चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः (ऋ० ४।५८।३) बड़ा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना जाता है। इस रहस्यात्मक मन्त्र की विविध व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने इसे शब्द की स्तुति माना है, मीमांसासूत्र १।२।४६ में यज्ञ की स्तुति तथा राजशेखर के काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की स्तुति मानी गयी है। गोपथ ब्रा० १।२।१६ में योगपरक अर्थ ही माना गया है, जो निरुक्त में स्वीकृत है। इस मन्त्र की दो प्रकार की व्याख्याएँ पुराणों में मिलती हैं। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड (७३ अ०, ९३–९६ श्लो०) में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। भागवत

---

१. दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः॥
—वायु०, ९।११९।

ने इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या कर मानों इसी अर्थ के प्राधान्य की घोषणा की है—

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःश्रृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥

—भाग०, ८।१६।३१

'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णु-भक्ति के पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवत की दृष्टि में यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही; साथ ही साथ मूल तात्पर्य की भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेद के द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होने से इस मन्त्र की यज्ञीय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) ब्राह्मण वाक्यों की भी व्याख्या पुराणों में मिलती है। तैत्ति० आर० २।२ में सन्ध्याकर्म में विघ्न डालनेवाले मन्देह नामक राक्षसों का वर्णन मिलता है। इन्हीं राक्षसों के कर्मों का विस्तृत विवरण वायु०, ५०।१६३–१६५ में किया गया है कि किस प्रकार वे सूर्य भगवान् को खाना चाहते हैं। ब्रह्मा, देवता तथा ब्राह्मणगण सन्ध्या कर्म में प्रयुक्त जल का जब क्षेपण करते हैं, तब वे राक्षस नाश प्राप्त करते हैं। क्योंकि वह जल ओंकार-संवलित गायत्रीमन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित होता है और इसलिए उस वज्रभूत जल से राक्षसों का सद्योनाश हो जाता है।[1]

(१०) भागवत के ११।१०।१२ श्लोक में आचार्य तथा अन्तेवासी को अरणिरूप बतलाया गया है तथा दोनों का सन्धान प्रवचन रूप में निश्चित किया गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्ति० उप० १।३ की है।

---

१. तिस्रः कोटयस्तु विख्याताः मन्देहा नाम राक्षसाः।
प्रार्थयन्ति सहस्रांशुमुदयन्तं दिने दिने॥
तापयन्तो दुरात्मानः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्। —१६३
अथ सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत्सुदारुणम्॥
ततो ब्रह्मा च देवाश्च ब्राह्मणाश्चैव सत्तमाः।
सन्ध्येति समुपासन्तः क्षेपयन्ति महाजलम्॥ १६४॥
ओंकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्।
तेन दह्यन्ति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा॥
अग्निहोत्रे हूयमाने समन्ताद् ब्राह्मणाहुतिः।
सूर्यज्योतिः सहस्रांशुः सूर्यो दीप्यति भास्करः॥

—वायुपुराण, अध्याय–५०

(११) भागवत के ८।१९।३८ श्लोक में 'अत्रापि वह्वृचैर्गीतम्' प्रस्तावना के साथ सत्य तथा अनृत की व्याख्या की गयी है तथा सत्य को आत्मारूपी वृक्ष का फल-पुष्प वतलाया गया है। यह पूरा प्रसंग (श्लोक ३८-४२) ऐतरेय आरण्यक के एक अंश की मार्मिक व्याख्या है, जो मूल के अर्थ का विस्तार कर उसे सम्पुष्ट वनाती है।

(१२) **त्र्यम्बकं यजामहे** (ऋक् ७।५९।१२ तथा शुक्लयजु० ३।६०) रुद्रशिव का नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्र की व्याख्या लिङ्गपुराण में दो वार की गयी है, जहाँ मन्त्र के पदों की विस्तृत नाना व्याख्या दर्शनीय तथा मननीय है (१।३५।१६-३५ तथा २।३४।१७-३१)

निष्कर्ष—ऊपर दिये गये कतिपय मन्त्रस्थलों का व्याख्यान इस तथ्य का पर्याप्त द्योतक है कि पुराणों के रचयिता ने वेद के मन्त्रों के तात्पर्य का विशदीकरण कर उन्हें सामान्य जनता के लिए (जिन के लिए धर्मतत्त्व की मीमांसा करना पुराणों का मुख्य लक्ष्य है) बोधगम्य बनाया। नहीं तो इन दुरूह मन्त्रों का तात्पर्य समझना साधारण वुद्धि से वाहर की वात रहती। पौराणिक व्याख्या से वेद का रहस्य खिलता है और खुलता भी है।

(ग) वैदिक आख्यानों का पौराणिक बृंहण

वैदिक साहित्य में—संहिता तथा ब्राह्मण में—प्रसंगवश अनेक आख्यान स्थान-स्थान पर विभिन्न देवताओं के स्वरूप-विवेचन के समय वर्णित हैं। इन आख्य... का पर्याप्त उपबृंहण पुराणों में किया गया है। इन आख्यानों को दो श्रेणी मे विभक्त किया जा सकता है—धार्मिक और लौकिक। धार्मिक आख्यानों के भीतर प्रजापति तथा विष्णु द्वारा अनेक रूपो के धारण करने की बात बहुशः उपवर्णित है, तो लौकिक आख्यानों में किसी विशिष्ट राजा का वृत्त, ऋषि का चरित्र या कोई अलौकिक लोकरञ्जन, प्रणय-कथा संक्षिप्तरूप में, कहीं विस्तृतरूप में विवृत है। इन समस्त आख्यानों के सूक्ष्म वैदिक संकेतों की पुराणों ने बड़े ही वैशद्य के साथ व्याख्या की है। यह व्याख्या-पद्धति पुराण की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। पुराण का प्रणयन लोक-समाज की सुलभ शैली में गम्भीर वैदिक तत्त्वों का लोकप्रिय उपदेश देने के निमित्त ही किया गया है। वेद के आख्यान को पुराणों ने एक विशिष्ट तात्पर्य तथा उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही परिबृंहित किया है। वेदों में प्रजापति के ही नाना रूप धारण करने का उल्लेख मिलता है। पुराणों ने अवतारवाद के सिद्धान्त की सम्पुष्टि में इन समग्र कथाओं का उपयोग किया है और प्रजापति के स्थान पर वे समग्र रूप में विष्णु या नारायण द्वारा गृहीत माने गये हैं। अतिरञ्जना या मनोरञ्जक सातिशय का भाव अनेक कथाओं के उपबृंहण का निमित्त ठहराया

जा सकता है। दो-चार दृष्टान्त ही इस मत के पोषण के लिए यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) प्रजापति के द्वारा मत्स्य रूप धारण का आख्यान शतपथ ब्राह्मण (२।८।१।१) में संक्षेपरूप से दिया गया है। जलप्लावन से इस कथा का सम्बन्ध पूर्व अध्याय में अभिव्यक्त किया गया है। इस कथा का उपबृंहण पुराणों में अनेकत्र मिलता है। द्रष्टव्य भागवत १।३।१५; ८।२४।११-६१; अग्नि २।४९; गरुड़ १।१४२; पद्म ५।४।७३, महाभारत शान्ति, अध्याय ३४०; मत्स्यपुराण का आरम्भ तो इस आख्यान के उपबृंहण के लिए ही किया गया है। इसका प्रथम अध्याय इस प्रसंग में मननीय है।

(२) कूर्म का आख्यान तैत्ति० आर० (१।२३।३), शतपथ ब्रा० ७।५।१।५ तथा जैमिनीय ब्रा० ३।२७२ में संक्षिप्त रूप से दिया गया है। कूर्म प्रजापति का ही स्वरूप बतलाया गया है। पुराण इस कूर्म को भगवान् विष्णु का द्वितीय अवतार मानकर इस आख्यान की विस्तृत व्याख्या करते हैं। द्रष्टव्य भाग० ८।७, कूर्म-पुराण १।१६।७७-७८, अग्नि ४।४९, गरुड १।१४२, पद्म ५।४ तथा ५।१३, ब्रह्म अ० १८० तथा २१३, विष्णु १।४।

(२) प्रजापति को वराह रूप धारण करने की कथा का संकेत तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) में उपलब्ध होता है, परन्तु यह कथा ऋग्वेद में भी उल्लिखित है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषों को और क्षीरपाक को ग्रहण किया, जो वास्तव में **'एमुष'** नामक वराह की सम्पत्ति थे। इन्द्र ने इस वराह को भी मार डाला।[1] शतपथ के अनुसार इसी एमुष वराह ने जल के ऊपर रहनेवाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया था। तैत्तिरीय-संहिता पृथ्वी को ऊपर उठानेवाले इस वराह को प्रजापति का रूप मानती है। इसी कथा का उपबृंहण वराह अवतार के प्रसंग में पुराणों ने किया है। द्रष्टव्य विशेषतः भागवत ३।१३।३५-३९, विष्णु, १।४।३२-३६ आदि।

(४) ऋग्वेद के सूक्तों में उरुगाय त्रिविक्रम विष्णु की कथा बहुशः वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।१) में वामन का असुरों से पृथ्वी जीतकर देवों को दे देने की घटना का विस्तरशः निर्देश है। इस घटना का उपबृंहण प्रायः

---

१. विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥
—ऋग्वेद, ८।७७।१०

पुराणों में सर्वत्र है। वामन पुराण का नामकरण तो इसी घटना के उपलक्ष्य में किया गया है और वहाँ इसका विस्तार से वर्णन भी है[1]।

(५) पुरूरवा उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद के विख्यात आख्यानों में अन्यतम है। मूलतः यह स्वल्पकाय है, परन्तु पुराणों में इसका अतिरञ्जना के साथ उपबृंहण किया गया है। विष्णुपुराण (४।६) ने चन्द्रवंश के आरम्भ के प्रसंग में पुरूरवा का आख्यान बड़े ही विस्तार तथा वैशद्य के साथ एक पूरे अध्याय में दिया है। हरिवंश १।२६ में भी यह वर्णित है। श्रीमद्भागवत ने एक पूरे अध्याय (९।१४) में ऐलोपाख्यान के अवसर पर इस आख्यान का उपबृंहण किया है। इतना ही नहीं, इसी अध्याय के ३३ श्लोक से लेकर ३८ श्लोक तक पाँच मन्त्रों के भाव विशद अनुष्टुपों में अभिव्यक्त किये गये हैं। चन्द्रवंश के प्रारम्भ से सम्बद्ध होने के हेतु इसका संकेत अनेक पुराणों में तो वर्तमान ही है; भागवत तथा विष्णु में इसका उपबृंहण संस्कृत में प्रणय-कथा का विशुद्ध साहित्यिक रूप भी प्रस्तुत करता है।

(६) हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) में विस्तार से वर्णित है। यह आख्यान ऋग्वेद के मन्त्रों में भी अव्यक्तरूपेण संकेतित माना जाता है, परन्तु ऐतरेय ब्रा० में निश्चयरूपेण विस्तार है। इस कथा का उपबृंहण पुराणों में बहुशः किया गया है, विशेषतः मार्कण्डेय अ० ८ तथा ब्रह्मपुराण अध्याय १०४ (हरिश्चन्द्र तीर्थ के प्रसंग में) ब्रह्मपुराण तो अपने विवरण के संग-साथ में ऐतरेयस्थ मन्त्रों की भी व्याख्या करता गया है—

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत् सर्वे पशवो विदुः (ऐत०)=नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म० १०४।७)। मार्कण्डेय का हरिश्चन्द्रोपाख्यान नितान्त मंजुल, प्रभावोत्पादक तथा साहित्यिक है। श्मशान का यथार्थ वर्णन कर इस पुराण ने कथानक में रोचकता तथा स्वाभाविकता का पूर्ण प्रसार प्रदर्शित किया है (अ० ८, श्लो० १०७–११८)। वैदिक कथा का यह उपबृंहण पिछले युग के कथा-विकास का मूल प्रवर्तक माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत ने ९।७ में वैदिक मन्त्रों की विशद व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। देवी भाग०, ७।१३–२७ ऐतरेय का बहुशः अनुगमन कर इस कथा का रोचक ढंग से वर्णन करता है।

(७) नाचिकेतोपाख्यान—नचिकेता का उपाख्यान तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा कठोपनिषद् में पर्याप्तरूपेण विस्तृत है तथा विद्वज्जनों में विश्रुत है। इस

---

१. इन चारों अवतारों के वैदिक मूल तथा पौराणिक उपबृंहण की विस्तृत चर्चा 'पौराणिक अवतारवाद' के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद में की गयी है। जिज्ञासुजन उसका अनुशीलन अवश्य करें।

आख्यान का उपबृंहण इतिहास (महाभारत) तथा पुराण (वराह) में विशेष रूप से मिलता है, साथ ही साथ परिवर्तित परिस्थिति में मूल तात्पर्य का समयानुसारी परिवर्तन भी करके आख्यान में रोचकता तथा समयानुकूलता दोनों का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया गया है। इस कथा के विकास का गम्भीर ऐतिहासिक अनुशीलन परिशिष्ट रूप से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे परिबृंहण की दिशा का भी परिचय जिज्ञासुजनों को मिल जायेगा।

(घ) वैदिक प्रतीकों की पौराणिक व्याख्या

वेद की भाषा निश्चयरूपेण प्रतीकात्मक है। वहाँ रूपकों की सहायता से मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु रूपकों को यथार्थतः समझना एक विषम पहेली है। इसकी कुंजी पुराणों में अन्तर्निविष्ट है। पुराणों की सहायता से ही यह गम्भीर तत्त्व उद्घाटित किया जा सकता है। इस विषय में वेद तथा पुराण में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जो तत्त्व वैदिक मन्त्रों में रूपकालंकार की लपेट में गुह्यरूप से निर्दिष्ट हैं, वे ही पुराणों में सरल सुबोध शैली में सामान्य जनता के उपदेशार्थ रोचक शब्दों में प्रकट किये गये हैं। तात्पर्य दोनों ग्रन्थों का एक ही अभिन्न है। इसलिए वेद में श्रद्धा रखनेवाला जन पुराण में अश्रद्धा रखे; यह एक विषम तथा औचित्य-विहीन कथन है। पुराण वे ही बातें विस्तार से कहता है, जो वेद ने सूक्ष्मरूप में कहा है अथवा केवल संकेतित किया है। इस तथ्य को भुलाना क्या है? मानों हिन्दू धर्म के मौलिक तथ्य की जानकारी से पराङ्मुख होना है। पुराणों के वर्णनों में कहीं असम्बद्धता, असंगति तथा व्यवहार-विरुद्धता का जो दोष दृष्टिगोचर होता है, उसे ठीक-ठीक समझने के लिए वेदों के पास आलोचकों को जाना होगा। वैदिक प्रतीकों को यथार्थ रूप से न जानने के कारण ही पुराणों पर दोषों का तीव्र आरोप किया गया है, क्योंकि पुराण वैदिक प्रतीकों की ही व्याख्या अपनी कहीं सुबोध शैली से, और कहीं ऐतिहासिक पद्धति में करता है और इन प्रतीकों का अज्ञान अथवा अल्पज्ञान ही पुराणों के ऊपर कलंक लगाने का सर्वथा उत्तरदायी माना जा सकता है। ठोस दृष्टान्तों से इस आरोप-परिहार के तथ्य को समझना होगा।

(१) अहल्यायै जारः

इन्द्र अहल्या का (या मैत्रेयी अहल्या का) जार (उपपति) था—यह कथन अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है[1] इतना ही नहीं, पूर्व दिशा का

---

१. शतपथ ३।३।४।१८, तैत्ति० १।१२।४; षड्विंश १।१; लाटयायन श्रौतसूत्र १।३।१.

स्वामी इन्द्र सहस्राक्ष हो जाने से अतिपश्य अर्थात् क्रान्तदर्शी हुआ—यह कथन भी अथर्ववेद (११।२।१७) के एक मन्त्र में उपलब्ध होता है।[1] अर्थात् इन्द्र अहल्या का जार तथा सहस्रनेत्र-सम्पन्न व्यक्ति था—यह तथ्य वैदिक ग्रन्थों से अभिव्यक्त होता है। अब पुराणों की ओर दृष्टिपात कीजिए। देवीभागवत (१।५।४६) तथा ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण-जन्म खण्ड ६१।४४–४६) में तथा वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड (अ० ४९) में गौतम ऋषि और अहल्या की कथा वर्णित है, जो लोक में नितान्त विश्रुत है। देवराज इन्द्र ने गौतम ऋषि की धर्मपत्नी अहल्या का धर्षण किया, जिससे रुष्ट होकर गौतम ने अहल्या को पाषाण बन जाने का तथा इन्द्र को 'सहस्रभग' बन जाने का शाप दिया। प्रार्थना करने पर ऋषि ने प्रसन्न होकर अहल्या को रामचन्द्र के पाद-स्पर्श होने पर मुक्ति पाने का तथा इन्द्र को 'सहस्राक्ष' होने का आशीर्वाद दिया। विचारणीय प्रश्न है कि इस इन्द्र-अहल्या वृत्त का वास्तविक तात्पर्य क्या है ?

इस समस्या का समाधान कुमारिलभट्ट ने अपने 'तन्त्रवार्तिक' में बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया हैं। उन्होंने इस कथानक के रूपक का रहस्य समझाया है। यह वेदगाथा सूर्यरात्रि के दैनन्दिन व्यवहार की द्योतिका है। चन्द्रमा ही गौतम है (उत्तम गावो रश्मयो[2] यस्य सः गौतमः)। चन्द्र की पत्नी रात्रि ही अहल्या है; अहर्लीयते यस्यां सा; दिन जिसमें लीन हो जाय ऐसी अर्थात् दिन को अपने में लीन कर देनेवाली—'अहल्या' का यह निरुक्ति-गम्य अर्थ है। सूर्य ही परमैश्वर्य से सम्पन्न होने के हेतु, इन्द्र है। इन्द्र और सूर्य के ऐक्यबोधक वाक्य वैदिक साहित्य में बिखरे पड़े हैं, यथा—

य एष सूर्यस्तपति, एष उ एव इन्द्रः।

—(शतपथ ४।५।९।४)

सूर्य के उदय लेते ही रात्रि जीर्ण होकर भाग खड़ी होती है। अतः रात को जीर्ण कर देने के हेतु सूर्य 'जार' कहलाता है[3] (रात्रि को जीर्ण=परि-समाप्त कर देनेवाला)। अतएव कुमारिल (सप्तमशती) की सम्मति में 'चन्द्रमा की पत्नी रात्रि सूर्य के उदित होते ही जीर्ण होकर समाप्त हो जाती है'

१, सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्—अथर्व०, ११।२।१७

२. सुषुम्णः सूर्यरश्मिचन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते······सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते।

—निरुक्त २।२।२

३. आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता।

—वही, ३।३।४

यही लोक-व्यवहार की प्रतिदिन साक्षात्कृत घटना का वर्णन पूर्वोक्त वेद-गाथा में किया गया है। कुमारिल से एक हजार वर्ष पूर्व होनेवाले यास्काचार्य ने भी इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस व्याख्या का प्रामाण्य मानकर ठीक ऐसी ही व्याख्या की है[1]। फलतः पुराणवर्णित अहल्या-चरित में किसी प्रकार की अश्लीलता या दुराचरण का स्पर्श भी नहीं है।

पुराण तथा रामायण में वैदिक गाथा का स्पष्टतः उपबृंहण है। अहल्या की कथा ऐतिहासिक जगत् से भी सम्बद्ध है। इसे यथार्थ इतिहास मानना भी पौराणिक शैली से अनुचित नहीं होगा। इस धर्षण का कारण भी रामायण[2] में उपन्यस्त है। गौतम ऋषि उग्र तपस्वी थे, जिनका तप समग्र जनस्थान को ध्वस्त तथा दग्ध करने में समर्थ था। देवों का उनसे इस कारण भयाक्रान्त होना स्वाभाविक था। वे गौतम की उग्र तपस्या को भंग करना चाहते थे, परन्तु प्रश्न था किस प्रकार ? बिना क्रोध उद्दीप्त किये उनकी तपस्या निष्फल नहीं हो सकती थी। इसीलिए इन्द्र देवगणों की इच्छा तथा स्वीकृति से इस कुकर्म में प्रवृत्त हुए। इस घटना से क्षुब्ध होकर गौतम ने शाप दिया, जिससे उनकी तपस्या का फल विफल हो गया। एक नारी के धर्षण से (वस्तुतः अहिल्या ब्रह्मा की मानसी सृष्टि थी तथा इन्द्र सूक्ष्म देहधारी दिव्य प्राणी थे, जिससे अमैथुनी सृष्टिविषयक होने से यह धर्षण नहीं कहा जा सकता) यदि राष्ट्र के लाखों व्यक्तियो का कल्याण हो, तो वह कथमपि हेय नहीं माना जा सकता।

पुराण के उपबृंहण पर ध्यान दीजिये। इन्द्र को 'जार' (उपपति) बतला कर भी वेद उसके दोष के मार्जन की व्यवस्था नहीं करता। उधर पुराण मानवमर्यादा की रक्षा के लिए दोषी व्यक्ति के पदाधिकार का बिना ध्यान दिये ही उसे उचित दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इन्द्र को वृषणहीन होना पड़ा (या कालान्तर में सहस्र भग से सम्पन्न होना पड़ा)। परन्तु इन्द्र ने

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका पृष्ठ ३००।

२. कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥
अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्मा च निराकृतः।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया ॥
तन्मां सुरवराः सर्वे ऋषिसङ्घाः सचारणाः।
सुरकार्यकरं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ ॥

—वाल्मीकि-रामायण बालकाण्ड ४९

लोकोपकारार्थ किये गये कर्म से देवगण सन्तुष्ट हुए और उन्होंने इन्द्र को मेष का वृषण (अण्डकोष) लगाकर उन्हें 'सवृषण' बना दिया। रूपक-दृष्टि से देखने पर यह घटना दैनन्दिन घटना का प्रतीकमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचारने पर यह राष्ट्रहित का महनीय कार्य है। उभय दृष्टियों को ध्यान में रखने पर पुराणस्थ घटना में कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(२) तारापतिश्चन्द्रमाः

बृहस्पति तथा चन्द्रमा से सम्बन्ध रखनेवाली एक आख्यायिका वेदों में उपलब्ध होती है। इन कथा-सूत्रों को एकत्र गुम्फन करने पर कथा का निखरा रूप इस प्रकार अभिव्यक्त होता है। चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया। हजार बार माँगने पर भी जब उसे नहीं लौटाया, तब घनघोर देवासुर-संग्राम छिड़ गया। ब्रह्माजी ने बीच-बचाव करके तारा को बृहस्पति को लौटा दिया। इसी बीच में उसे 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न हो गया था, जो चन्द्रमा का ही पुत्र सिद्ध होने पर उसे ही दे दिया गया। कथा नितान्त अश्लील है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुराणों में (भागवत ९।१४।४-१४) तथा देवीभागवत में यह कथा इसी रूप में उपलब्ध होती है। यह पौराणिकरूप वैदिकरूप का उपबृंहण मात्र है।

अथर्ववेद में तथा ताण्ड्य ब्राह्मण में इस कथा के बीज स्पष्टरूप से मिलते हैं[1] :—

(क) सोम पहला राजा हुआ, जिसने ब्राह्मण (बृहस्पति) की जाया को बिना लज्जा किये निर्लज्जतापूर्वक फिर से लौटा दिया।

(ख) जिस स्त्री को बढ़ी केशोंवाली (विकेशी) तारका ऐसा कहते हैं।

(ग) सोम के द्वारा ली गयी अपनी जाया को बृहस्पति ने प्राप्त किया।

(घ) बुध सौमायन कहलाता है, क्योंकि वह सोम का पुत्र है।

---

१. (क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमाणः ॥
—अथर्व०, ५।१७।२

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीति।
—वही, ५।१७।४

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्।
—वही, ५।१७।५

(घ) सौमायनो (सोमपुत्रो) बुधः।
—ताण्ड्य ब्रा०, २४।१७।६

विष्णुपुराण (चतुर्थ अंश, षष्ठ अध्याय १०-३३) और श्रीमद्भागवत में ऊपर निर्दिष्ट (९।१४।४-१४) के द्वारा इस कथा के रूप का पता चलता है, जो संक्षेप में ऊपर दी गयी है। वेद के दिये गये निर्देशों से इस कथानक के भीतर वर्तमान प्रतीक का तात्पर्य नहीं खुलता, परन्तु भागवत की व्याख्या से इस रहस्य का पता भली-भाँति लग सकता है—

सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः।

भाग०, ९।१४।७

इस घटना के होने पर जो देवासुर-संग्राम छिड़ गया था, वह ऐतिहासिक न होकर तारकाओं का युद्ध था। 'समरस्तारकामयः' इस विचित्र कथा के रहस्योद्घाटन की कुञ्जी है। भागवत के कथनानुसार जब चन्द्रमा ने तारा को देना स्वीकार नहीं किया, तब शुक्राचार्य ने देवगुरु वृहस्पति के द्वेष से चन्द्रमा को असुरपक्ष में मिला लिया। और उधर भी शिव ने तथा देवराज इन्द्र ने देवगणों के साथ वृहस्पति का पक्ष लिया। तभी युद्ध छिड़ गया। युद्ध की समाप्ति तब हुई, जब तारा वृहस्पति को मिल गयी और बुध चन्द्रमा को प्राप्त हुआ।

इस कथा को ऐतिहासिक रूप में लेने का अवसर-प्राप्त प्रसंग है भागवत पुराण में। चन्द्रवंशीय नरेशों की उत्पत्ति बतलाते हुए भागवत का कथन है कि ब्रह्मा से उत्पन्न हुए अत्रि। अत्रि से चन्द्रमा। चन्द्रमा से बुध और बुध से पुरुरवा। यह तो हुआ ऐतिहासिक पक्ष। परन्तु वस्तुतः यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का संकेत है। यह खगोलविषयक सिद्धान्त का प्रतीकात्मक विवरण है, जिसका स्पष्ट कथन इस प्रकार समझना चाहिए :—वृहस्पति, चन्द्रमा, तारा तथा बुध—ये चारों ही खगोलीय नक्षत्र हैं। वृहस्पति ग्रह की कक्षा में भ्रमण करनेवाला तारा नामक उपग्रह चन्द्रमा के आकर्षण के द्वारा अपनी मूल कक्षा से च्युत होकर चन्द्रकक्ष में आ गया। इस आकर्षण-विकर्षण के कारण आकाश-मण्डल में बड़ी गड़बड़ी मच गयी। पुनः सूर्यरूपी प्रजापति (भागवत का विश्वकृत्) के पुनः आकर्षण होने पर तारा अपनी मूल कक्षा में वृहस्पति के पास आ गयी। इस आकर्षण-विकर्षण के कारण चन्द्रमा का कोई भाग, जो आकाश के आग्नेयबाष्पों के मिश्रण से उनका अपना स्वरूप ही बन गया था, उससे टूटकर अलग हो गया, जिससे 'बुध' नामक ग्रह का जन्म हुआ। बुध में चन्द्रमा के अनेक अंश की सत्ता विद्यमान होने से वह चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है।'

इस प्रकार की व्याख्या एक मर्मज्ञ पुराणविद् ने अपने ग्रन्थ में की है[1],

---

१. पण्डित माधवाचार्य शास्त्री; पुराण दिग्दर्शन, पृष्ठ २९५-२९७ (दिल्ली)

परन्तु ज्यौतिष के सिद्धान्तों से इस मत की ठीक संगति नहीं बैठती। चन्द्रमा से बृहस्पति सौरमण्डल में इतनी अधिक दूरी पर हैं कि इन दोनों के आकर्षण की कल्पना ठीक नहीं जमती। दूसरी बात यह है कि बुध ग्रह है और चन्द्रमा उपग्रह है, जो बुध की अपेक्षा छोटा है। इस दशा में चन्द्र के शरीर से बुध के निकलने का पूर्वोक्त संकेत भी संगत नहीं होता। इसलिए इस पौराणिक आख्यान का ज्योतिःशास्त्र के ज्ञात सिद्धान्तों से सुसंगत व्याख्या यहाँ दी जाती है।[1]

पौराणिक कथा—चन्द्रमा गुरु का शिष्य था, तारा गुरु की पत्नी। चन्द्रमा ने तारा का बलात् धर्षण किया। इससे बृहस्पति क्रुद्ध हुए तथा बृहस्पति और चन्द्रमा का युद्ध हुआ। देवताओं ने इस युद्ध को छुड़ा दिया। तत्पश्चात् तारा से बुध की उत्पत्ति हुई और देवताओं ने उसे चन्द्रमा का पुत्र मानकर चन्द्रमा को दे दिया।

ज्यौतिष अर्थ—पुराण में गुरु को देवताओं का गुरु माना गया है; चन्द्रमा को एक देवता। अतः चन्द्रमा को गुरु का शिष्य मानना एक पौराणिक कल्पना है। प्राचीन काल में वैदिक आर्य लोग ग्रहों का वेध पृष्ठभूमि में स्थित तारों के सन्दर्भ से किया करते थे। ग्रहों की स्वाभाविक गति होने के कारण वे दूरस्थ तारों से कुछ हट-बढ़ जाते थे। अतः उन्हें ग्रह मान लिया जाता था। बृहस्पति का भी इसी प्रकार ज्ञान हुआ होगा। सम्भवतः बृहस्पति का क्रान्तिवृत्त के समीपस्थ किसी चमकीले तारा के साथ देखने से ही ज्ञात हुआ होगा कि बृहस्पति वर्षभर में एक राशि अथवा ३०° पूर्व की ओर चलता है। अतः उसका पूर्वोक्त प्रकाशवती तारा के पास दृश्य होना तथा उसके साथ-साथ बहुत दिनों तक दिखलाई पड़ना सम्भव है। यदि दो प्रकाशवाले तारा ग्रह एक अंश से अधिक दूरी पर हों, तो उनके योग को समागम कहते[2] हैं। सम्भवतः बृहस्पति उक्त तारा से एक अंश से कुछ अधिक दूरी के शरान्तर[3] पर होगा। इसी समागम के कारण उक्त तारा की बृहस्पति की पत्नी के रूप में कल्पना की गयी होगी। यही उस तारा की संज्ञा पड़ गयी होगी। कालान्तर में बृहस्पति के स्वगति से कुछ दूर पूर्व जाने पर पश्चिम से पूर्व को आते समय चन्द्रमा से उस तारा की युति होने से वह ढकी गयी होगी। इसको

१. इस व्याख्या के लिए लेखक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के ज्यौतिषशास्त्र के प्राध्यापक डाक्टर मुरारिलाल शर्मा का आभार मानता है। इस व्याख्या की संगति बैठाने का श्रेय उन्हीं को है।

२. समागमोऽशादधिके भवतश्चेद् बलान्वितौ।

—सू० सि० ग्र० प्र० अधि० १९

३. शर=क्रान्तिवृत्त (पृथ्वी का सूर्य की कक्षा) से दक्षिण अथवा उत्तर अन्तर।

उसका चन्द्रमा द्वारा धर्षण माना गया होगा। उसके बाद चन्द्रमा शीघ्रगति[1] होने के कारण बृहस्पति की ओर अग्रसर हुआ होगा। यदि बृहस्पति-युति के आसन्न काल में कृष्ण की द्वादशी या त्रयोदशी रही होगी, तो युद्ध के पश्चात् चन्द्रमा का क्षीणकान्ति दृश्य होना स्वाभाविक है। यदि गुरु तथा चन्द्र का शरान्तर एक अंश से कम हो तो ऐसी स्थिति की संज्ञा अपसव्य युद्ध है।[2] अतएव गुरु और चन्द्र के युद्ध की कल्पना है। तत्पश्चात् चन्द्रमा के अमान्त के आसन्न होने के कारण बुध के पास होना भी सम्भव है। सामान्य अवस्थाओं में बुध ग्रह की ओर ध्यान नहीं जाता, क्योंकि यह सूर्य के अत्यासन्न रहता है।[3] किन्तु उस विशेष परिस्थिति में वेधकर्ता आर्यों का ध्यान उस तारा की तरफ भी गया। बुध की गति अत्यधिक होने से उसका ग्रहत्व शीघ्र ही ज्ञात हो गया होगा। इस प्रकार आर्यों ने एक नये ग्रह को खोज लिया, जिसमें चन्द्र की तारा से युति ने ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। अतएव उसे चन्द्रमा द्वारा तारा के धर्षण करने से उत्पन्न, चन्द्रसुतत्व कल्पित किया। यही इस कथा की व्याख्या प्रतीत होती है।

(३) विश्वरूपं जघानेन्द्रः

शतपथ ब्रा० (१।२।३।२; १।६।३।२-५) में तथा ताण्डय ब्रा० (१७।५।१) में विश्वरूप तथा इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र कथानक है। विश्वरूप त्वष्टा के पुत्र थे, जिन्हें तीन सिर, छः आँखें तथा तीन मुँह थे। इन्हीं विचित्रताओं के कारण ही वे 'विश्वरूप' नाम से पुकारे जाते थे। वे एक मुख से सुरा पीते थे; दूसरे से सोम और तीसरे से अन्न-खाते थे। इन्द्र ने उनसे द्वेष किया तथा उनके तीनों सिरों को काट डाला। सोमपानवाला मुख बन गया कपिञ्जल, सुरापानवाला हो गया कलविंक तथा अन्न खानेवाला मुख हो गया तित्तिर (तीतर नामक चिड़िया)। शतपथ के अनुसार यही कथा है। श्रीमद्भागवत (६।६।४४-४५ तथा ६।९।१-७) में यही कथा वैदिक कथा से अक्षरशः मिलती है। एक-दो बातें बिलकुल नयी हैं—

(क) त्वष्टा ब्राह्मण देवता थे, परन्तु इन्होंने दैत्यों की अनुजा—छोटी बहिन—रचना से शादी की थी। उसी के पुत्र थे—विश्वरूप जो इसी हेतु 'त्वाष्ट्र' कहलाते थे।

---

१. चन्द्रगति लगभग प्रतिदिन १३° है।

२. अंशदूनेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेदणुः।

—सू० सि० ग्र० यु० अधि०, १९ श्लोक

३. बुध सूर्य के अत्यन्त समीप रहता है। इसकी रवि से अधिकतम दूरी २८° है।

(ख) किसी कारण से रुष्ट होकर बृहस्पति ने अपने यजमान तथा भक्त देवों को छोड़ दिया था, जब वृत्रासुर के मारने के लिए यज्ञ करने का अवसर आया, तब बृहस्पति के अभाव में देवों ने इन्हीं त्रिशिरा, त्वाष्ट्र, विप्रवर्य विश्वरूप को अपने यज्ञ का पुरोहित बनाया, यद्यपि वे जानते थे कि हमारे शत्रु असुरों के भांजे हैं।

(ग) शतपथ में त्वाष्ट्र के इन्द्र द्वारा वध का कोई भी कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है। वहाँ केवल सामान्य शब्द है—तमिन्द्रो दिद्वेष (उससे इन्द्र ने द्वेष किया) फलतः मारने का कोई भी कारण न होने से वैदिक गाथा में इन्द्र द्वारा विश्वरूप-वध नितान्त अनुचित, अयुक्तिमत् तथा यादृच्छिक कार्य था। परन्तु पुराण ने उस जघन्य कार्य के लिए एक युक्तियुक्त हेतु, बतलाकर सचमुच ही वेदार्थ का उपबृंहण किया है। वह हेतु है—चुपके-चुपके[1] परोक्ष में असुरों को यज्ञ-भाग का अर्पण। विश्वरूप के हृदय में मातृप्रेम उबलने लगा था और इसीलिए अपने पौरोहित्य के विरुद्ध भी वे देवों के प्रतिपक्षी (जिनके पराजय के निमित्त वह याग किया जा रहा था) असुरों को यज्ञ-भाग देने में पराङ्मुख नहीं थे। इन्द्र ने उसे देखा और समझा। उनके शिरों को काट डाला, जिससे उन्हें ब्रह्महत्या लगी।

(घ) ब्रह्महत्या लगने पर इन्द्र ने उसे अंजुली बाँधकर ग्रहण किया और उसका पूरा प्रतिशोध-प्रायश्चित्त किया। इस प्रकार देवराष्ट्र के हित में ही देवराज इन्द्र ने अपराधी पुरोहित का वध किया और उसका यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार कर उस हत्या से मुक्त भी हो गये। अपने राजमद के वशीभूत वे नहीं हुए।

इस प्रकार पौराणिक कथा ने मूल कथा की त्रुटि का परिहार कर और उसमें अवसर-विशेष तथा अपराध-विशेष की कल्पना कर युक्तियुक्त हेतु का ब्रह्महत्या के लिए जो निर्देश किया है, वह यथार्थतः मूल का सम्पुष्टिकारक उपबृंहण है।

(४) ब्रह्मा स्वर्दुहितुः पतिः

ब्रह्मा अपनी पुत्री (वाग् या सरस्वती) के पति थे, जिसका उन्होंने धर्षण किया—यह एक वैदिक प्रतीक है। वेद में जिस प्रकार से यह उपन्यस्त है, पुराणों ने भी उसे उसी रूप में विना ननु नच किये, ग्रहण किया है। पुराणों पर इस वर्णन के लिए तीव्र दोष लगाया जाता है कि वह समाजविरोधी

---

१. स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः॥

भाग०, ६।९।३

अधार्मिक तथ्यों का वर्णन कर धर्मविरुद्ध आचरण को प्रोत्साहन देता है। इस कथा के पीछे विद्यमान प्रतीक को यथार्थ रूप से समझने की आवश्यकता है।

पुराण ने वैदिक गाथा का, कई अंशों की पूर्ति कर, उचित परिबृंहण किया है। वैदिक गाथा का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—प्रजापति ने अपनी दुहिता का धर्षण किया (ऋग्वेद[१]), प्रजापति ने अपनी दुहिता का अनुगमन किया (ऐतरेय[२]), जिसका समर्थन शतपथ[३] ब्राह्मण करता है। अथर्ववेद[४] एक पग आगे बढ़कर कहता है—पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया। इसी की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण[५] करता है कि प्रजापति आरम्भ में अकेला था। वाक् (सरस्वती) दूसरी थी। ये दोनों मिथुन बने। तब वह वाक् गर्भवती हुई। इन उद्धरणों से कथानक का संक्षिप्त रूप स्पष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवत (२।१२।२८–३३) में ब्रह्मा-सरस्वती का यह प्रसंग ठीक इसी रूप में वर्णित है। 'काम के वशीभूत होकर स्वयम्भू ने कामनाहीन 'वाक्' नाम्नी अपनी पुत्री को चाहा'—ऐसा हमने सुन रखा है। अपने पिता को इस अधर्म कार्य में कृतमति देखकर मरीचि आदि पुत्रों ने उन्हें समझाया—'आजतक किसी ने भी ऐसा जघन्य कार्य नहीं किया है और आगे भी कोई ऐसा कार्य न करेगा। अतः आपको भी ऐसे कार्य में आसक्ति रखना नितान्त अनुचित और अधार्मिक है।' पुत्रों को इस प्रकार कहते हुए देखकर प्रजापति ने लज्जित होकर अपने शरीर का त्याग कर दिया।

दोनों कथाओं का ठीक एक ही आकार है। भागवत ने एक बात और भी जोड़ दी है कि अधर्म के प्रति अपनी अभिरुचि देखकर तथा अपने ही पुत्रों द्वारा अपमानित किये जाने पर प्रजापति ने अपना वह शरीर त्याग दिया। यह उचित प्रायश्चित्त है। इसका निर्देश मूल गाथा में नहीं है।

इस कथा के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है, जिसके न जानने से ही कथा में अश्लीलता तथा अनाचार की अभिव्यक्ति हो रही है। उसका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है :—

---

१. प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन् (ऋग्वेद, १०।६१।७)

२. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् (ऐतरेय, ३।३३)

३. प्रजापतिः स्वां दुहितरंभिदध्यौ (शत०, १।७।४।१)

४. पिता दुहितुगर्भमाधात् (अथर्व०, ९।१०।१२)

५. प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाक् द्वितीयासीत्। तां मिथुनं समभवत्। सा गर्भमाधत्त (ताण्ड्य०, २०।१४।१)

(क) वैज्ञानिक तथ्य

प्रजाओं के पालन करने के कारण सूर्य ही प्रजापति है। यह प्रतिदिन का दृश्य है कि प्राची क्षितिज पर उषा का आगमन पहिले होता है और सूर्य का आगमन उसके पीछे होता है। सूर्य के आगमन होने पर उषा का जन्म होता है और इसलिए वह उसकी दुहिता कही गयी है। उषा में सूर्य अपने अरुण किरणों का सन्निवेश कर दिवस रूपी पुत्र को उत्पन्न करता है। अरुण किरण रूपी बीज के निक्षेप के कारण ही दोनों में स्त्रीपुरुष का उपचार किया गया है। इस प्रकार सूर्य और उषा का दैनन्दिन व्यवहार यहाँ ब्रह्मादुहितृ रूप में चर्चित किया गया है। उषा का सूर्य द्वारा अनुगमन पुत्री का पिता द्वारा अनुगमन माना गया है तथा अरुण किरणों को बिखेरकर दिन की उत्पत्ति वीर्याधान की व्याख्या है। यही वैज्ञानिक तथ्य इस कथा के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। 'परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विषः' की शैली के आधार पर प्रत्यक्ष दृश्य घटना का यह परोक्ष संकेत है।[1]

श्रीमद्भागवत ने इस कथानक के वर्णन में इस संकेत की संक्षेप में अभिव्यक्ति की है। 'वाचं दुहितरं तन्वीम्' में 'तन्वी' शब्द का प्रयोग व्यञ्जना से प्रकट करता है कि यह दुहिता कोई स्थूल शरीरवाली न होकर सूक्ष्म शरीरिणी है तथा निषेद्धा मानसपुत्रों में 'मरीचि' ऋषि का उल्लेख प्रकारान्तर से 'किरण' का भी बोधन करता है। इस प्रकार भागवत सूर्य-उषापरक तात्पर्य को संकेत द्वारा प्रकट करता है।

(ख) आध्यात्मिक रहस्य

वेदों में मन की ही संज्ञा 'प्रजापति' है तथा 'वाक्' की संज्ञा सरस्वती है। यत् प्रजापतिस्तन्मनः (जैमिनिउप० १।३३।२) तथा वाग् वै सरस्वती (कौषीतकि ५।१) मन की सत्ता वाणी से पूर्ववर्तिनी होती है। मनुष्य जो भी प्रथमतः संकल्प करता है, उसे ही वह वाणी द्वारा प्रकट करता है। मन की सत्ता पहले है तथा वाणी की स्थिति उसके अनन्तर है। इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण मन पिता (प्रजापति) कहा गया है और वाक् दुहिता। जब मनरूपी पिता वाणीरूपी अपनी पुत्री में प्रेरणा रूपी वीर्य का आधान

---

१. इस व्याख्या का बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है—प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरम् (ताण्ड्य ब्रा० ८।२।१०) जिसका पल्लवन कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक में किया है,—प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारात् आदित्य एवोच्यते। स च अरुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा च तदागमनादेवोपजायते इति तद्–दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। —तन्त्रवार्तिक १।३।७

करता है, तब शब्दरूपी पुत्री का जन्म होता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का आविष्करण इस कथा के मूल में वर्तमान है। इस अर्थ की सूचना ब्रह्म-वैवर्तपुराण के किन्हीं श्लोकों द्वारा मिलती है।

(ग) आधिदैविक तथ्य

आधिदैविक स्तर पर भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों के समान ही पौराणिक कथाओं की भी व्याख्या तीनों स्तरों को दृष्टि में रख कर की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों की इस त्रिविध व्याख्या का मार्ग यास्क ने अपने निरुक्त में पूर्व ही प्रशस्त कर दिया है। उसी प्रक्रिया का प्रयोग पौराणिक कथानकों की व्याख्या के निमित्त भी करना चाहिये। आधिदैविक रूप में भी यह कथानक एक सारगर्भित तथ्य की अभिव्यञ्जना करता है। वह तथ्य वैदिक ग्रन्थों तथा स्मृतिग्रन्थों में स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट किया गया है। सृष्टि के अवसर पर ब्रह्माजी ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर डाला। उसका वामभाग तो स्त्रीरूप हो गया तथा दक्षिणभाग पुरुष बना[1] और इन दोनों के संयोग से ही सारी सृष्टि—मनुष्य, पशु, गाय, अश्व आदि की उत्पत्ति हुई। शतपथ के एक अंश (१४।३।४।३) में इसका विवरण बड़े विस्तार से दिया गया है तथा मानव-पशु सृष्टि की प्रक्रिया बड़े सुन्दर ढंग से दिखलायी गयी है। फलतः ब्रह्मावाली यह कथा इसी आदिम सृष्टि रहस्य की प्रतिपादिका है।[2]

व्यावहारिक दृष्टि से भी इसकी पर्यालोचना करने पर इसमें अधर्म की बात कहीं नहीं खटकती। इस अधार्मिक कृत्य की निन्दा तब उचित होती, जब इसका कर्ता बिना दण्डित हुए रह जाता, प्रायश्चित्त किये बिना जीवित बच जाता। वह तो हुआ नहीं। लोक के स्रष्टा होने पर भी ब्रह्मा को इसका

---

१. मनुस्मृति में भी यह रहस्य उद्घाटित है—

द्विधाकृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत् प्रभुः॥

—मनु०, १।३२

२. इन रहस्यों के अज्ञान के कारण ही पुराणों पर अनेक घृणित दोषों का आरोप किया जाता है। इनके समाधान के लिए द्रष्टव्य पण्डित माधवाचार्य शास्त्री रचित 'पुराण दिग्दर्शन' (तृतीय सं०, प्रकाशक माधव पुस्तकालय, देहली, पृष्ठ ४१०–७२०)। ऊपर की कई व्याख्याओं के लिए लेखक इस ग्रन्थ का विशेष ऋणी है तथा शास्त्रीजी को अपना आभार प्रदर्शित करता है।

दण्ड भोगना पड़ा और वह उग्र दण्ड था अपने प्रिय प्राणों का भी धर्मवेदी पर समर्पण अर्थात् उनका त्याग—

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ॥

—भाग०, ३।१२।३३

इस प्रकार नाना दृष्टियों से विचार करने से इस बहुशः चर्चित तथा अनेकशः निन्दित कथा का मूल रहस्य सातिशय गम्भीर तथा गौरवशाली है। उसी रहस्य की पीठिका पर आश्रित होने से यह कथा सारवती तथा महिमान्वित है। इस प्रकार पुराणों ने वैदिक प्रतीकों का सरल-सुबोध तथा सहेतुक व्याख्यान प्रस्तुत कर उन्हें जनसाधारण के लिए ग्राह्य तथा आदरणीय बनाया है। यहाँ भी वेदार्थ का समुपबृंहण नाना दृष्टियों से चरितार्थ होता है।

परिशिष्ट

वेद, इतिहास तथा पुराण में नाचिकेतोपाख्यान

विद्वानों से यह बात सुपरिचित है कि वेदों में नाना प्रकार के भौतिक विषयों से सम्वद्ध आध्यात्मिक कहानियाँ मिलती हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में कहीं ये कहानियाँ कुछ विस्तार के साथ, तो कहीं संक्षेप रूप में उपलव्ध होती हैं। कहीं तो अपने मूल अभिप्राय में ही ये उपलब्ध होती हैं, पर कहीं अभिप्राय भी वदल जाता है। इन आख्यानों का यदि अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस आख्यान का मूल रूप क्या है तथा किस प्रकार वह विकसित हुआ है।

वेद में नाचिकेतोपाख्यान

यह बात सुविदित है कि यह आख्यान वैदिक है। किन्तु यह आख्यान वेद की किसी मन्त्रसंहिता में उपलब्ध नहीं होता। सम्प्रति यह कथा **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** (३।११।८), **कठोपनिषद्** प्रथम अध्याय, **महाभारत** (अनुशासन पर्व, ७१वाँ अ०), **वराहपुराण** (अ० १९३–२१३) में मिलती है। इस कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन तत्तत् स्थलों पर इस कथा का अभिप्राय एक ही नहीं रहा है। यहाँ हम इसका विवेचन करेंगे।

मन्त्र-संहिता में यह आख्यान नहीं है, इस कथन का प्रामाणिक विवेचन अपेक्षित है। ऋग्वेद १०।१३५ के देवता यम हैं तथा यमगोत्र कुमार ऋषि हैं। यह बात अनुक्रमणी से स्पष्ट है—**"यस्मिन्कुमारो यामायनो याममानुष्टुभं तु"**। इस यमगोत्र कुमार को सायणाचार्य नचिकेता ही बताते हैं। किन्तु सूक्त के मन्त्राक्षरों से यह कथा अनिर्दिष्ट है तथा सन्दर्भ से भी इसकी सम्पुष्टि नहीं होती। जैसे—

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥

ऋग्वेद, १०।१३५।१

सूक्त का यह आद्य मन्त्र है। यद्यपि इस मन्त्र का सायणभाष्य नाचिकेतोपाख्यानपरक है, तथापि विद्वज्जनों को यह अभिमत नहीं। इस मन्त्र में 'नः' यह बहुवचन पद व्यत्यय से एकवचनान्त कर दिया गया है। 'विश्पति' शब्द 'विशां प्रजानां पतिः पालकः' इस विग्रह से प्रजापालक के अर्थ में बहुशः प्रयुक्त होता है। चतुर्थ चरण की व्याख्या है—पुराणान् पुरातनान् अनु पश्चात् तत्समीपे निवसत्वयमिति वेनति मां कामयते मम नचिकेतसो जनकः

अर्थात् मेरा पिता चाहता है कि मैं पूर्वजों के समीप निवास करूँ। मूलमन्त्र में 'वेनति' क्रियापद का कोई कर्म दिखाई नहीं पड़ता। 'माम्' पद का उपन्यास भाष्यकार ने किया है अतः उपर्युक्त व्याख्या समीचीन नहीं लगती। स्वयं आचार्य सायण भी उपर्युक्त व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुए और वे 'यथा वेति' वचन से इस सूक्त को सामान्य ऋषिपरक बताते हैं।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में नाचिकेतोपाख्यान

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड, एकादश प्रपाठक, अष्टम अनुवाक् में यह कथा मिलती है और वहाँ यह कथा प्रसङ्गप्राप्त है। सातवें अनुवाक् में पक्ष्याकारवायुदेवताविषयक नाचिकेताग्नि की उपासना तथा फलस्वरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गयी है। यह कैसे प्राप्त होती है, इसी प्रश्न के समाधान के अवसर पर इस आख्यान का उपन्यास हुआ है। इस आख्यान का विषय संक्षेप में इस प्रकार है :—

वाजश्रवा नामक ऋषि ने सर्वस्व दक्षिणावाले विश्वजिदादि याग के द्वारा उसके फल की इच्छा से यागमध्य में ऋत्विजों को सर्वस्व दान कर दिया। उस ऋषि के नचिकेता नामक पुत्र थे। उस समय नचिकेता की आयु उपनयन के योग्य थी। दक्षिणा में जिस समय गायें ले जायी जा रही थीं, उस समय नचिकेता के मन में दानविषयक श्रद्धा आविर्भूत हुई। उसने सोचा कि इस याग में तो यजमान को सर्वस्व देना चाहिए और मैं भी अपने पिता की ही वस्तु हूँ। यह विचार उसने पिता से तीन बार पूछा कि मुझे किसे दे रहे हैं? पुत्र के इस आग्रह से पिता क्षुब्ध हो गये और कह दिया मृत्यु को तुझे देता हूँ। बालक नचिकेता पिता की इस अप्रत्याशित आज्ञा से किञ्चित् विस्मित हो गया। इसी समय दैवीवाक् ने कहा—'पिता ने तुझे मृत्यु को दे दिया। अतः तुम्हें मृत्यु के पास जाना चाहिए। यम के प्रवासी रहने पर जाओ, तीन रात विना भोजन किये उनके घर रहो। जब लौटने पर यम पूछें कि कितनी रातें वहाँ रहे हो तो तीन रातें बताना। भोजन-विषयक प्रश्न किये जाने पर कहना कि पहली रात उपवास करके तुमने उनकी प्रजाओं का भक्षण किया, दूसरी रात में उनके पशुओं का भक्षण किया, तीसरी रात्रि में उनके सुकृतों का भक्षण किया।' दैवीवाक् से इस प्रकार आदिष्ट नचिकेता ने इसी प्रकार किया।

नचिकेता के इस शास्त्रमर्मानुसारी वचन से यम का हृदय द्रवित हो गया, वे उस बालक के प्रति आकृष्ट हो गये और निश्चय किया कि यह तो सत्कारार्ह है, मारणीय नहीं। उन्होंने कह दिया, वर माँगो। नचिकेता ने चट तीन वर माँग लिये। १. तुम्हारे द्वारा मारा न जाकर जीवित ही पिताजी के पास चला जाऊँ, २. मेरे इष्टापूर्त, श्रौतस्मार्तसुकृत की रक्षा हो और ३. पुनर्जन्म-

निवारण के साधन-विषयक जिज्ञासा। यम ने तीनों वरों को तुरन्त दे दिया। प्रथम वर तो यम के बिना कुछ किये ही प्राप्त हो गया। द्वितीय वर की पूर्ति के लिए नाचिकेत अग्नि का विस्तृत उपदेश किया और तीसरे वर में भी पुनः नाचिकेताग्नि-विद्या का उपदेश किया। एक अग्नि विद्या से ही दो फलों की सिद्धि कैसे हो सकती है, इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है :—

"चयन और उपासना में जिस व्यक्ति की चयन की प्रधानता और उपासना की गौणता होती है, उसकी इष्टापूर्ति अक्षय होती है, वह चिरकाल तक पुण्यलोक का अनुभव कर पुनर्जन्म स्वीकार करता है। जिसका उपासना प्रधान होता है और चयन गौण, उसकी ब्रह्मलोक प्राप्ति के द्वारा मुक्ति हो जाती है, जन्मान्तर नहीं होता।"

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणभाष्य, पृ० १३८३, आनन्दा० सं० सी०)

भाष्यकार का आशय यह है—दो वर की प्रार्थना में एक भी अग्निविद्या का उपदेश फलभेद से दो प्रकार से उपकारक है। होमाग्नि उपासना में अग्निचयन शब्द से विशिष्ट आकारवाली ईंटों से वेदी की रचना, तदनन्तर अग्नि की स्थापना और यज्ञीय साधनों से होमविधान ये सभी आदिष्ट हैं। वह्नि की देवतारूप में उपासना और यजमान का उसमें मनोनिवेश यह परवर्ती विधि है। इसमें प्रथम से तो इष्टापूर्त की अक्षीणता निष्पन्न होती है और दूसरे से मृत्यु का अपक्षय होता है, यही सायणाचार्य का अभिमत है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणगत आख्यान का यह संक्षेप है।

कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान

कठोपनिषद् का आख्यान लोक में नितान्त प्रसिद्ध है। वह आख्यान भी तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही है, यद्यपि कुछ विस्तृत रूप में मिलता है। दोनों कथाओं में कुछ भेद है, जिसमें कठोपनिषद् में जो नवीनता है, उसका यहाँ निदर्शन किया जाता है :—

(क) दक्षिणा में ले जायी जाती हुई गायों की कृशता ही नचिकेता के पिता से प्रश्न का कारण है। क्योंकि :—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥

—कठ०, १।१।३

निरिन्द्रिय गायों का दान आनन्दरहित तथा दुःखदायी लोकों को प्राप्त कराता है, यही विचार कर नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से अपने दान के लिए पूछता है।

(ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण में अशरीरिणी वाक् का सद्भाव है, जो नचिकेता को भावी कार्य को करने का उपदेश करती है। कठोपनिषद् में इसका संकेत भी नहीं है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में दैवी वाणी के उपदेश से ही नचिकेता अपने कार्य के यथोचित सम्पादन में समर्थ हुआ। कठोपनिषद् में दैवी वाणी का अभाव नचिकेता की तेजस्विता और अन्तःसत्त्व को सद्यः प्रकाशित कर देता है। दैवी वाणी के विना उपदेश के ही कुशाग्र बुद्धि, असामान्य सत्त्व तथा दृढ़निश्चयी नचिकेता सभी कार्यों को उसी भाँति निष्पन्न करता है, यह उसके चारित्र्य के प्रागल्भ्य का परिचायक है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ में यम द्वारा बताये भौतिक वैभवविलास के प्रलोभन का संकेत भी नहीं है। पर, उपनिषद् में वह प्रलोभन नितान्त हृदयहारी है—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्च्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥

—कठ०, १।१।२५

इन प्रलोभनों से नचिकेता अपने निश्चय से जरा भी नहीं डिगा, यह उसकी प्रगल्भता और दृढ़ता का परिचायक है।

(ग) दूसरा पार्थक्य भी स्पष्ट ही है। दो ग्रन्थों में वरों की संख्या बराबर है—कठोपनिषद् में भी तीन वर ही हैं। पर प्रथम दो वरों में भेद न होने पर भी तीसरे वर के स्वरूप में बड़ा भेद है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण ने कर्म-काण्ड के अनुरूप याज्ञिक सरणि का अनुसरण कर पुनर्मृत्यु-निवारण के लिए नाचिकेताग्नि का उपदेश नितान्त समीचीन है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ में तो याग का ही प्राधान्य है। उपनिषद् में आध्यात्मिक उत्तर है। अतः ज्ञानकाण्ड-परक कठोपनिषद् में आध्यात्मिक उत्तर सुतरां संगत है।

अतः ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ में तात्पर्य में समानता होने पर भी उपदेश की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है।

इतिहास में नाचिकेतोपाख्यान

महाभारत, अनुशासनपर्व के ७१वें अध्याय में समग्र नाचिकेतोपाख्यान प्राचीन इतिहास के रूप में वर्णित है। नचिकेता के पिता उद्दालक ऋषि ने दीक्षा के समाप्त होने पर नचिकेता को नदी तीर से समिधा, दर्भ, पुष्प, कलश-

जल लेने के लिए भेजा। किन्तु नदी के वेग से सब कुछ बह गया था, अतः लौटकर बालक नचिकेता ने पिता से कह दिया कि उसे वहाँ कुछ दिखाई नहीं पड़ा। यह सुन भूख प्यास से आर्त ऋषि ने नचिकेता को शाप दे दिया–यम के पास जा। ऋषि के इस अतर्कित वाग्वज्र से आहत नचिकेता गतसत्त्व होकर सद्यः भूलुण्ठित हो गया। दुःखित पिता ने शेष दिन तथा रात को अत्यन्त दुःखी होकर बिताया।

पिता के अश्रु से सिक्त नचिकेता पुनः उठ बैठा। आश्चर्यचकित पिता ने नचिकेता से यमपुरी का वृत्तान्त पूछा। नचिकेता ने कहा—अत्यन्त प्रकाशमान वैवस्वती सभा में जाने पर यम ने अर्घ्यादि से मेरा स्वागत किया और कहा कि तुम्हारे पिता ने केवल यमपुरी देखने के लिए कहा है, अतः तुम मरे नहीं हो। मैंने उनसे पुण्यवानों के लोक देखने की इच्छा प्रकट की, जिसे उन्होंने दिखाया। दूध और घी से भरी नदियों को देखकर मैंने यम से पूछा—

> क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः।
> शश्वत् स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः॥

अर्थात् दूध और घी से भरी ये नदियाँ किसकी भोज्य हैं? यम ने कहा—

> यमोऽब्रवीद् विद्धि भोज्यास्त्वमेता
> ये दातारः साधवो गोरसानाम्।
> अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः
> समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम्॥

—महा०, अनु०, ७१।२९

यम ने गोदान की प्रभूत प्रशंसा की। गोदान के प्रसंग में पात्र, काल और गोविशेष की भी महिमा वर्णित है। शोभन समय में, शोभन विधि से, शोभन पात्र को दी गयी गौ दाता को अनन्त दिव्य लोकों को देती है। हीन और पुरानी गौ देने पर दाता को नरक ही देती है—

> दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां
> कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
> यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
> स्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ ३३॥

यह पद्य गोदान की प्रशंसा करता है। गौओं के साथ मानवों का प्रेम सदा से रहा है। इसका प्रतिपादक यह श्लोक देखिए—

> गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो
> गावश्चान्नं सञ्जनयन्ति लोके।

यस्तं जानन् न गवां हार्दमेति
स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥

—(महाभा० अनु०, ७१)

इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्याय में वैवस्वत यम ने गोदान का गौरव बताया है।

विवेचन

यहाँ महाभारयीय नाचिकेत कथा का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। ७१ वें अध्याय से पूर्व ही गोदान का प्रसङ्गोपात्त वर्णन है। अनुशासन पर्व अध्याय ६९ में गोदान का माहात्म्य सामान्यतः वर्णित है। ७०वें अध्याय में नृग राजा के गोदानजन्य कीर्ति का वर्णन है (नृग का वर्णन श्रीमद्भागवत १०।६४ में विशेष रूप से है)। तदनन्तर गोदान की दृढ़ता से महत्त्वस्थापन के लिए प्रसङ्गोपात्त ७१वाँ अध्याय आता है। वहाँ 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्' अर्थात् (इस विषय में यह पुराना आख्यान है) कहकर नचिकेता की कथा संक्षेप में वर्णित है। क्योंकि कथा संक्षेप में वर्णित है अतः कई कथांशों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं होता। जैसे:—

(१) नचिकेता के अल्पापराध से ऋषि उद्दालक का शाप अनुचित प्रतीत होता है। ऋषि ने नचिकेता को नदी-तीर से इध्मादि के आहरण के लिए कहा। नदी वेग से तत्तत् पदार्थों के वह जाने से नचिकेता उन्हें न ला सका अतः उसका इसमें कोई अपराध नहीं। इस प्रकार इस कथा में यह अनौचित्य दिखाई पड़ता है।

(२) कठोपनिषद् में वर्णित इस कथा में पिता द्वारा निरिन्द्रिय गायों के दान को देखकर नचिकेता का हृदय दुःखित हो उठा, अतः उसने स्पष्ट इसका प्रतिरोध किया। इस प्रकार उपनिषद् में नचिकेता ने गोदान के उचित नियम का प्रतिपादन कर अपने ऊपर विपत्ति ली। यहाँ उसके हृदय की उत्कट गोभक्ति का परिचय मिलता है। स्वर्ग में गोदानकर्ताओं को उत्तम गति मिलती है; इस महाभारतीय कथा का औपनिषदिक कथा से सामञ्जस्य होता है। किन्तु महाभारत में इस कथांश का निर्देश नहीं अतः वहाँ पूर्वोत्तर के कथांश में असामञ्जस्य खटकता है।

पौराणिक नाचिकेतोपाख्यान

वराहपुराण में अध्याय १९३ से २१२ तक नाचिकेतोपाख्यान वर्णित है। वहाँ इस कथा को 'पुरावृत्ता कथैषा' कहा गया है, जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। वहाँ इस आख्यान की महिमा भी वर्णित है :—

श्रृणु राजन् पुरावृत्तां कथां परमशोभनाम् ।
धर्मवृद्धिकरीं नित्यां यशस्यां कीर्तिवर्धिनीम् ॥
पावनीं सर्वपापानां प्रवृत्तौ कीर्तिवर्धिनीम् ।
इतिहासपुराणानां कथां वै विदुषां प्रियाम् ॥

—वराहपुराण, १९३।१०-११

२१२ वें अध्याय के अन्त में कथा-समाप्ति के अवसर पर भी इसका महत्त्व प्रतिपादित है :—

इदं तु परमाख्यानं भगवद् भक्तिकारकम् ।
श्रृणुयाच्छ्रावयेद् वापि सर्वकामानवाप्नुयात् ॥

—वराह०, २१२।२०-२१

यहाँ कथा अत्यन्त संक्षिप्त रूप से वर्णित है। कथा का स्वरूप इस प्रकार है :—

उद्दालक नामक कोई प्रसिद्ध ऋषि थे, जो समस्त वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत थे। उनके पुत्र नचिकेता हुए और वे भी अत्यन्त बुद्धिमान् तथा समस्त वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत थे। पिता ने रुष्ट होकर पुत्र को शाप दिया—'जाओ शीघ्र यम को देखो'। योगविधि के ज्ञाता पुत्र ने पिता से कहा—'आप का वचन मिथ्या न हो इसलिए मैं शीघ्र ही धर्मराज की पुरी में जाऊँगा। यम का दर्शन कर निस्सन्देह यहाँ पुनः आ जाऊँगा।' क्रोध में ऋषि ने नचिकेता को शाप तो दे दिया पर पीछे उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ, अतः उन्होंने पुत्र को यमपुरी जाने से बहुत रोका। किन्तु नचिकेता ने भावी पुत्रनाश की आशङ्का से सन्त्रस्त पिता को सत्यमार्ग से विचलित देखकर उन्हें सत्यमार्ग से न हटने के लिए बहुत प्रयत्न किया। सत्य की महिमा के प्रतिपादिक ये श्लोक अत्यन्त उदात्त हैं :—

उदधिलङ्घयेन्नैव मर्यादां सत्यपालितः
मन्त्रः प्रयुक्तः सत्येन सर्वलोकहिताय ते ॥
सत्येन यज्ञा वर्तन्ते मन्त्रपूताः सुपूजिताः ।
सत्येन वेदा गायन्ति सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥
सत्यं गाति तथा साम सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्यं स्वर्गश्च धर्मश्च सत्यादन्यन्न विद्यते ।
सत्येन सर्वं लभते यथा तात मया श्रुतम् ।
न हि सत्यमतिक्रम्य विद्यते किञ्चिदुत्तमम् ॥

—वराहपुराण, १९३।३८-४१

पिता को अपने धर्म पर स्थिर कर नचिकेता उस परम स्थान पर गया, जहाँ राजा यम रहते हैं। उन्होंने बालक को आया देख यथाविधि अर्चना कर तुरन्त लौटा दिया—

अर्चितस्तु यथान्यायं दृष्ट्वैव तु विसर्जितः ॥

नचिकेता वहाँ से लौटकर अपने पिता को आनन्दित करते हुए अपने आश्रम में आया। पुत्र को लौटा देख अपने भाग्य की उद्दालक प्रशंसा करने लगे और परलोक की कथा सुनने की इच्छावाले अन्य ऋषि-मुनियों को बुला लिया। आश्रम में इकट्ठे उन लोगों ने यमलोक-विषयक अनेक कौतूहलोत्पादक प्रश्नों को पूछा (अ० १९४)। यहाँ से लेकर २१२ अध्याय तक नचिकेता ने उन लोगों के प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। परलोक-विषयक जिज्ञासुओं के लिए ये अध्याय उपयोगी हैं, तथा उन्हें इसका आलोडन करना चाहिये। १९५वें अध्याय में यमलोकस्थ पापियों और १९६ में धर्मराज की नगरी का विस्तृत वर्णन है, जहाँ 'पुष्पोदका' नामक नदी बहती है। उसके तट पर ऊँचे प्रासाद हैं, जो दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेते हैं।

१९८ अध्याय में यमकृत नचिकेता की अभ्यर्थना वर्णित है। कुशास्तृत, पुष्पोपशोभित स्वर्ण आसन पर यम की आज्ञा से नचिकेता बैठे। यम का रौद्र-मुख उस समय सौम्य हो गया। बालक नचिकेता ने उनकी प्रशस्त स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर यम ने उन्हें चित्रगुप्त के पास भेजा। नचिकेता को चित्रगुप्त ने विविध नरक यातनाओं का दर्शन कराया। इन सबका नचिकेता ने अपने पिता के सामने यथावत वर्णन किया।

विवेचन

वराहपुराण में दी हुई कथा के विवेचन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है :—

(क) वराहपुराण में यह कथा 'पुरावृत्ता' कही गयी है। इससे यह द्योतित होता है कि यह कथा प्राचीन है, तथा यह अनुमान होता है कि यह कथा वैदिक है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुराण-काल में यह कथा विस्मृतप्राय हो गयी थी।

(ख) ऋषि उद्दालक के क्रोध का कारण न देने से यहाँ कथा की नैसर्गिकता में बाधा आती है। किसी के भी क्रोध का हेतु होना चाहिये, उसके न होने से अनौचित्य प्रतीत होता है।

भावी पुत्रवियोग की आशंका से उद्दालक का पश्चात्ताप, उद्वेग, सत्य से

प्रच्युति पाठकों को उद्विग्न कर देती है। ऋषि के हृदय में जिस दृढ़ता की अपेक्षा होती है, उसकी कमी देखकर पाठकों का मन दुःखी होता है।

(ग) पुराणकार को अभीष्ट प्रतीत होता है यमलोक के वृत्तान्त, पुण्य कर्मों के परिपाक और पापियों की नरकयातना का वर्णन। इसी उद्‌देश्य से प्राचीन नाचिकेत कथा यहाँ निर्दिष्ट है। साक्षात् देखी हुई वस्तु के वर्णन में जितनी श्रद्धा होती है, उतनी सुनी हुई वस्तु के वर्णन में नहीं। इस विषय में नचिकेता की कथा नितान्त उचित प्रतीत होती है। पिता के शापवश नचिकेता ने स्वर्ग तथा नरक की गतियों का साक्षात् अवलोकन किया—इस वैदिक कथा को पुराणकार ने साग्रह तथा साभिप्राय यहाँ उपनिबद्ध किया है। दृष्ट वस्तु में श्रुत की अपेक्षा अधिक विश्वास जमता है। यही विचार कर नाचिकेत कथा पुराण में उपनिबद्ध है। कथा की प्राचीनता, प्रामाणिकता और विषयोपकारिता स्पष्ट है। समस्त स्थानों पर जहाँ यह आख्यान है, मुनिबालक का नाम नचिकेता या नाचिकेत है।

नासिकेतोपाख्यान

उपर्युक्त पौराणिक कथा से कुछ सम्बद्ध, यद्यपि अनेक भिन्नताएँ वर्तमान हैं, एक नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तक उपलब्ध होती है। इसके कई हस्तलेख मिले हैं तथा कहीं से प्रकाशित भी हुई है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर इस कथा का उपन्यास किया जाता हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कह देना उचित है कि नासिकेतोपाख्यान की कथा नाचिकेतोपाख्यान से सुतरां भिन्न है। इस आख्यान में कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत महर्षि उद्दालक अपने आश्रम में उग्र तप कर रहे थे, तभी वहाँ पिप्पलाद नामक ऋषि आये। उन्होंने गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की तथा पुत्रप्राप्ति की महत्ता वर्णित करते हुए कहा—

> कुलानि तारयेत् तस्य सुपुत्रो वंशवर्धनः।
> अपुत्रस्य गृहं शून्यमपुत्रेण गृहेण किम्।
> अपुत्रो वंशनाशोऽस्ति श्रुतिरेषा सनातनी॥

मुनि अपने भाग्य को पूछने स्वर्गलोक में चले गये, जहाँ प्रजापति ने उन्हें बताया कि पहले तो तुम्हें पुत्रलाभ होगा, फिर पत्नी मिलेगी। आश्रम में लौटकर मुनि विषय की चिन्ता करने लगे और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसे उन्होंने कमल के पुष्प में रखकर गंगा नदी में छोड़ दिया। दैवयोग से किसी रघु नामक राजा की चन्द्रावती नामक लड़की थी, जो उसी समय गंगा-

स्नान के लिए गयी और उसने उस कमलपुष्प को देखा। सखियाँ उस फूल को उठा लायीं और राजकुमारी ने उसे सूँघ लिया। उद्दालक के अमोघ वीर्य से उसे गर्भ हो गया और दसवें महीने उसने नासाग्र से एक पुत्र उत्पन्न किया। नासाग्र से उत्पन्न होने से उसका नाम नासिकेतु या नासिकेत पड़ा—

नासाग्रेण समुत्पन्न ऋषिर्नाम तवाकरोत्।
नासिकेत इति ज्ञात्वा मम प्रोक्तं महात्मना॥

इस पुत्र को अन्याय से प्राप्त जानकर उस कन्या ने काष्ठ मञ्जूषा में रखवा कर सखियों द्वारा गंगा जल में फेंकवा दिया। उस राजकुमारी के पिता को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने अनर्थ की आशङ्का से उस लड़की को जंगल में छोड़वा दिया। काष्ठमंजूषा में बहते बालक को उद्दालक के शिष्य ने देखा और उसे उठा लाया। ऋषि ने उसका पालन-पोषण किया। चन्द्रावती भी उनके आश्रम पर पहुँची और अपना समस्त पूर्व वृत्तान्त बताया—

आगतं पद्मपुटकं दर्भेण परिवेष्टितम्।
तस्मिन्नाघ्रातमात्रेण जातं गर्भस्य धारणम्॥—४।४१

ऋषि को सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। उन्होंने रघु से जाकर समस्त समाचार निवेदन किया और नासिकेत को पुत्र रूप में तथा तदनन्तर चन्द्रावती को पत्नीरूप में ग्रहण किया। इस प्रकार प्रजापति द्वारा कही बात हो गयी।

किसी समय पिता ने नासिकेत को अग्निहोत्र की सामग्री लाने के लिए वन में भेजा। नासिकेत वन के किसी रमणीय भाग में जाकर समाधिस्थ हो गये और आधा वर्ष बीत गया। आने पर अग्निहोत्र में प्रत्यवाय की आशङ्का कर पिता उद्दालक ने नितान्त आक्रोश प्रकट किया। नासिकेत ने अग्निहोत्र की निन्दा कर योगविधि की प्रशंसा की—

अग्निहोत्रमिदं तात संसारस्य तु बन्धनम्।
जन्ममृत्युमहामोहे संसारे तव न ध्रुवम्॥
योगाभ्यासात् परं नास्ति संसारार्णवतारणम्॥

उसकी बात सुनकर क्रुद्ध पिता ने तुरन्त शाप दिया—

उवाच गच्छ शीघ्रं त्वं यमं पश्य सुताधम॥

अर्थात् तुम शीघ्र यम का मुख देखो।

नासिकेत ने यमलोक में जाकर यम की आज्ञा तथा चित्रगुप्त के अनुग्रह से यमलोक की यातनाओं तथा सुखों को स्वयं देखा। यमलोक से लौटने पर जब मुनियों ने उससे यमलोक का वृत्तान्त पूछा तो नासिकेत ने सभी बता दिया—

इत्यादि सर्वमाख्यातं तत्र दृष्टं मुनीश्वराः।
सन्देहो नात्र कर्तव्यः सर्वप्रत्ययदर्शनात्॥१७।२९

इस ग्रन्थ की हस्तप्रतियों का अवलोकन करने पर इसके दो पाठ दिखाई पड़ते है—(१) बृहत्पाठ और (२) लघुपाठ। इसकी बहुत-सी हस्तप्रतियाँ उपलब्ध हैं। लघुपाठवाले आख्यान का १८०३ ई० में सदल मिश्र ने कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया, जो हिन्दी के आरम्भिक ग्रन्थों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इसे प्रकाशित किया है।[1]

नाचिकेतोपाख्यान-विमर्श

वेद, इतिहास तथा पुराण में उपलब्ध नाचिकेतोपाख्यान का संक्षिप्त विमर्श यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:—

(१) ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ में ऋषिबालक का नाम नचिकेतस् या नचिकेता है; इतिहासपुराण में नाचिकेत है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् में पिता का नाम वाजिश्रवस है। फिर कठोपनिषद् में 'औद्दालकिरारुणिः मत्प्रसिष्टः' में आरुणि को औद्दालकि भी कहा गया है। शाङ्करभाष्य में 'उद्दालक एवं औद्दालकिः' है अतः उसके पिता का उद्दालक भी नाम परिचित प्रतीत होता है। पुराण और महाभारत में उद्दालक या उद्दालकि ही नाम है।

(२) यह उपाख्यान वैदिक ही है। यह आख्यान सर्वप्रथम तैत्तिरीय-ब्राह्मण में दिखाई पड़ता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण ही इसका मूल है। पर यह अनुमान किया जा सकता है कि मूलतः यह आख्यायिका कठशाखा के अध्येताओं में ही प्रचलित थी। इस अनुमान का समर्थक यह प्रमाण है; तैत्तिरीय ब्राह्मण के मूल प्रपाठकों में स्वर्ग शब्द का उच्चारण 'सुवर्ग' है, यथा—

> अपदातीनृत्विजः समावहन्त्या सुब्रह्मण्यायाः।
> सुवर्गस्य लोकस्य समष्टयै।
> वाचं यत्वोपवसित—सुवर्गस्य लोकस्य गुप्त्यै॥
>
> —तैत्तिरीय ब्रा०, ३।८।१

किन्तु ११वें प्रपाठक से आरम्भ कर तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्त तक यह बहुप्रचलित पद्धति उलट जाती है। यहाँ सुवर्ग शब्द स्वर्ग हो जाता है, यथा—

यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरं वेद, सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति। हिरण्यं वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरम्। य एवं वेद। सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण, प्रपाठक ११, अनुवाक् ७।

---

१. नासिकेतोपाख्यान की हस्तलिखित प्रतियों के विषय में विस्तृत विमर्श के लिए देखिये, काशिराजन्यास, रामनगर की पुराण पत्रिका (६।२) में मेरा एतद्विषयक निबन्ध।—पृ० ३९५-९६।

अतः यह अनुमान होता है कि ये दोनों प्रपाठक किसी दूसरी शाखा के हैं, जो इधर-उधर से यहाँ आ गये हैं। मूलतः ये दोनों प्रपाठक कठ शाखा के थे, यह अनुमान करना भी कठिन है। एकादश प्रपाठक में उपलब्ध यह आख्यान कठ शाखा का है; यह कथन भी विरुद्ध नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि कठोपनिषद् में सर्वाङ्ग रूप से उपलब्ध यह कथा कठशाखीय याज्ञिक सम्प्रदाय में ही मूलतः उत्पन्न हुई और अन्य ग्रन्थों में भी तात्पर्य-भेद से गृहीत वा स्वीकृत हुई।

(३) प्रेक्षकों को तात्पर्य में भेद भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस आख्यान का याज्ञिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा और यह वहीं उद्धृत हुआ। अतः यह आख्यान कर्मकाण्डविषयक था, इसमें कुछ विशेष कहने की अपेक्षा नहीं। कठोपनिषद् का वर्णन नाचिकेताग्नि का वैशिष्ट्य दर्शाता है। अन्य अग्नियों के चयन से उसके चयन में, ईटों की संख्या में भेद हैं—**'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।'** यह कठोपनिषद् का ही वचन है। ब्राह्मण-ग्रन्थ में इस आख्यान का कर्मकाण्ड ही उद्देश्य है। नाचिकेताग्नि के सेवन से स्वर्गप्राप्ति तथा मृत्युहानि—ये दो तात्पर्य ब्राह्मण-ग्रन्थ में सुस्पष्ट हैं। चूंकि उपनिषद् में ब्रह्मविद्या का प्राधान्य है, अतः यह कथा अध्यात्म-विषयक है। उपनिषद् में नचिकेता का गौओं के लिए तीव्र कष्ट को अङ्गी-करना, यमलोक में यम से ब्रह्मविद्या सीखना तथा लौटकर पिता का दर्शन वर्णित है। इतिहासपुराण में इसके केवल दो ही भाग—गौ के लिए कष्ट-स्वीकृति तथा लौटना—ये ही मुख्य रूप से वर्णित हैं। महाभारत में यह कथा गो-महिमा के रूप में उपनिबद्ध है। पापी लोग परलोक में नाना तीव्र यात-नाओं को सहते हैं और पुण्यात्मा लोग दिव्य लोगों को प्राप्त कर दिव्याङ्ग-नाओं के साथ अक्षय्य सुख भोगते हैं—यह नचिकेता के मुख से प्रामाणिक रूप से कहलवाकर पुण्य का परिपाक शुभ और पाप का परिपाक अशुभ होता है। यही इस आख्यान का सार है। इस प्रकार ग्रन्थों के तात्पर्यभेदः, कालभेद तथा परिस्थितिभेद से कथा का अभिप्राय बदल जाता है। मूलतः कर्मकाण्ड-परक यह कथा उपनिषद् में विद्यास्तुतिपरक हो गयी, महाभारत में गोदान-प्रशंसापरक तथा इतिहास-पुराण में कर्मफल की स्थापिका हुई। यह कालभेद के कारण हुआ। मूलतः नचिकेता का चरित्र तेजस्वी, ब्रह्मवर्चससम्पन्न तथा उदात्त था। ब्राह्मणकाल से आज तक परिवर्तित होती हुई भी यह कथा अत्यन्त लोकोपकारक है।

सप्तम परिच्छेद

पुराणों का वर्ण्य विषय

पुराणों का मुख्य वर्ण्य विषय पञ्चलक्षण ही है—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। इन लक्षणों के स्वरूप का समीक्षण पुराणों के समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। पीछे दिखलाया गया है कि पुराण का यही सर्वप्राचीन लक्षण है। इस परिच्छेद और अगले परिच्छेद में इन पाँचों विषयों की समीक्षा संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत है। साथ ही साथ इतर विषयों का सामान्य निर्देश करने के अनन्तर पुराणनिर्दिष्ट भूगोल का भी विवरण अन्त में दिया जायेगा।

(१)

पौराणिक सृष्टितत्त्व

पुराण में सृष्टि-विद्या का बड़े वैशद्य से वर्णन किया गया है। 'सर्ग' (सृष्टि) पुराणों के पञ्चलक्षणों में से आद्य तथा मुख्य लक्षण हैं। पौराणिक सृष्टि-विद्या में सांख्य-दर्शन के द्वारा निर्दिष्ट सृष्टि-विद्या का विशेष अवलम्बन तथा आश्रयण लिया गया है। सांख्य का प्रभाव पुराणों के ऊपर विशेष रूप से पड़ा है; इसका प्रत्यक्ष प्रत्येक आलोचक को अल्प प्रयास से ही हो सकता है। ध्यातव्य तत्त्व यही है कि पुराण के सृष्टिप्रकरण पर सांख्य का विपुल प्रभाव पड़ा है अवश्य, परन्तु पौराणिक सृष्टितत्त्व सांख्यीय सृष्टितत्त्व का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। पौराणिक सृष्टिविद्या का अपना वैशिष्ट्य है, स्वातन्त्र्य है, सांख्य मत से प्रभावित होने पर भी उसमें अपना व्यक्तित्व है। पुराणों में वर्णित सृष्टितत्त्व महाभारत तथा मनुस्मृति के एतद्-वर्णन के अनन्तर किया गया है। वैदिक सृष्टितत्त्व का भी प्रभाव इन तीनों ग्रन्थों के सृष्टि-वर्णन में ऊपर विशेषरूपेण दृष्टिगोचर होता है। पुराणकालीन सांख्य निरीश्वर दर्शन न होकर सेश्वर दर्शन है अर्थात् सांख्य-वेदान्त में किसी प्रकार का विरोध या वैषम्य इस प्राचीन काल में लक्षित नहीं होता जैसा वह अवान्तर काल में स्पष्टतया प्रतीत होता है। यहाँ तो सांख्य तथा वेदान्त का मञ्जुल सामरस्य है अर्थात् प्रकृति-पुरुष के द्वैत का प्रतिपादक सांख्य अद्वय ब्रह्म के द्योतक वेदान्त के साथ मिलकर पौराणिक दर्शन की मूल भित्ति तैयार करता है। प्रकृति तथा पुरुष दो भिन्न तत्त्व नहीं है, प्रत्युत वे दोनों ब्रह्म के द्वारा प्रेरित होकर ही अपने कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। ब्रह्म इन

दोनो का अध्यक्ष है और इस ब्रह्म को वैष्णव विष्णु से तादात्म्य करते हैं, शैव शिव से, शाक्त शक्ति से—अर्थात् प्रत्येक मत अपने अभीष्ट परदेवता के साथ उसकी अभिन्नता मानता है।

सांख्य मे सृष्टि का विकास प्रधान तथा पुरुष इन दोनों तत्त्वों के पारस्परिक प्रभाव तथा सयोग का परिणत फल है। सांख्य मे ये दोनों ही अनादि तथा नित्य तत्त्व है, परन्तु पुराण मे वे दोनो ही विष्णु के दो रूप माने गये है अर्थात् इनकी उत्पत्ति विष्णु की सत्ता पर आधारित है। विष्णुपुराण का स्पष्ट कथन है कि विष्णु के परम (= उपाधिरहित) स्वरूप से प्रधान और पुरुष दो रूप होते है और विष्णु के एक तृतीय रूप—कालात्मक रूप—के द्वारा ये दोनो सृष्टि-समय मे संयुक्त होते है तथा प्रलय-दशा मे वियुक्त होते है। भगवान् विष्णु कालशक्ति के द्वारा ही विश्व की सृष्टि तथा प्रलय किया करते है[१]। विषयो का रूपान्तर या बदलना ही काल का आकार[२] है। काल तो स्वयं अनादि, अनन्त तथा निर्विशेष है। उसी को निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेल मे अपने आप ही को सृष्टिरूप मे प्रकट कर देते हैं। पहले यह समग्र विश्व भगवान् की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप मे स्थित था। उसी को अव्यक्त मूर्ति काल के द्वारा भगवान् ने पुनः पृथक् रूप से प्रकट किया।

पुराण के अनुसार यह विश्व अनादि तथा अनन्त है। इस समय में वह जैसा है, वह पहले भी वैसा ही था और आगे भी वह इसी रूप में रहेगा।

यथेदानी तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।

—(भाग० ३।१०।१३)

तब प्रलय की सम्भावना कैसे? यह जगत् कतिपय वर्षों में विलीन तथा नष्ट हुआ दृष्टिगोचर होता है—इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर हैं **प्रवाहनित्यता**। गंगाजी मे डुबकी लगानेवाला व्यक्ति उसी जल मे फिर डुबकी नही लगाता, जिसमे वह एक क्षण पूर्व डुबकी लगा चुका था। जल तो सन्तत प्रवहणशील है—वह निरन्तर परिवर्तनशील है, एक क्षण के लिए भी उसमें विराम नही है, तब गंगा के उसी जल मे डुबकी लगाने का तात्पर्य क्या है? जल प्रतिक्षण अवश्य बदलता रहता है, परन्तु वह प्रवाह, वह धारा जिसका

---

१. विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे
रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते
रूपान्तरं यद् द्विज कालसंज्ञम् ॥—विष्णु १।२।२४

२. वही १।२।२७

वह अविभाज्य अंग है, कभी भी उच्छिन्न नही होती है। वह नित्य होती है। सृष्टि के विषय मे भी यही प्रवाहनित्यता का सिद्धान्त कार्यशील मानना चाहिए।

प्रकृति, पुरुष, व्यक्त (=जगत्) तथा काल—ये चारो रूप उसी परमात्मा विष्णु के है, परन्तु वह इन्ही के द्वारा सीमित नही होता। वह इनसे परे भी वर्तमान रहता है। जगत् की सृष्टि उस विष्णु की क्रीडा ही समझनी चाहिए, अन्यथा उस आप्तकाम के लिए इस विचित्र विश्व के उत्पादन का तात्पर्य ही, उद्देश्य ही कौन सा हो सकता है? पुराणो ने विश्व के सृष्टितत्त्व का वर्णन कम या अधिक मात्रा मे बहुशः किया है।[1] साख्य के सृष्टितत्त्व का पौराणिक सृष्टितत्त्व के ऊपर प्रभाव का विश्लेषण अनेक विद्वानो ने किया है। वह इस प्रसंग मे अनुसन्धानयोग्य है।[2]

नवसर्ग

पुराणो मे सृष्टि के नव प्रकार बतलाये गये है। इन नव[3] सर्गो का सक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। सर्ग मुख्यतया तीन प्रकार के होते है—(१) **प्राकृतसर्ग**, (२) **वैकृतसर्ग** तथा (३) **प्राकृत वैकृत**। प्राकृत तथा वैकृत सर्ग के पार्थक्य के विषय मे पुराणो का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप मे होती है और उसके निमित्त ब्रह्मा को अपनी बुद्धि या विचार को कार्यरूप मे लाने की आवश्यकता नही होती। इसके विपरीत, वैकृतसर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा ने खूब सोच-समझकर इस सर्ग के प्रकारो का निर्माण किया—

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्म, अ० १; विष्णु १।२–५; वायु ३–६ अ०, भाग० ३।१०, ३-२०; नारदीय १।४२ अ०, मार्क० ४७-४८ अ०; भविष्य २।५–६, ३।५-१०; कूर्म १।४-१०, गरुड १।४ अ०, मत्स्य २–३ अ०; देवी भाग० ३।१–७; हरिवंश १।१–३।

२. द्रष्टव्य The Sankhyization of the Emanation Doctrine shown in a Critical Analysis of texts by Dr. P. Hacker (Purana Bulletin, Vol Iv, No 2 PP, 218–338' 1962, Ramnagar)

३. नवसर्गविषयक श्लोक विष्णुपुराण अ० ५।१–२५ मे तथा मार्कण्डेय (अ० ४७) में बिलकुल एक समान ही है। दोनो मे बहुत ही कम अन्तर है। विष्णु ५।२१ का पाठ है 'इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः' है जो मार्कण्डेय तथा शिवपुराण के पूर्वोक्त श्लोक-पाठ के स्वारस्य से 'अबुद्धिपूर्वकः' ही होना चाहिए।

प्राकृताश्च त्रये पूर्वे सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पञ्च वैकृताः॥
—शिवपुराण, वायवीय १।१२।१८

प्राकृतसर्ग की संख्या है तीन, वैकृतसर्ग की पाँच तथा प्राकृत-वैकृतकी एक। इस प्रकार सर्गो की सम्मिलित संख्या नव (९) है।[१]

प्राकृत सर्ग—

(१) **ब्रह्मसर्ग**—महत् तत्त्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते है। 'ब्रह्मसर्ग' मे ब्रह्मन् शब्द गीता के अनुसार महत् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का बोधक है (गीता १४।३) साख्य-दर्शन के अनुसार बुद्धि या महत्तत्त्व ही प्रकृति-पुरुष के सयोग का प्रथम परिणाम है। वही मत यहाँ भी स्वीकृत है।

(२) **भूतसर्ग**—पञ्च तन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है। तन्मात्राएँ पृथिव्यादि पच भूतो की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था के द्योतक तत्त्व हैं। ये 'अविशेष' नाम से भी सांख्य मे प्रख्यात है।

(३) **वैकारिक सर्ग**—इन्द्रियसम्बन्धी सृष्टि का यह नाम है। सांख्य-शास्त्राभिमत प्रक्रिया यहाँ पुराणो को अभिमत है कि अहंकार के तामस रूप से तो पञ्च तन्मात्रो का जन्म होता है तथा सात्त्विक रूप से इन्द्रियो का जन्म होता है। राजसरूप दोनो की सृष्टि मे समान-भाव से क्रियाशील रहता है और इसीलिए उस रूप से किसी पदार्थ का उदय नही होता। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा उभयरूपात्मक संकल्प-विकल्पात्मक मन को मिलाने से इन्द्रियों की संख्या एकादश होती है।

वैकृत सर्ग—(पाँच संख्या मे)

(४) **मुख्यसर्ग**—विष्णुपुराण के कथनानुसार (१।५।३-४) सर्ग के आदि मे ब्रह्मा जी के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर पहिले अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ **पञ्चपर्वा अविद्या** के रूप मे। तम (अज्ञान), मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध) तथा अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—ये अविद्या के पञ्च पर्व या पञ्च प्रकार हैं। पुनः ब्रह्मा जी के ध्यान करने पर जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर-बाहर से तमोमय तथा जड नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरुध्) रूप पाँच प्रकार के जड़ पदार्थों की थी। यह जडसृष्टि मुख्यसर्ग के नाम से इसलिए अभिहित की गयी है कि

१. बहुतर पुराणो में यही संख्या मान्य है, परन्तु श्रीमद्भागवत ने इसमे एक सर्ग जोड़कर इसे दश संख्या बतलाया है (द्रष्टव्य भाग० ३।१०।२८)

भूतल पर चिरस्थायिता की दृष्टि से पर्वतादिको की मुख्यता है (**मुख्या वै स्थावराः स्मृताः**, विष्णु. १।५।२१)।

(५) **तिर्यक् सर्ग**—ब्रह्मा ने इस सृष्टि को पुरुषार्थ के लिए असाधिका जानकर पुनः ध्यान किया, तो तिर्यग्योनि के जीवो का उदय हुआ। 'तिर्यक्' नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते है। इस सर्ग मे आते है—पक्षी तथा पशु। ये सब प्रायः तमोमय (अज्ञानी), विवेक से रहित (अवेदिनः), अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले (उत्पथग्राहिणः) और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं। ये सब अहंकारी, अभिमानी, अट्ठाइस प्रकार के वधो[1] से युक्त, अन्तः-प्रकाश तथा परस्पर मे एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले होते हैं। स्थावर सृष्टि के बाद जंगम सृष्टि का यह प्रथम रूप उदय मे आया।

(६) **देवसर्ग**—तिर्यक्योनि की सृष्टि से ब्रह्मा को प्रसन्नता नही हुई। उनकी प्रसन्नता का हेतु वह सर्ग है जो परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधक सिद्ध हो। तिर्यक् स्रोत का सर्ग इस तात्पर्य मे सहायक न होने से उन्होने ऊर्ध्वस्रोत वाले प्राणियो का सर्जन किया। यह ऊर्ध्व लोक मे निवास करने वाला सात्त्विक वर्ग है। इस सृष्टि के प्राणी विषय-सुख की प्रीति से सम्पन्न होते है, बाह्य तथा आन्तर दृष्टि से युक्त होते है। ये भीतरी-बाहरी प्रकाश से युक्त होते हैं।

(७) **मानुषसर्ग**—पूर्व सर्ग भी ब्रह्माजी की दृष्टि मे पुरुषार्थ का असाधक ही निकला। इसलिए सत्यसंकल्प ब्रह्मा ने फिर अपने ध्यान से एक नवीन प्राणिवर्ग का निर्माण किया जो पृथ्वीपर ही भ्रमण करने वाले जीव थे (अर्वाक्स्रोतसः)। इनमे सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनो गुणो का आधिक्य रहता है। इस वैशिष्ट्य के कारण वे दुःखबहुल होते है (तमोद्रेकात्), वे

---

[1] 'वध' का अर्थ है अशक्ति। सांख्यकारिका (कारिका ४९ ५१) मे इन समस्त वधो का रूप निर्दिष्ट हैं। अनावश्यक होने से ये यहाँ नही दिये जाते; जिज्ञासुजन इन्हे साङ्ख्यकारिका तथा उसकी टीका मे विस्तार से देखे।

श्रीमद्भागवत ३।१०।२० का पाठ है—'तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंश-विधो मतः' जहाँ तिर्यक्सर्ग २८ प्रकार का बतलाया गया है। भाग० ने २० श्लो०–२४ श्लो० तक इन अट्ठाइस प्रकार के पशु-पक्षियो का नाम्ना निर्देश भी किया है। लेखक की दृष्टि मे 'अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्—वधात्मकाः' इस विष्णुपुराणीय पाठ मे 'वध' को 'विध' पढ़ने का यह दुष्परिणाम है। कहना न होगा कि विष्णुपुराण का यह वर्णन प्राचीन है जिसकी छाया भागवत पर है।

अत्यन्त क्रियाशील है—सदा कार्य मे संलग्न रहते हैं (रजोद्रेकात्) तथा बाह्य आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न होते हैं (सत्त्वोद्रेकात्) इस सर्ग के प्राणी 'मनुष्य' कहलाते हैं (विष्णु १।५।१५–१८)

(८) **अनुग्रह सर्ग**—विष्णुपुराण ने इसे सात्त्विक-तामस कहकर केवल सामान्य संकेत कर दिया है (विष्णु १।५।२४)। इसके स्वरूप का निर्देश मार्कण्डेय ने स्पष्टतः किया है[1] (४७ अ०, २८–२९ श्लो०) जहाँ यह चार प्रकार का बतलाया गया है—विपर्यय, सिद्धि, शान्ति तथा तुष्टि। (६।६७।६८) वायु मे इन चारो की व्यवस्था भी की गयी है—स्थावरो मे रहता है विपर्यास, तिर्यग्योनि मे शक्ति, मनुष्यो मे सिद्धि तथा देवो मे तुष्टि।

यहाँ भावो की सृष्टि अभीष्ट है। सांख्य मे यह **प्रत्यय सर्ग** कहा गया है जिसके चार भेद विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि नाम से प्रख्यात हैं (द्रष्टव्य साख्यकारिका, कारिका ४६)। वायु-पुराण की दृष्टि कुछ भिन्न ही है। समस्त प्राकृतसर्ग प्रकृति के अनुग्रह से जायमान होने के कारण ही अनुग्रह सर्ग कहलाता है। वायुपुराण का यह वर्णन बड़ा ही रोचक तथा साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है[2]।

संसार रूपी वृक्ष

बीज	अव्यक्त (प्रकृति)
स्कन्ध	बुद्धि
अंकुर	इन्द्रिय
शाखा	महाभूत (पञ्च)
पत्र	विशेष (= पञ्चविषय)
पुष्प	धर्म तथा अधर्म
फल	सुख तथा दुःख
पक्षी	सब प्राणी

---

१. पञ्चमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या सिद्ध्या तथैव च॥
—मार्क० ४७।२८ = वायु ६।५७

२. अव्यक्तबीजप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियांकुरकोटरः॥ ११४॥
महाभूतप्रशाखश्च विशेषैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पस्तु सुखदुःखफलोदयः॥ ११५॥
आजीवः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातनः।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तु॥ ११६॥

वायुपुराण इस समस्त प्राकृत सर्ग को अनुग्रह सर्ग बतलाता है।

(९) कौमार सर्ग—यह अन्तिम सर्ग प्राकृत—वैकृत उभयात्मक माना गया है। इस शब्द से सनत्कुमार के उदय का संकेत है, क्योकि भाग० १।३।६ मे 'कौमार सर्ग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है—

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥

—भाग० १।३।६

सनत्कुमार भगवान् विष्णु के ही अन्यतम अवतार माने गये हैं।

(भाग० २।७)

यह सर्ग उभयात्मक अर्थात् प्राकृत-वैकृत उभयरूप माना गया है। इसके विषय में टीकाकारो मे ऐकमत्य नही है। विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि ध्यानपूत मन से ही अन्य व्यक्तियो की सृष्टि हुई—यह कथन इसका प्रमाण है कि कुमारो की सृष्टि भगवद्ध्यानजन्य है तथा भगवज्जन्य भी है। और इसीलिए वे प्राकृत-वैकृत कहे गये है[1]। सुबोधिनी मे वल्लभाचार्य जी ने इन्हें देव और मनुष्य मानकर इस द्विविधत्व का हेतु खोज निकाला है। इसका भागवत के निम्बार्की व्याख्याकार शुकदेवाचार्य ने खण्डन किया है कि सनत्कुमार कभी मनुष्यकोटि मे नही माने गये हैं। ये ज्ञानभक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका एक बार जन्म तो ब्रह्मा से हुआ तथा प्रत्यहं प्रादुर्भाव होने से ये चिरस्थायियो मे अन्यतम परिगणित किये गये हैं। इसीलिए वे द्विविधरूप मे अंगीकृत है—प्राकृत भी तथा वैकृत[2] भी।

प्राणिसृष्टि मे नाना प्रकार के प्राणियो का निर्माण किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का भी समाधान पुराणो से प्राप्त होता है प्राणियो में असुर, सुर, पितर तथा मनुष्य मुख्य होते हैं। इसलिए इनकी उत्पत्ति का प्रकार भी बड़ी सुन्दरता से पुराणो मे बतलाया गया है। सृष्टि की कामना करने पर

अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम्।
इत्येषोऽनुग्रहः सर्गो ब्रह्मणः प्राकृतस्तु यः ॥ ११७ ॥

—वायुपुराण, नवम अध्याय

१. तेषां 'भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजदिति अग्रिमोक्तेर्भगवद्ध्यानजन्यत्वेन भगवज्जन्यत्वाच्च प्राकृतो वैकृतश्चेति।

—विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या (भाग० ३।१०।२६)

२. इन टीकाकारो के मतो के लिए द्रष्टव्य दशटीका समन्वित भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० २५२ (वृन्दावन से प्रकाशित)

जब ब्रह्माजी दत्तचित्त हुए तब प्रथमतः उनमे तमोगुण का आधिक्य हुआ। उस समय सबसे पहले उनकी जंघा से असुर उत्पन्न हुए। असुर के निर्माण के अनन्तर ब्रह्माजी ने उस तामसिक देह का परित्याग कर दिया जो तुरन्त रात्रि के रूप मे परिणत हो गया। अनन्तर सात्त्विक देह का आश्रय करने पर ब्रह्मा के मुख से सत्त्वप्रधान सुरों की उत्पत्ति हुई। उसके बाद प्रजापति के द्वारा परित्यक्त वह शरीर दिन के रूप मे परिणत हो गया। इसके बाद उन्होने आंशिक सत्त्वमय देह को धारण किया और अपने पार्श्व से पितरों का निर्माण किया। वह छोड़ा गया शरीर दिन और रात के बीच सन्ध्या बन गया। तब इन्होने रजोमय देह का आश्रयण किया जिससे रजःप्रधान मनुष्यो की सृष्टि हुई। प्रजापति के द्वारा छोड़ा गया वह शरीर ज्योत्स्ना अर्थात् प्रभातकाल बन गया। इस प्रकार चार प्राणिवर्ग का सम्बन्ध चार काल-विभाग से है, क्योकि उनकी बलशालिता उसी काल मे देखी जाती है। इस प्रकार—

असुर का सम्बन्ध है		रात्रि से
सुर	,,	दिन से
पितरो	,,	सायं सन्ध्या से
मनुष्य	,,	प्रातःकाल से

सृष्टि के विषय मे एक विशिष्ट तथ्य का पुराण वर्णन करता है जो मनुस्मृति (१।२६) मे उल्लिखित है तथा जिसका प्रामाण्य आचार्य शङ्कर ने शारीरक भाष्य (१।३।३०) मे स्वीकार किया है। यावत् स्थावर-जंगम की रचना ब्रह्माजी के द्वारा ही की जाती है। इन जीवों का यह वैशिष्ट्य है कि प्राक् कल्प में उनका जैसा स्वभाव था, जैसी प्रवृत्ति थी, इस सृष्टि में भी वही उन्हें प्राप्त होता है—वैसा ही स्वभाव तथा वैसी ही प्रवृत्ति। उस समय हिंसा-अहिंसा, मृदुता-कठोरता, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत—ये सब अपनी पूर्व भावना के अनुसार ही उन्हें प्राप्त होते हैं तथा उन जीवों को वे अच्छे लगने भी लगते है—

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
> तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
> हिंस्राहिंस्रे मृदु-क्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
> तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत्तस्य रोचते॥
>
> —विष्णु १।५।६०–६१

इसी प्रकार के श्लोक मनुस्मृति मे भी उपलब्ध होते है (मनुस्मृति १।२९ में द्वितीय श्लोक किञ्चित् भिन्न रूप मे उपलब्ध है—'यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत्', परन्तु इसका तात्पर्य वही है)। इस प्रकार पुराण की

दृष्टि में कर्मानुसार सृष्टि है। इसमे ब्रह्मा पर न तो क्रूरता का और न वैषम्य का दोष आरोपित किया जा सकता है। पूर्व कर्म के कारण ही इस जन्म मे प्राणियो की विभिन्न प्रवृत्ति तथा विभिन्न प्रकृति है। पुराणो का यह तथ्य कथन भारतीय दर्शन की सुचिन्तित परम्परा के अन्तर्भुक्त है—इसे कौन स्वीकार न करेगा ?

ब्राह्मी सृष्टि

भगवान् विष्णु की प्रेरणा से उनके ही नाभिकमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी ने दिव्य शतवर्ष तक तपस्या की। तब उन्होने देखा कि वह जल तथा उनका आसनभूत कमल प्रबल वायु के वेग से काँप रहा है। सृष्टि से प्राक् काल मे यह उस दशा का सूचक है जब एकार्णव—समस्त समुद्र के ऊपर वायु का ही प्रबल आघात होता रहता है। तपस्या तथा अध्यात्म ज्ञान के बल पर ब्रह्मा मे विज्ञान शक्ति का प्राबल्य हो गया और इसी शक्ति के बल पर उन्होने उस प्रबल वायु को तथा विशाल जलराशि को पान कर डाला। अवशिष्ट बचे हुए वियद्व्यापी कमल को देखकर ब्रह्मा ने विचार किया कि इसी के द्वारा पूर्व काल मे प्रकृति में लीन लोको की रचना करूँगा। फलतः उन्होने उस आकाशव्यापी कमल में स्वयं प्रवेश कर उसे तीन भागो मे विभक्त कर दिया, यद्यपि वह चौदह भागो में विभक्त होने के योग्य था। इन्ही भागो का नाम है—भूः, भुवः तथा स्वः। कर्म का राज्य इन्ही लोको में सीमित है। इसके ऊपर जो चार लोक अवशेष हैं महः, जनः, तपः, सत्यं, इनमे उन लोगो का निवास होता है जो निष्काम कर्म के सम्पादक होते हैं। इन चारो लोको की समष्टि का एक सामूहिक अभिधान है—**परमेष्ठी** लोक या ब्रह्मलोक[1]।

इन्ही ब्रह्मा ने पूर्ववर्णित जीवो की—स्थावर से लेकर देवपर्यन्त—सृष्टि की, परन्तु जब उस सृष्टि की वृद्धि आगे न बढ सकी और उनकी सृष्टि का तात्पर्य ही सिद्ध न होने लगा, तब उन्होने **मानस**पुत्रो का सर्जन किया—अपने समान ही शक्तिसम्पन्न तथा अध्यात्ममण्डित। ब्रह्मा के इन मानस-पुत्रो को तत्समान होने के हेतु 'ब्रह्मा' के ही नाम से भागवत पुकारता है। ये संख्या में नव (९) हैं—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस्, मरीचि, दक्ष, अग्नि तथा वसिष्ठ। ये नव ब्रह्मा के नाम से पुराणो में विख्यात हैं। ख्याति, भूति आदि नव कन्याओ को भी उत्पन्न कर इन्हे ही पत्नी होने के लिए प्रदान किया जिससे आगे चलकर सृष्टि का विस्तार हुआ।

---

१. भागवत ३।१०।४–९

२. द्रष्टव्य, विष्णुपुराण १।७।१–८

मानसी सृष्टि

ब्रह्मा की सृष्टि मानसिक ही होती है। वे शरीर-संयोगपूर्वक बैजी सृष्टि नही करते। जीवो के पूर्व जन्म मे किये गये कर्मो को जानकर ही ब्रह्मा उन्हें उत्पन्न करते हैं। ब्रह्मा इन कर्मो को भगवत्-प्रदत्त ज्ञान द्वारा ही जानकर सृष्टि करते हैं। ब्रह्मा की मानसी सृष्टि द्वारा उत्पादित मरीचि, कश्यप आदि अनेक अधिकारी पुरुष होते है जो ब्रह्मा के संग-साथ मे मिलकर उन्ही की प्रेरणा मे सृष्टि-कार्य का सम्पादन करते है। इसीलिए तो ये नव मानसपुत्र कार्य के साम्य के कारण **नव ब्रह्मा** के नाम से भागवत मे पुकारे गये हैं। इसी कारण प्रजापति कश्यप से देव-दैत्य, पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम—सब जन्तुओ का उदय होता है। कश्यप की निरुक्ति भी उनकी सृष्टि-शक्ति की पर्याप्त द्योतिका है। ब्राह्मणग्रन्थो ने 'कश्यपः पश्यको भवति' कहकर कश्यप का अर्थ निर्वचन किया है—देखनेवाला अर्थात् अपनी दृष्टि से सृष्टि करनेवाला'। महाभारत मे भी मानसी सृष्टि की परिभाषा इसी तथ्य की पोषिका है—

> प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
> तथैव देवान्, ऋषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥
> आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
> सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥

मानसी सृष्टि की परिभाषा है वह सृष्टि जो आदि देव ब्रह्माद्वारा वेदमूलक, अक्षय, अव्यय तथा धर्मानुकूल हो।

मानसी सृष्टि के अनन्तर ही बैजी सृष्टि होती है जिसका वर्णन वैकृत सर्ग के प्रसङ्ग में ऊपर किया गया।

रौद्री सृष्टि

इनसे पूर्व सनन्दन, सनातन आदि चारो कुमारो की सृष्टि ब्रह्मा ने सृष्टि की वृद्धि के लिए ही की थी; परन्तु सन्तान तथा ससार के प्रति उनके औदासीन्य तथा निरपेक्षभाव को देखकर पितामह के क्रोध का ठिकाना नही रहा। उसी समय क्रोधदीपित तथा भ्रुकुटि-कुटिल ललाट से प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र का आविर्भाव हुआ। रुद्र के शरीर का वैशिष्ट्य यह था कि उनका आधा शरीर नर के आकार मे था और अपर आधा शरीर नारी के आकार मे था। ब्रह्माजी के आदेश से रुद्र ने अपने शरीर का द्विधा विभाजन किया—स्त्री रूप मे और पुरुष रूप मे। पुरुषभाग को ग्यारह भागो मे पुनः विभक्त किया तथा स्त्री भाग को सौम्य-क्रूर, शान्त-अशान्त, श्याम-गौर आदि अनेक रूपो मे

विभक्त किया। रुद्र के द्वारा आविर्भावित यह सृष्टि रौद्री सृष्टि के नाम से पुराणो मे अभिहित की गयी है[१]।

पौराणिक सृष्टितत्त्व की मीमांसा

पुराण मे वर्णित सृष्टितत्त्व की यह एक सामान्य रूपरेखा है। इसका विश्लेपण करने से भागवतो की समन्वय दृष्टि का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। त्रिदेवो का सृष्टि के उत्पादन मे सहयोग है। प्रधानतः सृष्टि तो ब्रह्माजी का ही कार्य है, परन्तु इस सृष्टिकार्य के लिए उन्हे प्रेरणा प्राप्त होती है विष्णु के द्वारा ही। विष्णु के नाभि-कमल के ऊपर ब्रह्मा का निवास होता है। वे अगोचरा वाक् के द्वारा तप करने के लिए प्रेरित किये जाते है और सौ वर्षो तक निष्पन्न तपस्या के फलरूप उन्हे सृष्टिकार्य की योग्यता प्राप्त होती है और विष्णु के द्वारा प्रेरणा पाकर ही ब्रह्मा इस विशाल विश्व के सर्जन मे प्रवृत्त होते है। विष्णु-पुराण इसीलिए ब्रह्मा को हरि का ही रूपान्तर मानता हे। अर्थात् वह परम शक्तिशाली भगवान् विष्णु ही अपने ब्रह्मारूपी भूत्यन्तर से विश्व का निर्माण करते हैं। शैव पुराणो मे शिव की प्रेरणा से यह कार्य होता है; परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि सृष्टिकार्य मे रुद्र का भी सहयोग अनिवार्य है। भागवत तथा मार्कण्डेय ने रुद्रसर्ग की चर्चा की है जो अर्धनारी-स्वरूप होने से अपने ही देह का दो विभाग करके विश्व नर तथा नारी अर्थात् मानवदम्पति की सृष्टि करते है। पुराणो की समन्वय-दृष्टि नितान्त आवर्जनीय है। भागवत सम्प्रदाय का यही वैशिष्टच रहा है और इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव तत्त्व-मीमांसा के ऊपर विशेष रूप से पड़ा है—इस तथ्य को धार्मिक इतिहास का जिज्ञासु अपने दृक्पथ से ओझल नही कर सकता।

भारतीय षड्दर्शनो से सांख्य का विपुल प्रभाव सृष्टि-प्रक्रिया के ऊपर पड़ा है। कपिल आदि विद्वान् के रूप मे उपनिषदो मे गृहीत किये गये है। तत्त्वो की मीमांसा उनका महान् वैशिष्टच है। उनकी अपनी सृष्टि-प्रक्रिया है। इसका पूरा प्रभाव पौराणिक सृष्टिवाद पर है; परन्तु उसका अक्षरशः पालन यहाँ नही है। सांख्य तो प्रकृति तथा पुरुष को मूल तत्त्व मानता है, परन्तु पुराणो की दृष्टि मे ये दोनो परमात्मा से ही विनिःसृत होते हैं और प्रलय-दशा में ये दोनों उसी मूल तत्त्व मे लीन हो जाते है। विष्णु-पुराण का स्पष्ट कथन है—

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥

---

१. द्रष्टव्य विष्णु, १।७।११–१५;—मार्कण्डेय ५२ अध्याय २–१० श्लोक।

परमात्मा च सर्वेपामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेपु च गोयते ॥

—विष्णु० ६।४।३९–४०

निष्कर्ष यह है कि सांख्य का बहुशः आधार लेने पर भी पौराणिक सृष्टि-प्रक्रिया अपनी मौलिकता से मण्डित है। आश्चर्य नही कि उस युग की लोक-सस्कृति के सिद्धान्त भी यहाँ गृहीत किये गये। पुराण अध्यात्मवादी दृष्टिकोण रखने पर भी अपने विवरणो में एकाङ्गी नही रहता। यह लोक-सामान्य के मंगल-साधन की प्रेरणा से निर्मित हुआ है। फलतः लोक की दृष्टि सदा पुराण-कार के सामने जागरूक रहती है। इस तथ्य का अविस्मरण सर्वदा आवश्यक है।

(२)

प्रतिसर्ग

प्रतिसर्ग का वर्णन प्रायः समस्त पुराणो मे किया गया[1] है। इन पुराणों के स्थलनिर्देश यहाँ संक्षेप में दिये जाते है। 'प्रतिसर्ग' के विषय मे बहुत से विशिष्ट शब्द पुराणों के द्वारा व्यवहृत हैं—अन्तर प्रलय (ब्रह्म २३२।११), अन्तराला उपसंहृतिः (विष्णु ६।२।४०); आभूतसंप्लव, उदाप्लुत (भाग० ३।८।१०). निरोध, संस्था (भाग० १२।७।१७); उपसंहृति, एकार्णवावस्था, तत्त्वप्रतिसंयम (वायु १०२।४७), प्रतिसंक्रमः, प्रतिसंचरः,; प्रतिससर्गः, संप्लव (भाग० १२।४।६४) आदि।

प्रलय चार प्रकार का होता है (१) नैमित्तिक प्रलय, (२) प्राकृत प्रलय, (३) आत्यन्तिक प्रलय तथा (४) नित्य प्रलय। श्रीमद्भागवत के १२ वे स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे यह विषय बड़ी सुन्दरता और विशदता के साथ वर्णित हैं। उसी के आधार पर यह संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) नैमित्तिक प्रलय

मन्वन्तर के वर्णन के अवसर पर कल्प का संक्षेप मे निर्देश किया जायेगा। मनुष्यमान से या देवमान से हो, एक हजार चतुर्युगी ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है। वर्षो की गणना ऊपर दी गयी है। ब्रह्मा के एक दिन का ही नाम कल्प है जिसके भीतर १४ मनुओ का काल वीतता है। कल्प के अन्त हो जाने

---

१. पुराणो मे प्रतिसग का उल्लेख-ब्रह्म २३१।१–२३३।६५, विष्णु ६।३।१—७।१०।४, वायु १००।१३२–१०२।१३५, भागवत १२ स्क , ४ अ मार्क० ४६।१–४४, कूर्म २।४५।४-४६।६५; गरुड १।२१५।४–२१७।१७ ब्रह्माण्ड ३।१।१२८–३।११३।

पर उतने ही काल के लिए प्रलय भी होता है। इसी प्रलय को ब्राह्मी रात्रि (=ब्रह्मा जी की रात) भी कहते हैं। इस समय तीनो लोको—भूर् भुवर्, स्वर्—का प्रलय हो जाता है, परन्तु इनके उपरितन चारो लोक—महः, जनः, तपः सत्यम्—अपने स्थान स्थित रहते हैं। इस प्रलय के अवसर पर सारे विश्व को अपने अन्दर समेटकर अर्थात् अपने में लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते है। ब्रह्मा जी के इस शयन को निमित्त मानकर इस प्रलय का उदय होता है। इसीलिए यह प्रलय नैमित्तिक कहलाता है।

एष नैमित्तिको नाम मैत्रेय प्रतिसंचरः।
निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरिः॥

—विष्णु ६।४।७

(२) प्राकृत प्रलय

यह प्रलय नैमित्तिक प्रलय की अपेक्षा अधिक वर्षों के अनन्तर होता है। ब्रह्मा की आयु उनके मान से एक सौ वर्ष की होती है, तथा मानव-मान से वह दो परार्ध वर्षो की होती है। ब्रह्मा की इस आयु के समाप्त होने पर एक महान् प्रलय संघटित होता है। उस समय सातो प्रकृतियाँ पञ्चतन्मात्रायें, अहंकार और महत्तत्त्व—अपने कारणभूता अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती हैं। उस प्रलयके उपस्थित होने पर विश्व में भीषण सहार का दृश्य उपस्थित हो जाता है। पंचमहाभूतों के मिश्रण से बना हुआ यह समग्र ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़कर कारणरूप में स्थित हो जाता है। भागवत ने इस प्रलय का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रलय का समय आ जाने पर मेघ सौ वर्षो तक वृष्टि ही नही करते, अन्न न उपजने के कारण क्षुत्क्षामकण्ठ वाली प्रजा एक दूसरे को देखने लगती हैं। प्रजा मृत्यु का ग्रास बनकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। ऊपर चमकता है प्रचण्ड तिग्मांशु की किरण और नीचे चमकती है पातालस्थ संकर्षण के मुख से निकलने वाली तीव्र अग्नि की ज्वाला। प्रचण्ड पवन बडे वेग से सैकड़ो वर्षो तक बहता है। उस समय का आकाश धूम तथा धूलि से भरा ही रहता है। असंख्यो रंगबिरंगे बादल आकाश मे बडी भयङ्करता के साथ गरज-गरजकर सैंकडों वर्षों तक वर्षा करते है। अखिल भुवन एक महार्णव बन जाता है। तब पृथ्वी के गुण गन्ध

१. विष्णुपुराण (६ अंश, ३ अ० तथा ४ अ०) मे इसी प्रकार का साहित्यिक विवरण उपलब्ध है जो वैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा ही संपन्न, सुव्यवस्थित तथा विस्तीर्ण है। दोनो की तुलना जिज्ञासुजन करें।

को जल तत्त्व ग्रस लेता है जिससे भूमि का जल मे प्रलय हो जाता है। इस प्रकार तत्तत् विशिष्ट गुणो के लीन हो जाने से जल तेज मे, तेज वायु में, वायु आकाश मे लीन हो जाता है। आकाश का लय हो जाता है अहङ्कार में, अहङ्कार का महत्तत्त्व मे और महत्तत्त्व का प्रकृति मे। उस समय प्रकृति ही केवल शेष रह जाती है। प्रकृति जगत् का मूल कारण है, वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी है। उस समय किसी प्रकार की सत्ता नही रहती। उस समय प्रकृति तथा पुरुष दोनो की शक्तियाँ काल के प्रभाव से क्षीण हो जाती है और अपने मूल कारण मे विलीन हो जाती है। इसी का नाम है—प्राकृतिक प्रलय[1]।

(३) आत्यन्तिक प्रलय

पूर्ववर्णित दोनो प्रलयों का काल नियत है। नैमित्तिक प्रलय कल्प के अन्त मे अर्थात् ब्रह्माजी के एक दिन व्यतीत होने पर होता है। उसी प्रकार प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माजी के आयु-शेष हो जाने पर सम्पन्न होता है। परन्तु आत्यन्तिक प्रलय को काल की परिधि या सीमा मे बाँधा नही जा सकता। यह आज भी इसी एक क्षण मे सम्पन्न हो सकता है अथवा कोटि-कोटि वर्षो के अन्तराल होने पर भी नही सम्पन्न हो सकता है। उसके उदय की साधनसामग्री जब भी उपस्थित हो जाय, तभी वह हो सकता है। इसमे काल कोई व्याघातक तत्त्व नही है।

आत्यन्तिक प्रलय आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का ही अपर नाम है। त्रिविध दुःखो की निवृत्ति लौकिक-आनुश्रविक उपायो से हो सकती है तथा होती है; परन्तु वह सदा-सर्वदा के लिए कहाँ होती है ? कुछ समय तक तो वह निवृत्ति दुःखो से अवश्य होती है, परन्तु फिर दुःख के साधन उपस्थित होने पर वह दुःख पुनः आविर्भूत होता है। तो यह दुःख का कारण क्या है ? आत्मा-अनात्मा-विवेक या वेदान्त के शब्दो मे अध्यास। अनात्मा को आत्मा रूप से समझना ही सब अनर्थो का बीज है। भागवत मे अध्यास तथा तन्निवारक ज्ञान का वर्णन बड़े ही मोहक शब्दो मे किया गया है। बादल तथा सूर्य के

---

१. द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते॥

—भाग० १२।४।५–६.

व्यवहार पर दृष्टिपात कीजिए।[1] बादल सूर्य से ही उत्पन्न होता है और सूर्य से ही प्रकाशित होता है। फिर भी वह सूर्य के ही अंशभूत नेत्रो के लिए सूर्य का दर्शन होने मे बाधक बन जाता है। ठीक यही दशा अहङ्कार तथा ब्रह्म की भी है। अहङ्कार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और ब्रह्म से ही प्रकाशित होता। ब्रह्म के अंशभूत जीव के लिए ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार मे बाधक बन जाता है। जब सूर्य से प्रकट होने वाला मेघ तितर-बितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्य का दर्शन करने में समर्थ होता है। ठीक उसी प्रकार जब जीव के हृदय मे जिज्ञासा जगती है, तब आत्मा की उपाधि-अहङ्कार नष्ट हो जाता है और जीव को अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।[2] इस प्रकार अहङ्कार का हटाना ही मुख्य, साधन ठहरा और यह कार्य सिद्ध होगा विवेकरूपी ज्ञान से।

"जब जीव विवेकरूपी तलवार से आत्मा को बांधने वाले मायामय अहङ्कार का बन्धन काट डालता है, तब वह अपने एक रस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार मे स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही **आत्यन्तिक प्रलय** कही जाती है" :—

यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥

—भाग० १२।४।३४

(४) नित्यप्रलय

पुराणो के अनुसार सृष्टि भी नित्य होती है और प्रलय भी नित्य होता है। तत्त्वदर्शी लोगो का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदार्थ होते है, वे सभी हर समय पैदा होते रहते है और मरते रहते हैं अर्थात्

---

१. यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥ —भाग० १२।४।३२

२. घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ —वही १२।४।३३

नित्यरूप से सृष्टि तथा प्रलय होता ही रहता है। संसार के परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीपशिखा के समान प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, परन्तु यह परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। आकाश में तारे हर समय मे चलते रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नही होती। प्राणियो के परिवर्तन की भी यही दशा है। इस परिवर्तन का कारण भगवान् की स्वरूपभूता काल-शक्ति है जो अनादि है और अनन्त है। उस शक्ति के कारण परिवर्तन क्षण-क्षण मे होता रहता है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म तथा दुर्बोध है कि वह मानव-बुद्धि से स्पष्टतः ग्राह्य नही होता। प्रतिक्षण जायमान इस विनाश को **'नित्य प्रलय'** के नाम के पुकारा जाता है।

पौराणिक सृष्टि तथा प्रलय के विवेचन का यह संक्षिप्त रूप है। विस्तार के लिए पुराणों के तत्तत् प्रसङ्ग देखना चाहिए।

मन्वन्तर का विवरण

पुराणकार के मत से समय का स्वरूप

(मनुष्यमान)

('सिद्धान्तशिरोमणि' के अनुसार)

१८ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३० कला	=	१ घटी
२ घटी = ६० कला	=	१ मुहूर्त
६० घटी = ३० मुहूर्त	=	१ दिन-रात (दिवस)
१५ दिन रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ महीना
६ महीने	=	१ दक्षिणायन
६ महीने	=	१ उत्तरायण
२ अयन	=	१ वर्ष
१ दक्षिणायन	=	१ दिव्य रात
१ उत्तरायण	=	१ दिव्य दिन
३० वर्ष	=	१ दिव्य मास
३६० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष
३०३० वर्ष	=	१ सप्तर्षि वर्ष
९०९० वर्ष	=	१ ध्रुव वर्ष
९६,००० वर्ष	=	१ दिव्य वर्षसहस्र
१७,२८,००० वर्ष	=	१ सत्ययुग (कृतयुग)
१२,९६,००० वर्ष	=	१ त्रेतायुग
८,६४,००० वर्ष	=	१ द्वापरयुग
४,३२,००० वर्ष	=	१ कलियुग
४३,२०,००० वर्ष	=	१ चतुर्युगी
३०,६७,२०,००० वर्ष	=	१ मन्वन्तर (=७१ चतुर्युगी)
४,२९,४०,८०,००० वर्ष	=	१४ मन्वन्तर
२,५९,२०,००० वर्ष	=	मन्वन्तर संध्यांश
१,९७,२९,४९,०६४ वर्ष	=	सृष्टि भुक्तकाल[१] (सं० २०२१ तक)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मदिन सहस्र चतुर्युगी
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मरात्रि

---

१. सि० शि० १९७२९४७१७९+शक संवत्सर=१९७२९४७१७९+
१८८५
१,९७,२९,४९,०६४

—सिद्धान्तशिरोमणि (कालमानाध्याये) २८ श्लोक

इस विवरण के अनुसार मनुष्यमान से एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का और ब्रह्मा की एक रात्रि का भी यही परिमाण है चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का। एक ब्राह्म दिन ही एक कल्प माना जाता है। इस प्रकार एक कल्प में (अर्थात् एक ब्राह्म दिन में) १४ मनुओं का साम्राज्य-काल माना जाता है। एक मनु के बीतने तथा दूसरे मनु के आने के समय के बीचवाले समय को—अन्तराल को—एक **मन्वन्तर** कहते हैं। एक हजार चतुर्युगी के काल में १४ मन्वन्तरों की सीमा होने से एक मन्वन्तर का काल निर्धारित किया जा सकता है।

$$१. \text{ मन्वन्तर} = \frac{१००० \text{ चतुर्युगी वर्ष}}{१४}$$

$$,, \quad = ७१\tfrac{६}{१४} \text{ चतुर्युगी वर्ष}$$

एक मन्वन्तर की काल-गणना बतलाते समय पुराण का एक बहुचर्चित वाक्य है[1]—मन्वन्तरं चतुर्युगानां साधिका ह्येकसप्ततिः। एक मन्वतर ७१ चतुर्युगी का होता है और उससे कुछ अधिक, परन्तु कितना अधिक? इस प्रश्न का उत्तर पुराणो में नहीं दिया गया है। अनेक पुराणो मे ७१ चतुर्युगी का काल वर्षों में गिनाया गया है। यथा—

(क) विष्णुपुराण (१।३।२०–२१)—

त्रिशत् कोटयस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने॥ २०॥
विंशतिस्तु सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज॥ २१॥

(ख) वायुपुराण से—

एवं चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः।
कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते॥
मन्वन्तरस्य संख्या तु वर्षाग्रेण निबोधत।
त्रिशत कोटयस्तु वर्षाणां मानुषेण प्रकीर्तिताः॥
सप्तषष्टिस्तथाऽन्यानि नियुतान्यधिकानि तु।
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं सन्धिकं विना[2]॥

—(वायु, अ० ५७, ३३–३५ श्लो०)

---

१. आगे दिये गये वायु (५७।३५) के स्वारस्य पर यहाँ शुद्ध पाठ 'सन्धिकं' होना उचित प्रतीत होता है।

२. ये ही श्लोक इसी रूप मे अनेक पुराणों में उपलब्ध होते हैं। वायु मे ये ही पुनरुक्त हुए हैं—द्रष्टव्य वायु ६१।१३८–१४०।

इन दोनो पुराणो मे मन्वन्तर का जो कालमान दिया गया है वह एक समान ही है—तीस करोड, सड़सठ लाख, बीस हजार। परन्तु यह मान 'सन्धिकं विना' है अर्थात् दो मन्वन्तरो के बीच जो सन्धिकाल होता है उसे छोड़कर ही पूर्वोक्त गणना है। १४ मनुओ का ७१ चतुर्युगी प्रत्येक की मानने पर पूरा योग है ९९४ चतुर्युग और ६ चतुर्युग अवशिष्ट रह जाता है। और यही है १४ मन्वन्तरो का सन्धिकाल। विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक पर श्रीधरी मे इसका संकेत-मात्र है।

चतर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः।
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादोना च सत्तम ॥

—विष्णु०, १।३।१७

श्रीधरस्वामा ने 'साधिका' शब्द को व्याख्या मे लिखा है :—

चतुर्युगसहस्रप्रमाणस्य ब्रह्मदिनस्य चतुर्दशधा विभागे प्रतिविभागमेकसप्ततिश्चतुर्युगानि भवन्ति। अवशिष्यन्ते चतुर्युग पट्कान्तरस्य चतुर्दशाशो यथा गणित· प्रतिमन्वन्तरमेकसप्ततेरधिक इत्यर्थः।

श्रीधरस्वामी के सामने विष्णुपुराण का 'साधिका ह्येकसप्ततिः' पाठ था और इसी पाठ की उन्होने व्याख्या की है। परन्तु, इस पाठ मे निश्चित काल की सूचना भी नही है। मेरी दृष्टि मे 'सन्धिकं विना' पाठ के द्वारा गणना का निश्चित रूप खड़ा किया जा सकता है। ज्यौतिष शास्त्र की सहायता इसमे नितान्त अपेक्षित है। किसी भी पुराण मे 'साधिका' या 'सन्धिकं' के निश्चित काल-मान का निर्देश सम्भवतः उपलब्ध नही होता।

सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मन्वन्तर मे एक सन्धिकाल होता है जो एक कृतयुग के मान के बराबर होता है (अर्थात् ४८०० दिव्यवर्ष) और प्रत्येक कल्प के आरम्भ मे भी एक सन्धिकाल उतने ही वर्षो का होता है। इस प्रकार प्रत्येक ४८०० दिव्यवर्ष के पन्द्रह सन्धिकाल होते हैं जो गणना मे ७२,००० दिव्यवर्ष होते है और यही ६ महायुग के बराबर होता है। इस प्रकार सूर्य-सिद्धान्त के श्लोको द्वारा पुराण के इस स्थल की अपेक्षित व्याख्या की जाती है :—

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥

—सूर्यसिद्धान्त १।१८–१९.

इन श्लोको मे एक नवीन तथ्य की भी सूचना मिलती है। वह यह है कि प्रत्येक सन्धिकाल मे एक जलप्लव—जलप्लावन—(बड़ी बाढ) आता है। यह मत्स्यपुराण के कथन (प्रथम अध्याय) की पुष्टि करता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ होने से पूर्व एक बड़ा ही दीर्घ जलप्लावन आया था जिसमें मत्स्य की अनुकम्पा से मनु ने सृष्टि के समस्त बीजो को बचा लिया था।

मन्वन्तर की कालगणना में पुराणों ने सन्धिकाल को उसमे सम्मिलित न कर उसे अलग ही छोड़ दिया है। यह रीति बिलकुल ठीक है, क्योकि सन्धियाँ होती है पन्द्रह तथा मन्वन्तर होते है चौदह। दो मन्वन्तरों के बीच मे सन्धि होती है; परन्तु कल्प के आरम्भ मे भी तो एक सन्धि होती है। इस प्रकार सन्धियो की संख्या १५ है। यदि सन्धियो का भी काल मन्वन्तर के साथ सम्मिलित किया जायेगा, तो 'कल्प' की संख्या-गणना मे बड़ी गड़बड़ी मच जायेगी। इसे हटाने के लिए पुराणों ने 'सन्धिका ह्येकसप्ततिः' मन्वन्तर की परिभाषा तो अवश्य कर दी, परन्तु सन्धि के काल को मन्वन्तर के साथ जोड़ने की आवश्यकता को स्वीकार नही किया। फलतः पुराणों की मन्वन्तर परिभाषा ज्यौतिषशास्त्र के साक्ष्य पर बिलकुल यथार्थ हैं।

मन्वन्तर के नाम[1]

चौदह मन्वन्तरो के नाम पुराणो मे प्रायः एकाकार ही है।

(१) स्वायम्भुव मनु
(२) स्वारोचिष ,,
(३) उत्तम ,,
(४) तामस ,,
(५) रैवत ,,
(६) चाक्षुष ,,
(७) वैवस्वत मनु (=श्राद्धदेव)
(८) सावर्णि मनु
(९) दक्षसावर्णि ,,
(१०) ब्रह्मसावर्णि
(११) धर्मसावर्णि
(१२) रुद्रसावर्णि
(१३) देवसावर्णि[2]
(१४) इन्द्रसावर्णि

---

१. विष्णु० ३।१ तथा ३।२; भागवत ८।१३

२. अन्तिम दो मनुओ का पूर्वोक्त नाम श्रीमद्भागवत के अनुसार है। विष्णुपुराण में अन्तिम मनुओ की संज्ञा रुचि तथा भौम है, मार्कण्डेय (९४ अ० तथा ९९ अ०) में रौच्य तथा भौत्य नाम मिलते हैं।

मन्वन्तर के अधिकारी

प्रत्येक मन्वन्तर में अधिकांश पुराणों के अनुसार पाँच (भागवत के अनु-सार छः) अधिकारी होते हैं जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने वाले हैं और उस कार्य के अवसान होने पर, मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर, वे अपने अधिकार को छोड़कर निवृत्त हो जाते है। उनके स्थान पर नये मन्वतर में नये अधिकारी नियुक्त किये जाते है। इन अधिकारियों के रूप मे भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है और इन अधिकारियो को विष्णुपुराण स्पष्ट शब्दो मे विष्णु की विभूति मानता है[१]। 'विष्णु' शब्द की निष्पत्ति विश् प्रवेशने धातु से होती है और इसलिए यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते है[२]।

इन अधिकारियो के नाम विष्णुपुराण (३।२।४९) के अनुसार हैं—(१) मनु, (२) सप्तर्षि, (३) देव, (४) देवराज इन्द्र तथा (५) मनुपुत्र। श्रीमद्भागवत मे इन पाँचो अधिकारियो के साथ ही हरि के अंशावतार की भी कल्पना कर संख्या मे एक की वृद्धि की गयी है—

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽंशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥

—भागवत, १२।७।१५

इन अधिकारियो का कार्य बड़ा ही विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण है। विष्णुपुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है, तब वेदो का विप्लव—लोप-हो जाता है। उस समय वेदो का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदो का प्रवर्तन करते हैं। अतः सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर मे वेदो के प्रवर्तक रूप से अधिकारी है[३]। सूर्य-सिद्धान्त के मत का प्रतिपादन ऊपर

---

१. विष्णुपुराण ३।१।४।६

२. तत्रैव ३।१।४५

३. चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लवः।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवं सप्तर्षयो-दिवः॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र-प्रणेता जायते मनुः।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरं तु तत्॥

—विष्णु० ३।२।४६–४७

किया गया है जो चतुर्युग के अन्त मे जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिए प्रत्येक सत्ययुग के आदि मे मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिए मनु का जन्म होता है। फलतः स्मृति-रचयिता के रूप मे मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था मे द्विजो के लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलतः मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञयागो के फल भोगने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे अपने अधिकार को चरितार्थ करते हैं। देवो के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। संसार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिए बीज का पर्याप्त उद्गम होना आवश्यक होता है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर भगवान् इन्द्र ही करते है। फलतः मन्वन्तर मे उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य है (भाग० ८।१४।७)। मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओं से है जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का संरक्षण करते है। 'मनुपुत्र' की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान है अथवा तदीय वंश मे अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्थापद्धति का समाश्रयण करते है दण्डनीति के विधान मे और इस प्रकार प्रजाओं के सरक्षण मे वे सर्वथा कृतकार्य होते है। भागवत के कथनानुसार प्रति मन्वन्तर मे हरि के अंशावतार का भी उदय होता है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है—धर्म का संरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल मे ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्तवत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वयं अवतीर्ण होते हैं और भक्तो का क्लेश स्वयं ध्वस्त कर देते हैं। अतएव भागवत द्वारा अंशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने मे सर्वथा औचित्य उद्भासित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिए सम्राट् तथा शास्ता मानता है। मनु आदि पाँचों व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्त्विक अंश है जिसका कार्य ही है जगत् की स्थिति करना—

> मनवो भूभुजः सेन्द्रा देवाः सप्तर्षयस्तथा।
> सात्त्विकोंऽशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम ॥

विष्णु, ३।२।५४

फलतः जगत् के संरक्षण के कार्य में सहायक जितने भी अधिकारी होते हैं, वे मनु के साथ ही उत्पन्न होते है, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते है जिससे लोक मे सुव्यवस्था की शीतल छाया मानवो का मंगल करती है। इस प्रकार मन्वन्तर की कल्पना लोकमंगल की भावना का एक जाग्रत् प्रतीक है। विना सुव्यवस्था हुए विश्व का कल्याण हो नही सकता और

मन्वन्तर सुव्यवस्था के निर्धारण का एक सुचारु साधन है—यही उसका मांगलिक पक्ष है।[१]

अधिकारियों के नाम

मन्वन्तरो के आदिम आठ मन्वन्तरो का बडा ही विशद विवरण मार्कण्डेय पुराण मे दिया गया है। इसमे प्रत्येक मनु का वैयक्तिक जीवनचरित बड़े विस्तार से दिया गया है जो अन्य पुराणो मे उपलब्ध नही होता। यथा स्वारोचिष मनु की कथा ६१ अ० से आरम्भ कर ६७ अ० तक, उत्तम मनु की कथा ६९ अ० से ७४ अ० तक, तामस की कथा ७४ अ० मे, रैवत की कथा ७५ अ०, वैवस्वत मनु को ७० अ० से लेकर ७९ अ० तक है। अष्टम मनु सावर्णि के चरित-प्रसग मे ही देवी-माहात्म्य का विशद विवरण तेरह अध्यायो मे (८१ अ०—९३ अ०) दिया गया है जो मार्कण्डेयपुराण का प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। अन्य पुराणो मे यत्र-तत्र इन मनुओ की जीवनलीलाओ का सामान्य संकेत ही उपलब्ध होता है, इतना विस्तार नही।

प्रथम पाँच मनुओ का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति के साथ निश्चित रूप से घटित माना गया है और वह व्यक्ति हैं मानवो के आदि स्रष्टा स्वायम्भुव मनु। इन्ही के ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत। और इन्ही प्रियव्रत के वंश मे विष्णुपुराण स्वारोचिष, उत्तम, तामस तथा रैवत की गणना करता है[२]। विष्णुपुराण इस सामान्य निर्देश से ही सन्तोष करता है कि ये चारो मनु प्रियव्रत के अन्वय या वश मे उत्पन्न थे, परन्तु श्रीमद्भागवत का उल्लेख अधिक स्पष्ट तथा विशद है। वह कहता[३] है कि प्रियव्रत की अन्य जाया (बर्हिष्मती से भिन्न भार्या) से उत्पन्न पुत्र उत्तम, तामस तथा रैवत तीनो ही क्रमशः तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम मन्वन्तरो के अधिपति थे।

इसका तात्पर्य यह है कि स्वायम्भुव मनु ही निश्चित रूप से इस मन्वन्तर परम्परा के प्रवर्तक है और उन्ही के वंशधर ही इस महनीय तथा मान्य

---

१. द्रष्टव्य, भागवत अष्टम स्कन्ध, १४ अध्याय जहाँ विष्णुपुराणोक्त तथ्य का पर्याप्त समर्थन किया गया है।

२. स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनवः स्मृताः॥

—विष्णु, ३।१।२४

३. अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः॥ —भागवत ५।१।२८

उपाधि के धारण करने की योग्यता रखते थे और इसी कारण यह पद इसी वंश मे कम से कम पाँच मन्वन्तरो तक अवश्यमेव वर्तमान था। मन्वन्तर की काल-गणना तीस करोड़ वर्षो से भी अधिक ही है। ऐसी दशा मे उत्तम, तामस तथा रैवत जैसे सहोदर भ्राताओ के क्रमशः विभिन्न मन्वन्तरो के अधिपति होने की घटना पर ऐतिहासिक विपर्यय का दोष इसलिए नही लगाया जा सकता कि भागवत के अनुसार प्रियव्रत ने एकादश अर्बुद (अरब) वर्षो तक अकेले ही राज्य का निर्वाह किया था।[1] तब ऐसे दीर्घजीवी पिता के पुत्रो को अलौकिक दीर्घ आयु मिलना कोई विलक्षण वस्तु नही मानी जा सकती। जो कुछ भी हो, इन तीनो का प्रियव्रतान्वय मे अन्तर्भुक्त होना विष्णुपुराण के आधार पर भी मान्य है।

प्रत्येक मन्वन्तर के अधिकारियो का नामनिर्देश अनेक पुराणो मे उपलब्ध है। विष्णुपुराण का विवरण बड़ा ही सुव्यवस्थित तथा विशद है[2]। भागवत मे भी यह अनेक अध्यायो मे है[3]। विस्तृत होने से यह सूची यहाँ नही दी गयी है। केवल वर्तमान मन्वन्तर के अधिकारियो का ही नाम यहाँ दिया गया है। वर्तमान मन्वन्तर सप्तम है—**वैवस्वत मन्वन्तर** जिसके मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र महातेजस्वी तथा बुद्धिमान् **श्राद्धदेव** है। इस मन्वन्तर मे आदित्य, वसु तथा रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनौ और ऋभु—ये देवगण हैं। देवराज इन्द्र का नाम पुरन्दर है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज—ये सप्तर्षियों के नाम हैं जो वर्तमान मन्वन्तर मे अपने विशिष्ट कार्य का निर्वाह करते है। मनु-पुत्रो की संख्या मे मतभेद है। विष्णुपुराण के अनुसार वैवस्वत मनु के ९ पुत्र है—इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नारिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करूष तथा पृषध्र (३।१।३३–३४)। भागवत के अनुसार यह संख्या १० है और पूर्वसूची मे 'वसुमान्' का नाम परिगणित कर यह संख्या पूर्ण की गयी है (भागवत ८।१३।२–३)।

भागवत ने प्रत्येक मन्वन्तर मे भगवान् के विशिष्ट अंशावतार का भी निर्देश किया है। भगवान् स्वयं अवतार लेकर उस मन्वन्तर मे होनेवाली धार्मिक अव्यवस्था को दूर करते हैं, जगत् मे मंगल का साधन करते हैं जिससे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। तथ्य तो यही है कि समस्त मन्वन्तरो मे देवरूप मे स्थित होनेवाले भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्वप्रधाना शक्ति ही संसार की स्थिति मे उसकी अधिष्ठात्री होती है—

---

१. भागवत ५।१।२९।

२. विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय १ तथा २।

३. भागवत स्कन्ध ८, अध्याय ५ तथा १३।

विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता ।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति ॥

—विष्णु, ३।१।३५

प्रत्येक मन्वन्तर मे विष्णुपुराण के अंशावतारो का विवरण विष्णुपुराण मे मिलता है (३।१।३६–४५)। वर्तमान मन्वन्तर के आराध्यदेव **वामन** है जो कश्यप ऋषि के द्वारा अदिति के गर्भ से विष्णु के अंश से प्रकट हुए है[१] ।

सृष्टि का आरम्भ

प्रत्येक हिन्दू अपने संकल्पवाक्य मे सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक होनेवाले काल का संकेत करता है । यह सकल्पवाक्य है—

ॐ तत् सत् । अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरत-खण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तरगते कुमारिका नाम क्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशति-तमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे…… ।

इस संकल्पवाक्य को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि ब्रह्माजी की अपने मान से सौ वर्षो की आयु होती है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर महाप्रलय तक इतना काल व्यतीय होता है। ब्रह्माजी का पूर्व परार्ध अर्थात् आधा जीवन वीत गया है। अपनी आयु का ५० वर्ष व्यतीत कर वे अपने ५१वें वर्ष मे इस समय वर्तमान है। द्वितीय परार्ध का प्रथम कल्प (दिन) चल रहा है जिसका नाम है—'श्वेतवाराह कल्प'। इस प्रथम दिन की भी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल वीत चुके हैं। जानना चाहिए कि चारो युगो की वर्ष सख्या दो प्रकार की होती है दिव्यमान से और मानुष मान से । मनुस्मृति (१।६८–७४ तथा ७९–८०), महाभारत का वनपर्व (अ० १८८।२२–२४,२६), शान्तिपर्व (अ० २३१।१६–३१) तथा भागवत (३।११।१८–२० तथा २२–२४) मे चतुर्युगो के मान दिव्य वर्षो मे दिये गये हैं। हमारा एक वर्ष होता है देवो का एक अहोरात्र। इस प्रकार देव (दिव्य) वर्ष मे ३६० अंको से गुणा करने पर मानुष वर्ष बनते है।

---

१. मन्वन्तरेऽत्र संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज ।
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्या संवभूव ह ॥

—विष्णु ३।१।४२

इसकी तुलना कीजिए भागवत ८।१३।६ से :—
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥

इसका प्रमाण ज्यौतिष तथा उससे भिन्न ग्रन्थो में उपलब्ध होता है। 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर १।४।२१), 'एकं वा एतद् देवानामहर्यत् संवत्सरः' (तैत्ति० ब्रा० ३।६।२२।१)—इसी प्रकार के प्रमापक वाक्य है।

युगों का मान

	देव वर्ष	मानुष वर्ष
कलियुग	१२००	४,३२,०००
द्वापर	२४००	८,६४,०००
त्रेता	३६००	१२,९६,०००
सत्ययुग	४८००	१७,२८,०००
	योग १२,०००	४३,२०,०००

शब्दो मे तैंतालीस लाख वीस हजार वर्ष। ७१ चतुर्युगो का एक मन्वन्तर होता है, इसका सप्रमाण वर्णन ऊपर किया ही गया है। एक मन्वन्तर की मानुषवर्ष की गणना ऊपर दी गयी है—३०,६७,२०,००० (तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार)। एक कल्प मे १४ मन्वन्तरों की सत्ता होने से कल्प की संख्या है—४,२९,४०,८०,०००। सूर्य सिद्धान्त का वचन उद्धृत किया है जिसके अनुसार १४ मन्वन्तरो की १५ सन्धियाँ होती है और प्रत्येक सन्धि का वर्ष परिमाण सत्ययुग के वर्ष के बराबर होता है (१७ लाख २८ हजार वर्ष)। इस प्रकार सब सन्धियों के वर्ष मिलकर होते है=१७ लाख २८ हजार वर्ष×१५=२,५९,२०,००० (दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार)। अब मन्वन्तरो के काल के साथ सन्धिकाल को मिला देने पर एककाल अथवा ब्रह्मा के एक दिन का वर्षमान हो जाता है—एक सहस्र चतुर्युगी=४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष)। इतने ही वर्षो की ब्रह्मा की रात्रि भी होती है, परन्तु कल्प की गणना मे ब्रह्मा की रात्रि की गणना नही की जाती। तात्पर्य यह है कि ब्राह्म दिन ही एक कल्प का बोधक होता है। ब्रह्मा के अहोरात्र के वर्ष होते हैं—आठ अरब चौसठ करोड। इस संख्या मे ३० अंको से गुणा करने पर ब्राह्म मास का काल निकलता है और उसमे १२ का गुणा करने से ब्राह्म वर्ष के समय का पता चलता है। इन अंको मे एक सौ से गुणा करने पर ब्रह्मा की पूरी आयु निकलती है—३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष। इस पूरी आयु मे से बीते हुए काल का निर्देश ऊपर किया गया है। इस काल के भुक्त वर्षो को जानकारी अब आवश्यक है—

(विक्रम सं० २०२१, कलियुग ५०६४, सन् १९६४–६५)

भुक्त कल्प के वर्षों का विवरण

गत छः मन्वन्तरों के वर्ष	=	१,८४,०३,२०,०००
इनकी सात सन्धियों के वर्ष	=	१,२०,९६,०००
सातवें मन्वन्तर के गत २७ चतुर्युगी के वर्ष	=	०,११,६६,४०,०००
२८ त्रियुगी के भुक्त वर्ष	=	३८,८८,०००
२८ कलि का भुक्त वर्ष	=	५,०६४
	=	१,९७,२९,४९,०६४

= शब्दों में एक अरब, सत्तानवे करोड़, उनतीस लाख, उनचास हजार चौंसठ

कल्प के भोग्य वर्षों की गणना कल्प के वर्षों से ऊपरवाली संख्या घटा देने से सरलता से निकल सकती है। इस प्रकार पुराणों के अनुसार पृथ्वी की आयु दो अरब वर्षों के आसपास है। यह गणना आधुनिक वैज्ञानिक गणना से भी मेल खाती है।[१]

---
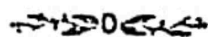
१. नये मतों के लिए द्रष्टव्य महाराज नारायण मेहरोत्रा:—पृथ्वी की आयु (हिन्दी समिति, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, १९६२)

पुराण में धर्मशास्त्रीय विषय

पुराणो ने सब वर्णो के लिए लोक तथा परलोक मे आनन्द से जीवन प्राप्त करने का सबसे सुगम उपाय बतलाया है। वेदो मे भी उस जीवनमय जीवन की उपलब्धि के साधन बतलाये है अवश्य, परन्तु वे कलियुगी जीवो के लिए कष्ट-साध्य तथा शौचसाध्य हैं। कलियुग का प्राणो न तो इतना अर्थसम्पन्न है और न इतना पवित्र है कि यज्ञो के लिए अत्यावश्यक उपकरण का भी वह संचय कर सके। इसलिए कलियुग मे पुराणो के द्वारा प्रतिपाद्य धर्म के ऊपर मनीषियो का इतना अधिक आग्रह है। पद्मपुराण मे व्यासजी युधिष्ठिर से ये सारगर्भित वचन कहे है—"कलियुग मे मनु द्वारा प्रतिपादित तथा वेद द्वारा निर्दिष्ट धर्मो का आचरण नही किया जा सकता; परन्तु पुराणों में प्रतिपादित एकादशी व्रत का अनुष्ठान सुखपूर्वक अल्प धन से तथा स्वल्प क्लेश से किया जा सकता है तथा फल भी उससे महान् उत्पन्न होता है। इसलिए यमलोक से निवृत्ति पाने की अभिलाषा से प्रत्येक मनुष्य को यावज्जीवन एकादशी व्रत करना चाहिए[१]।" सूतसंहिता में भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है (१।७।२२)। फलतः पुराणों ने अल्प प्रयास से सर्वसाधारण के लिए मुक्ति-प्राप्ति के सुलभ साधनो को बतलाया और आजकल पुराण की लोकप्रियता का रहस्य इसी घटना मे छिपा हुआ है।

अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त को पुष्टि के लिए पुराणो ने महाभारत तथा मनुस्मृति के कतिपय नियमो का उल्लंघन भी कभी-कभी किया है। बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा वशिष्ठधर्मसूत्र ने श्राद्ध मे विस्तार करने का इसलिए निषेध किया है कि यह पाँच वस्तुओ का अपकर्ष करता है—सत्कार—निमन्त्रित व्यक्तियो के प्रति पूर्ण सत्कार का दिखलाना, देश तथा काल का औचित्य, शुचिता, योग्य ब्राह्मणों की प्राप्ति। इन्ही कारणो से श्राद्ध मे विस्तार न करना चाहिए—

---

१. श्रुता ते मानवा धर्मा वैदिकाश्च श्रुतास्त्वया।
कलौ युगे न शक्यन्ते ते वै कर्तुं नराधिप॥
सुखोपायमल्पधनमल्पक्लेशं महाफलम्।
पुराणानां च सर्वेषां सारभूतं महामते।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥

—पद्म ६।५३।४–६

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥

(मनु ३।१२६; बौ० ध० सू० २।४।४०; कूर्मपुराण २।२२।२७)

अनुशासन पर्व तथा अन्यत्र श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों के पात्रत्व का विचार बलपूर्वक उद्घोषित है[1]। दैव कर्म में ब्राह्मण की योग्यता का विचार नहीं करना चाहिए, परन्तु पितृकर्म में योग्यता की परीक्षा एकान्त आवश्यक है। अनुशासन के इस तथ्य का उद्घोष वायुपुराण में भी उपलब्ध होता है।[2] परन्तु, पुराणों ने इन दोनों नियमों के उल्लंघन के प्रति अपना पूर्ण आग्रह दिखलाया है। श्राद्ध के अवसर पर प्रभूत धन व्यय करने की शिक्षा देते हुए पुराण कभी नहीं थकते। 'वित्तशाठ्य' की इस अवसर पर पुराणों में बड़ी निन्दा है। सम्पत्ति होने पर श्राद्ध तथा एकादशी के अवसर पर व्यय करने में कभी भी शठता या कृपणता न करनी चाहिए। इस प्रसङ्ग में विष्णुपुराण में एतद्-विषयक श्लोक स्मरणीय हैं जिनमें पितृगणों ने अपनी कामना अभिव्यक्त की है। ऐसे नव[3] श्लोकों (३।१४।२२–३०) में से एक-दो श्लोक ही यहाँ दिये जाते हैं—

अपि धन्यः कुले जायात् अस्माकं मतिमान् नरः ।
अकुर्वन् वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु ।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुदिश्य दास्यति ॥

—विष्णु ३।१४।२२–२३

पितरों की यह भावना नितान्त सुन्दर है। इन श्लोकों का आशय है कि हमारे कुल में क्या कोई ऐसा मतिमान् धन्य पुरुष उत्पन्न होगा जो वित्त की लोलुपता को छोड़कर हमें पिण्डदान देगा ? तथा जो सम्पत्ति होने पर हमारे उद्देश्य से ब्राह्मणों को रत्न, वस्त्र, यान और सम्पूर्ण भोगसामग्री देगा ? वित्त-

---

१. ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहुः परीक्षणम् ॥

—अनुशासन ९०।२ (हेमाद्रि द्वारा उद्धृत)

२. न ब्राह्मणान् परीक्षेत सदा देये तु मानवः ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च श्रूयते वै परीक्षणम् ॥

—वायु० ८३।५१

३. ये नव श्लोक वाराहपुराण १३।४०–५१ में भी अक्षरशः समान ही हैं। ३।१४।२४–३० श्लोक श्राद्धक्रियाकौमुदी में उद्धृत हैं तथा व्याख्यात भी हैं।

शाठ्य की निन्दा एकादशी-व्रत के अनुष्ठान के अवसर पर पद्मपुराण मे भी की गयी है (पद्म १।६१।८१; ६।३९।२१)। तीर्थस्थ ब्राह्मणो की पात्रता, अपात्रता का भी विचार पुराणो ने हेय माना है। ब्राह्मण की योग्यता का विचार पुराणों की सामान्य दृष्टि से सर्वदा ओझल रहता है। वायु पुराण ने गया तीर्थ के ब्राह्मण के कुल, शील, विद्या तथा तप के परीक्षण को अनावश्यक बतलाया है। ब्राह्मण के पूजन मात्र से ही मुक्ति प्राप्त होती है[१]। वराह-पुराण ने इसी प्रकार मथुरा के ब्राह्मणो को पात्रता के समीक्षण से बहिर्भूत ही रखा है[२]। इस प्रकार पुराणो ने महाभारत मे निर्दिष्ट दोनो नियमो का अपवाद उपस्थित किया है।

ब्राह्मणों के सद्गुणों को अपवाद मानने मे पुराणो का एक गम्भीर तात्पर्य लक्षित होता है जिसे काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ मे स्फुटीकृत किया है। बौद्ध धर्म को राजकीय आश्रय प्राप्त होने पर वैदिक धर्म की रक्षा की समस्या मनीषियो के सामने प्रस्तुत हुई। ब्राह्मण ही ऐसा वर्ग था जो वैदिक धर्म के सरक्षण का महनीय कार्य करता था, परन्तु उसके योगक्षेम की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि उसकी रक्षा की व्यवस्था राजा या सम्पन्न गृहस्थ नही करता, तो वेद का संरक्षण क्योंकर सम्पन्न हो सकता है? इसी अभिप्राय को लक्ष्य मे रखकर ही—अपने युग की एक विषम समस्या के सुलझाने के निमित्त ही पुराणों ने ऐसी व्यवस्था दी है। तभी तो पद्मपुराण का यह वचन सुसङ्गत होता है—

> तीर्थेषु ब्राह्मणं नैव परीक्षेत कथंचन।
> अन्नार्थिनमनुप्राप्तं भोज्यं तं मनुरब्रवीत् ॥
>
> —पद्म ५।२९।२१२

इसी तात्पर्य की मुख्यता को ध्यान मे रखकर पुराणों ने दान, श्राद्ध, तीर्थयात्रा तथा पवित्र नदियों में स्नानादि व्रत, भक्ति, अहिंसा, भगवन्नामकीर्तन आदि को सद्गृहस्थों के लिए आवश्यक कर्तव्यो के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

पूर्त धर्म

वैदिक समाज मे इष्टापूर्त की महिमा विशिष्टरूपेण मान्य तथा ग्राह्य है। 'इष्टापूर्त' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के एक मन्त्र मे (१०।१४।८) उपलब्ध

---

१. न विचार्यं कुलं शीलं विद्या च तप एव च।
पूजितैस्तैस्तु राजेन्द्र ! मुक्तिं प्राप्नोति मानवः ॥ —वायु ८२।२७

२. अनृग् वै माथुरो यत्र चतुर्वेदस्तथाऽपरः।
वेदैश्चतुर्भिर्न च स्यान्माथुरेण समः क्वचित् ॥ —वराह १६५।५५

होता है परन्तु इसकी व्याख्या या अर्थ-संकेत यहाँ नही मिलता। पुराणों मे इन शब्दो की व्याख्या मिलती हे जिससे इष्ट वेद द्वारा प्रतिपाद्य कर्म है तथा पूर्त पुराणो द्वारा प्रशंसित कर्म है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

—मार्कण्डेय, १६।१२३, १२४ तथा अग्नि, २०९।२–३

= अत्रिसंहिता, ४३–४४

तात्पर्य यह है कि जनता के कल्याण के लिए वापी, कूप, तालाव का खोदवाना, मन्दिर का निर्माण करना, यात्रको को अन्न प्रदान करना 'पूर्त' कहलाता है। और इसी धर्म का अनुष्ठान पुराणो के द्वारा वहुशः प्रशंसित है। पुराणो मे ऐसे वहुत से विचार है, जो विल्कुल आधुनिक प्रतीत होते है, जैसे समाज की सेवा तथा आर्तो-पीडितो के दुःख का अपनयन सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप मे परिगणित किया गया है। परोपकार को ही मुख्य धर्म वतलानेवाले कतिपय पुराण-वचन द्रष्टव्य हैं।

अवतारवाद पुराणो का महनीय दार्शनिक सिद्धान्त है जिसका विस्तृत विवेचन पीछे किया गया है। अवतार के साथ ही भक्ति का सिद्धान्त भी पुराण मे वैशद्येन प्रतिपादित है। भक्ति एक वैदिक तत्व है और इसके ऊपर किसी वाहरी प्रभाव को खोज निकालना नितान्त भ्रान्त है—इसकी सूचना अन्यत्र दी गयी है। इसी से सम्वद्ध व्रतों का भी पुराणो मे वड़ा विस्तार है। वर्ष के कतिपय मास जैसे वैशाख, अगहन तथा माघ आदि नितान्त पवित्र माने जाते है। तिथियो मे एकादशी तो वैष्णवो के लिए तथा प्रदोष व्रत शैवो के लिए नितान्त उपादेय माने जाते है।

---

१. न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत् सुख प्राप्यते नरैः ।
यदार्तजन्तुनिर्वाण दानोत्थमिति मे मतिः ॥

—मार्कण्डेय, १५।५७

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च ।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् वदेत् ॥

—विष्णु, ३।१२।४५

जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा ॥

—ब्रह्म, १२५।३६

दान का भी वैशद्येन विवरण पुराण का अपना विषय है। निबन्धकारों में अन्यतम वल्लालसेन ने अपने **दानसागर** मे दान का बड़ा ही विशद तथा प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमे पुराणो के आवश्यक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। षोडश महादानो का विशिष्ट वर्णन भी अनेक पुराणो मे उपलब्ध होता है।

श्राद्ध का विषय भी बड़ा उपादेय माना जाता है। तीर्थो मे श्राद्ध का विधान आवश्यक माना जाता है। गरुडपुराण का उत्तर खण्ड प्रेतकल्प के नाम से विख्यात है (३५ अध्यायो मे) जिसमे और्ध्वदैहिक क्रियाओ से सम्बद्ध हिन्दू-भावनाओ का एक विस्तृत प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। श्राद्ध के विषय में सर्वमान्य होने स गयातीर्थ की महिमा प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। महाभारत के वनपर्व मे गया तथा वहाँ के अक्षयवट का गौरव बड़ी सुन्दरता से वर्णित है। वहाँ पितृगणो का वह लोकप्रिय वचन भी उद्धृत है जिसमे वे लोग गया मे श्राद्ध की संस्तुति करते हैं—

एष्टव्या वहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाऽश्वमेधेन नील वा वृषमुत्सृजेत् ॥

—वनपर्व ८४।९७

तीर्थ-माहात्म्य

पुराणों मे तीर्थो की महिमा का विपुल वर्णन मिलता है। यह इतना साङ्गोपाङ्गरूप से वर्णित है कि उस प्रदेश का विस्तृत भौगोलिक चित्र रुचिरता से प्रस्तुत किया जा सकता है। तीर्थयात्रा के पौराणिक प्रसङ्ग को भूगाल का पूरक मानना चाहिए। उदाहरणार्थ स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड का समीक्षण कीजिए। **रेवा**—नमंदा के तीर पर वर्तमान तीर्थो का यह साङ्ग विवरण उस प्रदेश के भौगोलिक वृत्त की सर्वथा पूर्ति करता है। **काशीखण्ड** की भी दशा ऐसी ही है। इस खण्ड मे काशीस्थ शैवलिङ्गो का इतना सुचारु वर्णन है कि उसकी सहायता से काशी के प्रख्यात स्थानो का स्थल-निर्देश भली भाँति आज भी किया जा सकता है। किसी स्थान पर किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गयी तपश्चर्या से परिपूत स्थलविशेष की संज्ञा 'तीर्थ' है। 'तीर्थ' का मूल अर्थ है वह स्थान जहाँ पर किसी नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे स्थानो पर जनता का एकत्र होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे नदीतट होने से पवित्रता की दिव्य भावना से मण्डित होने पर वही स्थान धार्मिक तात्पर्यवाले 'तीर्थ' के रूप से परिगृहीत हो जाता है। तीर्थ मूलतः नदी से सम्बद्ध है। तदनन्तर अन्य भी पवित्र स्थल, जो पर्वतो के ऊपर भी वर्तमान रहते हैं, तीर्थ की संज्ञा पाने लगते है। तीर्थ भारतवासियो को एकता के सूत्र मे बाँधनेवाले साधनो मे अन्यतम

है। ऐसा कोई दिव्य सुन्दरतामण्डित नदी-तीर, पर्वत-शिखर, झील या जल-प्रपात नही है जहाँ भारतीयता के प्रसारक न पहुँचे हो और पहुँचकर जिन्हें वे तीर्थ के रूप मे दिव्य रूप प्रदान न किये हो।

तीर्थ की महिमा का प्रतिपादन महाभारत के समय से ही है। वनपर्व मे एक बडा दीर्घ अवान्तर पर्व छिहत्तर अध्यायो का है (८० अ०–१५६ अ०) जो तीर्थयात्रा पर्व के नाम से विख्यात है। इन अध्यायो मे तीर्थो के तीन वर्णन हैं जिनका भौगोलिक क्षेत्र क्रमशः विस्तृत तथा विस्तीर्ण होता गया है। प्रथम तीर्थो का वर्णन है पुलस्त्य के द्वारा (८० अ०–८५ अ०), दूसरा है धौम्य के द्वारा (८६ अ०–९० अ०) तथा तीसरी और पूर्ण विकसित सूची तीर्थो की है लोमश के द्वारा व्याख्यात (९१ अ०–१५६ अ०)। प्रथम दोनो सूचियो मे स्थानो का निर्देशमात्र है तथा धार्मिक चूर्णिका स्वल्प मात्रा मे है। तृतीय सूची मे अधिकतम स्थलो का ही निर्देश नही है, प्रत्युत उनसे सम्बद्ध ऐतिहासिक महत्त्वशाली घटनाओ का भी विस्तृत विवरण तीर्थो के महत्त्व को भूरिशः प्रकट करता है। यथा वनपर्व के १३५ अध्याय में कनखल तीर्थ तथा गंगा का माहात्म्य वर्णित है। वहाँ प्रसङ्गतः रैभ्याश्रम की सूचना है जहाँ भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत का नाश हुआ था। इसी प्रसङ्ग की व्याख्या मे यवक्रीत का वह विश्रुत उपाख्यान यहाँ चार अध्यायो मे (१३५ अ०–१३८ अ०) वर्णित है जिसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ४।२।६० सूत्र के भाष्य मे निर्दिष्ट किया है और जो किसी समय लोगो मे नितान्त प्रख्यात था।

पुराणो ने महाभारत की इस शैली को अपनाकर तीर्थो के माहात्म्य-वर्णन के अवसर पर प्राचीन आख्यानों का भी विशद उल्लेख किया है। जैसे ब्रह्म-पुराण मे तीर्थो का बडा विशाल विवरण है वहाँ प्राचीन आख्यानो का निर्देश करना पुराणकार कभी भूलते नही। ब्रह्मपुराण के १३१ अ० मे यमतीर्थ के वर्णन-प्रसङ्ग मे सरमा के वैदिक आख्यान का पूरा विवरण दिया गया है। १३६ अ० मे विष्णुतीर्थ के प्रसङ्ग मे मौद्गल्य का आख्यान वर्णित है। १७१ अ० मे उर्वशी तीर्थ के अवसर पर पुरूरवा का आख्यान है। यह तीर्थ-वर्णन १०९ अध्याय से प्रारम्भ कर १७८ अ० तक फैला हुआ है। अग्निपुराण ने १०६ अ० में तीर्थो की सूची एकत्र देकर इसके अगले अध्यायो मे तीर्थ-विशेषो का—गङ्गा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा, गया—का पृथक्-पृथक् विवरण संक्षेप मे दिया है। देवविशेषो से सम्बद्ध तीर्थो की एकत्र सूची पुराणो में उप-लब्ध होती है—पितृतीर्थ सूची (मत्स्य २२ अ०), देवीपीठ सूची (मत्स्य १३ अ०), ब्रह्मतीर्थ सूची (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। अग्निपुराण ने अत्यन्त संक्षिप्त विवरण केवल पूर्वनिर्दिष्ट पाँच तीर्थो का ही दिया है। प्रतीत होता है कि ये तीर्थ-पञ्चक—गगा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा तथा गया—अत्यन्त प्राचीन काल

से ही प्रख्याति पाते आते है।[1] धीरे-धीरे यह संख्या बढकर समग्र भारतवर्ष को ही अपने मे समेटे हुई है।

राजधर्म

पुराणो मे राजधर्म का विवरण अनेक स्थलो पर बहुशः उपलब्ध है। राजा की उत्पत्ति प्राचीन काल मे क्यो हुई ? उसके सहायक कितने अङ्ग तथा उपाङ्ग होते हैं ? साम,दाम, दण्ड भेद राजा के ये चार मुख्य धर्म कब उपयोग में लाये जाते है ? आदि प्रश्नो का समुचित समाधान पुराणो मे किया गया है। मत्स्य-पुराण मे (२१६ अ०—२२६ अ०) यह विषय संक्षेप मे विवृत है। राजकुमार को शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार देना चाहिये इसका विस्तृत विवरण २१६ अ० मे यहाँ दिया गया है। राजा के सात प्रसिद्ध अंग यहाँ भी निर्दिष्ट हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, दण्ड, कोश तथा मित्र (सहायक राजागण)। साम (२२१ अ०), भेद (२२२ अ०), (२२४ अ० तथा २२६ अ०) के प्रयोग के अनन्तर, राजा का साम्य विभिन्न देवो के साथ किस प्रकार न्याय्य तथा उचित है—इस विषय का सुन्दर वर्णन भी यहाँ एक पूरे अध्याय (२२५) में उपलब्ध हैं। अग्निपुराण (२१८ अ०—२३७ अ०) मे भी यह विषय विस्तार से विवृत है।[2] वक्ता है पुष्कर जो विष्णुधर्मोत्तर (२।११७–९) के साक्ष्य पर वरुण के पुत्र है तथा बोधव्य है परशुराम। यही पुष्करनीति विष्णुधर्मोत्तर के कई अध्यायो में वर्णित है (२।६५–७२; १४५–१६५ अ०)। वक्ता तथा बोधव्य दोनो ही वे ही है जैसे अग्निपुराण मे निबन्धकारो ने अपने-अपने निबन्धो मे अग्निपुराणस्थ इन प्रकरणो के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। अग्नि-पुराण के कई अध्यायों में राम के द्वारा लक्ष्मण जी को प्रतिपादित नीति का विवेचन है (२३८ अ०—२४२ अ० तक)। यहाँ राजधर्म का ही विशेष-रूप से वर्णन है। यह रामनीति कौटिल्य के अर्थशास्त्र का बहुशः अनुसरण करती है। राम के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी इसमे उदात्तता तथा महनीयता का नितान्त अभाव है, जिन्हे हम राम के साथ सम्बद्ध मानते आते है। तथ्य यह है कि यह कामन्दकीय नीति का सारसंकलन प्रस्तुत करता है जो अग्नि-

१. पुराणो मे विविध स्थानो पर विवृत तीर्थमाहात्म्य को एकत्र कर काणे महोदय ने बड़ी सुन्दरतया प्रदर्शित किया है। देखिए उनका 'हिस्ट्री आव धर्म-शास्त्र' चतुर्थ खण्ड जहाँ पुराणो तथा नवीन इतिहास के आधार पर प्रधान तीर्थो के महत्त्वपूर्ण विवरण भी है।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य Political Thought and Practice in the Agni Purana vol III PP. 35-37

पुराण की संग्राहक शैली के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। गरुडपुराण के कई अध्यायो मे (१०८–११५ अ०) से नीतिसार नामक उपन्यस्त प्रकरण इसी विषय से भी संबन्ध रखता है। इसमे धर्म, अर्थ तथा काम अर्थात् पुरुषार्थ से सम्बद्ध फुटकल श्लोको का सग्रह तो है ही। साथ ही साथ राजधर्म तथा राजतन्त्र से सम्बद्ध श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। इस नीतिसार प्रकरण के श्लोक अन्यान्य पुराणो तथा सुभाषित ग्रन्थो से अविकल अथवा किञ्चित् पाठ-भेद के साथ यहाँ उद्धृत किये गये है। नीतिसार प्रकरण मे अनेक श्लोक गरुड-पुराण का नाम लेकर 'राजनीतिप्रकाश' मे उद्धृत किये गये है। राज्याभिषेक का प्रसंग अग्निपुराण मे आता है, जहाँ अभिषेक के निमित्त अनेक पौराणिक मन्त्र भी उपन्यस्त किये गये हैं (२१८—२१९ अध्याय)। इन प्रकरणो मे राजनीति के तथ्य सम्बन्धी बातो का भी अन्वेषण किया जा सकता है, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थो के संक्षेप प्रस्तुत करने के हेतु मौलिकता की विशेष आशा नहीं है।

राजनीतिविषयक वर्णन मत्स्य, अग्नि तथा गरुड के अतिरिक्त मार्कण्डेय जैसे पुराण मे तथा और विष्णुधर्मोत्तर जैसे उपपुराणो मे भी प्राप्त होते हैं। इन अध्यायो के परिशीलन से पौराणिक राज-धर्म का स्वरूप भली भाँति अभिव्यक्त होता है जो महाभारत आदि ग्रन्थो मे प्रतिपाद्य राजनीति से भिन्न नही है। राजा के विषय मे मत्स्यपुराण एक बड़े पते की बात बतलाता है। वह इस प्रकार है—

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योपिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥

—मत्स्य २१५।६४

इसका तात्पर्य है कि कृपण, अनाथ, वृद्ध तथा विधवाओ के योगक्षेम तथा वृत्ति का प्रबन्ध करना राजा का महनीय धर्म होना चाहिए। यह श्लोक महा-भारत के एक श्लोक की ओर संकेत करता है जिसमे नारदजी ने युधिष्ठिर से अनाथ, अन्ध तथा अङ्गहीन लोगो की वृत्ति नियत करने का उपदेश किया है—

कच्चिदन्धांश्च मूकाश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान्-
पितेव पासि धर्मज्ञ ! तथा प्रव्रजितानपि।

—सभापर्व ५।१२४

इस प्रकार के राज्य को, जिसमे वृद्धो, अनाथों, लूलो, लँगडों की वृत्ति का प्रबन्ध होता है जिससे वे भी संसार मे जीवन निर्वाह कर सकते हैं, आजकल की भाषा मे 'वेलफेयर स्टेट' अर्थात् कल्याण राष्ट्र कहते है। यह आजकल के नितान्त समुन्नत राष्ट्र के विकसित रूप का प्रतीक माना जाता है। आश्चर्य की बात है कि पुराणो ने राष्ट्र का यही समुज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत रखा है

जिसमे किसी दोष के कारण कोई भी प्राणी जीने के अधिकार से वंचित न रह जाय। गरुडपुराण के नीतिसार का प्रकरण अपनी नैतिक शिक्षा के लिए बड़ा ही उपोदय तथा संग्रहणीय है। संस्कृत के नीतिवाक्यों के भीतर शताब्दियों से संचित अनुभव अपनी अभिव्यक्ति पाता है। वाक्य तो होते हैं छोटे, परन्तु उनके भीतर गम्भीर अर्थ भरा रहता है। बुढापे के रूप पहिचानने के लिए यह श्लोक कितना सारवान् है—

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा॥

यहाँ चार पदार्थों के वार्धक्य या जीर्णता का विवरण है और ये चारों बातें गम्भीर अनुभूति के ऊपर आश्रित है। इसी प्रकार गार्हस्थ्य जीवन के आदर्श का संकेत इस छोटे से पद्य मे कितनी रुचिरता से दिया गया है :—

यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
उत्तरोत्तरवादास्या सा जरा, न जरा जरा॥

—गरुड १०८।२३

पुराणो मे नीति के ये स्थल बड़े ही मार्मिक सारवान् तथा उपादेय हैं[१]।

पुराणों में विज्ञान

लोकोपयोगी अनेक विद्याओ का वर्णन पुराणो मे, विशेषतः विश्वकोशीय अग्नि०, गरुड० तथा नारदीय० मे प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। वर्णन है तो संक्षिप्त ही, परन्तु पर्याप्त प्रामाणिक है। लोक-व्यवहार के लिए इतनी भी जानकारी कम उपयोगी नही है। कुछ विद्याएँ तो इतनी विलक्षण हैं कि उनके मूल ग्रन्थ आज बड़े परिश्रम से खोजे जा सकते है। पुराणों ने इन विद्याओं के आचार्यो के भी नाम तथा मत दिये है जो अज्ञात या अल्पज्ञात हैं। अतः संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का भी परिचय पुराणो के गम्भीर अध्ययन से सर्वथा सुलभ है। इसी दृष्टि से भी पुराणो का अध्ययन लोकोपयोगी तथा कल्याणकारी है। इस विषय की स्थूल सामग्री संक्षेप मे यहाँ दी गयी है।

(१) अश्वशास्त्र—यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व के ५।१०९ में अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वो की चिकित्सा के निमित्त एक

१. द्रष्टव्य Political Thoughts in the Puranas सम्पादक जगदीश लाल शास्त्री (लाहौर)। इस ग्रन्थ मे मत्स्य, अग्नि, मार्कण्डेय, गरुड, कालिका तथा विष्णुधर्मोत्तर के राजनीतिपरक अध्याय पूरे रूप मे संगृहीत हैं, तथा विष्णुधर्मोत्तर के राजनीतिकपरक अध्याय पूरे रूप मे संग्रहीत है, तथा उनके आधार पर पुराणों के एतद्-विषयक विचार संक्षेप मे दिये गये है।

वास्तुविद्या

मन्दिर तथा राजप्रासाद की निर्माणविधि को वास्तुशास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। सामान्य गृहस्थो के लिए तो कम, परन्तु राजाओ के लिए अत्यधिक। मत्स्यपुराण ने इस विषय का बड़ा ही विस्तृत वर्णन अठारह अध्यायो मे दिया है (२५२ अ०–२७० अ०)। अग्निपुराण ने भी यह विषय अनेक अध्यायो में विकीर्ण रूप से प्रस्तुत किया है (४० अ०, ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०, २४७ अ०)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी इन विषयो का विवेचन है (३।२९–३१)। संक्षिप्त विवेचन गरुड मे भी उपलब्ध होता हैं (१।४६)। इन सबमे विस्तृत विवेचन होने के कारण मत्स्य का विवरण विशेष महत्त्व रखता है। प्रतीत होता है कि मत्स्य ने किसी विशिष्ट वास्तुशास्त्रीय निबन्ध का सार अपने अध्यायो मे प्रस्तुत किया है। यहाँ चार विषयो का विवेचन पुराणकार करता है—(१) वास्तुविद्या के मूल सिद्धान्त; (२) स्थान का चुनाव तथा उसपर निर्माण की रूपरेखा; (३) देवों की मूर्तियो का निर्माण तथा (४) मन्दिर तथा राजप्रासादों की रचना। मत्स्य के २५२ अ० मे इस शास्त्र के १८ आचार्यों के नाम दिये गये हैं (भृगु, अत्रि, विश्वकर्मा, मय, नारद आदि); इनमे से कतिपय नाम काल्पनिक हो सकते हैं, परन्तु जैसा अन्य स्रोतो से सिद्ध होता है अनेक नाम वास्तविक हैं। इन आचार्यों ने वास्तव मे इस शास्त्र के विषय मे ग्रंथों का प्रणयन किया था[1]।

गृहनिर्माण का काल (२५३ अ०), भवन-निर्माण (२५४ अ०), स्तम्भ का मान-निर्णय (२५५ अ०) आदि विषयो का विवरण देने के अनन्तर इस पुराण ने देवप्रतिष्ठा की विधि तथा प्रासाद-निर्माण की विधि का विवेचन विस्तार से किया है। इसी प्रसङ्ग मे प्रतिमा लक्षण की भी चर्चा पुराणो मे है। अग्निपुराण ने ४९–५५ अध्यायो मे पूज्य देवता की प्रतिमाओ के लक्षण तथा निर्माण का विवरण दिया है। मत्स्य ने भी यही विषय २५८–२६४ अ० मे दिया है[2]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड मे भी यही विषय विवृत है।

---

१. श्री तारापद भट्टाचार्य ने वास्तुविद्या के अपने अनुशीलन Canons of Indian Architecture नामक ग्रंथ मे इन अठारहो आचार्यो की ऐतिहासिकता का तथा उनके ग्रंथो का समीक्षण प्रस्तुत किया है (१९४७ ई० मे प्रकाशित)।

२. मत्स्य के इन परिच्छेदो की विस्तृत तथा चित्रसमन्वित व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल रचित मत्स्यपुराण—ए स्टडी—नामक अंग्रेजी ग्रन्थ (पृष्ठ ३४२–३७०)। इन पृष्ठो मे यह विषय बड़ी सुन्दरता तथा विशदता के साथ विवेचित किया गया है।

पुराणों के अतिरिक्त यह विषय मौलिक रूप से मानसार, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, सूत्रधारमण्डन, रूपमण्डन तथा बृहत्संहिता (५८ अ०) मे विस्तार से दिया गया है ।

ज्योतिष—ज्योतिष का भी विवरण पुराणो मे यत्र-तत्र उपन्यस्त है, खगोल तो भूगोल के साथ संवलित होकर अनेक पुराणो मे अपना स्थान रखता है यथा श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध मे (१६ अ०—२५ अ०) और इसो के अनुकरण पर देवीभागवत के स्कन्ध ८ (५अ०—२० अ०) मे। गरुडपुराण मे पाच अध्याय (५९ अ०—६४ अ०) इसी विषय के वर्तमान है जिनमे फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण है। नक्षत्रदेवताकथन, योगिनोस्थिति का निर्णय, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा विवरण, दशाफल, यात्रा मे शुभाशुभ का कथन, राशियो का परिमाण, विभिन्न लग्नो मे विवाह के फल आदि विषयों का विवरण इन अध्यायों मे दिया गया है। नारदीयपुराण के नक्षत्रकल्प मे भी (१।५५—५३) नक्षत्र सम्बन्धी बाते दी गयी है। इस पुराण के ५४ अ० में गणित का विवरण है। अग्निपुराण के कतिपय अध्यायो मे (१२१ अ०) शुभाशुभ विवेक के विषय मे वर्णन उपलब्ध है।

सामुद्रिक शास्त्र—स्त्री-पुरुषो के शारीरिक लक्षणो के विषय मे किसी समुद्र नामक प्राचीन आचार्य का ग्रन्थ था। आज भी सामुद्रिक शास्त्र के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु यह उतना प्राचीन नही प्रतीत होता। स्त्री-पुरुषो के विभिन्न अंगो के स्वरूप को देखकर, उच्चता-ह्रस्वता-दीर्घता-लघुता आदि की परीक्षा कर उनके जीवन की दिशा को बतलाना इस विद्या का अङ्ग है। सुन्दरकाण्ड के एक विशिष्ट सर्ग मे रामचन्द्र के अङ्गविन्यास का विवरण बड़ी सचेष्टता से दिया गया है। यह अङ्गविद्या (प्राकृत अङ्ग विज्जा) का विषय है। अङ्गविद्या सामुद्रिक विद्या के साथ सम्बद्ध एक प्राचीन विद्या थी जिसके द्वारा नर-नारी के शरीर का विस्तृत वर्णन शुभ या अशुभ सूचना के साथ उपस्थित किया जाता था। वीरमित्रोदय के 'लक्षणप्रकाश' मे मित्रमिश्र ने इस विद्या से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री प्राचीन आचार्यो के वचनो के उद्धरण के साथ उपस्थित की है। पुराणो ने अङ्गविद्या का भी सकलन अपने अध्यायो मे किया है। अग्निपुराण के २४३—२४५ अध्यायो मे तथा गरुडपुराण के १।६३—६५ अध्यायो मे यही विद्या प्रपंचित है। जैन धर्म मे अनेक ग्रंथ इसी अङ्गविद्या (=अङ्गविज्जा) से सम्बन्ध रखनेवाले उपलब्ध हुए है जिनमे एक प्राकृत ग्रंथ प्राकृत ग्रन्थमाला (काशी) से हाल मे ही प्रकाशित हुआ है।

धनुर्विद्या

प्राचीन काल मे यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी, परन्तु देश के परतन्त्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते

है। प्रपंचहृदय मे इस शास्त्र के वक्तारूप मे ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, मनु तथा जमदग्नि के नाम निर्दिष्ट है। महाभारत के अन्य पर्वों मे इस विद्या के आचार्यों के नाम सस्मृत हैं, अगस्त्य का नाम आदिपर्व मे (१५२।१०, कुम्भकोण सं०) तथा भरद्वाज का नाम शान्तिपर्व मे (२१०।२१) धनुर्विद्या के आचार्यरूप मे उल्लिखित है। जमदग्नि का उल्लेख उल्हण करते है। अग्निपुराण के चार अध्यायो मे (२४९–२५२ अ०) इस विद्या का सार सङ्कलित किया गया है। मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' मे विश्वामित्रकृत धनुर्वेद का उल्लेख किया है, परन्तु यह ग्रंथ उपलब्ध नही है।[1]

पुराणों में वर्णित विचित्र विद्याएँ

पुराणो मे ऐसी विद्याएँ आख्यानको के प्रसङ्ग मे वर्णित हैं जिनपर आधुनिक मानव प्राय: विश्वास नही करता, परन्तु उस युग में वे सच्ची थीं तथा उनका उपयोग जनसाधारण के बीच किया जाता था। सस्कृत मे 'मन्त्र', शास्त्र, माया और विज्ञान तथा पाली मे मन्त्र और विज्जा विद्या के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इन विद्याओ मे से कुछ का संकेत यहाँ दिया जाता है—

(१) **अनुलेपन विद्या**—मार्कण्डेय (अ० ६१, ८–२० श्लोक) मे ऐसे विशिष्ट पादलेप का सकेत है जिसे पैर मे लगाने से आधे दिन मे ही सहस्र योजन की यात्रा करने की शक्ति आती थी। इसके उपयोक्ता एक ब्राह्मण की चर्चा है जिसने एक अन्य ब्राह्मण को यह पादलेप दिया। इसके प्रभाव से वह हिमालय पहुच गया, परन्तु सूरज की धूप के कारण तप्त बरफ पर पैर रखने से वह लेप धुल गया जिससे यात्रा की वह अलौकिक शक्ति नष्ट हो गयी।

(२) **स्वेच्छारूपधारिणी विद्या**—मार्कण्डेय (द्वितीय अ०) मे इसका सुन्दर दृष्टान्त है। जब कन्धर ने अपने भ्राता कक के वध का बदला चुकाने के लिए विद्युद्रूप राक्षस का वध किया, तब उसकी पत्नी मदनिका ने कन्धर के निकट आत्मसमर्पण किया। मदनिका को यह विद्या आती थी जिससे स्वेच्छया अभीष्ट रूप का धारण किया जाता था। वह कन्धर के घर मे आकर यक्षिणी बन गयी (द्वितीय अ०)। महिषासुर ने स्वेच्छा से सिंह, योद्धा, मतङ्ग तथा महिष का रूप धारण किया था इस विद्या के प्रभाव से (मार्क० ८३।२०; स्कन्द ब्रह्मखण्ड ७।१५–२७)। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड मे राजा धर्ममूर्ति की प्रशंसा मे कहा गया है कि वह 'यथेच्छरूपधारी' था (२१।३)।

(३) **अस्त्रग्राम हृदय विद्या**—इसके द्वारा अस्त्रो का रहस्य जाना जाता था जिससे शत्रुओ की पराजय अनायास होती थी। मनोरमा नामक विद्याधरी

---

१. द्रष्टव्य डा० रामशकर भट्टाचार्य : अग्निपुराण विषयानुक्रमणी पृ० ५६–५७ जहाँ अनेक उल्लेख दिये गये है।

के इस विद्या के ज्ञान की कथा मार्कण्डेय (६३ अ०) मे दी गयी है जिसने अपने आक्रमणकारी राक्षस से मुक्ति पाने के निमित्त राजा स्वारोचिष् को यह विद्या दी थी। वहां इस विद्या के उपदेशक्रम का भी वर्णन है। रुद्र स्वायम्भुव मनु—वसिष्ठ—चित्रायुध (इसी विद्याधरी का मातामह)—इन्द्रीवराक्ष (इस विद्याधरी का पिता)—मनोरमा (मार्क० ६३।२४–२७)। मनोरमा ने इसे पात्रान्तरित करते समय जलस्पर्श कर आगम और निगम के साथ इसे राजा स्वारोचिष् को दिया।

(४) **सर्वभूतरुत विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीवजन्तुओ की ध्वनियो का अर्थ समझ लेता है। विद्याधर मन्दार की कन्या विभावरी ने यह विद्या राजा स्वरोचिष् को दहेज मे दी थी (मार्क० ६४।३)। मत्स्यपुराण (२०।२५) राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या का ज्ञाता बतलाता है जिसने नर-मादा चीटियो के परस्पर मनोरञ्जक प्रेमालाप को समझ लिया था। इसी राजा के विषय मे इस घटना का उल्लेख पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड १०।८५) भी करता है। आजकल बन्दरो की बोली समझने तथा उसका रेकार्ड कर उपयोग करने वाले जर्मनी के वैज्ञानिको की बाते सुनी जाती हैं। सम्भव है भविष्य मे अन्य पशुओ की बोलियो पर भी इसी प्रकार के अनुसन्धानो मे सफलता मिले।

(५) **पद्मिनी विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से निधियो को वश में किया जाता था जिससे इसके ज्ञाता को कभी भी धन की कमी नही होती थी। कलावती के द्वारा राजा स्वारोचिष् को इसके दान की कथा मार्क० (६४।१४) मे दी गयी है।

(६) **रक्षोघ्न विद्या**—यज्ञो को अपवित्र बनाने वाले राक्षसो को दूर करने की विद्या। मार्क ७०।२१ मे बलाक राक्षस का हनन इस विद्या के द्वारा वर्णित है।

(७) **जालन्धरी विद्या**—महर्षि वाल्मीकि ने कुशलव को इस विद्या की शिक्षा दी थी (पद्मपुराण—पातालखण्ड ३७।१३)। इसके रूप का ठीक परिचय नही मिलता। सम्भवतः अन्तर्धान से इसका सम्बन्ध हो।

(८) **विद्यागोपाल मन्त्र**—भगवान् शंकर ने काश्यपवंशो पुण्यश्रव मुनि के पुत्र को यह मन्त्र दिया था (पाताल खण्ड ४१।१३२) इस मन्त्र के प्रभाव से जिसमे इक्कीस अक्षर होते है, साधक को वाक्-सिद्धि प्राप्त होती थी।

(९) **परा बाला विद्या**—सर्वसिद्धि प्रदायिनी इस विद्या के प्रभाव से अर्जुन को कृष्णलीला का रहस्य समझ मे आया था। भगवती त्रिपुरासुन्दरी ने इस विद्या का प्रथम उपदेश अर्जुन को किया था। (पाताल खण्ड ४३।४०)

(१०) **पुरुष प्रमोहिनी विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से स्त्रियाँ पुरुषो को मोहित कर अपने वश मे कर लेती है। यमराज की कन्या सुनीया को रम्भा द्वारा इस विद्या के शिक्षण का वर्णन भूमिखण्ड, (३४।३८) मे है जिससे वह प्रजापति अत्रि के पुत्र अंश की धर्मपत्नी तथा वेण की माता बनी (भाग०)। वशीकरण विद्या का वर्णन अग्निपुराण (१२३।२६) मे है। इसके कई नुसखे भी दिये गये है। भिन्न-भिन्न उद्भिद् द्रव्यो एक-एक साथ पीसकर तिलक करने का विधान है जिसके लगाने से मनुष्यो को कौन कहे, स्वयं देवता भी वश मे हो जाते हैं।

(११) **उल्लापन विधान विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से टेढी वस्तु सीधी की जा सकती थी। श्रीकृष्ण ने इसी विद्या के बल से मथुरा की प्रख्यात कुबडी कुब्जा को सरल, सीधी तथा स्वस्थ बना दिया था (विष्णुपुराण ५।२०।९—शौरिरुल्लापन विधानवित्)।

(१२) **देवहूति विद्या**—दुर्वासा द्वारा कुन्ती को दी गयी विद्या जिससे देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे। सूर्य भगवान् के स्मरण करने पर उनके सशरीर प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध ही है (भाग० ९।२४।३२)

(१३) **युवकरण विद्या**—स्पर्शमात्र से ही जीर्ण वस्तुओ का युवक बनाने की विद्या। राजा शन्तनु को यह विद्या आती थी जिसके बल पर वह स्पर्शमात्र से ही बूढो को नवयुवक बना देता था (भागवत ९।२२।११)

(१४) **वज्रवाहनिका विद्या**—युद्ध क्षेत्र मे शत्रुओ को परास्त करने के लिए यह विद्या अचूक मानी जाती थी (लिंगपुराण ५१ अ०) इसी प्रकार अनेक चमत्कारिणी विद्याओ के संकेत पुराणो मे मिलते हैं जिनमे से कुछ के नाम तथा स्थान इस प्रकार हैं—सिंहविद्या (अग्नि ४३।१३), नरसिंहविद्या (अग्नि० ६३।३), गान्धारी विद्या (अग्नि १२४।१२), मोहिनी तथा जृम्भणी विद्या (अग्नि ३२३।४—२०), अन्तर्धान विद्या (भाग० ४।१५।१५), वैष्णवी विद्या या नारायण कवच (भाग० ६।८), त्रैलोक्यविजय विद्या (ब्र० वै०—गणेश खण्ड ३०।१—३२) आदि[1]।

पुराणो के गम्भीर अनुशीलन से यदि इन विद्याओ के स्वरूप का परिचय मिल सके, तो इस वैज्ञानिक युग मे नवीन चमत्कार आज भी दिखलाये जा सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य कल्पना, फरवरी १९५२; पृष्ठ १३२—१३९
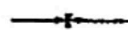
पौराणिक भूगोल

पुराण मे भूगोल और खगोल एक अत्यन्त सारवान् विषय है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियो से किया है—एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। इन दोनो के वीच प्रथम मे कल्पना का प्राचुर्य है और द्वितीय मे पूर्ण यथार्थता का सद्भाव—ऐसी धारणा अनेक विद्वानो की है। मेरी दृष्टि मे संसार के पौराणिक भू-विवरण मे कल्पना का उतना समावेश नही है, जितना साधारणतया समझा जाता है। आजकल के वैज्ञानिक युग मे परिज्ञात तथा वहुशः वर्णित समस्त भूमिखण्ड पुराणकारो को सर्वथा ज्ञात थे और उन्होने इसका विवरण वड़ी यथार्थता से दिया है। त्रुटि इतनी ही है कि उन स्थानो की पहचान आजकल निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञात नही हो रही है। पृथ्वी के सप्तद्वीपो की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपो मे से तीन—कुशद्वीप, शकद्वीप और जम्बूद्वीप—की पहचान बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप से यथार्थतः हो सकी है। पुराणो की भौगालिक यथार्थता का परिचायक यह घटना कथमपि विस्मरणीय नही है कि कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मानकर ही मिस्र देश मे वहनेवाली अफ्रीका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण मे नदी का उद्गमस्थान कुशद्वीप वतलाया गया है। कुश देश तथा कुश लोगो का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट् दारियवहु (५२२—४८६ ईस्वी पूर्व) के अनेक फारसी अभिलेखो मे मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूविया मानकर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है।

वहाँ कुश लोगो का राज्य २२००—१८०० ई० पू० मे था। शक द्वीप की पहचान यूनानी लेखको द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणो के द्वारा वर्णित शक देश की अवान्तर जातियो का, वहाँ के दूधसागर का तथा नदियों का विवरण इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टतः कल्पनाप्रसूत न होकर ठोस अनुभव पर आश्रित है। भारतवर्ष के नवीन उपनिवेश, जहाँ हिन्दुओ ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फहरायी थी, पुराणो मे विशदता के साथ उल्लिखित और वर्णित है। एशिया की, व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वशालिनी वड़ी-वड़ी सात नदियो का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहचान पश्चिमी गोलार्ध से की गयी है जिसमे नियामक वर्णन है मध्य अमेरिका के मयसंस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मेक्सिको और पेरू के भू-वृत्त का।

इस प्रकार पौराणिक भूगोल यथार्थ है, काल्पनिक नहीं; इतना होने पर भी अभी भी उसकी कुछ भौगोलिक सामग्री इतनी उलझी हुई और गोलमाल है कि उसके आधार पर विश्व का पूरा नक्शा अभी भी ठीक-ठीक तैयार नहीं किया जा सकता। यहाँ इस पौराणिक भूगोल के मुख्य अंशों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

पुराण में भुवनकोश एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें समग्र भुवनों का भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद वर्णन पुराणों में उपस्थित किया गया है। इस भूवृत्त को समझने के लिए इसके केन्द्रस्थानीय पर्वत मेरु का स्वरूप जानना परम आवश्यक है।

समस्त पृथ्वी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है जिसकी कर्णिका (मूल मध्य जहाँ से पंखुड़ियाँ निकलकर चारों ओर फैलती हैं) में मेरु पर्वत की स्थिति मानी गयी है।

अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वत कर्णिकम्।

—वायु ३४।३७

वायुपुराण का अन्यत्र कथन है कि उस महात्मा प्रजापति का सोने का बना (हिरण्मय) मेरुपर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ में निःस्यन्दमान उदक है और शिराएँ तथा हड्डियाँ पर्वत है—

हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्वं तन्महात्मनः।
गर्भोदक समुद्राश्च सिराद्यस्थीनि पर्वताः॥

—(वायु[१] ५।८०)

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में मेरु अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि-बन्धन माना गया है—'नाभिबन्धन संभूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः (मत्स्य १।२।१४)। तात्पर्य यह है कि मेरु पर्वत पृथ्वी की नाभि होने से वह केन्द्र है जिसे मूल मानकर भुवनकोश का विन्यास किया गया है।

मेरु पर्वत पुराण परम्परा के अनुसार इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित है जो जम्बूद्वीप का केन्द्र माना जाता है[२]। इलावृत्त के चारों ओर चार पर्वत मेरु

---

१. कूर्मपुराण ने वायु के इस वचन को परिष्कृत रूप में उपस्थित किया है—

मेरुरुल्वमभूत् तस्य जरायुश्चापि पर्वताः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः॥

—कूर्म ४।४०

२. इलावृत्तं तु तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः। अग्नि १०८।६।
जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः। तत्रैव १०८।३।

को आलम्बन देने वाले खम्भों के समान फैले हुए है[1]—पूरब दिशा मे मन्दर पर्वत, दक्षिण में है गन्धमादन, पश्चिम मे है विपुल पर्वत तथा उत्तर मे है सुपार्श्व। मेरु को चारों ओर से घेरने वाले अन्य पर्वतो का भी उल्लेख मिलता है। मेरु के उत्तर मे है नील पर्वत, उसके उत्तर मे है श्वेत पर्वत जिसके उत्तर मे है श्रृंगी पर्वत। पूरब ओर है जठर तथा देवकूट। दक्षिण में है निषध पर्वत, जिसके दक्षिण में है हेमकूट और इसके भी दक्षिण में हिमवान (हिमालय)। पश्चिम ओर है दो पर्वत माल्यवान तथा गन्धमादन। इन पर्वतो के नाम तथा स्थान पुराणो मे इतनी भिन्नता से वर्णित है कि मेरु की स्थिति समझने मे बडी गडबडी तथा कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु पुराणो मे मेरु पर्वत के वर्णनों मे इतनी विस्तृत बातो का विवरण दिया गया है कि उसे हम कल्पना-प्रसूत पर्वत नही मान सकते। मेरु के वर्णन मे वायु पुराण (३४।१६–१८) का कथन है कि वह 'प्रजापतिगुणान्वितः' है अर्थात् प्रजापति के गुणो से युक्त है। पूरब ओर वह श्वेत रंग का है जिससे उसका ब्राह्मण्य प्रकट होता है; दक्षिण ओर वह पीतवर्ण का है जिससे उसका वैश्यत्व स्थापित होता है; पश्चिम ओर वह भृङ्गराज के पत्र के समान है (श्यामरंग का) और यह इसके शूद्रत्व का व्यापक है। उत्तर ओर यह रक्तवर्ण का है जो उसके क्षत्रियत्व का संकेत करता है। प्रजापति की समता तो इससे अवश्य सिद्ध होती है, परन्तु इन विभिन्न रंगो का वास्तविक तात्पर्य समझना एक विकट समस्या है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मेरु वास्तव मे एक विशिष्ट पर्वत था जिसकी पुराणवर्णित भौगोलिक स्थिति के आधार पर वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

मेरु की पहिचान

मेरु की पहिचान के विषय मे विद्वानो ने नाना मत माने है। मेरु एक ऐसा विशिष्ट पर्वत है जहां से पर्वतश्रेणियां निकलकर चारो दिशाओ मे फैलती है। फलतः अनेक विद्वानो ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। डा० हर्षे ने अपने एक सुचिन्तित लेख मे मेरु पर्वत को अलताई पर्वत के क्षेत्र में स्थित माना है। यह अलताई पर्वत-श्रेणी एशिया के नकशे मे पश्चिमी साइबे-

---

१. विष्कम्भा रचिता मेरार्योजनायुत-विस्तृताः। ——
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः।
विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृतः॥
—वायु १।३५।११,१६। अग्नि १०८।११–१२। कूर्म ४५। १५–१६

रिया तथा मंगोलिया मे स्थित देखी जा सकती है। हिमालय के उत्तर मे मेरु पर्वत की स्थिति पुराणों मे वतलायी गयी हैं अर्थात् हिमालय तथा मेरु के वीच मे हेमकूट और निषध दो पर्वतों की स्थिति ह। एशिया के नकशे मे 'कूदनलून' तथा 'थिएनशान' पर्वत की श्रेणियाँ देखी जाती है इन्हे ही क्रमशः हेमकूट तथा निषध पवतो का वर्तमान रूप माना जा सकता है। डा० हर्षे ने अपने सिद्धान्त को स्थिर करने मे अनेक प्रौढ युक्तियाँ दी हैं और इस मेरु पर्वत को ही आर्यो का मूल निवास वतलाया ह। उनके तर्को मे वहुत वल और आधार हैं। 'आलताई' शब्द मंगोलिन भाषा का है (आलतेन–उला) जिसका अर्थ है—सुवर्ण का पर्वत। और पुराणो ने प्रायः सर्वत्र मेरु को सुवर्ण पर्वत कहा है—हिरण्मय तथा सौवर्ण पर्वत। नाम का ही साम्य नहीं है, प्रत्युत पुराणो मे वर्णित मेरु का भौगोलिक विवरण आस-पास की नदियो तथा चारो ओर फैलने वाले पहाड़ो का वर्णन भी—इस साम्य को पुष्ट करने के लिए प्राणभूत माना जा सकता है। मेरु पर देवो का निवास माना जाता हे और इसलिए वह भूतल का स्वर्ग है। इन सव तथ्यो का भी आधार खोजा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि मेरु पर्वत हिमालय के उत्तर मे स्थित है और वहुत सम्भव है कि वह पश्चिमी साइवेरिया म वर्तमान आलताई पहाड़ ही हो।

चतुर्द्वीपा वसुमती

पुराणो के 'भुवन कोश' के समीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसमे वसुमती के द्विविध विवरणो का संमिश्रण हो गया है। पृथ्वी के विषय मे प्राचीन मत (वायु पुराण मे निर्दिष्ट) था कि पृथ्वी मे चार द्वीप है मेरु की चारो दिशाओ मे, परन्तु आगे चलकर सप्तद्वीपा वसुमती की कल्पना भी कभी जागरूक हुई और पुरानी चतुर्द्वीपी कल्पना के साथ इस अभिनव कल्पना का समिश्रण हो जाने से वर्णनो मे वड़ी गडवड़ी तथा मिलावट दीख पड़ती है जिसकी छानवीन कर मूल रूप को भी पहचाना जा सकता है। वायु पुराण के इस कथन पर चतुर्द्वीपा वसुमती की कल्पना सर्वप्राचीन कल्पना प्रतीत होती है :—

> पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा।
> तदस्य लोक-पद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम् ॥ ४५ ॥

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० आर० जी० हर्षे : 'मेरु होमलैण्ड आव दी आरियन्स' नामक लेख। विश्वेश्वरानन्द–भारतभारती लेखमाला १०९; होशियारपुर, पंजाव, १९६४।

महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः।
ततः कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाबलः ॥ ४९ ॥

—वायुपुराण, अध्याय ३४।

मेरु से महाद्वीपों की स्थिति संकेतित की गयी है। पूरब की ओर भद्राश्व महाद्वीप, दक्षिण मे है जम्बुद्वीप (जो 'भारतवर्ष' के नाम से भी वर्णित है), पश्चिम मे केतुमाल तथा उत्तर मे उत्तरकुरु :

स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
यस्येमे चतुरो देशा नाना पार्श्वेषु संस्थिताः ॥
भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्य-प्रतिश्रयाः ॥

—मत्स्य, ११२ अ०, ४३–४४ श्लो०

(ये दोनो श्लोक इसी रूप मे वायु पुराण अ० ३४, श्लो० ५६–५७ श्लो० मे भी उपलब्ध होते है। वायु० का ३४ अ० मेरु पर्वत के विशद तथा विस्तृत विवरण के लिए नितान्त मननीय है)।

इन चारो महाद्वीपो की वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। 'भद्राश्व' का शाब्दिक अर्थ है कल्याणकारी घोडा। सम्भवतः यह चीन देश को सूचित करता है। भारत तो हमारा भारतवर्ष है। भारत हैमवत वर्ष के नाम से कभी इसलिए विख्यात था कि वह हिमालय की दक्षिण दिशा मे वर्तमान है। वंक्षुनदी (आक्सस नदी–आमू दरिया और सिर दरिया) का प्रदेश केतुमाल महाद्वीप है जो मेरु के पश्चिम मे वर्तमान है। उत्तर कुरु वह विशाल देश है जो आलताई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ है। इसकी सौख्य–समृद्धि के विस्तृत वर्णन को पुराणो मे पढकर यह काल्पनिक स्वर्ग-भूमि के समान प्रतीत होता है, परन्तु वह एक यथार्थ भौगोलिक क्षेत्र था जो मेरु के उत्तर मे स्थित था। साइबेरिया का पूरबी तथा उत्तरी भाग इस क्षेत्र के भीतर आता है। भौगोलिक परिवर्तनो के कारण आज यह प्रदेश अत्यन्त शीतमय तथा हिममय होने से मानवों के निवास के लायक नहीं रहा, परन्तु कभी यह बड़ा ही समृद्धिशाली प्रदेश था और आज भी वहाँ की खानो से निकलने वाली बहुमूल्य धातुओं की सत्ता से उसके वैभव का संकेत समझा जा सकता है। यही है चतुर्द्वीपा वसुमती का सामान्य पौराणिक निर्देश।

इन प्रत्येक महाद्वीप मे एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्षकुंज, एक झील, एक वृक्ष तथा आराधना के निमित्त एक विशिष्ट रूपधारी भगवान् की

भी स्थिति थी। फलतः ये महाद्वीप सर्व प्रकार के भौगोलिक साधनों से सम्पन्न भी थे। इनकी स्थिति इस नकशे में देखिए[१] :—
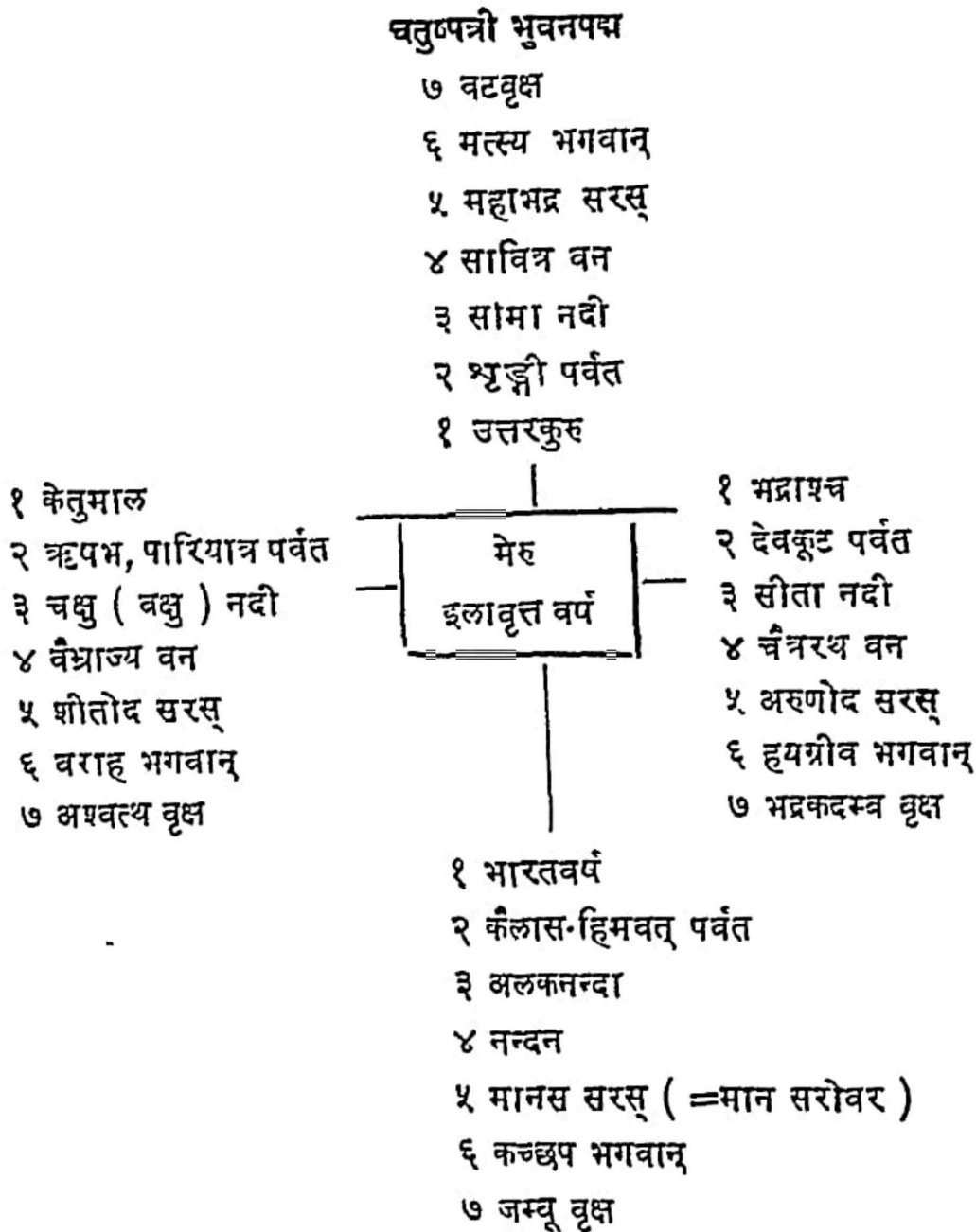
सप्तद्वीपा वसुमती

भुवनकोष के विषय में प्राचीन मत यही था कि पृथ्वी चार द्वीपों से घिरी है, परन्तु पुराणों के नवीन संस्करण में सात द्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया। इन सात द्वीपों के क्रम के विषय में पुराणों में ऐकमत्य नहीं दृष्टिगोचर होता,

---

१. डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल के अंग्रेजी Matsya Purana : A Study नामक ग्रन्थ में उद्धृत, पृ० १८७। (प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर, वाराणसी, १९६३)। यह वर्णन विष्णुपुराण के २।२। पर तथा श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, १६ अ० पर आधृत है।

परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का सिद्धान्त समग्र पुराणो का एक नितान्त महनीय तथा मान्य रहस्य है। जम्बूद्वीप इस कल्पना के द्वारा मध्य में है और यह सात द्वीपो के द्वारा वेष्टित है और ये द्वीप आपस में एक-एक समुद्र के द्वारा पृथक्कृत किये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) **जम्बूद्वीप** (क्षार समुद्र या लवणोदधि द्वारा वेष्टित)।
(२) **प्लक्ष** (गोमेदक) द्वीप (इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(३) **शाल्मलि द्वीप** (सुरा समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(४) **कुशद्वीप** (घृत समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(५) **क्रौञ्च द्वीप** (दधि समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(६) **शाकद्वीप** (क्षीर समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(७) **पुष्करद्वीप** (स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित)।

इनमे प्रथम या मध्यस्थित जम्बू द्वीप का विस्तार—एक लक्ष योजन है। प्रत्येक द्वीप अपने पूर्व द्वीप से आयाम में द्विगुणित है। फलतः प्लक्ष द्वीप का विस्तार द्विलक्ष योजन माना जाता है। इसी प्रकार अन्य द्वीपो का भी विस्तार समझना चाहिए। प्रत्येक द्वीप मे सात नदियाँ तथा सात पर्वत होते है।[१] द्वीपो का यह क्रम वायु, विष्णु (२।४), भागवत (५।२०) तथा मार्कण्डेय (५४६) के अनुसार है। मत्स्य (अ० १२१ तथा १२२) के अनुसार द्वीपो का क्रम इस प्रकार है—(१) जम्बू द्वीप, (२) शाक, (३) कुश, (४) क्रौञ्च, (५) शाल्मल, (६) गोमेद तथा (७) पुष्करद्वीप। इन द्वीपो की वर्तमान भौगोलिक स्थितियो का पता लगाना नितान्त दुःसाध्य है। कुशद्वीप के विषय में संकेत सूत्रमात्र उपलब्ध होता है, परन्तु शाकद्वीप के विषय मे यूनानी, अरब तथा ईरानी लेखको के ग्रंथो के साहाय्य से बड़ी ही उपादेय तथा निर्णायक सामग्री मिलती हैं।

कुशद्वीप

कुश नामक देश तथा वहाँ के निवासी **कुशीय** लोगों का उल्लेख अनेक प्राचीन फारसी शिलालेखो मे मिलता है। उदाहरणार्थ **दारयवहु** (अंग्रेजी मे डैरियस; ५२२–४८६ ईस्वी पूर्व) के हमदान लेख[२] में उसके राज्य की सीमा

१. इन नदियो और पर्वतो के नाम मे बड़ी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। स्थानाभाव से इस विषय की समीक्षा यहाँ नही की जा सकती। केवल स्थूल बातें ही दी जाती हैं।

२. इस मूल लेख के लिए द्रष्टव्य डा० डी. सी. सरकार रचित 'जियाग्रफी आव ऐनशण्ट ऐण्ड मधिएवल इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ पृष्ठ १६४।

इस प्रकार बतलायी गयी है :—सोग्दियाना (सिरदरिया और आमूदरिया के बीच का बुखारा प्रान्त) से पर पार मे रहने वाले शकों के देश से—वहाँ से लेकर कुश तक—सिन्धु (सिन्धु प्रदेश,—भारतवर्ष का सिन्ध नदी से प्रवाहित प्रदेश) से लेकर स्वर्दा तक ('एशिया माइनर' मे सारडिस नामक स्थान) ये प्रदेश उसके राज्य की सीमा है। यहाँ कुशदेश का नाम स्पष्टतः उल्लिखित है। कुशदेश है कहाँ ? कुछ विद्वान् इथोपिआ से इनका समीकरण मानते है और दूसरे विद्वान् इसे मिश्रदेश के मध्यभाग मे स्थित मानते हैं। प्राचीन फारस सम्राटो के राज्यो के प्रान्तो की गणना मे कुश तथा मुद्राय (इजिप्त या मिश्र-देश) दोनो को अलग-अलग गिनाया गया है। अतः कुश की स्थिति मिश्र से बाहर अफ्रिका के पूर्वोत्तर भाग मे कही पर मानना उचित होगा। यही कुश हमारी दृष्टि मे पुराणो का कुशद्वीप है।

शकद्वीप या शाकद्वीप

शकद्वीप विषयक पौराणिक सामग्री बड़ी महत्त्वपूर्ण तथा भौगोलिक तथ्यो से सर्वथा परिपूर्ण है। इसमे पुराण रीत्यनुसार सात पर्वत तथा सात नदियो के नाम दिये गये है। मत्स्यपुराण (अध्याय १२१) इनके दो-दो नाम देता है (**द्विनामानः**)। इन द्विविध नामो का रहस्य यही प्रतीत होता है कि एक नाम तो भारतीय (पुराणस्थ) हैं और दूसरे नाम विदेशी (अर्थात् शकीय = शक जाति के लोगो द्वारा प्रदत्त)। पुराणो ने इस द्वीप का वर्णन इतना सांगोपाग किया है कि उनके आधार पर इसकी पहिचान पूर्ण प्रामाणिक रीति पर की जा सकती है।

शकद्वीप मे सात पर्वत, सात वर्ष तथा सात नदियो का उल्लेख मिलता है (मत्स्य अध्याय १२१)। शाकद्वीपो के पर्वतो के नाम ये है—मेरु (दूसरा नाम उदय), जलधार (चन्द्र नाम से भी ख्यात, विष्णु मे जलाधार), दुर्ग शैल (नारद से भी प्रख्यात), श्याम (अपर नाम दुन्दुभि), अस्तगिरि (अपर नाम सोमक), आम्बिकेय (अपर नाम सुमनस्), विभ्राज (अपर नाम केशव)। विष्णुपुराण मे रैवतक तथा केशरी दो नाम इनमे से किन्ही दो पर्वतो के लिए दिये गये है।

शकद्वीप के सात वर्षो के नाम है :—१. उदय वर्ष (उदय पर्वत का प्रदेश), २. सुकुमार वर्ष (अपर नाम शैशिर, जलधार पर्वत का प्रदेश), ३. कौमार (अपर नाम सुखोदय; नारद पर्वत का प्रदेश) ४. मणिचक (अपर नाम आनन्दक, श्याम पर्वत का प्रदेश), ५. कुसुमोत्कर (अपर नाम असित, सोमक पर्वत का प्रदेश), ६. मैनाक (क्षेमक भी ख्यात, आम्बिकेय पर्वत का देश), ७. विभ्राज ('ध्रुव' नाम से भी ख्यात; विभ्राज पर्वत का देश)।

शकद्वीप की सात नदियाँ—१. सुकुमारी ('मुनितप्ता' भी), २. कुमारी (तपःसिद्धा नाम से भी प्रख्यात), ३. नन्दा (अपर नाम पावनी), ४. शिविका (द्विविधा नाम भी), ५. इक्षु (अपर नाम कुहू), ६. वेणुका (अपर नाम अमृता), ७. सुकृता (अपर नाम गभस्ति) ।

शकद्वीप का यह भूगोल 'हिरोदोतस' नामक यूनानी लेखक द्वारा वर्णित शकों के निवास-प्रान्त के भूगोल से विलकुल मिलता है । नन्दलाल दे ने अपनी पुस्तक मे अनेक पौराणिक नामों की पहचान इस प्रकार दी है—

संस्कृत नाम	यूनानी नाम
शकद्वीप	सी दिया
कुमुद	कौमेदेइ
सुकुमार	कोमारोई
जलधार	सलतेरोई
इक्षु	आक्सस नदी
श्यामगिरि	मुश्तामूग् (जिसका अर्थ है काला पर्वत और जो अवेस्ता मे निर्दिष्ट श्यामक गिरि से भिन्न नही है)
सीता	सिर दरिया
मूग	मरगिआना (वर्तमान मर्व')
मशक	मस्सगेताइ

शकद्वीपीय जातियाँ

भविष्यपुराण का कथन है कि इस द्वीप में चार जातियाँ निवास करती थी जो भारत के चतुर्वर्णों की प्रतिनिधि मानी जा सकती हैं—

तत्र पुण्या जनपदाश्चतुर्वर्णसमन्विताः ।
मगाश्च मगगाश्चैव गानगा मन्दगास्तथा ।।
मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठा मगगाः क्षत्रियाः स्मृताः।
वैश्यास्तु गानगा ज्ञेयाः शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः ।।

—भविष्य १।१३९

भविष्य के इन वचनों के आधार पर शकद्वीप की जातियाँ चार वर्णो मे विभक्त हैं—मग ब्राह्मण हैं, मगग राजन्य क्षत्रिय हैं, गानग वैश्य हैं तथा मन्दग शूद्र हैं । महाभारत मे इन लोगो के नाम कुछ भिन्न ही हैं—

तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक संमिताः ।
मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।।

—महाभारत ६।१२।३३

महाभारत मे प्रदत्त इन अभिधानो मे आदि तथा अन्त नाम तो मत्स्य-पुराणवाले ही है, केवल बीचवाले नाम भिन्न पड़ते है। 'मगगा' के स्थान पर 'मशका' पाठ मिलता है तथा गानगा के स्थान पर 'मानसा'। इन चारो नामो के विभिन्न पाठान्तर महाभारत के पूना सं० मे दिये गये हैं (क्रिटिकल संस्करण, भाग ७, पृष्ठ ६०)। इन चारो की पहचान शकदेशीय चार विभिन्न जन-जातियो के साथ बड़ी आसानी से की जा सकती है। 'शक' एक सामुदायिक जातीय अभिधान है जिसके भीतर अनेक जातियाँ सम्मिलित थी। प्रथम शती ईस्वी मे भारतवर्ष मे अपना शासन स्थापित करनेवाले कुषाण लोग भी शक-जाति से ही मूलतः सम्बद्ध थे। शक लोग एक घुमक्कड़ जाति के थे जो अपने आरम्भिक जीवन मे एक स्थान पर स्थिरतया प्रतिष्ठित न होकर उर्वर भूमि की खोज मे घूमा करते थे। कभी ये मध्य एशिया मे भी रहते थे, परन्तु वहाँ से चलकर ये ईरान (फारस) के समीपस्थ कास्पियन (काश्यपीय) सागर के तीरस्थ भूमिखण्ड मे निवास करने लगे थे। यूरेशिया द्वीप मे एक समय दुनाई नदी (डेन्यूब) से लेकर त्यान्शान्–आल्ताई (पर्वतश्रेणी) तक फैली शक जाति की भूमि ही भारतीय भाषा के अनुसार 'शकद्वीप' है, पुराने ईरानी शब्दानुसार इसे 'शकानवेइजा' (शकानां वीजः ?) या पीछे की भाषा के अनुसार शक-स्तान भी कह सकते हैं, लेकिन ई० पू० द्वितीय शती मे शको के बस जाने के कारण ईरान के पूर्वी भाग को शकस्तान या सीस्तान कहा जाने लगा। काश्यप समुद्र के तीरस्थ प्रदेश को आदि-शकस्तान कहा जाना चाहिए[१]। पुराणो का शक (या शाक ?) द्वीप यही भूभाग है—इसे ही आगे सप्रमाण्य सिद्ध किया गया है।

(क) शाकद्वीप की प्रथम जाति जिसका उल्लेख पुराणो मे मग (या मक) है। इस शब्द के दो पाठान्तर भी मिलते हैं—सग और मद। सग तो 'शक' का ही प्राकृत रूपान्तर है तथा मद 'माद' का रूपान्तर है। माद एक ईरानी जाति थी जिसका उल्लेख असुरिया के नवम शती ईस्वी पूर्व के अभिलेखो मे प्राप्त होता है। ईरानी ऋत्विज् या पुरोहित की ईरानी संज्ञा है—मगुस और 'मग' इसी शब्द का संस्कृत रूप है। पुराणों मे 'मग' की एक व्युत्पत्ति[२] दी गयी है—मं मकरं=सूर्यं, गच्छतीति मगः अर्थात् सूर्योपासकः। अवेस्ता मे

---

१. शको के रीति-रस्म के बारे मे देखिए, राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, खण्ड प्रथम (पटना, १९६०), पृष्ठ ६४–७०।

२. मकरो भगवान् देवो भास्करः परिकीर्तितः।
मकारध्यान–योगाच्च मगा ह्येते प्रकीर्तिताः॥

—भविष्यपुराण, १३९ अ०

'मगुस्' का प्रयोग कम बतलाया जाता है। इसके स्थान पर अथ्रवन्, एथ्रग या एथ्रगति शब्द का ही बहुल प्रयोग इसके ऋत्विज् अर्थ की ही अभिव्यंजना करता है। यज्ञो में इनका यह कार्य विशेष महत्त्व का था और इसके अतिरिक्त वे अर्थ तथा न्याय के शासन मे अधिकारी रूप मे भी पाये जाते है। यही ईरानी 'मगुस्' शब्द यूनानियो के यहाँ 'मगि' या 'मागि' या मेगास के रूप में गृहीत किया गया है। बाइबिल मे भी इसका प्रयोग 'पूरब के विद्वज्जन' के अर्थ में किया गया है जो ईसा के जन्म लेने पर महनोय भविष्यवाणी करने के लिए उनके पिता के पास पहुँचे थे। फलतः **'मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठाः'** मग लोगो के स्वरूप का यथार्थ प्रमापक वाक्य है।

ये ही मग लोग भारतवर्ष में भी कुषाण राजाओ के संग मे आये होंगे—यह मानना ऐतिहासिक दृष्टि से सुसंगत प्रतीत होता है। गरुडपुराण के अनुसार भारतवर्ष मे इन्हें लाने का श्रेय श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को है जिन्होने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के हेतु चन्द्रभागा नदी (चेनाब) के तीर पर सूर्य का मन्दिर बनवाया, परन्तु भारत मे उचित पुजारी के न मिलने पर इन ब्राह्मणो को शकद्वीप से गरुड द्वारा बुलवाया और भारत मे सूर्य की तान्त्रिक पूजा का तभी अवतार हुआ।

(ख) **गोग** तथा **मगोग** नामक अत्यन्त उग्र आक्रामक शक जातियाँ थी जिनके आक्रमण के कारण समग्र ईरान प्रदेश भय के कारण थर-थर कांपता था। ये बड़ी क्रूर, अत्याचारी तथा हिंस्र जातियां थी। इनका उल्लेख यहूदियो के ओल्ड टेस्टामेण्ट (पुरानी बाइबिल) मे इन्ही नामो से तथा कुरान मे इन्ही शब्दो के विकृत रूप याजुज् तथा माजुज नाम से अनेकशः किया गया है। गोग और मगोग यहूदी भाषा के शब्द है जिनका अर्थ है 'बाहर की बर्बर जातियाँ'। इन्ही शब्दो के साथ पुराणो मे उल्लिखित 'गानग' या 'गनक' और 'मगग' शब्दों का समीकरण करना कथमपि अनुचित नही है। इन भयंकर, घुमन्तू, लड़ाकू जातियों को शकद्वीप का क्षत्रिय तथा वैश्य जाति मानना भी सर्वथा शोभन है। पुराणो मे निर्दिष्ट **मन्दग** 'माद' नामक ईरानी जाति का भारतीय प्रतिनिधि है। ये ईरान से सुदूर पूरब से आने वाले लोग बतलाये जाते है। 'माद' लोग ही 'मीडीज' के नाम से यूरोपीय इतिहास में अपनी आक्रमणकारी प्रवृत्तियो के कारण नितान्त विख्यात है। हिरोदोतस नामक ग्रीक इतिहास-लेखक ने भी शक लोगो में चार जातियो की सत्ता मानी है जो भारतीयो के पूर्वोक्त वर्णन से भली भाँति मेल रखता है।

(ग) कैसपियन सागर के विषय मे अधिक जानकारी की जरूरत है। यह आज संसार भर मे सबसे विस्तृत, बडा अन्तर्देशी समुद्र है, जिसका क्षेत्रफल एक लाख उनहत्तर हजार (१,६९,०००) वर्गमील है। किसी प्राचीन युग मे यह अपने

से पश्चिम मे स्थित कृष्णसागर से आरम्भ होकर साइबेरिया के उत्तरी भाग मे फैले हुए आर्कटिक समुद्र तक फैला हुआ था। इस प्रकार यह नितान्त विशाल विस्तृत क्षेत्रफलवाला उन्मुक्त महार्णव था जो उत्तर मे फैलने वाले साइबेरिया के घास वाले मैदान (जिसे स्टेपीज के नाम से अंग्रेजी मे पुकारते हैं) के ऊपर से होकर बहता था। उस युग मे यह एक महासमुद्र था। महान् हिम युग में यह अपने क्षेत्रफल मे घटने लगा जिससे कृष्णसागर (पश्चिम) तथा अराल सागर (पूरब) के साथ इसका भौगोलिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। अपनी विशालता के ही कारण यह यूरेशियन भूमध्य सागर (यूरेशियन मेडिटरेनियन) के नाम से विख्यात था। फलतः ऐसे विशाल समुद ने शक प्रदेश को उत्तर और पश्चिम की ओर से घेर रखा था,[१] तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? आज इसका पानी खारा ही है, परन्तु प्राचीन युग मे इसका पानी बहुत ही मीठा था। इसका प्रमाण यह है कि इस विस्तृत कैस्पियन सागर से पृथक्कृत बाल्कश झील संसार भर मे आज मीठे पानी का विशालतम झील माना जाता है। किसी समय ये दोनो जलाशय एक ही साथ संलग्न थे। और बालकश झील की वर्तमान दशा से हम भली भांति अनुमान कर सकते हैं कि उस युग मे कैस्पियन सागर अपने मीठे स्वादिष्ट पानी के लिए प्रख्यात था। इसीलिए इसे ईरान वाले 'शीरवान्' नाम से पुकारते थे। पुराणो में वर्णित 'क्षीरसागर' से इसकी पहि-चान करना कथमपि अनुचित या अप्रामाणिक नही है।

शकद्वीप पुराणों मे क्षीरसागर (दूध समुद्र) के द्वारा आवृत बतलाया गया है। साधारण जन तो 'क्षीरसागर' के नाम से चमत्कृत होकर इसे भौगो-लिक अभिधान न मानकर केवल काल्पनिक जगत् मे इसकी सत्ता मानते हैं, परन्तु तथ्य यह है कि यह वास्तव जगत् का ही एक समुद्र है। 'मार्कोपोलो' नामक सुप्रसिद्ध यात्री ने अपने यात्राविवरण मे 'शीरवान' नामक समुद्र की चर्चा की है जो कास्पियन समुद्र से भिन्न नही माना जाता यह शीरवान क्षीर-सागर का प्रतिनिधि है। फारसी 'शीर' शब्द सस्कृत 'क्षीर' ही है। इस प्रदेश

---

१. During the pleistocene Ice Age Caspian fiowd over the steppes that stretch away to north and was probably still connected with the Black Sea. After the great ice cap has thawed the Caspian began to shrink in area and simultanously its connections with the Black Sea and the Sea of Aralwere severed.

—Encyclopaedia Britannica Vol. IV. PP. 969.

मे क्षीर नदी की कल्पना आज भी जागरूक हैं। ईरान की एक नदी का भी नाम है—शीरी तथा रूस के इस भूभाग मे प्रवाहित होने वाली 'मोलोकन्या' नामक नदी क्षीरनदी की ही प्रतिनिधि है। इस नदी का नाम रूसी शब्द—'मो—लो—को' से निकला है जिसका अर्थ है दूध और जो अंग्रेजी शब्द 'मिल्क' से भली-भ ति शब्द साम्य की दृष्टि से मिलता-जुलता है। पुराणों मे उल्लिखित शकद्वीपीय सरिताओं का भी नाम साम्य शक स्थान की नदियों के साथ खोजा जा सकता है। ईरान के पूरवी प्रान्त का नामकरण साइस्तान (या शकस्तान) इन्ही शको के निवासस्थान होने के कारण ही माना जाता है। ऐतिहासिको का कथन है कि ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती में इनके उपलब्ध उल्लेखों से पूर्व ही शक इस प्रान्त मे मध्य एशिया के यूचि लोगों के दबाव के कारण आकर बस गये थे। शकों का प्रभाव अफगानिस्तान के कबीलों की भाषा पर भाषा-शास्त्री अब मानने लगे हैं। पश्तो भाषा की यह विशिष्टता—'द' के स्था न पर 'ल' का परिवर्तन-शक भाषा का ही प्रभाव माना जाता है। फारसी पिदर = पश्तो पिलर (पिता), फारसी दुखतर (दुहितर, पुत्री) = पश्तो लुर। यह ल्कार की पवृत्ति शक भाषा की विशिष्टता मानी जाती है।

(घ) शकों मे सूर्य की ही मुख्यरूपेण उपासना होती थी जिसे वे स्वलियु के नाम से पुकारते थे जिसमे 'र' के स्थान पर 'ल' के साथ शकों के अत्यन्त प्रेम को हटा देने पर 'सूर्य' शब्द साफ दिखाई पड़ता है। शकों के परम पूज्य देवता सूर्य ही थे, इसका परिचय यूनानी ग्रन्थो से ही नही चलता; प्रत्युत पुराणो से भी भली-भाँति चलता है। विष्णुपुराण का प्रमापक वचन है—

> शाकद्वीपे तु तैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो मुने।
> यथोक्तैरिज्यते सम्यक् कर्मभिर्नियतात्मभिः॥
>
> —विष्णु २।४।७०

शकद्वीप से सूर्योपासक ब्राह्मणो का भारत मे आगमन (गरुडपुराण), भारत मे शको जैसे बूटधारी सूर्य प्रतिमाओ का व्यापक प्रसार तथा ईसाई धर्म स्वीकार करने से पूर्व रूसियो की सूर्य में एकान्त भक्ति इस बात की साक्षी है कि शको के पूज्य देव सूर्य ही थे। यह स्वलियु देव दिवू (द्यौः) पिता और अपिया माता का (द्यावापृथिवी का) पुत्र था।

पुराण ने शकद्वीप की जातियो, नदियो, पर्वतो का कितना यथार्थ भौगोलिक विवरण सुरक्षित रखा है—यह देखकर पुराणो के भुवनविन्यास वाले परिच्छेदो पर हमारी पूर्ण आस्था जमती है। पौराणिक भूगोल के केवल तीन द्वीपो की—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप तथा शाकद्वीप—की ही पूरी जानकारी अभी तक

मिलती है। हमारा विश्वास है कि अन्य द्वीप भी काल्पनिक न होकर भौगोलिक तथ्य हैं। इस विषय मे विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।[१]

जम्बूद्वीप के नौ वर्ष

जम्बूद्वीप आरम्भ काल मे भारतवर्ष का ही सूचक देश था, परन्तु शकों तथा कुषाणो के आगमन से भारतीयो की भौगोलिक दृष्टि विशेषरूप से विस्फारित हुई और उस युग तक बहुत से अज्ञात देश भी भारतीयों की ज्ञान-सीमा के भीतर विराजमान हो गये। ऐसे ही युग में जम्बूद्वीप के नव वर्षों की कल्पना हमारे पुराणकारों ने की जिसमें नवीन भौगोलिक सूचनाएँ एकत्र कर सुव्यवस्थित बनायी गयी है। इन वर्षों की जानकारी[२] के लिए इस रेखा-चित्र को देखिए।
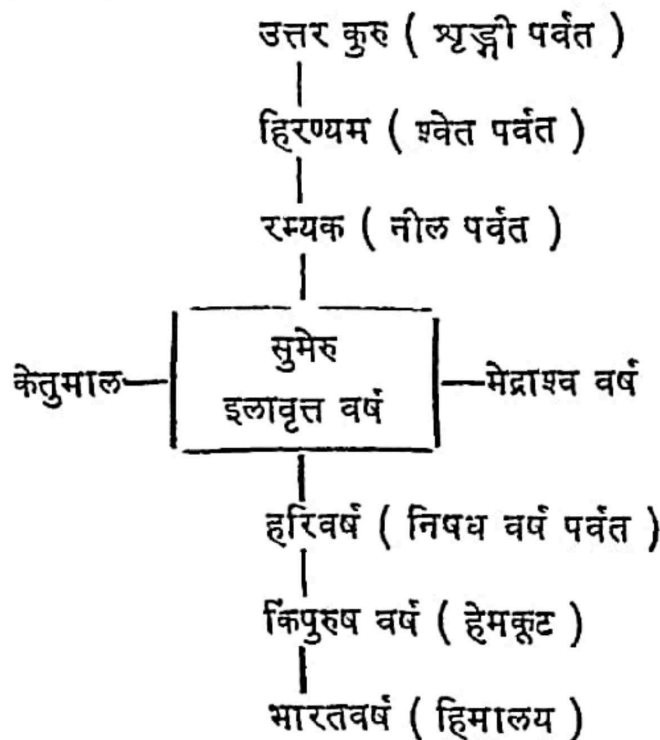
इन नव वर्षों के भीतर भारतवर्ष के बाहरी देशो का भी समावेश अब भारत की विस्तृत सीमा के भीतर किया जाने लगा। इन वर्षों की पहिचान निःसंदिग्ध

---

१. शकद्वीप के विवरण के लिए द्रष्टव्य डा० बुद्धप्रकाश का सुचिन्तित लेख पुराण पत्रिका (भाग ३, खण्ड २ जुलाई १९६१) पृष्ठ २५३–२८७। इसी के आधार पर हमारा संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। शको के विषय मे द्रष्टव्य राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ७४—८० (पटना, १९६०)

२. द्रष्टव्य विष्णुपुराण अंश २, अध्याय २; श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय १६; देवीभागवत, स्कन्ध ८।

रूप से नहीं की जा सकती। उत्तर कुरु तोलोमी का 'ओत्तोरी कोराई' देश है जो सम्भवतः चीनी तुर्किस्तान की तारिम घाटी को द्योतित करता है। हरिवर्ष सम्भवतः सुग्द (या बोखारा प्रान्त) है जो घोड़ों के लिए सर्वदा प्रसिद्ध था। इलावृत्तवर्ष सम्भवतः इलि नदी की घाटी है जो सा वेरिया के पर्वत से निकल-कर वालकश में गिरती है। भद्राश्व सम्भवतः चीन का सूचक है। चीन का जातीय चिह्न है सफेद ड्रैगन। 'ड्रैगन' अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अपने मुँह से ज्वाला उद्‌गीर्ण करनेवाला मकर या सर्प जो अक्सर घोटक-मुख—घोड़ा मुँहवाला— बताया जाता है। इसीलिए कल्याणकारी घोटकवाले देश—**भद्राश्व**—से चीन की पहचान भली भाँति की जाती है।

केतुमाल चक्षु या वक्षु नदी के द्वारा पहचाना जा सकता है जो उससे होकर बहती थी। चक्षु या वक्षु=आक्सस=आमू दरिया जो अराल सागर मे आज गिरती है और यही था भूभाग केतुमाल की संज्ञा से अभिहित था। किंपुरुषवर्ष तो किन्नरों का देश है जो हिमालय प्रान्त का सूचक है। हिरण्मय-वर्ष एशिया के 'बदक्शाँ' प्रदेश का द्योतक है, जो हीरा, जवाहरात तथा कीमती धातुओं की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार रम्यकवर्ष सुदूर पूर्व के रमि या रम्नि टापुओं का सम्भवतः सूचक है। तात्पर्य यह है कि यह समस्त नव वर्षों की कल्पना एशिया के विशाल प्रदेश को ही अपने में गताथ नही करती, प्रत्युत सुदूर पूरबी प्रदेशो से सम्बन्ध रखती है। इन वर्षों का भौगोलिक विवरण अभी विशेष अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है[१]।

एशिया की नदियाँ

चतुर्द्वीपी वसुमती की प्राचीन कल्पना मे गंगा की चतुर्दिशा मे प्रवाहित होनेवाली चार धाराओं का समुल्लेख बड़े महत्त्व का है। पहली धारा **सीता** है, जो पूरब मे भद्राश्व से होकर समुद्र मे गिरती है, द्वितीय धारा **अलकनन्दा** है जो दक्षिण में भारतवर्ष से होकर दक्षिणी समुद्र में, तृतीय धारा **चक्षु** (या स्वरक्षु) है जो पश्चिम में केतुमाल से होकर पश्चिमी सागर मे गिरती है। चतुर्थ धारा **भद्रा** उत्तर कुरु को पार कर उत्तरी समुद्र मे गिरती है। इनमे से दो नदियो की पहचान तो निःसन्दिग्धरूपेण की जा सकती है। अलकनन्दा से तो हम परिचित ही हैं। यही है हमारी गंगा की मूलभूत धारा। चक्षु, स्वरक्षु या वक्षु एक ही नदी के विभिन्न अभिधान हैं जिसे यूनानी आक्सस कहते थे और आज आमू दरिया कहलाती है और पामीर पठार से निकलकर अराल के सागर मे गिरती है। सीता तथा भद्रा की पहचान अभी तक निश्चित नही हो सकी है।

---

१. इन द्वीपों की पहचान के लिए द्रष्टव्य कृष्णमाचार्लू : दी क्रैण्डल आव इण्डियन हिस्ट्री (अड्यार लाइब्रेरी ग्रन्थ संख्या ५६, १९४७), पृष्ठ ३८-६३।

गंगा की सप्त धारा की कल्पना मत्स्यपुराण (आ० १२१।४२) तथा वायु (४७।३७–५१ श्लोक) मे जो दी गयी है वह भारतीयो के भौगोलिक ज्ञान के विस्तार को सूचित करती है। भारतीयो का ज्यो-ज्यो एशिया के विभिन्न प्रदेशो से आना-जाना शुरू हुआ, उनकी इन देशो के विषय मे जानकारी बढने लगी और इन नवीन भौगोलिक जागृति के युग मे निबद्ध पुराणो का कलेवर इस अभिनव जानकारी से सर्वतः परिपूर्ण है। एशिया की ये सात नदियाँ परिमाण तथा विस्तार क्षेत्र मे ही बड़ी नही है, प्रत्युत इतिहास तथा व्यापार की दृष्टि से उनका विपुल माहात्म्य है। इन सातो नदियो को गंगा की सात धाराएँ मानना गंगा पर पूज्यबुद्धि रखनेवाले भारतीयो की धार्मिक श्रद्धा का एक विलास है। इन सात नदियो मे पश्चिम समुद्र मे गिरनेवाली तीन है तथा पूरबी समुद्र मे गिरनेवाली भी तीन हैं और इन दोनो के बीच में प्रवाहित होनेवाली दक्षिण समुद्र मे गिरनेवाली एक है। इन नदियों के वर्णन मे वायुपुराण का वर्णन बड़ा ही सटीक और यथार्थ है। मत्स्य का वर्णन पाठो की अशुद्धि के कारण विकृत है। इनमे सीता, चक्षु तथा सिन्धु तो पश्चिमी समुद्र मे गिरती हैं। चक्षु तो आक्सस का ही नामान्तर है, सीता पूरबी भाग मे भद्राश्ववर्ष से होकर गिरनेवाली इस नाम से प्रसिद्ध सीता नदी से नितान्त भिन्न है। वायु कहता है कि **सीता** सिन्धु मरु (विस्तृत रेगिस्तान) को पार कर म्लेच्छ देशो से—चीन, बर्बर, यवन तथा रूषाण आदि से होकर पश्चिमी समुद्र मे गिरती है। ये म्लेच्छ जातियाँ एशिया के पश्चिमी भाग मे अफगानिस्तान से उत्तर मे निवास करती थी। रूषाण जाति कौन है? क्या यह रूसी (रशियन) लोगो का संस्कृत नाम तो नही है? सीता की पहचान सिरदरिया से की जा सकती है, **चक्षु** बड़ी विशाल नदी थी जो चीनमरु (चीनी तुर्किस्तान), शूलिक (शूले या काशगर) तुषार, बर्बर तथा पारद और शक जातियो के प्रदेश से होकर बहती थी। उत्तरापथ के मुख्य चौरास्ते इसी के प्रान्त मे आकर मिलते थे। **सिन्धु** तो हमारी सिन्ध ही जो पंजाब से होकर बहती है। **ह्लादिनी** पूरबी एशिया की कोई विशाल नदी होगी जिसकी पहचान आज नही हो सकती। **नलिनी** सम्भवतः बरमा की इरावदी है जो इन्द्रद्वीप के पास समुद्र मे गिरती है। **पावनी** सम्भवतः मेकाङ्क (माई गंगा) नदी हो जो स्याम के दक्षिण मे प्रवाहित होती है। गंगा तो अपनी चिरपरिचित भागीरथी है। ये है सभ्यता का विस्तार करनेवाली एशिया की सप्त नदियाँ।

भारतवर्ष

(क) भारतवर्ष नाम पड़ने से पहले यह देश अजनाभ (भाग० ५।७।३) तथा हैमवतवर्ष (वायु ३५।५२) नाम से प्रख्यात था। **हैमवतवर्ष**

नाम का हेतु तो यह है कि इस वर्ष मे सीमा विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि (हिमालय या हिमाचल) प्रधान रूप से अवस्थित है और वह वर्षपर्वत है। फलतः हिमवत् के द्वारा उत्तर मे वेष्टित होने के कारण यह नाम स्वाभाविक रीति से इस देश को दिया गया है। परन्तु **अजनाभ** अविधान का तात्पर्य बहुत ही गम्भीर तथा अन्तरंग है। 'अजनाभ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— अज (अजन्मा भगवान् विष्णु) के नाभि कमल पर स्थित देश। इस शब्द का स्वारस्य यह है कि ब्रह्मा ने भगवान् के नाभि-कमल पर निवास करते हुए जिस प्रथम लोक का निर्माण किया, वही है यह **अजनाभवर्ष**। यह शब्द प्रदर्शित कर रहा है कि आदि सृष्टि यही अजनाभवर्ष मे ही हुई। मानवो की उत्पत्ति का स्थान यही वर्ष है। मानव सर्वप्रथम यही उत्पन्न हुआ और यही से भिन्न-भिन्न दिशाओ में फैलकर उसने सभ्यता का विस्तार किया। यह व्युत्पत्ति मनुस्मृति मे उपलब्ध इस पद्य की प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है—

एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

फलतः आर्य जाति का मूलस्थान यही भारतवर्ष है; अन्य स्थान से आकर आर्यों ने भारतवर्ष को अपना उपनिवेश बनाया आदि नवीन कल्पनाएँ सर्वथा अप्रामाणिक है। पुराणो मे आर्यों के मूलस्थान के विषय मे यही सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य है।

'भारत' नाम की निरुक्ति

भारतवर्ष इस देश का नाम क्योकर पड़ा ? इस विषय मे पुराणो के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल मत्स्यपुराण ने इस नाम की निरुक्ति के विषय मे एक नया राग अलापा है। 'भरत' से ही 'भारत' बना है, परन्तु भरत कौन था ? इस विषय में मत्स्य मनुष्यो के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओ के भरण और रक्षण के कारण 'भरत' की संज्ञा दी है—

भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥

—मत्स्य ११४।५–६

प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे **प्रियव्रत** जिनके पुत्र थे **नाभि**। नाभि के पुत्र थे **ऋषभ** जिनके एकशत पुत्रो मे से ज्येष्ठ पुत्र **भरत** ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया। और इन्ही राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश "अजनाभ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने

लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं—

(क) ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

—वायु ३३।५१–५२; मार्क० ५३।३९–४०

(ख) प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण-परायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्॥

—भाग० ११।१५,१७

(ग) भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल परिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनी विश्वरूप-दुहितरमुपयेमे ...... । अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।

—भागवत ५।७ १–३

भारतवर्ष का भूगोल दो रीतियो मे पुराणो में अभिव्यक्त हुआ है—(क) **कार्मुक संस्थान** तथा (ख) **कूर्म संस्थान**। कार्मुक संस्थान से अभिप्राय है कि समग्र भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति कार्मुक अर्थात् धनुष के समान है जिसकी प्रत्यंचा या डोरी स्वयं हिमाचल उत्तर मे है तथा जिसका खीचा हुआ दण्ड दक्षिण की ओर फैला हुआ है। कार्मुक संस्थान का निर्देश पुराणो में बहुशः किया गया मिलता है—

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः।
हिम्नानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा[1] गुणाः॥

—मार्क० ५७।६०

मार्कण्डेयपुराण ने अपने ५७ अध्याय मे इसी संस्थान को लक्ष्य कर भारतवर्ष के सात कुलपर्वत, नदियो तथा जनपदो की एक विस्तृत सूची दी है। पुराणो के भुवनकोशो का यही प्राचीन भूगोल था जो कूर्म (पूर्वार्ध अध्याय

---

१. यही श्लोक ब्रह्म० २७।६५।६६। मे उपलब्ध है। ब्रह्म के २७ अ० मे भारतवर्ष के पर्वत, नदियो तथा जातियो का विस्तृत विवरण है। अन्त मे भारत की उत्कृष्ट महिमा प्रतिपादित है (श्लोक ७१–७८)।

४६), ब्रह्माण्ड (अ० ४९), मत्स्य (अ० ११४), वायु (अ० ४५) और वामन (अ० १३) तथा श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध (१६–२० अ०) मे उपलब्ध होता है । मार्कण्डेयपुराण का वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है। यहाँ सात कुलपर्वतो का तथा उनसे निकलने वाली नदियो का पर्वतों से सम्बद्ध कर सुचारु वर्णन है । साथ मे इस देश के विभिन्न भागो के जनपदों का तथा वहाँ रहने वाली जातियो (जिन्हे 'फिरके' शब्द से सूचित किया जा सकता है) का भी विस्तार से वर्णन किया गया है । जनपदो की नामावली भारतवर्ष को सात विभागो में बाँटकर की गयी है। इन विभागों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मध्य देश्य, (२) उदीच्य, (३) प्राच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त, (६) विन्ध्यपृष्ठ और (७) पर्वताश्रयी ।

कूर्म संस्थान—भारतवर्ष मे आराध्य देव भगवान् कच्छप हैं। प्रतीत होता है कि इस भावना को आधार मानकर समग्र भारतवर्ष को कच्छप की आकृति माना गया है और कच्छप के भिन्न अंगो के सादृश्य पर भारतवर्ष को नव भागो में विभक्त किया गया है । ये विभाग इस प्रकार है—(१) मध्यभाग, (२) मुख, (३) पूर्व-दक्षिणी पैर, (४) दक्षिण कुक्षि, (५) पश्चिम दक्षिणी पैर, (६) पुच्छ या पृष्ठभाग, (७) पश्चिमोत्तरी पैर, (८) उत्तर कुक्षि, (९) पूर्वोत्तरी पैर । इन्ही नव विभागो मे भारतीय जनपदो का विभाजन किया गया है। कूर्म संस्थान का विवरण मार्कण्डेय के ५८वे अध्याय मे विस्तार से है । इस प्रकार दो संस्थानों का विवरण एक ही पुराण मे एक ही स्थान पर मिलता है—मार्कण्डेयपुराण मे । भारतीय जनपदो की इस नवीन सूची को पूर्व अध्याय की प्राचीन सूची से मिलाने पर अनेक नूतन नाम मिलते हैं जो भारतीय इतिहास की बदली हुई परिस्थिति मे कुषाण तथा गुप्तकाल में प्रथमबार उपलब्ध मिलते है । इतिहासविदो की यही मान्य सम्मति है । इस कूर्मस्थानीय भारत का मुख पूरब की ओर है और इसी दिक्सूत्र को पकड़कर अन्य अवयवों की आपेक्षिक स्थिति निश्चित की जा सकती है । कूर्मसंस्थान पर आधारित जनपद सूची ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है—वराह मिहिर की बृहत्संहिता के नक्षत्र कूर्माध्याय (अ० १४), नरपति जयचर्या नामक ग्रन्थ मे तथा पराशरादि मुनियो द्वारा निर्मित प्राचीन ज्योतिष ग्रंथो मे है ।

भारत—कर्मभूमि

पुराणो मे भारतवर्ष की प्रकृष्ट प्रशस्ति दी गयी है। जो आधुनिक मतवाले भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के ऊपर देशप्रेम के अभाव का लाञ्छन लगाते है, उन्हे पुराणो मे दी गयी **भारत-प्रशस्ति** का अनुशीलन करना चाहिए । इस प्रशस्ति की पृष्ठभूमि गुप्त साम्राज्य का सुवर्ण युग माना जा सकता है जब

भारतवर्ष आधिभौतिक, भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे समस्त विश्व मे अपना प्रतिमान नही रखता था और जब इसके पराक्रमी नाविको ने अगम्य तथा दुर्गम्य उत्तालतरंगमय महार्णव को पार कर पूर्वी द्वीप-पुंजो मे—जावा, सुमात्रा, वोर्नियो, फिलिपाइन्स आदि-आदि मे—अपनी सभ्यता की पताका फहरायी थी और इन द्वीपो को अपना उपनिवेश वनाया था। उस युग मे भारतीयो मे एक अदम्य उत्साह था, नाना देशो मे अपनी संस्कृति फैलाने की अश्रान्त लिप्सा थी। तभी भारतीयो ने अपने भीतर सुप्त स्वज्योतिः-पुञ्ज का दर्शन किया था तथा उसी की आभा को विश्व के सामने छिटकाया था। इन प्रशस्तियो के अनेक आधार सूत्र हैं—

(क) भारत के समान पृथ्वी का कोई भी देश नही है—यह समूचे भूमण्डल मे अनुपम और अद्वितीय है।

(ख) भारत स्वर्ग से बढ़कर है और इसीलिए स्वर्गवासी देवगण भारत मे मनुष्य के रूप मे जन्म लेने को श्रेयस्कर समझते थे।

(ग) मानव जीवन के जितने मंगल तथा कल्याण होते है उनके बीज भारत मे विद्यमान है।

(घ) भारत कर्मभूमि—अन्य देश भोगभूमि है। भारत मे सिद्धियाँ कर्म के वशीभूत होकर फलीभूत होती है।

इन तथ्यो को सिद्ध करने वाले कतिपय श्लोक पुराणो से यहाँ उद्धृत किये जाते है :—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

—(देववचन; भागवत ५।१९।२१)

भारतभूमि कर्मभूमि है तथा स्वर्गभूमि भोगभूमि है—

इस तथ्य की पुष्टि मे पुराणो मे विशेष महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये है।

पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता।

—(ब्रह्मपुराण २७।२)

जाम्बवे भारतं वर्षं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थं तदुच्यते॥

—(तत्रैव ७०।२१)

अभिसंपूजितं यस्मात् भारतं बहुपुण्यदम् ।
कर्मभूमिरतो देवैर्वर्षं तस्मात् प्रकीर्तितम् ॥
—(तत्रैव ७०।२४)

कर्मणस्तु प्रधानत्वमुवाच त्रिपुरान्तकः ।
सर्वंकर्मैव नाकर्म प्राणी क्वाप्यत्र विद्यते ।
कर्मैव कारणं यस्माद् अन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥
—(तत्रैव १४३।८–११)

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।
—(विष्णु २।३।२)

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥
—विष्णु २।३।२२

भारतं नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ।
तत् कर्मभूमिर्नान्यत्र संप्राप्तिः पुण्यपापयो. ।
एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
—मार्कण्डेय ५५।२१–२२

प्रयाति कर्मभूर्ब्रह्मन् नान्यलोकेषु विद्यते ।
—वही ५७।६२

कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ।
—वनपर्व १८१।३१

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम्। अन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ।
—भागवत ५।१७।११

भारतवर्ष के मनुष्य देवो से भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके हाथ मे उनका भविष्य है । कर्म के सम्पादन की छूट होने से भारतवर्ष का मानव भोगभूमि स्वर्ग मे कर्मफल को भोगने में आसक्त देवताओं से कही बढकर है। मानव की श्रेष्ठता की यह स्वीकृति पुराणो की एक महत्त्वशाली देन माना जाना चाहिए :—

(क) देवानामपि विप्रर्षे ! सदा एष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ।
मनुष्यः कुरुते तत्तु यत्र शक्यं सुरासुरैः ॥
—मार्क० ५७।६३–६४

(ख) अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम ।
कदाचित् लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ।।
—विष्णु २।३।२३

(ग) गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।
—वही २।३। ४

(घ)… …धन्याः खलु ते मनुष्याः
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीणाः ।
—वही २।३।२६

भारतवर्ष के नवखण्डात्मक विभाजन

भारतवर्ष के नव खण्डो का विभाजन पुराणो मे मिलता है । मत्स्य (११४। ७–८) तथा मार्कण्डेय (५७।५) मे भारतवर्ष के इन खण्डों की संज्ञा इस प्रकार है—(१) इन्द्रद्वीप, (२) कसेरु, (३) ताम्रपर्ण, (४) गभस्तिमान् (५) नागद्वीप, (६) सौम्य, (७) गन्धर्व, (८) वारुण, (९) स्वयं भारत ही :—

भारतस्य च वर्षस्य नव भेदान् निबोधत ।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः ।।
—(मत्स्य ११४।७–८)

ये ही नाम मार्कण्डेय (अ० ५७) मे पुनरावृत्त हैं और एक नयी बात का यहाँ अधिक संकेत है कि ये नव विभाग एक दूसरे से समुद्र के द्वारा विभक्त (अन्तरित) थे तथा जमीन के रास्ते से अगम्य थे जहाँ जाना नितान्त असम्भव था—

समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ।
—मार्क० ५७।५=वायु ४५।७८

'अयं तु नवमस्तेषाम्' प्रकट कह रहा है कि इस पुराण का लेखक भारत मे ही कहीं बैठकर लिख रहा है । प्रश्न यह है कि इस नवम भाग का नाम क्या था ? राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा मे इस भाग का नाम कुमारी द्वीप बतलाया है (कुमारी द्वीपश्चायं नवमः) । अन्य पुराणो के लेखको ने नव

भागों के विवरण देते समय नवम भाग की स्थिति के विषय में मौन ही धारण किया है, परन्तु वामन पुराण के रचयिता को यह श्रेय देना चाहिये कि उसने इस नवम भाग का अभिधान तथा स्वरूप ठीक-ठाक दिया है—

अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः॥

—वामन १३।११

वामन पुराण और काव्यमीमांसा के अनुसार यह नवम भाग कुमार द्वीप या कुमारीद्वीप के नाम से प्रख्यात था। इस संज्ञा का हेतु यही था कि यह प्रदेश कुमारी (कन्या कुमारी) से आरम्भ होकर गंगा के प्रवाह तक फैला हुआ था (आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधि[1]—मत्स्य ११४।१०)। फलतः दक्षिण से उत्तर तक फैलनेवाले देश का दक्षिण बिन्दु था—कुमारी (या कन्या कुमारी) और इसीलिए यह भारत ही स्वयं **कुमारीद्वीप** के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतवर्ष के इस नवखण्डात्मक विभाजन का मुख्य कारण गुप्तों के समय मे भारतवर्ष का सांस्कृतिक विस्तार था। इसी युग मे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का, भाषा तथा साहित्य का, धर्म तथा दर्शन का पूर्वी द्वीपपुंजों मे आश्चर्यजनक विस्तार सम्पन्न हुआ। ये सकल द्वीपसमूह भारतवर्ष के भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत तब समझे जाने लगे अर्थात् आजकल का बृहत्तर भारत (ग्रेटर इण्डिया) भारतवर्ष का क्षेत्र माना गया, तब मुख्य भारत के लिए किसी नये नाम की खोज की गयी और यही नाम था—**कुमारीद्वीप**। वामन पुराण ने स्पष्टतः[2] कहा है कि जिसे अब तक भारत के नाम से पुकारते थे, उसे ही अब कुमारीद्वीप के अभिधान से पुकारने लगे। इस नवीन स्थिति की स्वीकृति सामान्य जनता ने भी दी। जिस परिवर्तित स्थिति का संकेत पुराण के लेखकों ने अपने नाना वचनो मे किया, उसको सामान्य जनो ने भी स्वीकार

---

१. आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा-प्रभवाच्च वै।
तिर्यगुत्तरविस्तीर्णः सहस्राणि नवैव तु॥

—वायु ४५।८

२. इमे तवोक्ता विषयाः सुविस्तराद्
द्वीपे कुमारे रजनीचरेश।
एतेषु देशेषु च देशधर्मान्
संकीर्त्यमानान् शृणु तत्त्वतो हि॥

—वामन १३।५९

करते विलम्ब नही किया। आज भी प्रतिदिन के 'संकल्पवाक्य' मे भारतीय जन इस भौगोलिक परिवर्तन के स्वीकरण की सूचना देते है :—हरिः ओ तत्सत् ; श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते काशीक्षेत्रे आदि।

इस संकल्प-वाक्य मे प्राचीन तथा नवीन भावनाओ का पूर्ण सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है। 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' तो प्राचीन भावना का संकेत है जब भरतखण्ड जम्बूद्वीप के साथ अभिन्न अथवा उसका एक विशिष्ट खण्ड माना जाता था। 'भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे'—यह नवीन भावना का द्योतक है जब समग्र भारतवर्ष नव खण्डो मे विभक्त होकर एक विशाल भौगोलिक इकाई माना जाता था और मूल भारत 'कुमारिका खण्ड' की आख्या से प्रसिद्ध हो गया था।

भारतवर्ष के समुद्रान्तरित आठ विभागो की वर्तमान स्थिति का आज संकेत मिल सकता है। ये भारत से पूरब की ओर फैलने वाले द्वीपसमूहो के अवयव है जिन्हे कालिदास के युग मे 'द्वीपान्तर' के नाम से पुकारा जाता था और जहाँ कला, साहित्य, भाषा तथा संस्कृति के क्षेत्र मे भारतवर्ष का पुष्कल प्रभाव पड़ा था।

(१) इन्द्रद्वीप=इन्द्रद्युम्न, अंडमन टापू
(२) नागद्वीप=नागवरं=नक्कवरं (चोल-शिलालेख)=निकोबार टापू
(३) ताम्रपर्णी=सिंघल, लंका।
(४) वारुणद्वीप=बोरनियो टापू
(५) कसेरुमान=मलयद्वीप
(६) गभस्तिमान् = ?
(७) सौम्य = ?
(८) गन्धर्वद्वीप = ?

अन्य पुराणो मे भी भारतवर्ष के नव खण्डो का नाम प्रायः एतत्-समान ही है, परन्तु कही-कही कतिपय खण्डो के नाम भिन्न रूप से मिलते हैं। यथा वामन पुराण मे ऊपर दी गयी सूची के अन्तिम दो नामो के स्थान पर कटाह तथा सिंहल द्वीप के नाम दिये गये हैं। कटाहद्वीप तो मलय प्रायद्वीप का केडा नामक स्थान से अभिन्न है जिसका उल्लेख संस्कृत के कथा-साहित्य मे विशेष उपलब्ध होता हे और जो कथा-सरित्सागर मे कटकच्छ द्वीप के अभिधान से निर्दिष्ट किया गया है। सिंहल द्वीप तो आजकल का सीलोन या लंका है।

ताम्रपर्ण का भी सिंहल के संग-साथ मे उल्लेख इन दोनो के वैभिन्य का द्योतक है। सामान्यतः ताम्रपर्ण वर्तमान लंका की ही संज्ञा माना जाता है, परन्तु सिंहल के साथ एक ही सूची में उल्लिखित होने से यह कोई भिन्न टापू प्रतीत होता है।

कुमारीद्वीप की विभिन्न दिशाओ मे स्थित जनजातियो का भी उल्लेख कम महत्त्व का नही है। मत्स्य तथा मार्कण्डेय मे कहा गया है कि कुमारीद्वीप की पूर्वोत्तरी सीमा पर किरातों का तथा पश्चिमोत्तरी सीमा पर यवनों का आवास था। यवनों का यह स्थिति-निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यह सम्भवतः वैक्त्रिया के यूनानी लोगों का स्पष्ट निर्देश है, जो मूल रूप मे चतुर्थ शती ई० पू० मे वैक्ट्रिया मे निवास करते थे और पिछली शतियो मे गन्धार तथा कावुल घाटी मे आकर वस गये थे। वामन पुराण के इस विवरण मे दो नाम सन्निविष्ट किये गये हैं—दक्षिण मे आन्ध्र तथा उत्तर मे तुरुष्क। यह ऐतिहासिक परिस्थिति के परिवर्तन का द्योतक माना जा सकता है। प्रथम अथवा द्वितीय शती ईस्वी में, जब आन्ध्र शातवाहनों का साम्राज्य दक्षिण मे पूरबी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक विस्तीर्ण था तथा उत्तर मे तुरुष्क या तुषारदेशीय शक (कुषाण आदि) पेशावर में राज्य कर रहे थे।

कुलपर्वत

पौराणिक भूगोल मे पर्वत दो प्रकार के होते है—वर्षपर्वत तथा कुलपर्वत। वर्षपर्वत तत्तत् वर्षो के सीमागिरि हैं जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते है। कुलपर्वत देश के भीतर उसके प्रान्तों की सीमा वनाते है तथा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करते हैं। कुलपर्वतो की संख्या सात मानी गयी है—(१) महेन्द्र, (२) मलय, (३) सह्य, (४) शुक्तिमान्, (५) ऋक्ष, (६) विन्ध्य, (७) पारियात्र। इन पर्वतो का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है—

(१) **महेन्द्र**—कलिंग से शुरू होनेवाली पूर्वी घाट की पर्वत-शृंखला का नाम महेन्द्र है। परशुरामजी इसी पर्वत पर तपस्या करते हुए वतलाये गये हैं। आज भी गंजम के समीप यह महेन्द्रमलै कहलाता है।

(२) **मलय**—दक्षिण भारत का नीलगिरि पर्वत, जहाँ पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ एक-दूसरे से मिलकर एक वंकिम रेखा के समान आकार धारण करती है। इस पर्वत पर चन्दन के वृक्ष वहुतायत से होते हैं और इसी कारण चन्दन 'मलयज' के नाम से विख्यात है।

(३) **सह्य या सह्याद्रि**—उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट की पर्वत-शृङ्खला, आज भी जो महाराष्ट्र तथा कोंकण मे इसी नाम से पुकारी जाती है।

(४) **शुक्तिमान्**—इसकी वर्तमान स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। सह्याद्रि पर्वत के उत्तरी छोर से कुछ पहले ही पूर्व की ओर बढनेवाली उसकी भुजाएँ ही इस नाम से संकेतित की गयी जान पड़ती हैं जिसमे खानदेश की पहाड़ियाँ, अजन्ता तथा गोलकुण्डा का पठार भी सम्मिलित मानना चाहिए।

(५) **ऋक्ष पर्वत**—सतपुड़ा पहाड़ियो से आरम्भ होनेवाली पर्वत-शृङ्खला इसका आधुनिक प्रतिनिधि है। ताप्ती तथा वेन गंगा इस पहचान को पुष्ट करती है। उड़ीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदियों का उद्गम भी इसी पर्वत से था। मानना पड़ेगा कि यह पर्वत छोटा नागपुर की पहाडियो तक फैला हुआ था।

(६) **विन्ध्य पर्वत** तो सुप्रसिद्ध विन्ध्याचल पर्वत है जिसमे शोण (सोन नद), नर्मदा, महानदी, तमसा (टौंस नदी मध्यभारत की) कथा दशार्ण (आजकल की धसान) नदियाँ निकलकर विभिन्न समुद्रो मे प्रवाहित होती हैं।

(७) **पारियात्र** = अड़ावली पहाड़ी। इससे निकलनेवाली नदियों से इसकी पहचान की जा सकती है। इस पारियात्र से निकलनेवाली नदियों में पर्णास (बनास नदी), चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती, वेत्रवती (वेतवा)—ही मुख्य नदियाँ इस पर्वत से निकलती हैं जो इसके पूर्व पहचान को दृढ करती हैं। इन पर्वतो के अतिरिक्त और भी पर्वत पुराणो मे दिये गये हैं जैसे मलय, दर्दुर, रैवत, अर्बुद, गोमन्त आदि आदि। हिमाचल वर्षपर्वत होने के नाते कुलपर्वतो की गणना मे नही आता। इन पर्वतो से निकलने वाली नदियो का नाम मार्कण्डेय मे ५७ अध्याय मे सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है। पुराणो ने भारतवर्ष के भीतर निवास करने वाली जन-जातियों का भी यथार्थ वर्णन किया है जो इतिहास की दृष्टि मे विशेष महत्त्व रखता है[१]।

---

१. इन नदियो तथा जातियों तथा देशो के वर्णन के लिए इन ग्रन्थो का अध्ययन उपयोगी है :—

(क) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ १४६—१५५

(ख) डा० अग्रवाल—मत्स्यपुराण ए स्टडी पृष्ठ पृ० १८४–२०८

(ग) डा० डी० सी० सरकार : स्टडीज इन दी ज्याग्रफी आफ् ऐन्शण्टएण्ड मिथिवल इण्डिया पृष्ठ १७—१०९। इस ग्रन्थ मे पुराण की नदियो का समग्ररूप से एक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो महत्त्वशाली है। ५६ देशो तथा जातियो का भी विवरण उसी प्रकार वड़ा ही वढ़िया तथा उपयोगी है।

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड

पुराण की दृष्टि मे ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह भुवन है जो भूतत्त्व मे निर्मित हैं। पृथ्वी को ही मुख्य मानकर कह सकते हैं कि छः भुवन उसके ऊपर है तथा सात भुवन उसके नीचे हैं जिनको सामान्य रीति मे 'पाताल' कहते हैं। इन चौदहो भुवनो की स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिए :—

ऊर्ध्वलोक[1]

पाताल लोकों का पुराणनिर्दिष्ट विवरण साधारण विश्वासो से नितान्त भिन्न है। सामान्य जनता का तो यही विश्वास है कि पाताल नितान्त अन्धकार से आच्छन्न, क्लेशमय तथा प्राणी-निवास के सुतरां अयोग्य है; परन्तु पुराणों का प्रामाण्य इस विषय में ठीक इससे विपरीत है। विष्णुपुराण (२।५।५–१३)

(घ) डा० वी० सी० ला—दी हिस्टारिकल ज्याग्रफी आफ ऐनशंट इंडिया (१९५४, पैरिस से प्रकाशित)

(१) ऊर्ध्वलोको के वर्णन के लिए द्रष्टव्य विष्णुपुराण द्वितीय अंश, ७ अ०, तथा वायुपुराण ५० अ०।

२. अधोलोकों के वर्णन के लिए द्रष्टव्य विष्णु–२।५; श्रीमद्भागवत ५।२४; वायुपुराण ५० अ० १—४८ श्लो०।

महर्षि नारद की अनुभूति को उल्लिखित कर पाताल के विषय मे यह कहता है पाताल तो स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है **स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः**[१]। सूर्य तथा चन्द्रमा की वहाँ स्थिति होनेसे वह सर्वथा प्रकाशमय तथा कान्तिमान् होता है—परन्तु एक वैशिष्ट्य के साथ। दिन मे सूर्य की किरणे केवल प्रकाश ही करती हैं, परन्तु घाम नही करती, रात मे चन्द्रमा की किरणो से शीत नही होता, केवल चाँदनी ही फैलती है। वहाँ के निवासी दैत्य, दानव तथा नागलोक स्वच्छ आभूषण, सुगन्धमय अनुलेपन तथा वेणु–वीणा आदि स्वरयन्त्रो—आदि उदारजनो के द्वारा भोग्य पदार्थों का सेवन करते हैं। भोग-विलास की समग्र सामग्री से सम्पन्न पाताल लोक का निवास मनुष्यो के लिए भी एक स्पृहणीय वस्तु है, गर्हणीय नही। वहाँ भगवान् विष्णु की तामसी तनु जिसका नाम शेष अथवा अनन्त है, निवास करती है। वे अपने फणो की सहस्र मणियों से सम्पूर्ण दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए संसार के कल्याण के लिए समग्र असुरो को वीर्यहीन करते रहते हैं। श्रीमद्भागवत (५।२४।८–१५) ने भी इन्ही कमनीय शब्दों मे पाताल लोको के ऐश्वर्य, वैभव तथा भोगविलास का वर्णन किया है।[२] विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत का वर्णन विशिष्टतर है, क्योकि यह सातो पाताल लोको मे प्रत्येक का वर्णन अलग-अलग वैशद्य से करता है। यह वर्णन इतना साङ्गोपाङ्ग है कि इसमे अनुभूति की सत्यता स्पष्टतः झाँकती दृष्टिगोचर होती है। इस पाताल की पहचान क्या किसी भूविशेष से की जा सकती है ?

मेरी दृष्टि मे पाताल की पहचान समग्र पश्चिमी गोलार्ध से की जा सकती है जिसे आजकल उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के नाम से पुकारते हैं। श्रीमद्भागवत ने 'अतल' नामक पाताल लोक मे मय नामक असुर की स्थिति बतलायी है। यह प्रामाण्य बड़ा सारवान् है। मध्य अमेरिका के मुख्य प्रदेश मेक्सिको की प्राचीन संस्कृति **मयसंस्कृति** के नाम से विख्यात है और वहाँ के निवासी आज भी उस प्राचीन संस्कृति के प्रचुर उपासक है। मय था,

---

१. स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः।
प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम्॥

—ब्रह्म २१।५ तथा विष्णु २।५।५

२. तुलना कीजिए महाभारत के तादृश वचन से—

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा॥

—महाभारत, आरण्यपर्व १०२।१५

बड़े ही अद्भुत महलों का निर्माता असुरो का इञ्जीनियर। मेक्सिको तथा पेरु आदि देशो की समृद्ध शिल्पकला तथा भास्कर्यकला के प्राणवन्त प्रासादो का निरीक्षण कर आधुनिक शिल्पी आश्चर्यचकित हो उठता है उस प्राचीन युग की इन विशद कलाकृतियों की विस्मयकारिणी समृद्धि तथा सम्पन्नता की सत्ता से। मय असुर माया के लिए भी प्रसिद्ध था और इन स्थानो मे आज भी प्राचीन युग के गुप्त महलो में असंख्य धनराशि अभिमन्त्रित कर रखी हुई है। मेक्सिको[१] का आचार-विचार, रहन-सहन, सिल-बट्टे का प्रयोग, भोजन का प्रकार, चपातियो का दाल-तरकारी के साथ खाना—सब कुछ आज भी भारतीय है। फलतः मेरी दृष्टि मे समग्र अमेरिका की पाताल से पहचान करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक है।

एक बात और भी इस विषय मे ध्यान देने योग्य है। वह है वहाँ का स्थानीय जलवायु। अमेरिका के इस भाग की जलवायु समशीतोष्ण है—न अधिक गरम, और न अधिक ठंढा। पुराणवर्णित सूर्य-चन्द्र के मर्यादित व्यवहार का यह सर्वथा प्रमापक माना जा सकता है। गरमी का कम होना तथा शीत का भी मर्यादित रूप इस पुराण-निर्दिष्ट वैशिष्टय का स्पष्टतः द्योतक माना जा सकता है। पुराण का कथन है कि पाताल लोक भारतीयो के लिए अगम्य और अव्यवहार्य नही थे, परन्तु वहाँ से हमारा व्यवहार भी चलता रहा—

> सप्तैवमेते कथिता व्यवहार्या रसातलाः।
> देवासुरमहानागराक्षसाध्युषिताः सदा॥
>
> —वायु ५० अ०, ५४ श्लो०।

निष्कर्ष यह है कि पाताल का पौराणिक वर्णन कल्पनाप्रसूत न होकर अनुभवाश्रित है। ये सच्चे भूभाग की भौगोलिक इकाई है जहाँ आर्यो का गमनागमन होता था। यह तो भूगोल के पाठकों को अज्ञात नही है कि साइबेरिया का पूरबी प्रदेश उत्तरी अमेरिका के अलास्का नामक उत्तरी प्रदेश से किसी समय बिल्कुल ही संलग्न था। फलतः पाताल लोकों मे जाने का रास्ता इधर से स्थलमार्ग से भी था; यह मानना अनुमान-विरुद्ध नही कहा जा सकता।

१. मेक्सिको के निवासियों के आचार-विचार के विषय मे द्रष्टव्य दीवान चमन लाल रचित 'हिन्दू अमेरिका' नामक अंग्रेजी पुस्तक जिसके बड़े संस्करण मे वहाँ की कलाकृतियों के नमूने भी प्रचुरता से दिये गये हैं। संक्षिप्त संस्करण मे ग्रन्थकार ने अपने दीर्घकालीन खोजों के आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। लघुसंस्करण विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित है।

स्पेन के इतिहास से भी इन जातियों मे से अन्यतम जाति इन्का लोगों का जो अद्भुत वृत्तान्त मिलता है उससे भी उक्त पहचान की पुष्टि होती है। इस विषय मे दो-चार बातें यहाँ स्पेनी इतिहास के आधार पर दी जाती हैं :—

सन् १५३३ ईस्वी मे दक्षिणी अमेरिका के एक विशाल भूभाग पर जहाँ आजकल पेरु, ईक्वाडोर, चिली और अर्जण्टाइना के कुछ हिस्से हैं वहाँ 'अताहु-आल्पा' नामक राजा राज्य करता था। इसके पूर्वज 'इन्का' जाति के सम्राट् थे जिनका सार्वभौम राज्य पूरे देश पर था। उस सम्राट् की राजधानी का विपुल वैभव देखकर आज आश्चर्य होता है, परन्तु बात बिल्कुल ठीक है कि सम्राट् के प्रमुख पथ, और महल की दीवारें सोने के पत्तरों से जड़ी हुई थी। राजमन्दिर का विस्तृत उद्यान पूरा पक्के सोने का बना हुआ था। सोने के पेड़, सोने के फूल, सोने की पत्तियाँ, सोने की घास, सोने की तितिलियाँ सब कुछ सोने का बना हुआ था। हीरे, जवाहिरात तथा सोने का वहाँ अपार ढेर था जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। लोगो का विश्वास था कि इन्का सम्राट् को सूर्य भगवान् ने लोगो को शासन करने के लिए भेजा है। उनकी आज्ञा देवाज्ञा के समान पवित्र तथा अपरिहार्य मानी जाती थी। पूरे देश मे सोने, चादी, जवाहिरात की इतनी अधिक खाने थी जितनी कल्पना मे भी नही आ सकती। स्पेनी सरदार पिजारो ने इस इन्का सम्राट् को कैद कर डाला और अपने आदेश के अनुसार सोना प्राप्त हो जाने पर भी उसने सम्राट् को कैद से नही छोड़ा और उसे मार डाला। पिजारो ने मृत राजा के एक व्यक्ति को सम्राट् बनाकर, एकत्रित अतुल सुवर्ण राशि को लेकर स्पेन लौट आया। इधर नवीन सम्राट् ने अपने प्राणो को संकटापन्न मानकर अतुल सम्पत्ति के साथ अपने राज्य के भीतर जंगलो मे अपनी नयी राजधानी स्थापित की जिसका नाम था विल्कावम्बा और वही पर महलो के भीतर धनराशि रखकर उसे तिलिस्म के सहारे बन्द कर दिया। इन तिलिस्मो की कुञ्जी एक रस्सी और रंगीन गाठो मे है जिसके संकेत को आज भी कोई समझ नही रहा है। उसके पाने के अनेक खोजी साहसी व्यक्तियो ने अश्रान्त परिश्रम किया, परन्तु अभी सफलता उन्हे प्राप्त नही हुई। इस उद्योग की कहानी जो कल्पना से भी अधिक चमत्कार-जनक है अभी अखबारो मे प्रकाशित हुई है।[1]

जिस तिलिस्म का उल्लेख यहाँ ऊपर किया गया है वह आसुरी माया का एक दृष्टान्त है। मय केवल प्रासादो के निर्माण मे ही अलौकिक दाक्ष्य नही रखते थे, परन्तु विलक्षण माया (या जादू) के भी वे अधीश्वर थे। ऊपर के

१. द्रष्टव्य 'धर्मयुग' नामक साप्ताहिक पत्र (१० सित०, १९६४ का अंक पृष्ठ २५-२६; जहाँ बहुत से तथ्य एकत्र किये गये है)

वर्णन को पाताल के पौराणिक वर्णनों से मिलाने पर विलक्षण समता दृष्टिगोचर होती है। पुराण मे उल्लिखित पाताल के वैभव की एक फीकी रेखा इस वर्णन में भी मिलती है। फलतः आसुरी माया से सम्पन्न इन्का लोगो को तथा विशाल प्रासादो के निर्माता एवं मय-संस्कृति के उपासक मेक्सिकन लोगो को पाताल लोक का अधिवासी मानने मे किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत नही होता।

मय असुर के विशाल प्रासादो के निर्माता होने की बात भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। युधिष्ठिर के राजप्रासाद की रचना मय ने ही की थी जिसके गच को देखने से भ्रम हो जाता था कि वह जल है या स्थल है। मेक्सिको मे मय लोगों के प्रासाद भी इसी नमूने के हैं। इसके विषय मे एक विशेषज्ञ की सम्मति यहाँ उद्धृत की जाती है जिससे मय लोगो की शिल्पकला की प्रक्रिया का परिचय मिल जायगा। भारतीय मय असुर के निर्माण तो केवल पुराणो मे वर्णन के विषय हैं परन्तु मेक्सिको देश के मय लोगों के निर्माण आज भी विद्यमान है और अपनी अनुपम कला के द्वारा वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के इन्जिनीयरो को भी आश्चर्य-चकित कर रहे हैं।

पाताल लोक मे दैत्य, दानव तथा नाग लोगों का निवास है। सबसे निचले लोक—पाताल में नाग लोक हैं जहाँ उसके अधिपति वासुकि, धृतराष्ट्र, धनञ्जय, शंखचूड आदि महाभोग-सम्पन्न नागलोकाधिपति निवास करते हैं जिनके फणों के ऊपर चमकने वाली मणियो से उस लोक का अन्धकार सद्यः

---

१. When one wanders through the great Maya Cities, One feels convinced that the Maya architects could not have accomplished such master pieces as the great-temples of Tokal or the charming temples of Sun, the Cross, and the foliated cross at Palenque, nor the house of the Governer and the nunnery at Uxmal, without first having laid out careful ground plans and having drawn up elevations and made sketches for the design. Theymust have made estimates of the amonnt of stones with or without design to be ordred from the stone cutters and roughly calculated how many zaPote-wood beams would be needed for their door ways.

—Frans Blom

'हिन्दू अमेरिका' पृ० २१२ (तृतीय सं०) पर उद्धृत।

विदूरित किया जाता है[१] (भाग० ५।२४।३१)। भागवत के इस कथन के साक्ष्य पर पाताल लोक में नागलोगो का निवास सर्वथा समर्थित तथा प्रमाण-पुरःसर है। मेक्सिको तथा पेरु मे नाग लोगों का निवास था—यह वहाँ के इतिहास से समर्थित है। नागपूजा भी उस देश मे प्रचलित थी। वोटन[२] नामक उस देश का प्रथम ऐतिहासिक, जिसने उस जाति के उद्गम के विषय मे एक ग्रन्थ लिखा है, अपने को उस ग्रन्थ मे नाग बतलाता है तथा वहाँ के देशी निवासियो को 'नाग' की संज्ञा देता है—पुराण का पूर्वोक्त वर्णन मध्य तथा दक्षिण अमेरिका मे अक्षरशः चरितार्थ होता है। इतना ही नही; मेक्सिको के अन्तिम शासक, जो अज्टेक के नाम से पुकारे जाते हैं, नागदेवता के पूजक थे और बहुत सम्भव है कि यह शब्द आस्तीक से ही उद्भूत हुआ है। यह नाम उस ऋषि का है जिन्होने अपने बुद्धि वैभव से जनमेजय के नाग यज्ञ मे सर्वाहुति होने से नागों को बचाया था[३]। नाग के उपासक 'अजटेक' जाति का नामकरण नागो के उद्धारक तथा संरक्षक आस्तीक ऋषि के नाम पर पड़ा हो—यह कथमपि असम्भाव्य नही है।

मेक्सिको—पेरु आदि अमेरिकन देशो का धनवैभव, सोने से जड़ा हुआ महल तथा सड़के इस बात का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि ये देश नितान्त समृद्ध तथा

---

१. Votan was the first historian of his people and wrote a book on the origin of the race, in which he declars himself a snake (Naga), a descandant of Imos, of the line of chan, of the race of chivim"......The interesting fact emrges that there was a snake people in America as there are Naga people in India.

२. Votan is Said to have returned to Palcque, where he found that several more of the natives had arrived. There he recognised as Snakes (Nagas) and showed them many favours

—Mackenyie : myths of pre-columbian America P. 265 quoted in Hindu America P. 13.

३. आस्तीक का चरित महाभारत के आस्तीक पर्व मे वर्णित है जो आदि-पर्व का एक अवान्तर पर्व १३ अध्याय से लेकर ५८ अ० तक फैला हुआ है। ये यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि के पुत्र थे। नागराज वासुकि के भवन मे इनका पोषण हुआ और उसी के प्रत्युपकार मे इन्होने जनमेय द्वारा उत्पीडित नागो को बचाया था (आदिपर्व, ५८ अ०)।

धन-दौलत से भरे-पूरे थे। इन सब प्रमाणो को एकत्र करने से हम इस निःसंदिग्ध निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अमेरिका, विशेषतः मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका, पुराणो मे बहुशः वर्णित अतुल धन-सम्पत्तिशाली पाताल लोक से भिन्न नही है। दोनो के सादृश्य-प्रतिपादक अन्य प्रमाणो का भी अध्ययन तथा अनुशीलन अभी भी करने योग्य है।

पुराण साहित्य मे चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है जिसका एक संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। भूलोक से लेकर सत्यलोक समग्र भूलोक और नीचे के अधोभुवन सप्त प्रकार पाताल आदि इसी के अन्तर्गत है। इसी ब्रह्माण्ड का ज्ञाता व्यक्ति शास्त्रो मे **'पुराणविद्'** के नाम से प्रख्यात है। परन्तु आगमो से पता चलता है कि इससे भी विस्तृत तथा विशाल ब्रह्माण्डो की सत्ता विद्यमान है। तथ्य यह है कि केवल पृथ्वीतत्त्व के अन्तर्गत भुवनो की गणना पुराणो मे है और उन भुवनो की समष्टि का नाम **ब्रह्माण्ड** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। परन्तु तन्त्रो की दृष्टि मे इस ब्रह्माण्ड के बाहर तथा इससे और भी विशाल अण्डो की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड संख्या मे असंख्य हैं, परन्तु इस ब्रह्माण्ड से भी बाहर ब्रह्माण्ड से भिन्न एक अण्ड है जो **प्रकृत्यण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के तेइस (२३ तत्त्वो की समष्टि से बनता है। यह भी स्वयं असंख्य है। प्रकृत्यण्ड से भी ऊपर तद्भिन्न एक अन्य अण्ड है जो **मायाण्ड** के नाम से विख्यात है। पुरुष-नियति-काल-राग-विद्या-कला तथा माया—इन सात तत्त्वो की समष्टि से निर्मित अण्ड को 'मायाण्ड' कहते है। एक-एक मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड होते है। यह मायाण्ड पुरुष से लेकर पञ्चकंचुक और उनकी कारणरूपा माया से बना है। माया से बाहर ज्योतिर्मय शुद्ध सत्त्वात्मक अण्ड है जो **शाक्ताण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह विद्यातत्त्वो की समष्टि से बना है अर्थात् इस अण्ड के भीतर शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्वो की समष्टि विद्यमान रहती है। इन अण्डों के अधिष्ठाता पुरुषो की भी तन्त्रो मे कल्पना है ब्रह्माण्ड (या पार्थिवाण्ड) के अधिष्ठाता ब्रह्मा है, प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मायाण्ड के अधिष्ठाता रुद्र है। यहाँ तक तो रहता है माया का राज्य। अब इससे आगे आरम्भ होती है शुद्धसत्त्वात्मक सृष्टि। और इसीलिए शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता हैं ईश्वर और सदाशिव। ईश्वर और सदाशिव तिरोधान और अनुग्रह शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर के ही दो कार्यानुरूप आधिकारिक नाम है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—इन पाँचो अधिकारी पुरुषो को तन्त्रो मे 'पंच कारण' कहते हैं। विश्व के समस्त व्यापारो मे अपने विशिष्ट अधिकार के अनुसार इन्ही का प्राधान्य रहता है।

इस प्रकार तान्त्रिक साहित्य में वर्णित अण्डों से पौराणिक अण्ड (या ब्रह्माण्ड) की तुलना करने पर यह बहुत ही छोटा लघु स्थान को आवृत करनेवाला प्रतीत होता है। इतने पर भी वह स्वयं अनन्त तथा असंख्य है। तान्त्रिक अण्डों को ध्यान मे लेने पर इस महाब्रह्माण्ड की विशालता तथा असंख्यता मानव बुद्धि से अगोचर की वस्तु ठहरती है[१]।

---
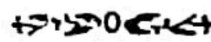
१. इस गम्भीर विषय को यथार्थता से समझने के लिए देखिए म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराजजी की दोनो मौलिक पुस्तक—

(क) 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' पृष्ठ १३८-१५४

(ख) 'भारतीय संस्कृति और साधना' पृष्ठ २८६–२८७

(प्रकाशक विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, विक्रमाब्द २०२०) ऊपर का संक्षिप्त विवरण इन्ही दोनो ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। लेखक इसके लिए कविराजजी का विशेष अनुग्रह मानता है।

अष्टम परिच्छेद

पौराणिक वंशवृत्त

अनुश्रुतिगम्य इतिहास की सत्यता

पुराणो में अनुश्रुति के आधार पर इतिहास का वर्णन किया गया है। इस इतिहास की सत्यता की जाँच इतर प्रामाणिक शिलालेखों तथा मुद्राओं के द्वारा सिद्ध होती है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति की पर्याप्त परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि ये वास्तविक रूप से सत्य हैं। इधर डा० मिराशी ने इस सत्यता के कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं[1]। उनके द्वारा पढ़े गये मुद्रालेखो से पुराणगत अनेक राजचरितों की सत्यता प्रमाणित होती है। वाकाटकों के विषय मे वायु तथा ब्रह्माण्ड में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है जिसकी सत्यता ताम्रपत्रो से सिद्ध होती है। पुराण राजा दिव्यशक्ति के पुत्र का नाम 'प्रवीर' बतलाता है, जो प्रवरसेन प्रथम ही प्रतीत होता है। उसके द्वारा वाजपेय तथा अश्वमेध के अनुष्ठान का पौराणिक निर्देश वाकाटको के ताम्रपत्रो से प्रामाणिक सिद्ध होता है। उसके चार पुत्रो का पौराणिक उल्लेख भी सत्य ही प्रतीत होता है। यद्यपि उसके एक ही पुत्र (गौतमीपुत्र) होने की बात प्रचलित थी, परन्तु मुद्राओं के द्वारा उसके द्वितीय पुत्र सर्वसेन की सत्ता भी पौराणिक उल्लेख को सत्य सिद्ध कर रही है। बहुत सम्भव है कि उसके अन्य दो पुत्रो के विषय मे ऐतिहासिक सामग्री भविष्य मे उपलब्ध हो। आन्ध्रो के विषय मे भी पौराणिक अनुश्रुति प्रामाणिक सिद्ध हो रही है। पुराणों मे पुलोमा वाशिष्ठीपुत्र नामक आन्ध्र राजा निर्दिष्ट है (पार्जिटर की सूची मे ३४ वा नाम)। वायुपुराण के एक हस्तलेख मे इस राजा के पुत्र 'शातकर्णि' का उल्लेख मिलता है, जो अन्य पुराणों में न मिलने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था; परन्तु कन्हेरी शिलालेख मे इस राजा का 'शातकर्णि वाशिष्ठीपुत्र' नाम उल्लिखित हुआ है जो पुराण के साक्ष्य को प्रमाणित करता है। इनकी रानी महाक्षत्रप रुद्रदामन् की पुत्री थी। इस घटना से पुराण का कथन सत्य सिद्ध होता है। आन्ध्रो के उत्तराधिकारियों मे 'मान' नामक शक राजा का उल्लेख पुराणों मे मिलता है।

---

१. द्रष्टव्य मिराशी का लेख 'पुराणम्' (काशिराज निधि द्वारा प्रकाशित, रामनगर, वाराणसी) भाग १ संख्या १, पृष्ठ ३१–३८।

इस तथ्य की पुष्टि इसी राजा की मुद्रा से अभी हुई है जो हैदराबाद के दक्षिण से प्राप्त हुई है। यह 'महिष्य' देश का शासक था, जो दक्षिण भारत का एक छोटा प्रान्तविशेष था। शिशुनाग, नन्द, शुङ्ग, कण्व, आन्ध्र तथा आन्ध्रभृत्य, मित्र, नागवंशी राजाओ की समग्र ऐतिहासिक सामग्री को उपलब्धि पुराणो की देन है। यह विषय इतना विख्यात है कि आज इसे पुष्ट तथा प्रमाणित करने के निमित्त उदाहरण देने की आवश्यकता नही है।

पुराणो की अनुश्रुति मे सम्भव है कही-कही गड़बड़ी हो तथा घटनाएँ आपस मे मिश्रित कर दी गयी हो, परन्तु सूतो ने राजाओ की वंशावली को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा हे। इन वंशावलियो मे एक नामवाले अनेक राजा हुए हैं। इन नामो मे अशुद्धि की सम्भावना को दूर करने के लिए पुराणो मे ऐसे नामो का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। यथा **नल** नामक दो राजा हुए—एक तो थे नैषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र तथा दूसरे थे इक्ष्वाकु वंश मे उत्पन्न। **मरुत्त** नामक दो राजा हुए—करन्धम के पुत्र तथा दूसरे अविक्षित् के पुत्र जो प्राचीन काल मे एक महान् नरेश गिने जाते थे और जिनके महाभिषेक का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका मे किया गया है। इसी प्रकार ऋक्ष, परीक्षित तथा जनमेजय दो-दो हुए तथा भीमसेन तीन हुए[२]।

इतनी सचाई से किया गया यह उल्लेख लेखक के ऐतिहासिक यथार्थ-ज्ञान का पूर्ण परिचय कराता है।

---

१. द्रष्टव्य पार्जीटर का बहुमूल्य ग्रन्थ—एन्शयेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) लंडन, १९२२; इसकी पुष्टि मे जयचन्द विद्यालंकार ने दो नयी युक्तियाँ दी हैं जिनके लिए देखिये उनका ग्रन्थ भारतीय इतिहास को रूपरेखा जिल्द १, पृष्ठ २३७-२३९ प्रथम सं० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३३।

२. नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वहः ॥
—वायु ८३।१७४–७५; ब्रह्माण्ड २।६३।१७४, लिंग ६६।२४–२५

करन्धमस्तु त्रैसानोर्मरुत्तस्तस्य चात्मजः
अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुत्तः कथितः पुरा ॥
—वायु ९९।२; मत्स्य ४८।२, ब्रह्म १३।१४३, ब्रह्माण्ड २।७४।२

द्वावृक्षौ सोमवंशेऽस्मिन् द्वावेव च परीक्षितौ
भीमसेनास्त्रयो विप्रा द्वौ चापि जनमेजयौ ॥
—ब्रह्म १३।११२–३; हरिवंश १।३२।४–५

पार्जीटर ने इस अनुश्रुति के प्रामाण्य की सिद्धि मे अनेक प्रमाण तथा युक्तियाँ दी है जो प्रायः प्रसिद्ध होने से यहाँ दुहरायी नही जाती। आज पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता पर कोई अविश्वास नही करता। तथ्य तो यह है कि पौराणिक अनुश्रुति इतनी तथ्यपूर्ण है कि यदि शिलालेखो, ताम्रपत्रो अथवा मुद्राओं के आधार पर अब तक उसकी पुष्टि नही हुई, तो यह असम्भव नही है कि भविष्य की खोजों से उसकी पुष्टि न हो सके। इतना अवश्य है कि वह अनुश्रुति अधिक साक्ष्य के ऊपर आधारित होनी चाहिए।

पार्जीटर इस विषय के उन्नायक नेता है जिनके महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ—एन्श्यंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) ने पुराणों के अन्तरंग ऐतिहासिक महत्त्व को विद्वानों के सामने प्रमाणभूत तथा यथार्थ सिद्ध किया। परन्तु उनके अनेक सिद्धान्त सिद्धान्ताभास न होकर वस्तुतः अपसिद्धान्त ही हैं। ऐसा ही एक अपसिद्धान्त है—प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति का ब्राह्मण तथा क्षत्रिय श्रेणी में विभाजन, क्षत्रिय अनुश्रुति की यथार्थता तथा ब्राह्मणो मे ऐतिहासिक वुद्धि का अभाव आदि[1]। पार्जीटर ने ब्राह्मणों को खूब कोसा है अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ मे। ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव होना उनका कोई अपराध नही है, परन्तु पार्जीटर ने यह विशिष्ट दोषारोपण किया है कि ब्राह्मणों ने जानबूझकर प्राचीन इतिहास को अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए विकृत किया है, तो यह धोखा देना ब्राह्मणों का महान् अपराध सिद्ध होता है, यदि यह सच्चा प्रमाणित हो जाय। तथ्य तो यह है कि अंग्रेज शासकों का ब्राह्मणवर्ग पर धोखा देने का अपराध लगाना स्वयं स्वार्थ की पराकाष्ठा है। भारतीय विद्वान् भी ब्राह्मणो के महत्त्व को ठीक-ठीक नही आँकते या नही आँक सकते—यही तो समस्या को गम्भीर बनाता है।

ब्राह्मण का महत्त्व

वर्णव्यवस्था में सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण का अस्तित्व ही हिन्दूसमाज का अस्तित्व है और इसके नाश से इस समाज का भी नाश अनिवार्य है। 'महाभारत' मे 'युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः' इत्यादि कहकर अन्त मे 'मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च' कहा गया है। क्यो ब्राह्मण को मूल कहा गया? ब्राह्मण का महत्त्व क्या है? इसे यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

---

१. इस दोषारोपण का थोड़ा उत्तर जयचन्द विद्यालङ्कार ने तथा काणे महोदय ने अपने ग्रन्थो मे दिया है। द्रष्टव्य भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द, पृष्ठ २४०–२४७ तथा हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र पंचम जिल्द, भाग २ पृष्ठ ८४५–८४९। पूना १९६३।

भारतीय समाज मे ब्राह्मण की मुख्यता औपचारिक नही, प्रत्युत वास्तविक है। ऋग्वेद के उस सुप्रसिद्ध मन्त्र मे चतुर्वर्णों के उद्गम का वर्णन सर्वप्रथम किया गया मिलता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अर्थात् उस विराट् पुरुष का ब्राह्मण मुख था। इस वाक्य के अनुशीलन से हम ब्राह्मण के स्वरूप तथा शक्ति का संकेत पा सकते है। शरीर मे मुख की महत्ता निःसन्देह सिद्ध है। इसी प्रकार इस समाज-व्यवस्था मे ब्राह्मण की महत्ता सर्वातिशायिनी है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अथवा मुखरूप होने के हेतु ब्राह्मण की मुख्यता वास्तविक है। ब्राह्मण इस समाज का मस्तिष्क है। सोचने का, विचारने का, विषम स्थिति को सुलझाने का तथा प्रगति के लिए अग्रसर होने के निमित्त उपदेश देने का काम ब्राह्मण के लिए स्वाभाविक है। ब्राह्मण के 'स्वकर्म' या स्वधर्म' का वर्णन स्मृति मे बड़े संक्षेप मे इस सुन्दर पद्य मे किया गया हैं—

"अध्यापनं अध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥"

अध्ययन तथा अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना (यजन तथा याजन), दान देना तथा दूसरो से दान लेना (प्रतिग्रह)—ये ब्राह्मण के षट् कर्म 'स्वभावज कर्म' बतलाये गये है। इस श्लोक पर ध्यान देने से ब्राह्मण के स्वरूप का भलीभाँति परिचय मिल सकता है। समाज के नेतृत्व का भार ब्राह्मणो के ऊपर जन्मजात है। शिक्षित व्यक्ति ही समाज का नेता बन सकता है। अतएव स्वयं वेदशास्त्रो का अध्ययन कर जनता मे उनके सिद्धान्तो का अध्यापन तथा प्रचारण करना ब्राह्मण का मुख्य कर्म माना जाता है। अध्ययन तथा अध्यापन के बीच की दो आवश्यक श्रेणियाँ होती है—बोध तथा आचरण। अध्ययन करने के अनन्तर उसके सिद्धान्तो का बोध (ज्ञान) करना नितान्त आवश्यक होता है। तदनन्तर उस तथ्य का आचरण अपने जीवन मे करना पड़ता है अर्थात् जिन सिद्धान्तो का अध्ययन के द्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तथा मनन के द्वारा जिनका विशिष्ट ज्ञान (बोध) उपलब्ध होता है, उन सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतारने की भी बड़ी आवश्यकता होती है और तभी उनका प्रचारण भी भलीभाँति उचित रीति से किया जा सकता है। ब्राह्मण के लिए अधीति (अध्ययन), बोध, आचरण तथा प्रचारण इन चारो वस्तुओं की आवश्यकता होती है और प्रत्येक विद्या को इन चारो प्रकारो के द्वारा अभ्यास करने के बाद ही ब्राह्मण सच्चा अध्यापक बनता था तथा देश एवं राष्ट्र की उन्नति मे अपना जीवन खपा डालता था।

ब्राह्मण अपने 'ब्रह्मकोष' की गुप्ति (रक्षा) के निमित्त सर्वदा जागरूक रहा। वह जिस किसी को अपनी विद्या देने या अध्यापन करने से सदा पराङ्-

मुख था। अधिकारी को ही विद्या का दान देना उसका व्रत था। ब्राह्मण अपनी विद्या को एक बहुमूल्य धरोहर के रूप मे समझता था और इसलिए उसकी अक्षुण्णता बनाये रखने के साथ ही वह उसकी पवित्रता पर भी विशेष आग्रह करता था। अनभिज्ञ आलोचको की यह आलोचना है कि 'ब्राह्मण विद्या के वितरण मे सदा कृपणता का व्यवहार करता था,' परन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न ही है। ब्राह्मण कभी नही चाहता था कि उसकी विद्या किसी अपात्र के हाथ मे चली जाय और इसीलिए वह पात्रापात्र पर, उचित व्यक्ति तथा अनुचित व्यक्ति के गुण तथा अगुण पर कड़ी दृष्टि रखता था। जब शिष्य परीक्षा के द्वारा सुपात्र सिद्ध हो जाता था, तभी उसे विद्या दी जाती थी। इस घटना से ब्राह्मण के कार्पण्य का परिचय नही मिलता, प्रत्युत विद्या की धारा को पवित्र तथा विशुद्ध बनाये रखने की उसकी तीव्र कामना का ही सङ्केत मिलता है। शास्त्रो के अध्यापन के अवसर पर भले ही यह निश्चय कुछ शिथिल दीखता हो, परन्तु वेदों के अध्यापन के समय तो इस नियम का निर्वाह बड़ी कड़ाई के साथ किया जाता था। शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार न होने का कारण इसी व्यापक नियम के भीतर छिपा हुआ है। इसका ऐतिहासिक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। वारेन हेस्टिङ्गस के समय मे बड़े न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने ब्राह्मण संस्कृतज्ञ से संस्कृत पढ़ने के लिए बड़ा ही उद्योग किया, आकाश-पाताल एक कर डाला, परन्तु कोई भी ऐसा ब्राह्मण नही निकला, जो अपनी निधि को एक गोमांसाशी विधर्मी को देने के लिए तैयार होता। अन्ततोगत्वा एक कायस्थ बङ्गाली संस्कृतज्ञ ने जोन्स साहब को संस्कृत का अध्ययन कराया परन्तु वह भी बड़े नियमों के साथ। हम पिछले इतिहास से जानते हैं कि अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ाने का क्या फल हुआ और इन विधर्मियो ने संस्कृत के ज्ञान का कितना उपयोग किया। उसे इन्होंने अपने ईसाई धर्म के प्रचार का मुख्य साधन बनाया और देश का घोर अमङ्गल किया। ऐसी परिस्थिति मे विद्यादान के विषय मे ब्राह्मण का सर्वथा जागरूक रहना क्या उसकी तीव्र कामना का प्रतिफल नहीं है ?

सच्ची बात तो यह है कि अध्यापन तथा प्रचारण के लिए त्याग तथा तपस्या की विशेष आवश्यकता होती है और इसलिए ब्राह्मण त्याग तथा तपस्या का प्रतीक था। शरीर के क्लेशो पर तनिक भी ध्यान न देकर घनघोर उग्र तपस्या का आदर्श ब्राह्मण के लिए सर्वदा जागरूक था। इसलिए 'भागवत' का स्पष्ट उपदेश है—

"ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥"

ब्राह्मण का शरीर संसार के भोग-विलास जैसे क्षुद्र काम के लिए नही बनाया गया है। उसके सामने दो ही आदर्श होते हैं—(१) कठिन व्रतों तथा तपस्या का आचरण तथा (२) मर जाने पर अनन्त सुख—मोक्ष—की प्राप्ति। इस छोटे से पद्य मे भागवतकार ने ब्राह्मण के जीवन के आदर्श को बड़े ही संक्षेप मे बतलाया है। तपस्या त्याग के विना कभी भी सिद्धिदायिनी नही हो सकती। फलतः त्याग तथा तपस्या के आचरण से ब्राह्मण मे वह ब्रह्मवर्चस उत्पन्न होता था, जिसके सामने प्रबलप्रतापी दुर्दान्त राजन्यो के भी मस्तक स्वयमेव नत हो जाते थे। ब्राह्मण के त्याग की अद्भुत कहानिया इतिहास के पृष्ठों को आज भी सुशोभित करती हैं। कालिदास के समय मे वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपनी जिस त्यागवृत्ति का परिचय दिया था, उसे इस महाकवि ने 'रघुवंश' के पचम सर्ग मे अपनी प्रतिभा के बल पर उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। इसी त्याग-तपस्या की उपासना से ब्राह्मण जगत् के वैषयिक सुखों पर लात मारकर, स्वयं भिक्षुक बनकर जीवनयापन करना उचित समझता था तथा राजन्यों को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं उनका मन्त्री बनना ही राष्ट्रहित के लिए श्रेयस्कर समझता था।

साधारणतया आजकल यही समझा जा रहा है कि 'ब्राह्मण राष्ट्र का अध्यात्मोपदेशक ही होता था, ब्राह्मण का जीवन अध्यात्म के चिन्तन में ही व्यतीत होता था तथा इहलोक की अपेक्षा उसे परलोक की ही अधिक चिन्ता होती थी।' परन्तु सच्ची बात इसके विपरीत है। ब्राह्मण सचमुच राष्ट्र का, भारतीय राष्ट्र का उन्नायक तथा नेता होता था और वह राष्ट्र का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक नेता होने के अतिरिक्त व्यावहारिक विषयो का भी उपदेष्टा होता था। ब्राह्मण राजा का पुरोहित होता था और यह 'पुरोहित' पद उसके अध्यात्मचिन्तन का परिणाम न होकर उसके व्यवहारकौशल का प्रतीक होता था। मनु की कल्पना के अनुसार क्षात्रतेज से संवलित ब्राह्मतेज का संयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान ही लाभकारी तथा राष्ट्रमङ्गल का साधक होता है। कालिदास ने ठीक ही कहा है—

"पवनाग्निसमागमो ह्ययं ज्वलितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा।"

इस कथन का साक्ष्य भारतीय इतिहास भलीभाँति दे रहा है। राष्ट्र के ऊपर विपत्ति आने पर ब्राह्मण अपनी व्यवहारकुशलता तथा राजनीतिपटुता के कारण देश का हितसाधन करता था तथा अपने उपदेशो के अनुसार वह एक महनीय राजन्यविभूति के उद्गम मे समर्थ होता था। भारतीय राष्ट्र को विधर्मी शत्रुओ से बचाने का समग्र श्रेय ब्राह्मणो को ही देना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। भारत की मृत्युञ्जय संस्कृति के ऊपर तीन बड़े ही भयङ्कर आघात आये थे

और इन सभी अवसरों पर इसके संरक्षणकर्ता ब्राह्मण के ही प्रबल प्रयत्न से भारतीय राष्ट्र छिन्न-भिन्न होने से, विदेशियों के द्वारा पददलित होने से बाल-बाल बच गया। इतिहास इसका स्पष्ट साक्षी है।

सबसे प्रथम प्रबल आघात पहुँचा था हमारे देश को सिकन्दर के द्वारा विक्रमपूर्व तृतीय शतक में। विद्वानो से छिपा नही है कि सिकन्दर पारसीक संस्कृति के समान भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करना चाहता था तथा यवन-संस्कृति को विश्व की संस्कृति बनाना चाहता था। परन्तु एक निर्धन ब्राह्मण ने उससे टक्कर लिया और उस महापुरुष का नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त के समान तेजस्वी शासक का निर्माण किया और महाबलशाली सिकन्दर अपना बोरिया-बँधना लेकर सिन्धु के तीर पर आँसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्य के समय मे। महाप्रतापी रणबाकुरे शको ने आर्यावर्त को आत्मसात् करने की ठानकर भारतभूमि की स्वतन्त्रता पर आक्रमण कर दिया था, परन्तु उस समय भी एक ब्राह्मण ने जनता की नस-नस मे आग फूंककर वीर विक्रम के नाम मे कलङ्क लगने नही दिया। उसका नाम था कालिदास। इस महाकवि ने अपनी दिव्य लेखनी के बल पर उस आदर्श का चित्रण किया, विक्रम मे वह उत्साह फूँका कि शको की एक भी न चली। वे अपने स्वप्नराज्य से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिये गये। तीसरा आघात हुआ था मुसलमानो के द्वारा। उस समय भी एक संन्यासी ने इस भारतभूमि की रक्षा की थी। उस प्रातर्वन्दनीय परमत्यागी समर्थ स्वामी रामदास को कौन नही जानता? उस महान् आत्मा ने अपने उपदेशो से छत्रपति शिवाजी जैसे सच्चे प्रतापी वीर का निर्माण किया। क्षत्रियवशावतंस छत्रपति ने फिर एक बार उस हत्यारी शक्ति को नाको चने चबवाये। सचमुच ब्राह्मण राष्ट्र का सच्चा नेता होता था।

राज्यसञ्चालक होने पर भी ब्राह्मण मे न गर्व का लेश था, न ऐश्वर्य से प्रेम। ब्राह्मण अमात्यों के निवास स्थान के कभी-कभी रोचक चित्र हमे संस्कृत के नाटको मे उपलब्ध हो जाते है। आर्य चाणक्य के नाम से उस युग के राजा-महाराजा थर्रा उठते थे। वे ही चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर आरूढ़ करनेवाले साहसी पुरुष थे, परन्तु उनकी विभूति को बात क्या कही जाय? 'मुद्राराक्षस' मे उनके निवास का रोचक वर्णन पढ़कर किस आलोचक का हृदय चाणक्य के प्रति श्रद्धा तथा आदर से भर नही जायगा? उनकी कुटिया के आँगन मे छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े रखे गये थे, जिनसे गोमय को तोड़-तोड़कर छोटे-छोटे खण्ड बनाये जाते थे। कुटिया पर सूखने वाली समिधाओ के द्वारा छत झुक गयी थी।

दीवारे विल्कुल जर्जर हो गयी थी। छात्रो के द्वारा लाये गये कुशो का व्यूह रखा हुआ था, जिसका उपयोग यज्ञ के अवसर पर होता था। कहाँ तो महामन्त्री चाणक्य का वह प्रभाव कि जिसके डर से सम्राट् चन्द्रगुप्त थर्राता था और कहाँ उनका दीन-हीन निवासस्थान !!! क्या आजकल के मन्त्री लोग इस वर्णन से कुछ भी शिक्षा ग्रहण करने की कृपा करेंगे ? दीन जनता के प्रतिनिधि होकर भी वे अपना भोगमय जीवन आलीशान महलो मे विताते है। भला, वे निर्धन प्रजा के दुःखो के प्रति कभी भी चिन्ता करते होंगे ? 'महाभारत' मे तो सभा के सभ्यो के लिए विशेषरूप से कहा गया है। भारत कृषिप्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथो कृषि नही करता, खेत नहीं जोतता, उसे नेता वनकर राष्ट्र की समिति (आजकल की लोकसभा तथा विधानपरिषद्) मे जाने का तनिक भी अधिकार नही है—

"न नः स समितिं गच्छेत् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्"

—(उद्योग० ३६।३१)

'महाभारत' का यह कथन यथार्थ ही है। किसानो का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ कुर्सीतोड़ वकवादी नेता भला किसानो का कोई मङ्गल क्या कर सकता है ? ब्राह्मण मन्त्री साधारण जनता के समान ही अपने को समझता था। वह दीन-हीन दशा में अपना जीवन विताया करता था अर्थात् दीन जनता के साथ सम्पर्क से वह कभी विरहित नही होता था। यह था ब्राह्मण अमात्यो का राजनैतिक महत्त्व। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त द्वारा चाणक्य का चित्रण करने वाला पद्य यही है—

"उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां वर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥"

—(मुद्राराक्षस ३।१५)।

ब्राह्मण राष्ट्र का प्रतीक माना जाता था। अतएव जो वस्तु ब्राह्मण के लाभ की मानी जाती थी, वह पूरे राष्ट्र की कल्याणसाधिका होती थी। जो वस्तु ब्राह्मण के हित मे अनिष्टकारक होती था, उससे जनता घृणा करती थी और उसे दूर फेंकने के लिए तैयार रहती थी। ब्राह्मण का अपमान पूरे राष्ट्र का अपमान माना जाता था और ब्राह्मण का सम्मान पूरे राष्ट्र का सम्मान था। ब्राह्मण के इस राजनैतिक महत्त्व का परिचय 'अब्रह्मण्यम्' शब्द भलीभाँति आज भी दे रहा है। 'ब्रह्मणे हितम् ब्रह्मण्यम्। न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्' अर्थात्

ब्राह्मण के लिए अनिष्टकारक पदार्थ। राजा का कोई भी कार्य यदि ब्राह्मणो के लिए हितकारक नही होता, तो प्रजा 'अब्रह्मण्यम्' का उद्घोष करती, जो राष्ट्र के महान् अनर्थ का प्रतीक माना जाता था और जिसे सुनकर राजा काँप उठता था। तथ्य यह है कि ब्राह्मण केवल अग्रजन्मा ही नही होता है, प्रत्युत वह राष्ट्र के परममङ्गल विधान का सम्पादक भी होता है। वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था और इस घटना से हम उसके महत्त्व को भली भाँति आँक सकते हैं।

ब्राह्मण भारतीय राष्ट्र तथा संस्कृति के श्लाघनीय प्रसारक थे। बृहत्तर भारत में जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन, वाली आदि द्वीपसमूहो मे भारतीय संस्कृति का प्रसार इस वात का साक्षात् पोषक है कि ब्राह्मण कूप-मण्डूक न होकर देशभक्ति की उच्च भावना से प्रेरित होनेवाले श्लाघनीय प्राणी थे। ब्राह्मणो ने भारत के वाहरी देशों मे भारतीय संस्कृति का, भारतीय धर्म तथा दर्शन का, भारतीय आचार-विचार का प्रचुर प्रसार किया। सच तो यह है कि ब्राह्मण के इस अध्यवसाय के अभाव मे ये पूर्वोक्त देश आज भी असभ्य, अशिष्ट तथा वर्वर वने रहते। इन देशो मे जो राज्य पनपे तथा समृद्ध वने, उनकी मूल स्थापना मे ब्राह्मणो का ही हाथ हे। चम्पा राज्य की स्थापना का श्रेय 'कौण्डिन्य' नामक ब्राह्मण को दिया जाता है। रामायण, महाभारत जैसे साहित्यग्रन्थो का उन देशो की भाषाओ मे उन्ही ने प्रचार किया। मनु की स्मृति के उदार नियमो का प्रसार वहाँ इन्हीं के प्रयास का सुन्दर परिणाम है।

एक वात और ध्यान देने की है कि ब्राह्मणो का संस्कृत भाषा के साथ अविच्छेद्य सम्वन्ध रहा है। राष्ट्र के अध्यापक होने के नाते संस्कृत भाषा तथा साहित्य की समृद्धि की ओर इनका ध्यान आरम्भ से ही रहा है। ब्राह्मणो ने सूखे चने चवाये, प्राणो को संकट मे डाला, परन्तु देवभाषा के उज्ज्वल रत्नों को विस्मृति के गर्त से सदा वचाया। हम उस युग की वातें नही करते, जव हिन्दू राजाओं की छत्रछाया उनके ऊपर कल्पतरु के समान विराजमान थी। भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास साक्ष्य दे रहा है कि ब्राह्मणो के सत्प्रयत्नो, अध्यवसायो तथा प्रयासो के फलस्वरूप ही संस्कृत साहित्य के रत्न आज भी उपलब्ध हो रहे हैं। ब्राह्मण का यह औदार्य उसका स्वाभाविक गुण ही है। जहाँ भी ब्राह्मण है, उसमे यह गुण प्रभूत मात्रा मे पाया जाता है। वाली द्वीप मे आज भी ब्राह्मण पण्डित मिलते है, जो वहाँ 'पदण्ड' के नाम से विख्यात है। पदण्ड लोग संस्कृत भाषा का एक अक्षर भी नही जानते, परन्तु उनके मुख मे आज भी सैकड़ो स्तोत्र तथा श्लोक विराजमान है, जिनका उपयोग वे कर्मकाण्ड कराने के अवसर पर करते हैं। पदण्ड लोग इन स्तोत्रो का एक अक्षर भी नही

समझते, पर उन्होंने बड़े प्रेम तथा लगन के साथ इस विशाल साहित्य को अभी तक अपने प्रयासों से जीवित बना रखा है। भारत के बाहरवाले इन ब्राह्मणो के उत्साह, धर्मप्रेम तथा साहित्यानुराग की प्रशंसा किन शब्दो मे की जा सकती है? भारत मे आज भी वेदो को जीवित तथा अक्षुण्णतया पवित्र बनाये रखने का श्रेय ब्राह्मणों को ही है।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्र को प्रतिष्ठित बनाने मे, समाज को सुव्यवस्थित बनाने मे तथा भारतीय संस्कृति का विदेशो मे प्रचार करने मे ब्राह्मणो का महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण अपने किये गये अपराधो के दण्ड को स्वीकार करने मे कभी भी पश्चात्पद नही होता था। धर्मशास्त्र के लेखको ने दण्डविधान का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। समाज के नेता होने के नाते ब्राह्मण को कतिपय सुविधाएँ भले ही प्राप्त हों, परन्तु दण्डविधान के नियम उसके लिए भी उसी प्रकार अकाट्य तथा अनिवार्य थे, जिस प्रकार अन्य वर्णों के लिए। ब्राह्मण इन दण्डो को सहर्ष स्वीकार करता था। शङ्ख तथा लिखित का आख्यान इसका स्पष्टतः परिचायक है। शङ्ख ने अपने भाई लिखित के आश्रम मे पके बेरो को बिना उनकी आज्ञा के ही तोड़कर अपनी भूख बुझायी। स्पष्टतः यह काम चोरी का था। राजा से उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया तथा दण्डविधान की प्रार्थना की। राजा ने काँपते हुए स्वर मे कहा—'महर्षे! आप की ही स्मृति के अनुसार तो हम प्रजाओं का दण्डविधान करते हैं, भला आप के लिए दण्डविधान क्या?' महर्षि ने कहा—'मेरे नियमो के अनुसार मुझे दण्ड दीजिए। आपत्काल मे जानबूझकर मुझे यह जघन्य कार्य करना पड़ा है। अपराध तो अपराध ही है, चाहे वह एक सामान्य जन का हो या किसी मान्य महर्षि का।' राजा ने महर्षि का उचित दण्डविधान कर दिया। चोरी करनेवाला हाथ काट डाला गया। उसी समय बाहुदा नदी मे स्नान करते हुए महर्षि का कटा हुआ हाथ फिर जम आया[१]। ब्राह्मण दण्ड-विधान से कभी पराङ्मुख नही होता था।

इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मे तथा सन्तुलित प्रतिष्ठा मे राष्ट्र के जागरूक नेता के नाते तथा भारतीय संस्कृति के सरक्षक तथा प्रसारक की दृष्टि से ब्राह्मण का महत्त्व सर्वथा अक्षुण्ण रहा है।

वंश

पुराणो मे जितने वंशो का वर्णन है उन सबका प्रारम्भ मनु से होता है। मनु की सन्तति होने से ही सब मनुष्य 'मानव' की संज्ञा से पुकारे जाते है। यो तो मनुओं की संख्या चौदह है (जिनका विवरण मन्वन्तर के प्रसग मे

१. द्रष्टव्य शान्तिपर्व अ० २३।

पूर्व ही किया गया है), परन्तु वंश के प्रतिष्ठापक की दृष्टि से दो मनु विशेष महत्त्वशाली है–(१) स्वायम्भुव मनु (प्रथम मनु) तथा (२) वैवस्वत मनु (सप्तम तथा इस समय प्रचलित मनु)। स्वायम्भुव मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र तथा पृथ्वी के प्रथम सम्राट् थे। मनुकी पत्नी **शतरूपा** थी, जिनसे उनके **उत्तानपाद** तथा **प्रियव्रत** नामक दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामक तीन कन्याएँ हुईं। उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को समस्त पृथ्वी मंडल का शासन सौंप दिया। उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थी सुनीति तथा सुरुचि; जिनमें सुनीति के पुत्र थे ध्रुव तथा सुरुचि के पुत्र थे उत्तम। इन दोनो का शासनकाल कुछ ही दिनो तक था। प्रियव्रत की दो पत्नियाँ थी—(१) प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री वर्हिष्मती; (२) अज्ञातनामा पत्नी। भागवत के अनुसार वर्हिष्मती से १० पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम हैं—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञवाहु, महावीर, हिरण्यरेतस्, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। प्रियव्रत ने रात्रि को भी दिन मे परिणत करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय रथ पर वैठकर सूर्य के पीछे-पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमा की। उनके रथ के पहियो से जो लीके पृथ्वी पर वनी वे हा सात समुद्र के रूप मे परिणत हुईं और उनसे पृथ्वी मे सात द्वीप हुए—(१) जम्वू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौञ्च, (६ शाक तथा (७) पुष्कर। इन्ही सात द्वीपों के अधिपति प्रियव्रत के सातों पुत्र हुए (तीन पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे)। इस प्रकार मनु के इन पौत्रो ने समग्र पृथ्वीमण्डल पर अपना राज्य स्थापित किया तथा उन द्वीपो पर विधिवत् शासन किया। प्रियव्रत की दूसरी रानी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए—उत्तम, तामस तथा रैवत और ये तीनो ही तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम मन्वन्तरो के क्रमशः अधिपति हुए।[१] मनु की तीनो कन्याओ से प्रजा का विशेष विस्तार सम्पन्न हुआ।

इस वंश का आविर्भाव वहुत ही प्राचीन काल मे हुआ। इसमे अनेक वलशाली तथा कीर्तिसम्पन्न शासक हुए जिनकी गाथा आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे शासकों मे प्रियव्रत, ऋषभ, नाभि, भरत (जिनके नाम पर पूर्व मे 'अजनाभ' नाम से विश्रुत यह वर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ) ध्रुव, भद्राश्व, पृथु आदि शासको का नाम नितान्त प्रख्यात तथा महत्त्व-सम्पन्न है।

वैवस्वत मनु के वंशजो का विवरण पौराणिक इतिहास का मेरुदण्ड है। आज प्रचलित मन्वन्तर के ये ही अधिपति है। मनु सूर्यवंश के प्रथम राजा थे। इन्ही से चन्द्रवंश तथा सौद्युम्न वंश भी चला। मनु के नव[१] पुत्र थे तथा

---

१. मनु के इन पुत्रो के नाम पुराणो मे विभिन्न रूप से भी मिलते है। भागवत (८।१३।१–२) ने मनुपुत्रो की संख्या दश वतालायी है। विष्णु

एक कन्या थी। इन पुत्रों के नाम हैं—(१) इक्ष्वाकु, (२) नाभाग, (३) नृग, (४) धृष्ट, (५) शर्याति, (६) नरिष्यन्त, (७) प्रांशु, (८) नाभानेदिष्ट, (९) करूष, तथा (१०) पृषध्र। इन पुत्रों ने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जाकर अपना शासन स्थापित किया।

(१) इनमें से ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु मनु के उत्तराधिकारी होकर मध्यदेश के शासक हुए जिनसे प्रमुख सूर्यवंश चला। राजधानी उनकी अयोध्या नगरी थी जो इस प्रकार आरम्भ से भारतीय संस्कृति तथा विद्या की केन्द्रस्थली थी।

(२) मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट (संख्या ८) ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में एक वंश की स्थापना की।

(३) मनु के पुत्र कारूष (संख्या ९) ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवा राज्य के पूर्व सोन नद के तट पर एक राज्य स्थापित किया जो रामायण-काल में बिहार के शाहाबाद जिले को भी समाविष्ट करता था।

(४) मनु के पुत्र धृष्ट (संख्या ४) के वंशजों ने पूरबी पंजाब पर अपना अधिकार किया।

(५) मनु के पुत्र नाभाग (संख्या २) ने यमुना नदी के नदी के दक्षिण तट पर एक राज्य की स्थापना की।

(६) मनुपुत्र शर्याति (संख्या ५) ने आनर्त देश (उत्तर सौराष्ट्र) में अपना राज्य स्थापित किया। इन्होंने अपनी पुत्री सुकन्या को च्यवन ऋषि से ब्याही थी जिन्होंने अश्विनों की कृपा से एक विशिष्ट रसायन का (जो इन्हीं के नाम पर पीछे 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रख्यात हुआ) सेवन कर वार्धक्य से यौवन प्राप्त किया था।

(७) मनुपुत्र नरिष्यन्त (संख्या ६) के वंशज भारतवर्ष के बाहर मध्य-एशिया तक चले गये और 'शक' नाम से प्रख्यात हुए।

(८) मनुपुत्र पृषध्र (संख्या १०) अपने गुरु च्यवन की गाय मारने के कारण शूद्र हो गये और उनसे कोई राजवंश नहीं चला। मनुपुत्र प्रांशु (संख्या ७) के विषय में कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता।

मनुपुत्री इला का पौराणिक वृत्त बड़ा विलक्षण है। इस इलाका विवाह सोम (चन्द्र) के पुत्र बुध से हुआ था। इससे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ

(३।१।३३–३४ ; ने भागवत में पृथग्रूप से निर्दिष्ट नाभाग तथा दिष्ट को एक ही व्यक्ति (नाभागोदिष्ट) मानकर नव की संख्या अक्षुण्ण रखी है। इन नामों को मिलाइए भाग० (९।१।१२); ब्रह्माण्ड (२।३८।३०–३२); वायु (६४।२९ तथा ८५।४)।

जो इला से उत्पन्न होने के कारण 'ऐल' कहलाया तथा सोम से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। पुराण की कथा है कि शिवजी के प्रसाद से इला पुनः पुरुष हो गयी जिसका नाम पड़ा **सुद्युम्न**। मूल राजधानी प्रतिष्ठानपुर (=वर्तमान प्रयाग के पास झूँसी) छोड़कर वह मगध की ओर पूरब तरफ चला गया जिधर इसके तीनों पुत्रों ने अपने लिए शासन-क्षेत्र प्रस्तुत कर लिया। **गय** ने वर्तमान गया नगरी बसायी और मगध पर राज्य किया। **उत्कल** के नाम पर उत्कल प्रान्त का नामकरण हुआ जहाँ इसके वंशजो ने अपना राज्य कायम किया। **हरिताश्व** का राज्य पूर्व के प्रदेशो पर था जो कुरुओ के राज्य का सीमावर्ती राष्ट्र था। इन तीनो पुत्रा के वंशज **सौद्युम्न** नाम से विश्रुत हुए। फलतः एक ही मनु से तीनो राजवंश चले—(१) सूर्यवंश अयोध्या मे; (२) चन्द्रवंश प्रतिष्ठानपुर मे तथा (३) सौद्युम्नवंश भारत के पूरबी-दक्षिण प्रान्त मे।

मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजो ने भारतवर्ष के भीतर तथा बाहर जाकर अपना राज्य स्थापित किया और आर्य संस्कृति का प्रचार किया। इनके समुल्लेख इस प्रकार है—

(१) इक्ष्वाकु के पुत्र **निमि** ने उत्तर-पूर्व बिहार मे विदेहकुल की स्थापना की। इसी वंश मे एक राजा ने मिथिला की प्रतिष्ठा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। यहाँ के सब राजा **जनक** नाम से अभिहित होते थे।

(२) इक्ष्वाकु के पुत्र **दण्ड** ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसन्धान किया जो उन्ही के नाम से 'दण्डकारण्य' कहलाया।

(३) इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया तथा वसति के ४८ वंशजो ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।

(४) इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र **विकुक्षि** के बाइस वंशजो ने मेरु के उत्तर प्रदेश (आजकल का साइबेरिया) पर अधिकार किया तथा उन्ही के अन्य एक सौ चौदह वंशजो ने मेरु के दक्षिण देश मे उपनिवेश बनाया[१]।

भारतवर्ष के भीतर आर्यो के प्रसार का पूर्ण वृत्त पुराणो के आधार पर तैयार किया गया है जो अपनी ऐतिहासिकता तथा सत्यता के लिए वैदिक वृत्त से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है[२]।

---

१. इन तथ्यो के पौराणिक आधार के लिए द्रष्टव्य—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, संख्या २००६, पृष्ठ ६५–६७।

२. द्रष्टव्य डा० पुसालकर का सुचिन्तित लेख—आरियन एक्सपैंशन इन इण्डिया (पुराण बुलेटिन, रामनगर, वर्ष ६ संख्या २, पृष्ठ ३०७–३३२)।

पार्जीटर की भ्रान्त धारणा

पौराणिक अनुश्रुति का स्पष्ट प्रामाण्य है कि भारतवर्ष की वंशावली मनु से ही प्रारम्भ होती है। मनु से ही तीनो राजवंशो का उदय हुआ—(१) सूर्यवंश का (राजधानी अयोध्या मे), (२) चन्द्रवंश का (राजधानी प्रतिष्ठानपुर—प्रयाग पास आधुनिक झूँसी में), (३) सौद्युम्नवंश का; जिसका शासनक्षेत्र भारत का पूरबी प्रान्त था। इन राजवंशो के विषय मे पार्जीटर साहब की धारणा है कि मानव वंश द्रविड था, चन्द्रवंश या ऐलवंश विशुद्ध आर्य था तथा सौद्युम्नवंश मुण्डा-मान ख्मेर जाति का था। इस तथ्य की पुष्टि मे उन्होने जो युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, वे नितान्त भ्रान्त, परम्परा-विरुद्ध तथा अशुद्ध है।

पार्जीटर ने ऐलों के विषय मे लिखा है कि परम्परानुसार ऐल या आर्य प्रतिष्ठानपुर से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण विजय कर वहाँ फैल गये और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं। भारतीय अनुश्रुतियो मे अफगानिस्तान से भारत पर ऐलो या आर्यो के आक्रमण का तथा पूर्व की ओर उनके बढाव का कोई उल्लेख नही है; विपरीत इसके द्रुह्यु लोगो का (जो ऐलो की एक शाखा थे) भारत के बाहर जाने का उल्लेख पुराणों मे मिलता है। ऐलो के विषय मे पार्जीटर का पूर्वोक्त कथन यथार्थ है, इसमे सन्देह नही। परन्तु अन्य दोनों राजवंशो के विषय मे उनके निष्कर्ष नितान्त भ्रमोत्पादक तथा बिलकुल असत्य है। इसी प्रकार ऐलो के भारत के बाहर से आने की उनकी कल्पना भी भ्रान्त है। इस विषय मे उनका स्पष्ट आधार है वे लोककथाएं जो ऐलो के पूर्वज पुरूरवा का सम्बन्ध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशो से जोड़ती है। इस तर्क मे विशेष बल नही है। बात यह है कि मनु की कन्या इला का मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश मे गिरिविहार के निमित्त जाना तथा सोमसूनु बुध के साथ उसकी भेंट होना तो पुराणो के अनुकूल है, परन्तु सोम तथा बुध का न तो मध्यवर्ती हिमालय के ही मूल निवासी होने का कही संकेत हैं और न इनके भारत के कही बाहर से आने का निर्देश है। य लोग विशुद्ध मध्यदेश के ही निवासी आर्य जाति के थे। इनके मूल स्थान का भारत से बाहर खोज निकालने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ तथा भ्रान्त है।

इसी प्रकार मानवो (मनुवंशियो) को द्रविड मानने मे पार्जीटर[२] की युक्ति यह है कि मानवों का वर्णन ऐलो (या आर्यो) से भिन्न जाति के रूप मे

१. पार्जीटर : एन्शट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन पृष्ठ २९८।
२. वही, पृष्ठ २८८।

हुआ है तथा वे ऐलो से पूर्व ही यहाँ भारत मे निवास करते थे। आर्यो से पूर्व निवास करने वाली जाति द्रविडो की थी। फलतः मानव द्रविड जाति के ही व्यक्ति है। यह युक्ति भी ठीक नही। पुराण मानवो को कभी भी आर्यो से भिन्न जाति का नही संकेत करता। प्रत्युत इन दोनो मे वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, जो जाति-साम्य के ही सूचक हैं। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनो समान ही कहे गये है। द्रविड का मूल स्थान सुदूर दक्षिण मे ही सर्वदा से रहा है जहाँ वे आज भी प्रतिष्ठित हैं। उत्तर भारत के मध्य मे—आर्यावर्त के ठीक बीचोबीच अयोध्या मे—द्रविडो की स्थिति बतलाना इतिहास की एक विकट भ्रान्ति है। मनुवंशी पुरुषो मे से अनेक ऋग्वेद के मन्त्रो के द्रष्टा है जो उनके आर्यत्व का स्पष्ट परिचायक है, न कि उनके ऊपर आरोपित द्रविडत्व का। फलतः मानव भी उसी प्रकार विशुद्ध आर्य थे, जिस प्रकार ऐल लोग।

सौद्युम्नो के विषय मे पार्जीटर का कहना है कि चूँकि वे दक्षिण-विहार तथा उड़ीसा मे शासन करते थे, फलतः वे मुण्डा-मानख्मेर जाति (जंगली मुण्डा जाति) के ही थे। यह भी कथन अनुचित है। पुराणो का साक्ष्य इसके विरुद्ध है। ये लोग मानवो के ही एक उपकुल के रूप मे वर्णित है जिनके साथ इनका वैवाहिक सम्बन्ध भी विद्यमान था। केवल शासन-क्षेत्र तथा स्थिति प्रदेश की समता पर यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार पार्जीटर की मनुवंशविषयक ये कल्पनाएँ सर्वथा पुराण-विरुद्ध है और अत एव भ्रान्त है।

इक्ष्वाकु की वंशावली

यह वंशावली बड़ी सुव्यवस्था के साथ पुराणो मे दी गयी है। यह सूची वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड, विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी भागवत; ब्रह्म, हरिवंश एवं शिव; कूर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि—इन पन्द्रह पुराणो-उपपुराणो मे मिलती है। (१) इनमे से 'वायु' सबसे प्राचीन है। ब्रह्माण्ड उसी का प्रायः अक्षरशः अनुसरण करता है। इन दोनो पुराणो मे इतना साम्य है कि ये एक ही मूल वायुपुराण की दो शाखाएँ जान पड़ते है। विष्णु तथा भागवत की सूची इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। अन्तर इतना है कि उन दोनो पुराणो से अर्वाचीन होने के कारण तथा प्रधानतः धार्मिक होने के हेतु इनमे ऐतिहासिक वृत्तो तथा संकेतो पर उचित ध्यान नही दिया गया है। विष्णु का वर्णन गद्य मे है और भागवत का पद्य में। भागवत मे ये श्लोक वायु पुराण से नही लिये गये है, प्रत्युत भागवतकार की निजी रचना है। गरुड की वंशावली पुराणकार की निजी पद्यात्मक रचना है। विष्णु-

धर्मोत्तर और देवीभागवत में उपलब्ध सूची अधूरी है: यद्यपि ये दोनो वायु का ही अनुसरण करते है, तथापि श्लोक वायु के न होकर नवीन रचना है। महाभारत की वंशावली धुंधुमार तक इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। इस प्रकार इन आठो ग्रन्थो का एक विशिष्ट सन्दर्भ मानना चाहिये जिसे **वायु-सन्दर्भ** के नाम से पुकारना उचित होगा। इसका वैशिष्ट्य है कि इसमे प्रायः समस्त इक्ष्वाकुवंशीय शासकों की नामावली आ गयी हे और स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक चूर्णिकाएँ भी दी गयी है।

(२) **ब्रह्म** पुराण, हरिवंश और शिव पुराण मे उपलब्ध सूची मे समानता है। ब्रह्म तथा हरिवंश के पाठ प्रायः शब्दतः एक है। शिवपुराण मे जहाँ-तहाँ घटाया-बढाया गया हे। इसमे कई नामो की त्रुटि है। सम्भव है यह सूची किसी अन्य परम्परा के ऊपर आश्रित हो। इसे **ब्रह्म-सन्दर्भ** के नाम से पुकारना चाहिए।

(३) **कूर्म-सन्दर्भ**—तीसरी सूचो कूर्म तथा लिंग पुराण मे उपलब्ध होती है जिसे कूर्म सन्दर्भ कहना चाहिए। यह सूची मनु से लेकर अहीनगु स० (७५) तक वायु संदर्भ का ही अनुसरण करती है, परन्तु उसके बाद द्वापर के अन्त तक की सूची भिन्न हो गयी है।

(४) **मत्स्य सन्दर्भ**—चौथी सूची मत्स्य पुराण, पद्म पुराण तथा अग्नि पुराण मे उपलब्ध होती है जिनमे पद्म मत्स्य का अक्षरशः अनुसरण करता है। अग्नि भिन्न पड़ता है। इस सन्दर्भ की विशेषता हे कि यहाँ अप्रधान राजाओ के नाम छोड़ दिये गये है तथा आरम्भ से लेकर अहीनगु (संख्या ७५ तक) तक यह ब्रह्मसन्दर्भ के अनुसार है तथा उसके बाद द्वापर के अन्त तक कूर्म सन्दर्भ के अनुसार है। सम्भव है इस मत्स्यसन्दर्भ के पीछे इससे मूल स्रोत के रूप मे कोई विभिन्न ही परम्परा हो जो पूर्वोक्त परम्पराओ से पृथक् हो।

इन चारो संदर्भो को दो भाग मे विभक्त किया जाता है। वायु-सन्दर्भ तथा ब्रह्मसन्दर्भ मे बहुत कुछ समानता है; कूर्म-सन्दर्भ तथा मत्स्य-सन्दर्भ मे बहुत कुछ सादृश्य है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि प्राचीनकाल मे दो ही प्रधान परम्पराएँ इस विषय की थी जिनका अनुसरण इन पुराणो ने किया है।

'इक्ष्वाकुवंश' नाम मे वंश शब्द का तात्पर्य क्या हे? वंश शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे भिन्न-भिन्न अर्थो मे होता हे। 'वंश ब्राह्मण' मे वंश शब्द गुरु-शिष्यसम्बन्ध को द्योतित करता है। 'ऋषिवंश' मे वंश शब्द मूल ऋषि के वंश मे होने वाले प्रवर ऋषियो की सूचना देता है, परन्तु उनके क्रमशः स्थिति का संकेत नही करता। 'बुद्धवंश' पाली का एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसमे बुद्धत्व

प्राप्त करने वाले प्रधान महामानवो की संख्या की गयी है। 'इक्ष्वाकु वंश' मे 'वंश' शब्द कुल-परम्परा के लिए प्रयुक्त नही है, प्रत्युत शासक-परम्परा के लिए ही व्यवहृत है। इस तथ्य के पोषक प्रमाणो को देखिए—(१) शतपथ ब्राह्मण मे हरिश्चन्द्र को वैधस (वेधा की सन्तान) कहा गया है, परन्तु वेधस् नाम किसी भी इक्ष्वाकु-वंशावली मे नही मिलता। इससे प्रतीत होता है कि हरिश्चन्द्र किसी दूसरी शाखा के ऐक्ष्वाक थे और शासक होने के नाते इस परम्परा मे अन्तर्भुक्त कर लिये गये। (२) अयोध्या-नरेश ऐक्ष्वाक ऋतुपर्ण को पञ्चविंश ब्राह्मण तथा महाभारत (वनपर्व ६६–६७ अ०) मे भृङ्गाश्व का अपत्य कहा गया है, परन्तु भृङ्गाश्व का वर्तमान इक्ष्वाकु-परम्परा मे कही उल्लेख नही है। प्रतीत होता है कि ये इक्ष्वाकु की किसी दूसरी शाखा मे उत्पन्न हुए थे, परन्तु राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण वंशावली मे परिगणित किये गये है। इससे सिद्ध होता है कि वंशावली मे शासक-परम्परा का हो उल्लेख है, कुल-परम्परा का नही। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है[1]।

इक्ष्वाकु की वंशावली

मनु वैवस्वत
|
१ इक्ष्वाकु
|
२ विकुक्षि (= देवराट्, शशाद) तथा ९९ और पुत्र
|
३ पुरञ्जय (= ककुत्स्थ, इन्द्रवाह) तथा १४ अन्य पुत्र
|
४ सुयोधन
|
५ पृथु
|
६ विष्वगश्व (= दृषदश्व = विष्टराश्व)
|
७ आर्द्र (= इन्दु, चान्द्र, आन्ध्र)
|
८ युवनाश्व
|
९ श्रावस्त ('श्रावस्ती' नगरी का स्थापक)
|

१. इसके अन्य पोषक प्रमाणो के लिए देखिए राय कृष्णदासजी का सुचिन्तित लेख 'पुराणो की इक्ष्वाकु वंशावली' (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ५६. सं० २००८), पृष्ठ २३४–२३८।
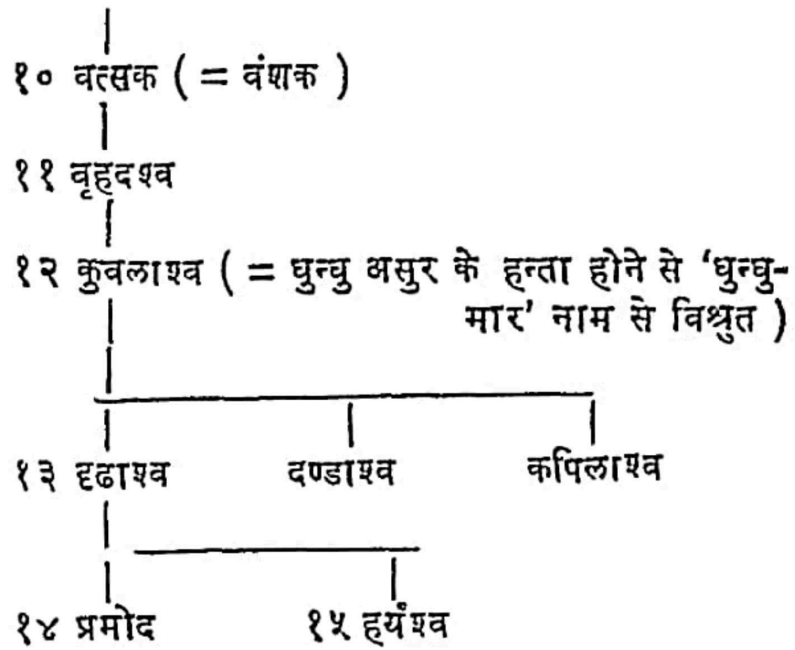
[मत्स्य तथा कूर्म सन्दर्भ के अनुसार दृढाश्व का पुत्र प्रमोद था तथा प्रमोद का पुत्र हर्यश्व था जो एक-दूसरे के बाद राज्य करते थे। अग्निपुराण का कथन है कि प्रमोद तथा हर्यश्व सहोदर थे जिनमे प्रमोद कनिष्ठ था। मत्स्य-कूर्म के सूचनानुसार ऊपर का क्रम नियत किया गया है]
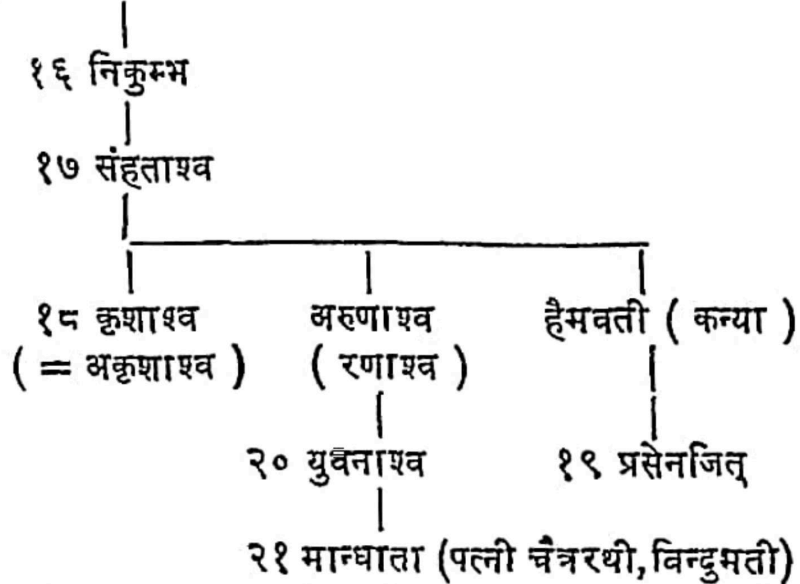
[मान्धाता के वंशजो के वारे मे पौराणिक विवरण वड़ा गोलमाल है। मत्स्य के अनुसार मान्धाता के पुत्र थे पुरुकुत्स, मुचुकुन्द और शत्रुजित् जिसमें पुरुकुत्स का पुत्र है वसूद—तत्पुत्र संभूति तथा तत्पुत्र सुधन्वा। दूसरे पुराणो के अनुसार पुत्रनाम नीचे दिया जाता है। इनमे से द्वितीय पुत्र अम्वरीष राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। तदनन्तर उसका पुत्र युवनाश्व जिसका उत्तराधिकारी था हरित जिसके वंशज हारीत क्षत्रोपेता ब्राह्मण कहे गये हैं। हरित के अनन्तर पुरुकुत्स शासक वतलाया गया है। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि अम्वरीष के वंशज ब्राह्मण वन गये थे, तव उस वंश मे शासन का कार्य समाप्त हो गया और राजसिंहासन पुरुकुत्स को प्राप्त हो गया जो अम्वरीष का ही जेठा भाई था]

२१ मान्धाता
२४ पुरुकुत्स
२२ अम्बरीष
मुचकुन्द
२५ त्रसदस्यु
२३ युवनाश्व
हारीत
हारीत ब्राह्मण
२६ संभूत
विष्णुवृद्ध
२७ अनरण्य
विष्णुवृद्ध ब्राह्मण।
२८ त्रसदश्व (=पृषदश्व, बृहदश्व)
२९ हर्यश्व
३० वसुमनाः (=वसुमान्)
३१ त्रिधन्वन् (=त्रिवृषन्)
३२ त्र्यारुण
३३ सत्यव्रत (= त्रिशंकु—पत्नी सत्यरथा या सत्यव्रता)
३४ हरिश्चन्द्र (पत्नी शैव्या)
३५ रोहित (= रोहिताश्व)
३६ हरित
३७ चञ्चु
३८ विजय
३९ रुरुक
४० वृक
२४ पृ० वि०
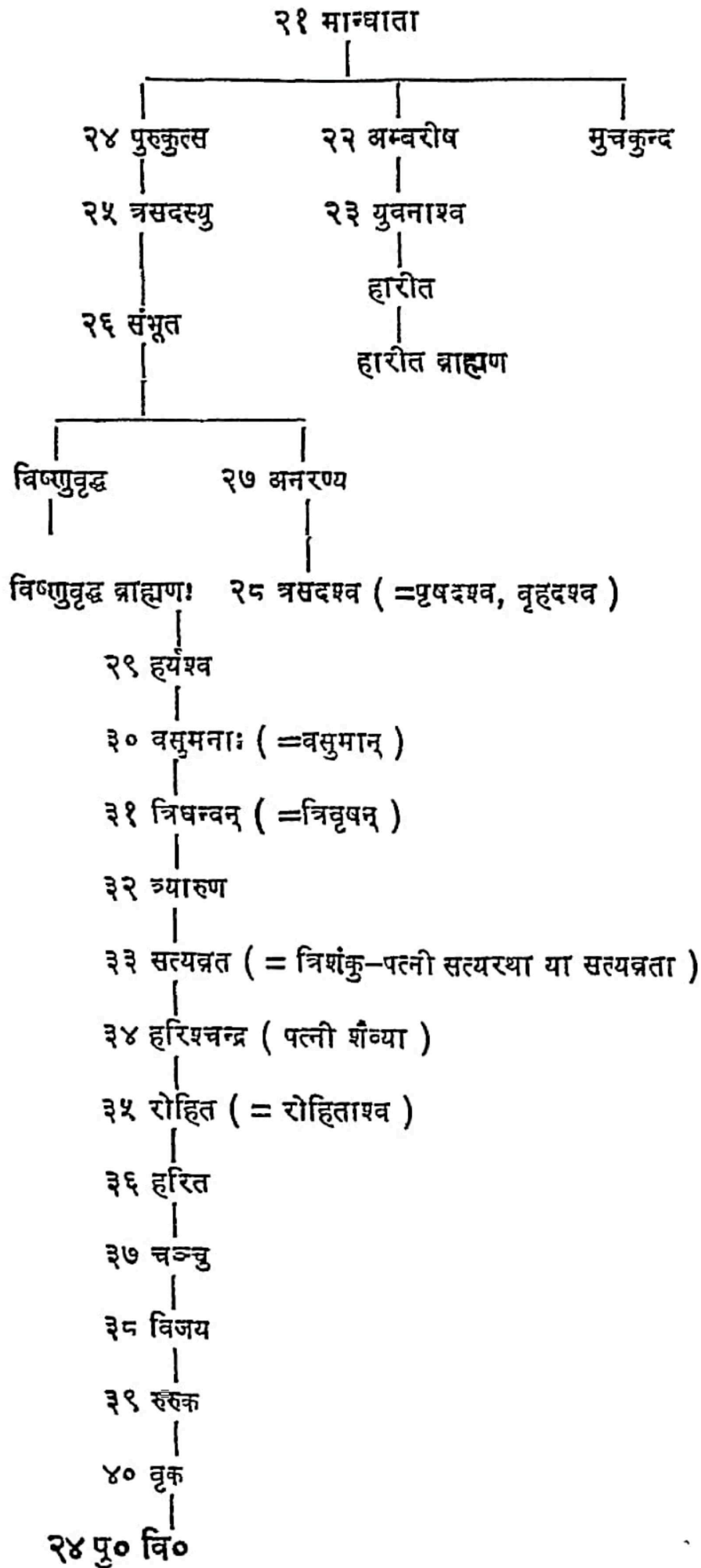
|
४१ वाहुक (= असित, पत्नी कालिन्दी यादवी)
|
४२ सगर (पत्नी केशिनी वैदर्भी तथा सुमति शैव्या)

४२क असमंजस

[असमंजस अपने बाल्यकाल मे ही बड़ा क्रूर तथा आततायी था और इसीलिए वह कोशल राज्य का उत्तराधिकारी नही बन सका, परन्तु उसका नाम वंशावली मे निर्दिष्ट है]

|
४३ अंशुमान्
|
४४ दिलीप प्रथम

[इस दिलीप को ब्रह्मसन्दर्भ वाले पुराण 'खट्वाग' नाम देते हैं, परन्तु अन्य पुराण दिलीप द्वितीय को ही यह नाम प्रदान करते हैं दोनों के पार्थक्य को दिखलाने के लिए। महाभारत के षोडशराजिक सूची मे दिलीप खट्वाग का पितृज नाम 'ऐडविडि' दिया गया है। यह दिलीप प्रथम के विषय मे चरितार्थ न होकर दिलीप द्वितीय के विषय मे भी सुसंगत है, क्योंकि 'इडविड' नामक राजा उसका तृतीय पूर्व पुरुष था]।

|
४५ भगीरथ (गगा को भूतल पर लाने वाले राजा)
|
४६ श्रुत (= विश्रुत, श्रुतवान्)
|
४७ नाभाग
|
४८ अम्वरीष द्वितीय
|
४९ सिन्धुद्वीप
|
५० अयुतायु (= अयुताजित)
|
५१ ऋतुपर्ण (= राजा नल का मित्र)
|
५२ सर्वकाम
|
५३ सुदास
|
५४ मित्रसह (कल्माषपाद, पत्नी दमयंती)

[मित्रसह के अनन्तर छः सात राजाओं के विषय में वायु-कूर्म की सूची ब्रह्म-मत्स्य सन्दर्भ से नितान्त भिन्न है]
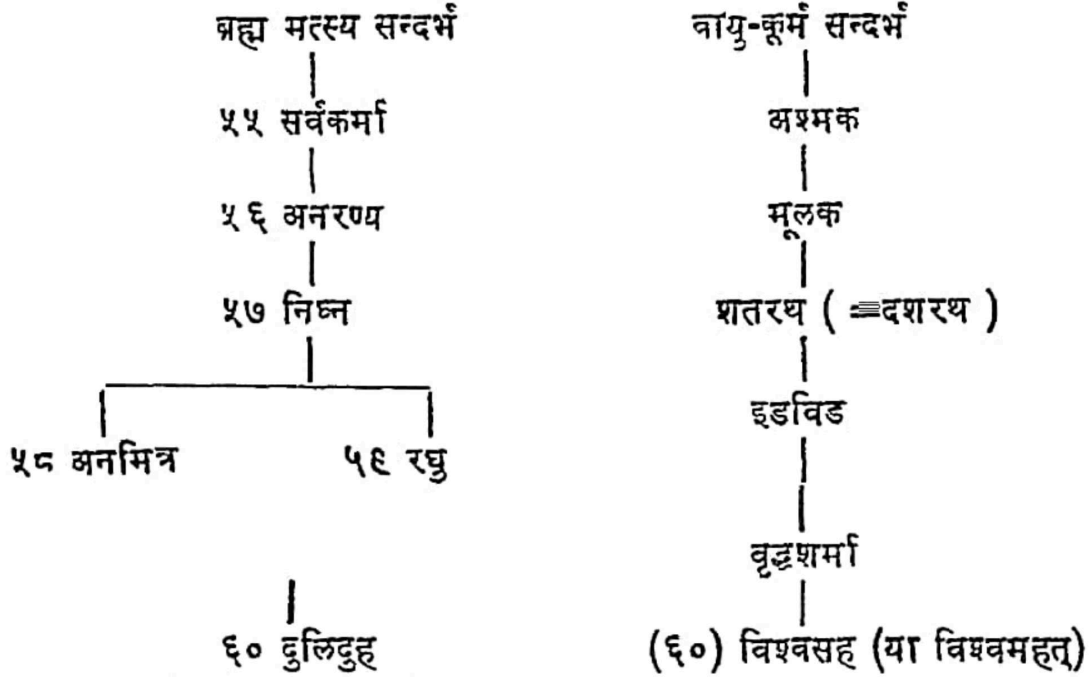
[इन दोनों सूचियों में सर्वकर्मावाली सूची की प्रधानता है; क्योंकि सर्वकर्मा कल्माषपाद के ज्येष्ठ पुत्र थे। पहली सूची का दुलिदुह विश्वसह का ही अपर संकेत प्रतीत होता है। यहाँ से आगे अश्मक वाली सूची को प्रधान होने की मान्यता मिल गयी, क्योंकि दिलीप खट्वांग ऐडविडि कहा गया है जिससे उसका दूसरी सूची से सम्बद्ध होना स्पष्टतः प्रतीत होता है]

६१ दिलीप खट्वांग (दिलीप द्वितीय, पत्नी सुदक्षिणा मागधी)

६२ रघु दीर्घबाहु (रघु प्रथम से विभेदक विशेषण)

[वायु तथा कूर्म सन्दर्भों में दिलीप और रघु के बीच में दीर्घबाहु का नाम आता है, परन्तु ब्रह्मसन्दर्भ में दीर्घबाहु रघु की ही उपाधि स्पष्टतः बतलायी गयी है। कालिदास के द्वारा समादृत तथा उल्लिखित होने के कारण दिलीप तथा रघु का पितृ-पुत्रभाव सर्वथा प्रामाणिक तथा परिपुष्ट है]
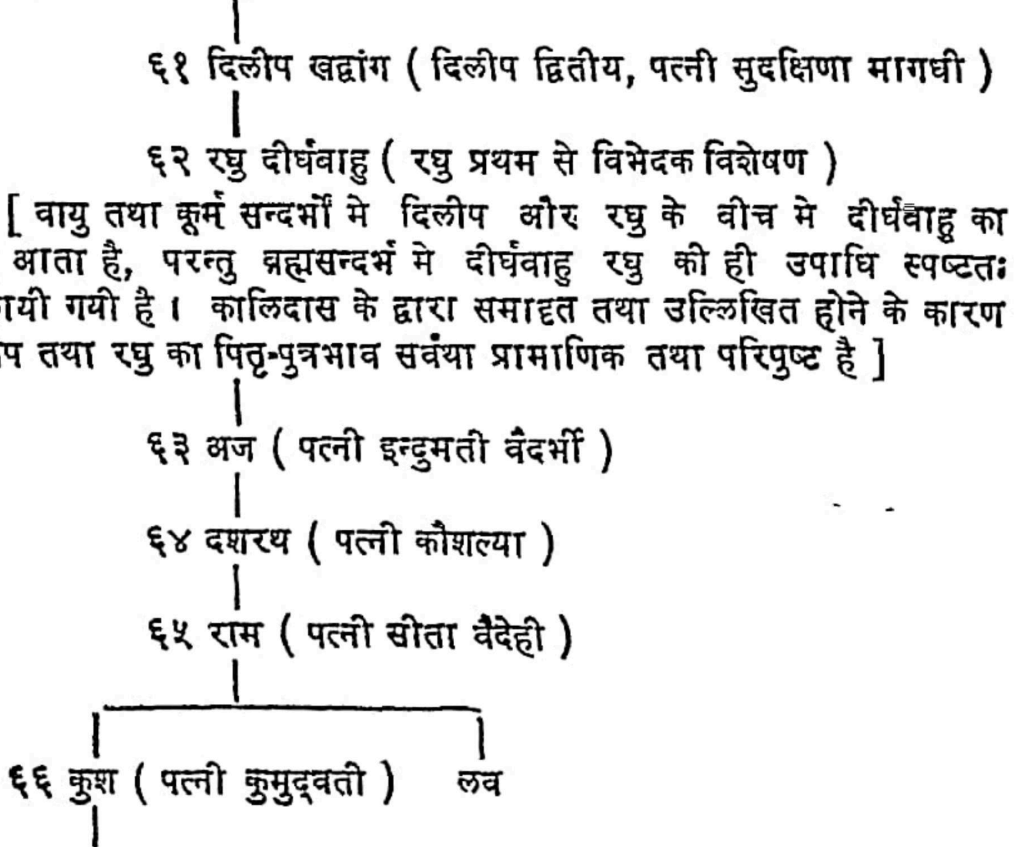
६७ अतिथि
|
६८ निषध
|
६९ नल
|
७० नभस्
|
७१ पुण्डरीक
|
७२ क्षेमधन्वा
|
७३ देवानीक
|
७४ अहीनगु
|
७५ सुधन्वा (रुरु)
|
७६ पारिपात्र (या पारियात्र)
|
७७ शित (शित)
|
७८ दल
|
७९ उन्नाभ
|
८० वज्रणाभ
|
८१ शङ्खन
|
८२ व्युषिताश्व ८३ विश्वसह (विधृति)
|
८४ हिरण्यनाभ
|
८५ पर कौशल्य (हैरण्यनाभ कौशल्य)
|
८६ वसिष्ठ (वरिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ)

[पौराणिक सूची मे हिरण्यनाभ = कौसल्य = वशिष्ठ = वरिष्ठ एक ही नाम जान पड़ता हैं, परन्तु कालिदास मे हिरण्यनाभ, कौसल्य तथा ब्रह्मिष्ठ

अनुक्रम से तीन राजा हैं। यहाँ कालिदास का ही पक्ष प्रवल होने से गृहीत हुआ है। शतपथ तथा शांख्यायन श्रौतसूत्र का प्रामाण्य कालिदास का समर्थक है]

[बृहद्वल इक्ष्वाकुवंश का महाभारतकालीन प्रशासक था। महाभारतपूर्व के ऐक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यही अन्तिम राजा था। यह महाभारतयुद्ध मे अभिमन्यु द्वारा मारा गया। विष्णु० के अनुसार इसके पुत्र का नाम बृहद्वल था। भाग० के अनुसार बृहद्वल तक्षक का पुत्र तथा बृहद्रण का पिता था (भाग० ९।१२।८; विष्णु ४।४।४८)[१]।

---

१. इक्ष्वाकु-वंशावली का निर्माण अनेक विद्वानो ने अपनी दृष्टि से किया है; परन्तु कलाभवन के अध्यक्ष राय कृष्णदास का पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन पर आश्रित वंशावली का निर्माण बड़ा ही वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक है। एतद्विषय में द्रष्टव्य उनका सुचिन्तित लेख—पुराणों की इक्ष्वाकु-वंशावली (नागरीप्रचारणी सभा, काशी, भाग ५६, वर्ष २००८ पृष्ठ २२६–२५०। पुसालकर का लेख भी द्रष्टव्य है—पुराणम् (रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित शोधपत्रिका) वर्ष १९६२; जिल्द ४, संख्या १, पृष्ठ २२–३३।

इक्ष्वाकु वंश के प्रधान राजाओ का वृत्त—

(१) मान्धाता—युवनाश्व द्वितीय (संख्या २०) का पुत्र मान्धाता अपने समय मे एक अप्रतिरथ राजा था। वह चक्रवर्ती ही नही, प्रत्युत सम्राट् था। इन दोनो राजकीय उपाधियो मे पर्याप्त पार्थक्य है। केवल भारतवर्ष का विजेता राजा चक्रवर्ती कहलाता था, परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का विजेता सार्वभौम सम्राट् की उपाधि से मण्डित होता था। यह अपने युग का एक महाविजेता था। महाभारत के द्रोण पर्व (अ० ६२) में तथा शान्तिपर्व (२८ अ०) मे मान्धाता के समकालीन अथ च विजित नरपतियो के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। युवनाश्व-पुत्र मान्धाता ने अङ्गार, मरुत्त, असित, गय, अङ्ग, बृहद्रथ, जनमेजय, सुधन्वा तथा नृग नामक राजाओ को जीता।[२] इन विजयों के फलस्वरूप मान्धाता का राज्य बड़ा ही विस्तृत था। पुरानी गाथा इस विस्तार को इस प्रकार बतलाती हैं—

यावत् सूर्य उदयति यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

—द्रोणपर्व ६२।११; विष्णु ४।२।६५; वायु ८८।६८

इसने अपना विवाह यादवकुल मे पराक्रमी नरेश शशविन्दु की पुत्री विन्दुमती के साथ किया था। यादवकुल चन्द्रवंशी था। फलतः सूर्यवंशी इक्ष्वाकुओ तथा चन्द्रवंशी यादवों मे परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित होते थे।

(२) हरिश्चन्द्र—इनके पूर्ववर्ती शासक का नाम था सत्यव्रत। इसके पिता का नाम था त्र्यारुण जो ऋग्वेद ५।२७ और ९।११० सूक्तो का द्रष्टा है। सत्यव्रत इसी का पुत्र था। 'त्रिशंकु' नाम से यही राजा प्रख्यात हुआ। सत्यव्रत ने तीन सदाचार का उल्लंघन किया था और इसी कारण वह 'त्रिशंकु' नाम से ख्यात हुआ[३]। वसिष्ठ जी के तिरस्कार करने पर विश्वामित्र ने इसे यज्ञ कराकर सदेह

---

१. जनमेजयं सुधन्वानं गयं पूरुं बृहद्रथम्।
असितं च नृगं चैव मान्धाता मानवोऽजयत्॥

—द्रोणपर्व ६२।१०

२. इन राजाओ के विवरण के लिए द्रष्टव्य श्री भगवद्दत्तः भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ६६—६८

३. पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः॥ १०८॥
एवं स त्रीणि शङ्कूनि दृष्ट्वा तस्य महातपाः।
त्रिशंकुरिति होवाच त्रिशङ्कुस्तेन स स्मृतः॥ १०९॥

—वायु० ८८ अध्याय

स्वर्ग मे भेजा था आदि अनेक कथाएँ लोकप्रिय होने से आवृत्ति नही चाहती। इसके विषय में दो प्राचीन श्लोक वायु० ८८।११५, ११६ मे उद्धृत हैं। हरिश्चन्द्र इसी त्रिशंकु का पुत्र था। वायुपुराण इसे 'त्रैशङ्कव' (त्रिशंकुपुत्र) वतलाता है (८८।११८)। ऐतरेय ब्रा० (७।१३) तथा शंखायन श्रौतसूत्र (१५।१७) में ये 'वैधस' कहे गये है जिससे ऐतिहासिकों का अनुमान है कि ये इक्ष्वाकुवंशीय किसी विभिन्न शाखा से सम्बद्ध थे। किसी प्राचीन टीकाकार ने 'वैधस' का अर्थ वेधा = 'प्रजापति का सम्बन्धी' अर्थ किया है। राजर्षि उशीनर की कन्या सत्यवती ने स्वयम्वर मे इन्हे वरण किया था। शिविराज्य नगरी से सम्बद्ध होने से सत्यवती शैव्या कहलाती थी। इन्होने एक विशिष्ट राजसूय यज्ञ किया था जिसमे इन्होने ब्राह्मणो को मुंहमाँगे धन से पचगुना दान दिया[१]। इन्होने सप्तद्वीपा वसुमती का विजय कर सम्राट् की पदवी पायी थी। इन सव घटनाओ से वढकर है इनकी सत्यवादिता का आख्यान जिसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही।

(३) **सगर चक्रवर्ती**—इसी वंश मे आगे चलकर सगर नामक राजा हुआ। यह इक्ष्वाकुवंश मे एक महनीय चक्रवर्ती राजा हुआ। इसने अपने शत्रुओ को परास्त किया। इसने अयोध्या को ही तालजङ्घ हैहयो के पंजे से नही छुड़ाया प्रत्युत, हैहयो के अपने देश मे घुसकर उनकी शक्ति को दीर्घकाल के लिए विध्वस्त कर दिया। विदर्भ पर चढ़ाई की, तव वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री केशिनी उसे व्याह कर सन्धि स्थापित की। इस राजा ने और्व ऋषि के द्वारा योग की सिद्धि प्राप्त की (भाग० ९।८।८) तथा इसी के अश्वमेध घोड़े को इन्द्र ने चुरा लिया था जिसकी खोज मे इसके पुत्रो ने 'सागर' को उत्पन्न किया। इसी के प्रपौत्र भगीरथ को भागीरथी को भूतल पर लाने का गौरव प्राप्त है। ये भगीरथ दिलीप प्रथम के पुत्र थे।

(४) **राजा रघु**—इनके पिता थे दिलीप द्वितीय जो खट्वाग के नाम से प्रख्यात थे। ये भी चक्रवर्ती माने जाते है। राजा रघु के वंश का वर्णन कर कालिदास ने इसे अपने रघुवंश काव्य के द्वारा अमर वना दिया (भाग० ९।१० अ०) रघु के पुत्र हुए **अज** जिन्होने वैदर्भी इन्दुमती को स्वयम्वर मे पाया था। इन्ही के पुत्र थे दशरथ जिनके पुत्र चतुष्टय मे **राम** ही मूल राज्य के अधिकारी थे। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम होने का तथ्य विशेष भाष्य की अपेक्षा नही रखता। वाल्मीकीय रामायण के ये ही प्रधान नायक है। दक्षिण भारत में भारतीय वैदिक संस्कृति के प्रचार करने का श्रेय रामचन्द्र को ही है। वैदिक साहित्य में इनका नाम भले ही न मिले, परन्तु इनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह

---

१. द्रष्टव्य महाभारत—सभापर्व का १२ अ०।

करना (जैसा कतिपय पाश्चात्य विद्वान् करते थे) महान अनर्थ है। महाभारत के षोडश राजकीय में प्राचीन १६ चक्रवर्ती नरेशों मे राम का समुल्लेख उनकी प्राचीनता यथा ऐतिहासिकता का पुष्ट प्रमाण है।

चन्द्रवंश का उदय

कहा गया है कि सूर्यवंश के समान चन्द्रवंश भी मनु से ही आरम्भ होता है। अन्तर इतना ही है कि सूर्यवंश ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु से चलता है और चन्द्रवंश पुत्री इला से चलता है। इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध के साथ सम्पन्न हुआ और इसीलिए यह वंश चन्द्रवंश के नाम से प्रख्यात है। इस विवाह से उत्पन्न हुए राजा पुरूरवा जो चन्द्रवंश के संस्थापक के रूप मे गृहीत किये गये हैं। पुरूरवा तथा अप्सरा उर्वशी की प्रणय-कथा ऋग्वेद (१०।९०) मे उल्लिखित है तथा इस कथा को ही कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय का आधिकारिक वृत्त वनाया। पुरूरवा की राजधानी थी **प्रतिष्ठान** (आधुनिक प्रयागसमीपस्थ झूसी) जहाँ चन्द्रवंश की प्रधान शाखा शासन करती रही। पुरूरवा का ज्येष्ठ पुत्र आयु तो प्रतिष्ठान मे राज्य करता था और उनके भाई **अमावसु** ने पश्चिम मे एक राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी पीछे चलकर कान्यकुब्ज नगर हुई। आयु के ही पुत्रपञ्चक मे ज्येष्ठ पुत्र था **नहुष** जो अपने हठ के लिए संकट पाने वाले व्यक्तियो के लिए उपमान माना जाता है (हठ वस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेश)। आयु के द्वितीय पुत्र **क्षत्रवृद्ध** ने काशी मे अपना राज्य स्थापित किया। नहुष के ही प्रधान पुत्र हुए **ययाति** जो अपने युग के एक महान् पराक्रमी चक्रवर्ती राजा माने गये है। इनके अग्रज यति ने मुनि होकर अपना राज्याधिकार छोड़ दिया; तव राज्य ययाति को प्राप्त हुआ। ययाति की दो रानियाँ थी—

(१) देवयानी भार्गवी (शुक्राचार्य की पुत्री) जिसकी सन्तान है यदु तथा तुर्वसु।

(२) शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी (असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री) जिसके पुत्र हैं—द्रुह्यु, अनु तथा पुरु।

ययाति का आख्यान प्राचीन युग में इतना अधिक विश्रुत था कि इस आख्यान के अध्येता के नामकरण के लिए पाणिनि-सूत्रो मे व्यवस्था है। ययाति के अनन्तर कनिष्ठ पुत्र **पुरु** ही पिता का नितान्त आज्ञाकारी तथा स्नेहभाजन होने से प्रतिष्ठान के राजसिंहासन पर बैठा। ययाति ने अपने पाँचो पुत्रो मे अलग-अलग शासन-क्षेत्र का विभाग कर दिया[१]। इन्ही पाँचो पुत्रो से पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशो का उदय हुआ :—

---

१. वायु० ९३।८७-९०।

(१) कनिष्ठ पुत्र **पुरु** प्रतिष्ठान मे ययाति का उत्तराधिकारी हुआ ।

(२) ज्येष्ठ पुत्र **यदु** को चर्मण्वती (चंबल), वेत्रवती (वेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला ।

(३) **तुर्वसु** को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला । पीछे उसके वंशज उत्तर-पश्चिम को चले गये जहां से उन्होने भारत-सीमा के वाहर जाकर यवन तथा शक राज्यो की स्थापना की ।

(४) **द्रुह्यु** को यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश विभाजन में मिला । पीछे इनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गये ।

(५) **अनु** को गंगा–यमुना के दोआवा का उत्तरी भाग मिला ।

इन पांचो वंशो मे पुरु तथा यदु का वंश वड़ा प्रभावशाली हुआ । इसमे अनेक प्रतापी तथा प्रभावशील राजा हुए जिन्होने भारतवर्ष के इतिहास में अपनी विशिष्ट स्थिति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की है । यदु के पुत्रो मे दो वंशकर्ता हुए जिनके दो वंश चले :—

(क) क्रोष्टुशाखा, (ख) सहस्रजित् = हैहय शाखा ।

(क) **क्रोष्टुशाखा** (मत्स्य० ४४।१५) मे आगे चलकर भीम सत्त्वत नामक राजा हुआ जिनके दो पुत्रो ने अन्धक तथा वृष्णि वंश को चलाया ।

(१) **अन्धकशाखा** = सात्वत—अन्धक—कुकुर—वृष्णि–धृति—कपोतरोमा—तैत्तिरि (= विलोमन)–नल (तैत्तिरि के दौहित्र)—अभिजित (=अभिजात)—पुनर्वसु–आहूक (जिनकी भगिनी आहुकी अवन्तिनरेश को व्याही थी)—उग्रसेन (मथुरा का राजा)—कंस (नव भ्राताओं मे से अग्रज)[१]

(२) **वृष्णिशाखा**—सात्त्वत—वृष्णि (इनकी दो स्त्रिया थी गान्धारी तथा माद्री) इनमे से माद्री के पुत्रो मे अन्यतम थे देवमीढुष जिनके पुत्र थे शूर—वसुदेव—वलराम तथा कृष्ण । गान्धारी नाम भार्या से वृष्णि को पुत्र हुआ सुमित्र या अनमित्र—निघ्न—प्रसेन तथा सत्राजित । इसी प्रसेन को सूर्य की तीव्र उपासना के फल से स्यमन्तक नामक मणिरत्न प्राप्त हुआ जिसकी विस्तृत कथा मत्स्य (४५, अ०) भागवत (१०।५६) विष्णु पुराण (४ अंश, १३ अ०) मे विशदता के साथ दी गयी है । सत्राजित की ही कन्या सत्यभामा थी जो श्रीकृष्णचन्द्र की प्रियाओ मे श्रेष्ठ मानी जाती थी ।

माद्री के पुत्रो मे अन्यतम थे युधाजित् जिनके पुत्र थे पृश्नि—श्वफल्क—अक्रूर । इस प्रकार श्रीकृष्ण का सम्वन्ध वृष्णि-शाखा के साथ था और

---

१. अन्धक-शाखा के पूरे विस्तृत विवरण के लिए देखिये मत्स्यपुराण ४४ अ० ५०—८३ श्लो० ।

तदन्तर्भुक्त होने से अक्रूर भी श्रीकृष्ण के निकट दायाद लगते थे। सत्राजित की हत्या कर शतधन्वा के साथ अक्रूर ने भी स्यमन्तक छीन लिया था जिसका विस्तृत वर्णन विष्णुपुराण के गद्यभाग (अंश ४, अ० १३) मे बड़ी रोचकता के साथ किया गया है।

(ख) हैहयशाखा

यदु के पुत्र सहस्रजित्—शतजित्—हैहय—धमनेत्र—कुन्ति—संहत—महिष्मान्—रुद्रश्रेण्य—दुर्लभ—कनक—कृतवीर्य—अर्जुन (सहस्रबाहुः कार्तवीर्य)—जयध्वज—तालजङ्घ—(इनके सौ पुत्र जो 'तालजङ्घ' के नाम से विश्रुत थे)—वीतिहोत्र—आनर्त—दुर्जेय—सुप्रतीक (मत्स्यपुराण ४३ अध्याय तथा वायु ९४ अ०) इस हैहयशाखा मे कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन बड़ा ही पराक्रमशाली था और उसने हैहयों की क्षीण शक्ति को पुनः उद्दीप्त किया। वह बहुत ही बड़ा विजेता था। उसने कर्कोटक नागो से माहिष्मती छीन ली तथा नर्मदा से लेकर हिमालय तक उसने सब प्रदेशो पर विजय की। लङ्का के राजा रावण को, जो उत्तर भारत पर चढ आया था, पकड़कर माहिष्मती मे कई वर्षों तक कैद मे रखा। हैहयो का भार्गव पुरोहितो से बडा संघर्ष चलता था। कार्तवीर्य ने भी जमदग्नि की हत्या की जिसका पूरा बदला उनके पराक्रमी पुत्र परशुराम ने लिया। कार्तवीर्यविषयक अनेक गाथाएँ पुराणो मे संगृहीत है जिनमे उसके अतुल पराक्रम तथा अलौकिक योगशक्ति का परिचय मिलता है। योगविद्या को महर्षि दत्तात्रेय ने इसे सिखलाया था। कालिदास ने इस राजा के विपुल प्रभाव का उल्लेख रघुवंश के षष्ठ सर्ग मे किया है।

दो-तीन [1]गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती है :—

> न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति क्षत्रियाः।
> यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च विक्रमेण श्रुतेन च॥
> स हि सप्तसु द्वीपेषु खड्गी चक्री शरासनी।
> रथी द्वीपाननुचरन् योगी पश्यति तस्करान्॥

---

१. कार्तवीर्यविषयक ये गाथाएँ वायुपुराण के ९४ अध्याय मे अक्षरशः समान हैं। ये पूर्वोक्त तीनो गाथाएँ वायु के इसी अध्याय मे श्लो०, २०, २१, तथा २४ मे क्रमशः उपलब्ध हैं। अन्यत्र पुराणो मे भी ये उद्धृत होगी ऐसा विश्वास है। तथ्य यह है कि ये प्राचीन गाथाएँ है जो कालक्रम से प्राचीन समय से चली आयी है और जिनका उल्लेख महाभारत तथा पुराणो मे बहुशः मिलता है।

स एव पशुपालोऽभूत् क्षेत्रपालः स एव हि।
स एव वृष्ट्या पर्जन्यो योगित्वादर्जुनोऽभवत् ॥
—मत्स्य० ४३ अ०, २४-२५-२७ श्लोक

कार्तवीर्य के नाम से नष्ट वस्तु भी प्राप्त हो जाती थी—

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहु-सहस्रवान्।
तस्य स्मरणमात्रेण गतं नष्टं च लभ्यते ॥

(२) तुर्वसुवंश—ययाति के अन्यतम पुत्र थे तुर्वसु जिससे यह वंश थोड़े ही दिनों तक चला, क्योंकि पिता के द्वारा अभिशप्त होने के कारण यह वंश अचिरस्थायी रहा। इनके विषय मे मत्स्यपुराण ने एक विचित्र बात का उल्लेख किया है कि पाण्डय, चोल, केरल तथा कूल्य लोग अपनी उत्पत्ति तुर्वसुवंश से ही मानते हैं—

पाण्डयश्च केरलश्चैव चोलः कर्णः ? (कूल्यः) तथैव च।
तेषां जनपदाः स्फीताः पाण्ड्याश्चोलाः सकेरलाः ॥
—मत्स्य, ४८।५

इस पौराणिक उल्लेख का तात्पर्य बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। तुर्वसु लोग प्रथमतः पश्चिम की ओर बढ़े और सिन्धु की घाटी मे अपने को प्रतिष्ठित किया। यहाँ से वे दक्षिण भारत मे गये और द्रविड जाति के पूर्वज बने। यदि यह तथ्य अन्य पुराणो से भी सिद्ध हो जाय, तो द्रविडो का आर्यों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

(३) द्रुह्यु वंश—ये द्रुह्यु शर्मिष्ठा तथा ययाति के पुत्रो मे अन्यतम थे। द्रुह्यु के वंश मे चौथी पीढ़ी मे गान्धार नामक राजा हुआ। इसी ने अपने नाम पर गान्धार देश को बसाया जहाँ इसके पूर्वज पहले से पश्चिमोत्तर प्रान्त मे शासन कर रहे थे। द्रुह्यु लोग बड़े साहसी थे। इन्होने भारतवर्ष के बाहर जाकर म्लेच्छ देशों मे भी अपने राज्य स्थापित किये। फलतः ययाति के पुत्रो मे द्रुह्यु लोगो मे विशेष साहस तथा पराक्रम दृष्टिगोचर होता है—

प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव हि।
म्लेच्छराष्ट्राधिपा ह्युदीचीं दिशमाश्रिताः ॥
—मत्स्य ४८।९

इसकी व्याख्या यह है। द्रुह्यु के दो पुत्रों मे अन्यतम था सेतु—शरद्वान्—गन्धार—धर्म—घृत—प्रचेता। और इसी प्रचेता के पूर्वश्लोकसंकेतित एक सौ पुत्रों ने म्लेच्छ राष्ट्रों में शासन स्थापित किया। गन्धार विषय तो आजकल का अफगानिस्तान है जिसका एक प्रधान प्रान्त कन्दहार है। मत्स्यपुराण मे लिखा है कि आरट्ट देश के घोड़े सबसे बढ़िया नस्ल के होते हैं—

> ....गन्धारस्तस्य चात्मजः ।
> ख्यायते यस्य नाम्नासौ गन्धारविषयो महान् ।
> आरट्टदेशजास्तस्य तुरगा वाजिनां वराः ।।
>
> —मत्स्य ४८।७

यह आरट्ट देश पंजाब का ही एक अवान्तर प्रान्त है जिसका उल्लेख कर्ण-पर्व अ० ४४ और ४५ में विस्तार से किया गया है ।

चन्द्रवंश की वंशावली
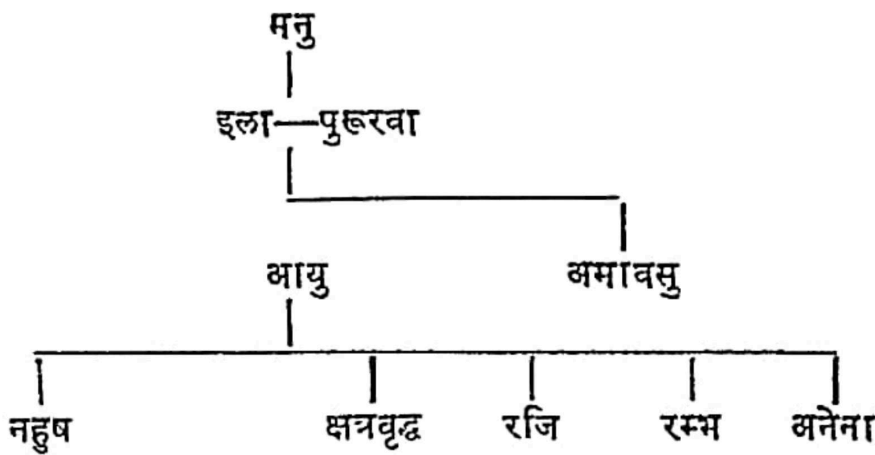
[इन पाँचो पुत्रो मे नहुष से तो प्रधान शाखा चली; क्षत्रवृद्ध ने प्रतिष्ठान से हटकर काशी मे अपना राज्य स्थापित किया । अन्य तीनो पुत्रों का वंश थोड़े ही पुश्तो तक चला और आगे उच्छिन्न हो गया (भाग० ९।१७।१०–१६)। यहाँ मूल चन्द्रवंश-वर्णन संक्षेप मे दिया गया है ।]
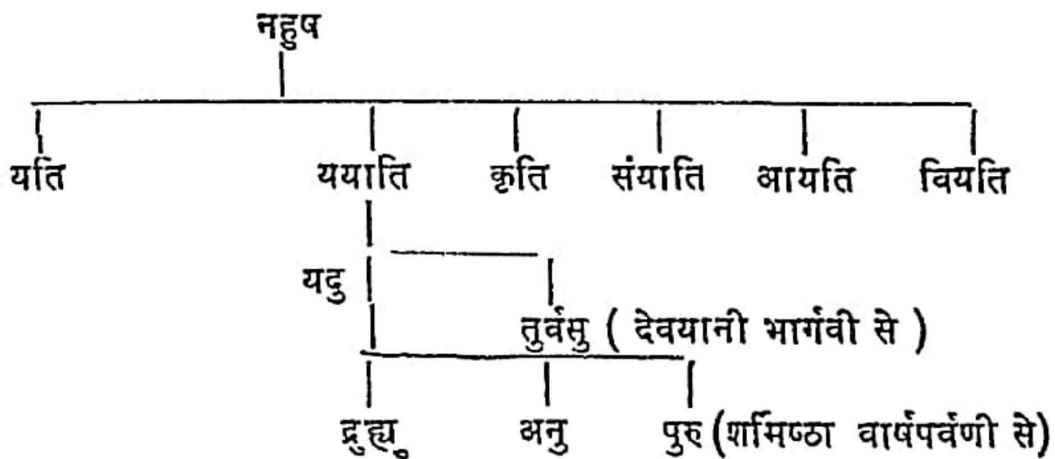
पौरव वंश

पौरव वश की वंशावली पुराणो मे विस्तार से दी गयी है । प्रधान पुराणो का अनुशीलन कर तुलनात्मक दृष्टि से पौरव-वंशावली के यहाँ स्थानाभाव से देने का अवसर नही है । इस वंश के कतिपय महत्त्वशाली राजाओं का कार्य-विवरण ही संक्षेप मे यहाँ दिया जाता है ।

ययाति—अपने समय का एक चक्रवर्ती सम्राट् था। अपने श्वशुर शुक्राचार्य के द्वारा कारणवश अभिशप्त होने के कारण उसे असमय में ही वार्धक्य प्राप्त हो गया। उसके पाँच पुत्रो में से कनिष्ठ पुत्र पुरु ने ही अपने यौवन का विनिमय उसके वार्धक्य से किया। फलतः ययाति ने अनेक वर्ष पुनः राज्य-शासन किया, परन्तु भोगो से उसे तृप्ति प्राप्त नही हुई। तब उसने अपने दीर्घकालीन अनुभव को इस गाथा में अभिव्यक्त किया जो भोगमय जीवन की निःसारता पर एक तीव्र उपहास है :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—आदिपर्व; भाग० ९।१९।१४

दुष्यन्त—ययाति के अनन्तर पुरु ही मूल चन्द्रवंश के राजसिंहासन पर बैठे। उसके आरम्भिक वंशजो मे दुष्यन्त की कीर्ति को महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का नायक बनाकर अमर बना दिया है। भागवत (७।२०।७) के अनुसार ये पुत्र थे रैभ्य के, वायु० के अनुसार 'मलिन' के तथा विष्णु० के अनुसार 'अनिल' के। इनकी प्रधान पत्नी शकुन्तला थी जो कण्व के द्वारा पोषित और वर्धित राजर्षि विश्वामित्र की दुहिता थी। कण्व का आश्रम हिमालय की तलैटी मे **मालिनी** नदी के तट पर था। यह क्षुद्र नदी है जो हिमालय से निकलकर उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले मे बहती है। वर्तमान नाम है—मालिन, जो वर्षाकाल के बाद गर्मी के दिनो मे सूख जाती है।

भरत दौष्यन्ति[१]—दुष्यन्तपुत्र भरत भारतवर्ष का एक विश्रुत चक्रवर्ती था। शकुन्तला का यह पुत्र था। ऐतरेय ब्रा० (८।३३) तथा शतपथ ब्रा० (१३।५।४।१२) मे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक गाथाएँ उद्धृत है जो पुराणो मे भी एतत्प्रसंग में दी गयी हैं (भाग० ९।२०।२५-२९) जिनसे इसके विशिष्ट यज्ञो का परिचय मिलता है। भरत ने **दीर्घतमा मामतेय** ऋषि की अध्यक्षता में यमुना के तट पर ७८ अश्वमेध तथा गंगा के तीर पर ५५ अश्वमेध यज्ञों (कुल मिलकर १३३ अश्वमेधों) का सम्पादन किया। यह विश्रुत घटना भरत के माहात्म्य की अभिव्यक्ति में पर्याप्त मानी जा सकती हे। ऐतरेय ब्राह्मणस्थ गाथा भरत को 'दौष्यन्ति' कहती है, परन्तु शतपथ मे उद्धृत वही गाथा उसे 'सौद्युम्नि बतलाती है। तब दुष्यन्त तथा सुद्युम्न एक ही व्यक्ति है क्या? इसने अपनी दिग्विजय के अन्तर्गत किरात, हूण, यवन, आन्ध्र, कंक, खश, शक आदि जातियों को जीता। इसकी तीन स्त्रियाँ विदर्भ की राजकुमारियाँ थी।

---

१. द्रष्टव्य विष्णु ४।१९।२-८; वायु० ९९।१३४-१५८; मत्स्य० ४९।११।३३; भाग० ९।२०।२१-३२।

इनमें से किसी से सुयोग्य पुत्र के न होने पर भरत ने मरुतस्तोत्र यज्ञ किया जिससे इसे पुत्र की प्राप्ति हुई। द्रोणपर्व के षोडश राजकीय उपाख्यान मे भरत का भी स्वतन्त्र आख्यान है (६८ अध्याय)।

रन्तिदेव—भरत के कई पीढियो के अनन्तर इस धर्मिष्ठ नरपति का जन्म हुआ। इसकी दानशीलता की कथा महाभारत (द्रोणपर्व ६७ अ०) तथा भागवत (९ स्कन्द, २१ अ०) मे बड़े विस्तार से दी गयी है। दीन-हीन आर्तजनो की सेवा ही उसके जीवन का मुख्य व्रत था। इस विषय की इनकी अनेक उपादेय कथाओ का अनुशीलन रंतिदेव के उदात्त चरित्र का स्पष्ट प्रकाशक है। इनके जीवन का आदर्श इस गौरवमयी गाथा मे संचित है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्[१] ॥
—(महाभारत)

अपने पिता के नाम पर यह 'साकृत्य' या 'साकृति' कहलाता था।

हस्ती—रन्तिदेव की कई पीढ़ियो के अनन्तर यह प्रख्यात पौरव राजा हुआ जिसने अपने नाम पर 'हस्तिनापुर' नामक प्रख्यात नगर बसाया जो आज भी इसी नाम से मेरठ जिले मे गंगा के तट पर वर्तमान है। भाग० (९।२१। २०) के अनुसार इसके पिता का नाम था बृहत्-क्षत्र, परन्तु वायु (९९।१६५) तथा विष्णु (४।१९।१०) के अनुसार सुहोत्र।

कुरु—महाराज हस्ती के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। इनमे से अजमीढ़ मूल पौरव सिंहासन पर बैठा, द्विमीढ का कुल आसपास पाञ्चाल मे राज्य करता था। पुरुमीढ का वर्णन नही मिलता। सम्भवतः उसका कुल ब्राह्मण हो गया (क्षत्रोपेता द्विजातयः)। ऋ० ४।४३,४।४४ के अनुसार पुरुमीढ तथा रजमीढ द्रष्टा ऋषि माने गये है। अजमीढ के अनन्तर पौरववंश के राजाओ के नाम मे बड़ी गड़बड़ी दीखती है। अजमीढ का ही पुत्र ऋक्ष (सम्भवतः ऋक्ष द्वितीय) हुआ जिसका पुत्र था **संवरण**। आदिपर्व के अनुसार किसी पाञ्चाल राजा[२] ने दश अक्षौहिणी सेना लेकर इस पर आक्रमण किया

---

१. इसी गाथा का समानार्थक श्लोक भागवत (९।२१।१२) मे उपलब्ध होता है जो रन्तिदेव की ही विशद उक्ति है :—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

२. इस राजा की पहचान के लिए द्रष्टव्य भगवद्दत्तः भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ११४ —मत्स्य ९०।२०

(आदिपर्व, ८९ अध्याय, ३२-३३ श्लो०)। संवरण अपने राज्य से भागकर सिन्धु नद के निकुञ्जों मे अनेक वर्षो तक रहा; फिर वसिष्ठ को कृपा से अपना राज्य पुनः पाने मे समर्थ हुआ। सूर्यकन्या तपती से इसने शादी की जिसका पुत्र हुआ महान् वंशधर कुरु जिसने कुरुक्षेत्र के प्रदेश को कृषियोग्य बनाया। इसने प्रयाग को छोड़कर कुरुक्षेत्र को समृद्ध बनाया[1]। हस्तिनापुर तो राजा हस्ती के समय से ही पौरववंश की राजधानी थी। कुरुक्षेत्र यज्ञ-यागादिकों के सम्पादन से धर्मक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। कुरु के ही नाम पर कौरववंश का नामकरण हुआ। इन्ही के वंशज होने से दुर्योधन आदि कौरव नाम से अभिहित होते है।

कुरु से जनमेजय तक वंशावली
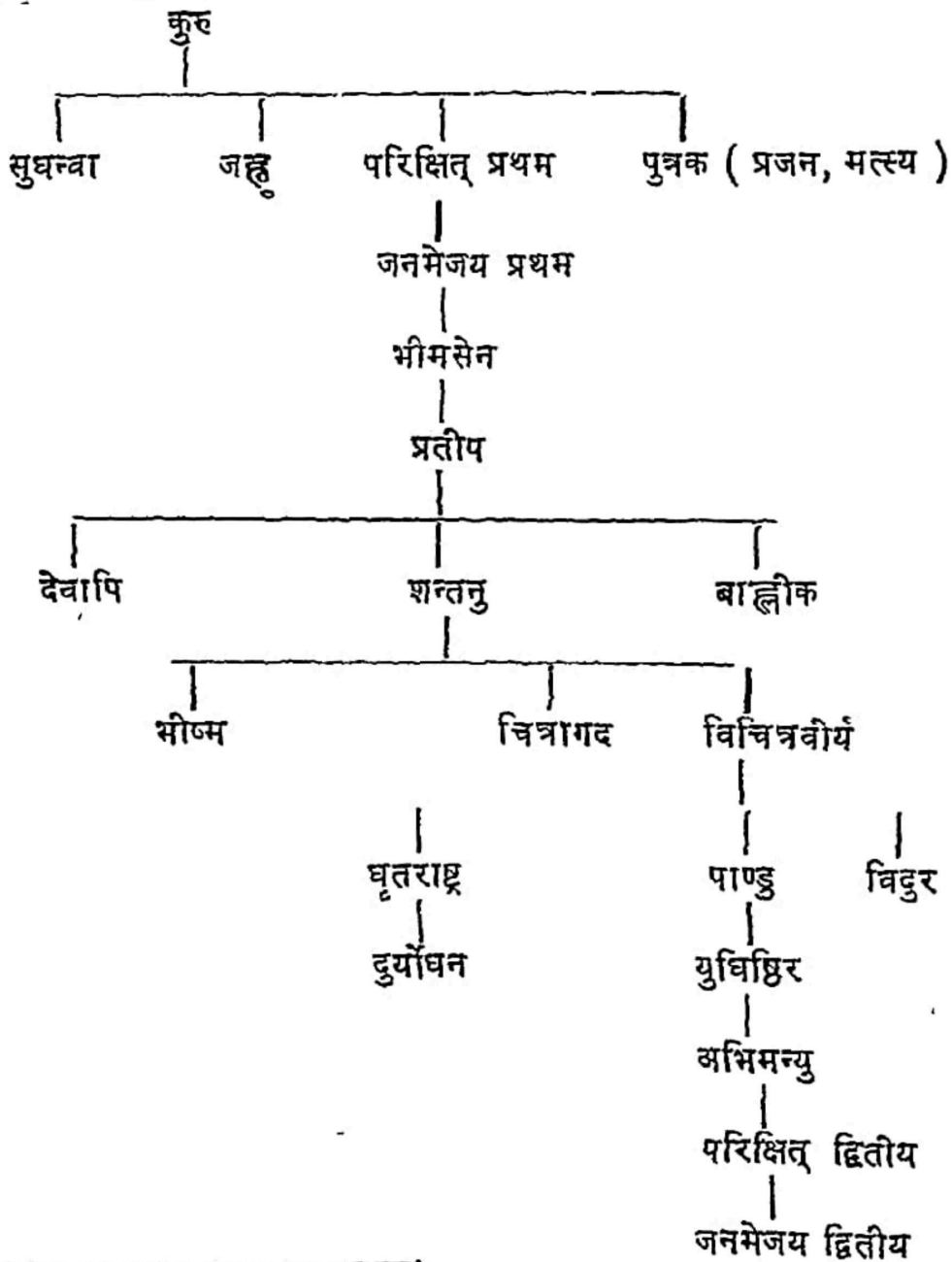
१. यः प्रयागमतिक्रम्य कुरुक्षेत्रमकल्पयत्। —मत्स्य ९०।२०
यः प्रयागं पदाक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह ॥ —वायु० ९९।२१५

कुरु से लेकर महाभारत युद्ध तक होनेवाले कुरुवंशीय पुरुषों की यह वंशावली घटनाओं को समझने के लिए आवश्यक है। इसीलिए यहाँ ऊपर दी गयी है।

कुरुसंवरण—ऋग्वेद के कई मन्त्रों मे (१०।३२।९; १०।३३।४) मे कुरुश्रवण नामक राजा की दानस्तुति वर्णित है। महाभारत तथा पुराणो में संवरण के पुत्र कुरु का वृत्तान्त वर्णित है। डा० पुसालकर ने एक लेख मे वैदिक कुरुश्रवण तथा पौराणिक कुरुसंवरण की एकता की प्रतिपादक अनेक युक्तियाँ उपस्थित की है जो इन दोनो राजाओ के ऐक्य के प्रतिपादन मे समर्थ मानी जा सकती हैं।[1] परन्तु अभी भी यह समीकरण सर्वमान्यता को नही प्राप्त कर सका है, परन्तु लेखक का विश्वास है कि ये दोनो एक ही राजा थे। नाम की समता के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत चरित तथा ऐतिहासिक स्थिति भी पोषक प्रमाण मानी जा सकती है।

शन्तनु—कुरु के वंशजो मे शन्तनु एक प्रभावशाली महाराज थे। इनकी दो पत्निया थी—गंगा तथा सत्यवती। गंगा के गर्भ से देवव्रत का जन्म हुआ था। वे यौवराज्य पद के अधिकारी थे। परन्तु अपनी ढलती उम्र मे शन्तनु ने दाशराज की पुत्री सत्यवती से विवाह किया। इस प्रसंग मे देवव्रत की भीष्म-प्रतिज्ञा तथा पिता के हितार्थ पुत्र का असाधारण त्याग महाभारत के पृष्ठो मे सुवर्णाक्षरो से लिखित है। शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक अनावृष्टि रही। इसका कारण यास्क ने अपने निरुक्त (२।१०) में निर्दिष्ट किया है कि ज्येष्ठ भ्राता देवापि ने तपोनिरत होने के कारण अथवा किन्ही स्रोतों से कुष्ठरोग से आक्रान्त होने के हेतु जब कुरु राज्य को अस्वीकार कर दिया, तब शन्तनु ने गद्दी स्वीकार की। इस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता का परित्याग कर, राजश्री ग्रहण के कारण वह 'परिवेत्ता' बना। विद्वानो ने अनावृष्टि का कारण इसी घटना को बताया। बहुत आग्रह करने पर भी देवापि ने राज्य ग्रहण तो किया नही, स्वयं पुरोहित बनकर शन्तनु का यज्ञ कराया जिससे महती वृष्टि हुई और राज्य मे समृद्धि छा गयी। सत्यवती के दो पुत्र हुए चित्रागद तथा विचित्रवीर्य। ये दोनो बालक अकाल ही जब राजयक्ष्मा से आक्रान्त होकर मर गये, तब धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर की उत्पत्ति वेद-व्यासजी के द्वारा हुई। उसके अनन्तर की कथा सर्वथा प्रसिद्ध है। उसके विशेष विस्तार की यहाँ अवश्यकता नही।

---

१. डा० पुसालकर : स्टडीज इन एपिक्स ऐण्ड पुराणाज आव इंडिया, बम्बई १९५५, पृष्ठ ४२–४८।

आर्यों का मूल स्थान

आर्यों के मूल स्थान के विषय मे पुराणो के भीतर विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। उसका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पुराण आर्यों का मूल निवास मध्यदेश मे ही मानता है। इतना तो पाश्चात्य विद्वान् भी मानते है कि वेद या पुराण कही पर भी आर्यों का भारतवर्ष में बाहर से आगमन का साक्ष्य प्रस्तुत नही करता, प्रत्युत वह तो आर्यों का मूल स्थान मध्यदेश गंगा-यमुना के मध्यवर्ती भूभाग मे स्पष्टतः संकेत करता है। पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत है—

(१) आर्यों के दो प्रधान कुल थे—सूर्यवंशी क्षत्रियों की राजधानी थी अयोध्या तथा चन्द्रवंशियो की प्रतिष्ठान (प्रयाग)। इन्ही दोनों नगरों के बीच मे आर्यों का मूल निवास था। मध्य देश के भीतर स्थूल रूप से सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार, सरस्वती नदी तक पूरबी पंजाब का भाग सम्मिलित मानना चाहिए। आर्यों के आदि कुलो की पूरबी शाखाओ को इस प्रदेश में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध नही करना पड़ा था। अर्थात् इन क्षेत्रों में आर्यो का निवास पहले से ही था।

(२) चन्द्र तथा सूर्यवंश की अवान्तर शाखाओ के फैलने का तथ्य ऊपर दिखलाया गया है। उससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ये लोग अपने मूल केन्द्र अयोध्या तथा प्रतिष्ठान से ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। पश्चिमोत्तर से पूर्व की ओर आर्यों के फैलाव का प्रमाण कहीं नहीं मिलता; इसके विपरीत इक्ष्वाकु के निकट वंशजों से लेकर पाञ्चाल-राजा सुदास तक आर्यो का बढाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की तरफ होता गया; इस तथ्य के प्रमाण ऊपर निर्दिष्ट है।

(३) आर्यो ने कालक्रम से केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके सम्पूर्ण उत्तरापथ पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, प्रत्युत [३] भारत के बाहर भी पश्चिमोत्तर के गिरिभागों को पार कर अफगानिस्तान, मध्य एशिया, ईरान तथा भूमध्यसागरीय प्रदेश तक फैल गये। इस बढ़ाव की सूचना वैदिक मन्त्रों से भी मिलती है। पुराणो में भी विस्तार से जहाँ विवरण है, ऋग्वेद मे वहाँ संकेतमात्र मिलता है। ऋग्वेद का १० मण्डल का ७५वाँ सूक्त प्रख्यात नदीसूक्त है जिसमे नदियो के नाम दिये गये हैं। इस सूक्त मे आर्यो के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल नदी), गोमती (गोमल) और क्रमु (कुर्रम) नदियो को पार कर अपने घोड़ों और रथों के साथ पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है। ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद मे नदियाँ पूरब से पश्चिम की ओर गिनायी गयी हैं जो आर्यों के विस्तार की दिशा का ही स्पष्ट द्योतक

है। यदि आर्यों का विस्तार इसकी उल्टी दिशा में पश्चिमोत्तर से पूरब की ओर रहता, तो नदियो का उसी प्रकार का संकेत ऋग्वेद में मिलना स्वाभाविक होता।

(४) पुराण की बातों का समर्थन वेद में भी उपलब्ध होता है। दोनो के जाति-विस्तार की सूचना मे नितान्त साम्य है। पुराणों मे चन्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्रो तथा उनके वंशजो पुरु, यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु का इतिहास विस्तार से वर्णित है। वेदो मे इन्ही के वंशजों का उल्लेख मिलता है। पुराण मे पाञ्चाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओ के बीच युद्ध का वर्णन है। वेदो मे भी सुदास और पंजाब की दश जातियो के बीच होनेवाले **दाशराज्ञ युद्ध** का उल्लेख मिलता है। फलतः पुराण तथा वेद मे उल्लिखित घटनाओं की एकता तथा समानता स्पष्टतः अनुमानगम्य है। फलतः न पुराण आर्यों को बाहर से भारत मे आनेवाली जाति मानने के पक्ष में है, न वेद ही है[१]।

महाभारतोत्तर राजवंश

(कलिवंशवर्णन)

पुराणो की वंशावली इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। महाभारतोत्तर राजवंशो का विवरण महाभारत-पूर्व वंशावली की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। छठी शती ई० पू० के लगभग का इतिहास जानने के लिए पुराणो का आधार लेना ही पड़ता है क्योकि अन्य स्रोतो की अपेक्षा पुराणो का वृत्तान्त ही अधिक सही जान पड़ता है। ज्यों-ज्यो समय बीतता जाता है और हम शैशुनागादि युगो के परवर्ती काल मे प्रविष्ट होते हैं, पौराणिक वृत्तान्तों की ऐतिहासिकता निखरती-सी गयी है। शुङ्गो, कण्वो, आन्ध्रो आदि के ऐतिहासिक ज्ञान का मुख्य आधार तो पुराण ही है। यदि पुराण न होते तो इसमे कोई आश्चर्य नही कि इन महान राजवंशो के अन्य स्रोतो से केवल दो-चार नाम ही हमे (बहुधा संदिग्ध रूप मे) ज्ञात हो पाते। इस युग का पुरावृत्त मुद्रा तथा अभिलेख तथा साहित्य से बहुविधि प्रमाणित है। कलिजन्य अराजकता का वृत्तान्त हूणो द्वारा की गयी देश की तबाही का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार बहुलांश पुराणो का राजवंश-विवरण प्रामाणिक है।

---

१. इस विषय मे अन्य प्रमाणो के लिए द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय का एतद्विषयक लेख—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, सं० २००६, पृष्ठ ६३–७३। इसके विपरीत मेरुप्रदेश मे आर्यों के मूल स्थान के समर्थन के निमित्त द्रष्टव्य डा० हर्षे का लेख माउण्ट मेरु : दी होमलैण्ड आव दी आरियन्स (होशियारपुर, १९६४)।

पार्जिटर की धारणा है कि कलिनृपों के वृत्तान्त का संकलन सर्वप्रथम भविष्यपुराण मे किया गया और उसके आधार पर फिर मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, गरुड़ और भागवत मे किया गया। गरुड़ और भागवत का कलिनृप-वर्णन संक्षिप्त है। मत्स्य और वायु तथा भविष्य का प्रामाणिक और अपेक्षाकृत पूर्ण है। पुराणों मे राजवंशो के वृत्तान्त का संकलन चारण और भांटों मे प्रचलित जनश्रुतियो के आधार पर किया गया है। संकलन मे प्रायः उन्हीं राजाओं पर ध्यान दिया गया है जो मगध के केन्द्र से देश को शासित करते थे या मगध की राजनीति से आवद्ध थे। पौरव और इक्ष्वाकु का वृत्तान्त अभी तक पूरी तरह इतिहास-सम्मत न हो पाया है, क्योकि इनके विवरण मे अनैतिहासिक जनश्रुतियाँ अधिक हैं।

बार्हद्रथ, प्रद्योत और शैशुनागवंश

वृहद्रथ ने राज्यगृह मे मगध साम्राज्य की स्थापना की थी। यह जरासन्ध के पुत्र सहदेव के वंश का था। पुराणो के अनुसार बार्हद्रथ वंश के ३२ राजाओ ने मगध का शासन लगभग १००० वर्षों तक किया। मत्स्यपुराण का वचन है :—

> द्वात्रिंशति नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथाः।
> पूर्ण-वर्ष-सहस्रन्तु तेषा राज्यं भविष्यति ॥
> —(मत्स्य० २७०।३०–३१)

इस वंश का अन्तिम राजा रिपुजन्य था। इसकी हत्या पुलिक या पुलक नामक इसी के मंत्री ने की थी और उसने प्रद्योतवंश की स्थापना की। पुराणों का यह वृत्तान्त अशुद्ध है। प्रद्योत अवन्ति का राजवंश था जो भ्रमवश मगध-शासन से सम्बद्ध कर दिया गया है। पुराणो के अनुसार प्रद्योत वंश के पाँच राजा हुए जिन्होने १३८ वर्ष तक राज्य किया। पुराणो के अनुसार प्रद्योतवंश का अन्त शिशुनाग द्वारा हुआ।

शिशुनाग-वंशीय राजाओं का क्रम और शासनकाल निम्नांकित तालिका से समझा जा सकता है। यह तालिका मत्स्य पुराण (अ० २७१) के आधार पर प्रस्तुत की गयी है :—

राजा	वर्ष	योग
(१) शिशुनाग	४० वर्ष	१२६ वर्ष
(२) काकवर्ण	२६ ,,	
(३) क्षेमधर्मन्	३६ ,,	
(४) क्षेमजित्	२४ ,,	

(५) बिम्बसार	२८	वर्ष
(६) अजातशत्रु	२७	,,
(७) दर्शक	२४	,,
(८) उदासीन या उदायी	३३	,,
(९) नन्दिवर्धन	४०	,,
(१०) महानन्दिन्	४३	,,

योग ३२१ वर्ष

किन्तु मत्स्यपुराण की यह वंशावली महावंश से नही मिलती है। महावंश मे नन्दपूर्व मगधराजाओ की सूची इस क्रम से है।—

(१) बिम्बसार (२) अजातशत्रु
(३) उदयभद्र (४) अनुरुद्ध
(५) मुण्ड (६) नागदासक
(७) शिशुनाग (८) कालाशोक या काकवर्ण
(९) कालाशोक के दस पुत्र

इतिहास-सम्मत तथ्य यह है कि रिपुजन्य के बाद बिम्बसार राजा हुआ। इस प्रकार बिम्बसार—अजातशत्रु—उदायी, अनुरुद्ध—मुण्ड—नागदशक के बाद शिशुनाग का राज्यारोहण हुआ। शिशुनाग के उत्तराधिकारी क्रमशः काकवर्ण (कालाशोक ?) क्षेमधर्मन् और क्षेमजित् थे। पुराणसूची के नन्दिवर्धन और महानन्दिन् सम्भवतः काकवर्ण के दस पुत्रो मे से थे। शिशुनाग-वंश का अन्तिम राजा पुराणो के अनुसार महापद्मनन्द था। उसका नाम या उपनाम उग्रसेन भी था। उसके विषय मे पुराणकारोका यह वचन बड़ा ही प्रसिद्ध है।—

'महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति॥

—मत्स्य. १७१।१७–१८

मत्स्यपुराण के अनुसार नन्दवंश का उन्मूलन चाणक्य के सहयोग से हुआ।

उद्धरिष्यति कौटिल्यः समैर्द्वादशभिः सुतान्।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्य्यान् गमिष्यति॥

—मत्स्य. १७१. २१.

मौर्यों का पौराणिक वृत्त

मौर्यवंश—

पुराणों से मौर्यों का वंश-क्रम जानने मे बड़ी सहायता मिलती है। मौर्यों का वंशानुक्रम वायु (अ० ९९) मत्स्य (अ० २७२) ब्रह्माण्ड (अ० ३) विष्णु (अ० ४।२४) भविष्य (१२।१) में वर्णित है। विभिन्न पुराणों की वंश-तालिका इस प्रकार है।

वायु और ब्रह्माण्ड पुराण :—

चन्द्रगुप्त
अशोक
कुणाल
बन्धुपालित
इन्द्रपालित
देववर्मा
शतधनुष
बृहद्रथ

पार्जिटर ने वायुपुराण के आधार पर एक अन्य सूची भी दी है जिसमे, चन्द्रगुप्त, अशोक, कुलाल या कुणाल, बन्धुपालित, दशोण, दशरथ, सम्प्रति, शालिशुक, देवधर्मन, शतधन्वन् और बृहद्रथ के नाम हैं।[1]

मत्स्य[2] की सूची मे छः राजाओं के नाम हैं :—

चन्द्रगुप्त
अशोक

---

१. पार्जिटर पुराण टेक्सट आफ द डाइनेस्टीज आफ द कलि एज पृ० २८–२९.

२. कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्ये भविष्यति।
षट्त्रिंशत्तु समा राजा भविताशोक एव च॥
सप्ताना दशवर्षाणि तस्य नप्ता भविष्यति।
राजा दशरथोऽष्टौ तु तस्य पुत्रो भविष्यति।
भविता नववर्षाणि तस्य पुत्रश्च सम्प्रतिः॥
भविता शतधन्वा च तस्य पुत्रस्तु षट्समाः।
बृहद्रथस्तु वर्षाणि तस्य पुत्रश्च सप्ततिः॥
इत्येते दश मौर्य्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यः शुङ्गान् गमिष्यति॥
—मत्स्य (आनन्दाश्रम) २७२। २३–२६

दशरथ
सम्प्रति
शतधन्वन्
वृहद्रथ

विष्णुपुराण की सूची की नामावली मत्स्य और वायु से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार मौर्यों का वंशक्रम इस प्रकार है।—

चन्द्रगुप्त
अशोक
सुयश
दशरथ
संगत
शालिशुक
सोमवर्मन्
सम्प्रति
शतधन्वन्
वृहद्रथ

इस प्रकार विभिन्न पुराणो से मौर्य राजाओ की जो सूची हमे मिलती है वह समान नही है। राजाओं के नाम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। किन्तु इस तथ्य मे सभी पुराणो मे मतैक्य है कि मौर्यों का शासनकाल १३७ वर्ष (सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं) रहा, जिसमे चन्द्रगुप्त से अशोक की शासन अवधि ८५ वर्ष और शेष अशोक के उत्तराधिकारियो का शासनकाल है। यह आश्चर्य की बात है कि किसी भी पुराण मे चन्द्रगुप्त के पुत्र और अशोक के पिता बिन्दुसार का नाम नही है। अशोकोत्तर मौर्य राजाओ की संगति भी अन्य साक्ष्यो से आंशिक रूप से ही मिलती है। अशोक का उत्तराधिकार कुणाल को मिला अथवा दशरथ को? इसमे बड़ा विवाद है। मत्स्यपुराण की सूची मे कुणाल का नाम नही है। अभिलेखीय प्रमाण[१] (नागार्जुनी, जिला गया, बिहार) से अनुमान होता है कि दशरथ का शासनकाल अशोक के बहुत ही सन्निकट था। मत्स्यपुराण के अनुसार अशोक का उत्तराधिकारी दशरथ ही था। सम्भव है कि कुणाल ने मौर्य साम्राज्य के पश्चिमोत्तरीय अंश (गंधार, कश्मीर) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया हो और उसका गृहराज्य से कोई सम्बन्ध न

उपर्युक्त पाठ के अनुसार दश राजाओं के नाम पूर्ण नही होते। मोर संस्करण का यह अंश बड़ा भ्रष्ट है।

१. इपी ग्राफिया इण्डिका खण्ड० २० पृ० ३६४. यह लेख वह्लर के मत से लगभग ई० पू० २३२ ई० पू० का है।

स्थापित हो सका हो। विद्वानो ने विष्णुपुराण की सूची के सुयश को कुणाल का उपनाम माना है।[१] सम्प्रति कुणाल और दशरथ दोनो की शासनावधि पुराणों के अनुसार आठ वर्ष थी। दोनो ही का उत्तराधिकार अनुमानतः सम्प्रति को मिला, जिसका शासन उज्जैनी पर भी था।[२] बन्धुपालित, इन्द्रपालित और दशोण के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है। इनके विषय में पुराणो में कुछ भी तथ्य नही है। इनके परस्पर सम्बन्धो पर भी पुराणो मे मतैक्य नहीं है। सम्भवतः ये मौर्यो के सम्बन्धी थे और मौर्यो के अधीन कही शासन करते रहे होगे।[३] सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा मौर्य राजा के रूप मे युगपुराण मे भी है।[४] विष्णुपुराण के अनुसार शालिशुक का उत्तराधिकारी सोमवर्मन था। यह सोमवर्मन् और वायुपुराण का देववर्मन एक ही प्रतीत होते है। इसी प्रकार शतधन्वन और शतधनुष भी एक ही प्रतीत होते हैं।[५] सभी पुराणों मे इस बात का मतैक्य है कि मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था।

शुङ्गवंश—

शुङ्गों और कण्वो के ऐतिहासिक वृत्त का मुख्य आधार पुराण है। इनका इतिहास मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड और भविष्य पुराणो मे मिलता है। इन सभी पुराणो मे सामान्य अन्तर के साथ मत्स्यपुराण का ही वृत्तान्त दुहराया गया है, जो इस प्रकार है—

पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं षट्त्रिंशति समा नृपः॥
अग्निमित्रः सुतश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः[६]।
भवितापि वसुज्येष्ठः सप्तवर्षाणि वै नृपः॥
वसुमित्रस्तथा भाव्यो दशवर्षाणि वै ततः।
ततोऽन्तकः समिद्धे तु तस्य पुत्रो भविष्यति॥
भविष्यति समस्तस्मात्त्रीण्येवं स पुलिन्दकः।

---

१. पूर्शां, ल इण्डे ओ टेम्स् दे मौर्याज पृ० १६४।
२. रोमिला थापर—अशोक एण्ड दि डिकलाइन आफ दि मौर्याज् पृ० १९५।
३. थापर पृ० १९६।
४. युगपुराण (मनकड़ संस्करण) पृ० ३२।
५. थापर पृ० १९६।
६. यह पंक्ति केवल आनन्दाश्रम संस्करण मे है।

राजाघोषसुतस्यापि वर्षाणि भविता त्रयः[१] ॥
भविता वज्रमित्रस्तु समाराजा पुनर्भवः ।
द्वात्रिंशत्तु समाभागः समाभागात्ततो नृपः ॥
भविष्यति सुतस्तस्य देवभूमिः समा दश ।
दशैते क्षुद्रराजानो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम् ॥
शतपूर्णं शताब्दे च ततः शुङ्गान् गमिष्यति ।

—मत्स्य २७२।२६-३१

इसके तथा अन्य पुराणो के आधार पर शुङ्ग राजाओं का क्रम और उनका शासन-काल इस प्रकार समझा जा सकता है—

राजा	शासनकाल
पुष्यमित्र	३६ अथवा ६० वर्ष
अग्निमित्र	८ वर्ष
वसुज्येष्ठ (सुजेष्ठ)[२]	७ ,,
वसुमित्र (सुमित्र[३])	१० ,,
ओद्रक (आन्ध्रक अथवा अन्तक[४])	२ अथवा ७ वर्ष
पुलिन्दक	३ वर्ष
घोष[५]	३ ,,
वज्रमित्र	९ अथवा ७ वर्ष
भाग (भागवत[६])	३२ वर्ष
क्षेमभूमि अथवा देवभूमि अथवा देवभूति[७]	१० ,,

मत्स्यपुराण मे घोष का नाम नही दिया गया है, किन्तु शुङ्ग राजाओ की दश संख्या को यहाँ भी स्वीकार किया गया है (दशैते क्षुद्रराजानः...)।

१. यह पंक्ति वायुपुराण मे है, मत्स्यपुराण के कुछ ही संस्करणों मे उपलब्ध है। पार्जिटर पृ० ३२।

२. सुजेष्ठ नाम वायुपुराण ९९।३३८ मे आता है।

३. मत्स्यपुराण के कुछ संस्करणो मे केवल सुमित्र पाठ है। पार्जिटर पृ० ३१।

४. आन्ध्रक नाम वायुपुराण ९९।३३९ मे आता है। अन्तक नाम मत्स्यपुराण के मोर संस्करण मे है जो भ्रष्ट है।

५. घोष पाठ वायुपुराण ९९।३४० मे स्पष्ट है। मत्स्यपुराण के प्रामाणिक संस्करणो मे नही है।

६. वायुपुराण मे भागवत नाम है और मत्स्यपुराण में भाग।

७. देवभूमि मत्स्य का पाठ है, क्षेमभूमि वायु का और देवभूति विष्णुपुराण का पाठ है।

पुष्यमित्र की ऐतिहासिकता बहुविधि प्रमाणित है इसकी तथा इसके दो उत्तराधिकारियों (अग्निमित्र और वसुमित्र) की चर्चा कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक (अंक ५) में भी है। शुङ्ग वंश के अन्य राजाओं का विवरण (भाग या भागवत को छोडकर) अन्य किसी साक्ष्य से सुलभ नही है। विदिसा के गरुड स्तम्भ में हिलियोदोर का जो लेख है, वह किसी भागभद्र नामक राजा का उल्लेख करता है[१]। यह भागभद्र पुराण-तालिका के भाग या भागवत से तुलनीय है।

पुराणो में शुङ्ग राजाओं का जो शासन-काल दिया है, उसका योग ११२० वर्ष आता है। किन्तु इसकी संगति 'शतं पूर्णं दश द्वे च ततः शुङ्गान् गमिष्यति[२]" से नहीं मिलती।

कण्ववंश

शुङ्गो का विनाश इस वश के अन्तिम राजा देवभूमि या देवभूति को मार कर इसके अमात्य वसुदेव द्वारा हुआ। हर्षचरित में कहा गया है कि अतिस्त्रीव्यसन के परवश देवभूति को अमात्य वसुदेव ने रानी वेशधारिणी उसकी दासी-पुत्री द्वारा मरवा दिया[३]। विष्णुपुराण में इस घटना का वर्णन इन शब्दो मे है :—

देवभूतिं तु शुङ्ग-राजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः।
कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं मोक्ष्यति॥

—विष्णुपुराण० ४. २४. ३९

मत्स्यपुराण मे कण्वों की वंशावली इस प्रकार है :—

अमात्यो वसुदेवस्तु प्रसह्य ह्यवनीं नृपम्।
देवभूमिमथोत्साद्य शौङ्गस्तु भविता नृपः॥
भविष्यति समा राजा नव काण्वायनो नृपः।
भूमिमित्रः सुतस्तस्य चतुर्दश भविष्यति॥

---

१. फोगल आर्कलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट १९०८–९ पृ० १२६

२. इस महत्त्वपूर्ण पंक्ति के कई भ्रष्ट पाठ पुराणो मे मिलते हैं। प्रस्तुत संशोधित पाठ मत्स्य (मोर संस्करण) २७२.३१ और वायु (मोर संस्करण) ९९. ३४३ के आधार पर है।

३. अतिस्त्रीसंगतरतमनङ्गपरवशं शुङ्गममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्।

—हर्षचरित (बम्बई संस्करण) अ० ६ पृ० १९९

नारायणः सुतस्तस्य भविता द्वादशैव तु।
सुशर्मा तत्सुतश्चापि भविष्यति दशैव तु॥
इत्येते शुङ्गभृत्यास्तु स्मृताः काण्वायना नृपाः।
चत्वारिंशद् द्विजा ह्येते काण्वा भोक्ष्यन्ति वै महीम्॥
चत्वारिंशत्पञ्च चैव भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।
एते प्रणतसामन्ता भविष्या धार्मिकाश्च ये॥
येषां पर्यायकाले तु भूमिरान्ध्रान् गमिष्यति।

—मत्स्य २७१।३१–३६

इस आधार पर कण्व राजाओं की तालिका इस प्रकार होगी :—

वसुदेव	९ वर्ष
भूमिमित्र	१४ ,,
नारायण	१२ ,,
सुशर्मन्	१० ,,
	योग=४५ वर्ष

आधुनिक इतिहासकार कण्व-वंश की स्थापना लगभग ७२ ई० पू० मानते हैं। इनका शासन काल ४५ वर्ष था। इस प्रकार इनका आन्ध्रों द्वारा अन्त लगभग २९ ई० पू० मे ठहरता है। कण्व राजाओ की उपलब्धियो के विषय मे पुराण मौन है।

सातवाहनो को पुराणो मे आन्ध्र या आन्ध्रजातीय कहा गया है। इससे लगता है कि इनका मूलस्थान गोदावरी और कृष्णा नदियो की घाटी मे था। यह आश्चर्य है कि सातवाहन नृप अपने अभिलेखो मे अपने को आन्ध्र नही कहते। इनका उदय-काल भी बड़ा ही विवादास्पद है। मत्स्यपुराण के अनुसार इनका शासनकाल ४५० वर्ष और वायुपुराण के अनुसार ३०० वर्ष था। इस वंश का संस्थापक सिमुक था।

मत्स्यपुराण ही मे आन्ध्रो का वृत्तान्त अच्छा मिलता है[१]। वायु (९९। ३४८–३५८) ब्रह्माण्ड (३।७४।१६०–१७०) विष्णु (४।२४।१२–१३) और भविष्य (१२।१।२२–२८) मे आन्ध्रो का अपूर्ण विवरण है। वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत के अनुसार आन्ध्र राजाओ की संख्या ३० थी। किन्तु किसी भी उपर्युक्त पुराणो मे इन तीसो राजाओ का नाम उपलब्ध नही है। वायु की विभिन्न प्रतियो मे आन्ध्र राजाओ की संख्या १७, १८ १९ या ३०, ब्रह्माण्ड मे १७ और भागवत मे २३ तक ही राजाओ की नामावली दी गयी

१. मत्स्यपुराण (मोर०) २७२।१–१७।

है। मत्स्य के विभिन्न संस्करणो के आधार पर पार्जिटर ने ३० राजाओं की नामावली प्रस्तुत की है।[१] आन्ध्र राजाओं के नाम और उनका क्रम इस प्रकार है :—

१. सिमुक
२. कृष्ण
३. श्री सातकर्णि
४. पूर्णोत्संग
५. स्कन्दस्तम्भि
६. शातकर्णि
७. लम्बोदर
८. आपीलक (दिविलक)
९. मेघस्वाति
१०. स्वाति
११. स्कन्दस्वाति
१२. मृगेन्द्र
१३. कुन्तल
१४. स्वातिवर्ण
१५. पुलोमावि (पटुमान्)
१६. अरिष्टकर्ण
१७. हाल
१८. मन्तलक
१९. पुरीन्द्रसेन
२०. सुन्दर शातकर्णि
२१. चकोर
२२. शिवस्वाति
२३. गौतमीपुत्र
२४. पुलोमा
२५. शातकर्णि[२]
२६. शिवश्री
२७. शिवस्कन्ध
२८. यज्ञश्री
२९. चण्डश्री
३०. पुलोमावि

इन राजाओं मे बहुतो की ऐतिहासिकता अन्य साक्ष्यो से भी प्रमाणित हो चुकी है। प्रथम तीन सातवाहन राजाओं के नाम नानाघाट अभिलेख में भी आते है। मुद्रा तथा अभिलेखों के आधार पर गौतमीपुत्र, पुलोमा या पुलमावि और यज्ञश्री की भी ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है। पुराणो मे श्री शातकर्णि के दो उत्तराधिकारियो के नाम पूर्णोत्संग और स्कन्धस्तम्भि कहे गये हैं। नागनिका के नानाघाट अभिलेख मे, इनके नाम नही हैं किन्तु इनके स्थान पर वेदिश्री और शक्तिश्री आते हैं। आपीलक की एक ताम्र-मुद्रा मिली है। 'गाथासप्तशती' का लेखक हाल तो प्रसिद्ध ही है। गौतमीपुत्र और पुलमावि से सम्बद्ध लेख नासिक और कार्ली मे मिले हैं। इनके सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। अभिलेखों मे पुलमावि अपने को वाशिष्ठीपुत्र भी कहता है। इसके पुत्र शातकर्णी

१. पार्जिटर पृ० ३६।

२. पुराणतालिका मे सम्भवतः भ्रमवश शातकर्णि दुहराकर आया है। यदि पुलोमापुत्र शातकर्णि को मान्यता न दे, तो आन्ध्र राजाओं की सूची केवल २९ राजाओ तक ही सीमित रह जायगी।

का सम्बन्ध प्रसिद्ध शकनृप रुद्रदामन् से था। पुराण तालिका के शिव श्री पुलोम और शिवस्कन्ध (शिवस्कन्द) की भी ऐतिहासिकता उनकी मुद्राओ से प्रमाणित है। शिवस्कन्द के पुत्र यज्ञश्री शातकर्णि के अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। यज्ञश्री का उत्तराधिकारी विजय था जिसकी ऐतिहासिकता पुराण और मुद्रा, दोनो ही से सिद्ध है। पुराण-तालिका का अन्तिम राजा पुलमावि मुद्रा तथा अभिलेखीय प्रमाण से भी सुज्ञात है।

इस प्रकार आन्ध्र राजाओं का पौराणिक वृत्त बहुलांश मे प्रामाणिक सिद्ध होता है।

सातवाहनों के परवर्ती राजवंश—पुराणों मे राजवंशावली का संकलन मुख्यतया सातवाहनो के शासनकाल मे (यज्ञश्री के शासनकाल मे) लगभग पूरा हो चुका था। अतएव परवर्ती राजवंशो का अत्यन्त संक्षिप्त और अल्प विवरण ही पुराणो मे उपलब्ध है। क्षेत्रीय राजवंशो मे जिनकी चर्चा पुराणो मे प्रमुख रूप से है गर्दभिन् या गर्दभिल, शक, तुषार, मरुण्ड, हूण, आभीर, श्री पर्वतीय आदि है[१]। इनके अतिरिक्त वाकाटक, मग और नैषध राजवंशों की विशेष चर्चा वायु और ब्रह्माण्ड पुराण मे है।[२] गुप्तो के मूलस्थान या प्रारम्भिक शासन-क्षेत्र के विषय मे वायुपुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है:—

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधन्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

—वायु० ९९।३८३

गुप्त साम्राज्य की यह स्थिति सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में भी थी। इसके बाद के गुप्तों का विवरण पुराणो मे उपलब्ध नही। पूर्वगुप्तों के समकालीन कुछ राजवंश जैसे चम्पावती के नाग, मथुरा के नाग, मणिधान्य के राजा (जिनके आधिपत्य मे नैषध, यदुक, शैशीत, कालतोपक थे) देवरक्षित,

---

१. आन्ध्राणां संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः।
सप्तैवान्ध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृपाः॥
सप्त गर्दभिलाश्चापि शकाश्चाष्टादशैव तु।
यवनाष्टौ भविष्यन्ति तुषाराश्च चतुर्दश॥
त्रयोदश मुरुण्डाश्च हूणो ह्येकोनविंशतिः।
× × ×
आन्ध्राः श्रीपार्व्वतीयाश्च ते पञ्चशतं समाः॥

—मत्स्य० २७२।१७–२३

२. वायु० अ० ९९, ब्रह्माण्ड ३।७४।

(जो कोशल, आभीर और पौण्ड्र का स्वामी था) ताम्रलिप्त, गुह, कलिंग, महिष, महेन्द्र, सौराष्ट्र, अवन्ती आदि के राजवंशों की भी चर्चा है। इससे समुद्रगुप्त के दिग्विजयपूर्व की राजनीतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इन सभी राजाओं के प्रति पुराणकारों की आस्था नहीं थी और इन्हें अधार्मिक कहा गया है।[१] इसके बाद कलि के दोषो का वर्णन करके[२] पुराणो मे राजवंशावली का विवरण समाप्त कर दिया गया है।

---

१. वायु० अ० ९९।३८७–८८।

२. वायु० अ० ९९।३८८–४१२। तथा—मत्स्य० २७२।२५–३४

नवम परिच्छेद

पौराणिक धर्म

पुराण के मूल विषयों का प्रतिपादन इतः = पूर्व एक स्वतन्त्र परिच्छेद मे किया गया है। सामान्य जनता को वैदिक तत्त्वों तथा क्रिया-कलापो का लोक-दृष्ट्या प्रतिपादन करना पुराण का अपना तात्पर्य था। इस तात्पर्य के अनुकूल, परिवर्तित अवस्थाओ में, नये नये विषयो का भी सन्निवेश कालान्तर मे पुराणों मे किया गया। यह लोक-मर्यादा के निर्वाह की व्यापक दृष्टि से किया गया। स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड मे (४९ १६८) मे इसी तथ्य का द्योतक यह सारवान् कथन उपलब्ध होता है—

इतिहास-पुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्।

लोक-गौरव से इतिहास तथा पुराण भिन्न होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नूतन विषयो का सन्निवेश पुराणों मे किया जाने लगा। इन विषयों की सूचना वायुपुराण १०४।११–१७ मे बडी सुन्दरता से मिलती है।[१] नवीन विषय ये हैं—भुवनकोश (भूगोल तथा खगोल), वर्णाश्रम का धर्म, षोडश संस्कार (मुख्यतः श्राद्ध), व्रतोपासना, दान, पूजादीक्षा, राजधर्म, तीर्थमाहात्म्य, वैदिक साहित्य का विवरण, शैव-वैष्णव-शाक्त धारा के दार्शनिक तथा उपासना तत्त्व, आयुर्वेद तथा रत्न परीक्षा। इनका समावेश प्रतिपुराण में नही है, परन्तु आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार पुराण के कर्ताओ ने तत्तत् पुराण में

---

१. पुराणेष्वेषु बहवो धर्मास्ते विनिरूपिताः ॥
रागिणा च विरागाणा यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
गृहस्थानां वनस्थाना स्त्रीशूद्राणा विशेषतः ॥ १२ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशा ये च संकरजातयः।
गङ्गाद्या या महानद्यो यज्ञव्रततपांसि च ॥
अनेकविधदानानि यमाश्च नियमैः सह।
योगधर्मा बहुविधाः साख्या भागवतास्तथा ॥
भक्तिमार्गा ज्ञानमार्गा वैराग्यानिलनीरजाः।
उपासनविधिश्चोक्तः कर्मसंशुद्धिचेतसाम् ॥
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाऽऽर्हतम्।
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च ॥ १६ ॥

—वायुपुराण अध्याय १०४

इनका सन्निवेश कर उन्हे लोकोपयोगी तथा सामयिक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। पुराण की उपादेयता का रहस्य इस नवीन आवृत्ति अथवा विषय-परिबृंहण के भीतर छिपा है। समयानुसार तथा स्थित्यनुकूल इस परिवर्तन की घटना को मानना पुराण की प्रकृति से सर्वथा साम्य रखता है।

पुराणों का अनेककर्तृत्व

पुराणो की रचना वेदव्यास ने की—यह प्रायोवाद है। पुराणो की रचना अनेक ऋषियो—मुनियो ने मिलकर की—यही तथ्य कथन है। इस विषय में पुराणस्थ कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते है :—

(क) मनु ने इतिहास तथा पुराणो को श्राद्ध के समय सुनाने की व्यवस्था बतलायी है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च॥

इस श्लोक की व्याख्या मे मेधातिथि की टिप्पणी है—**पुराणानि व्यासादि-प्रणीतानि** (न तु व्यासप्रणीतानि)

(ख) मार्कण्डेय पुराण का कथन—

पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनु विनिःसृताः॥
पुराणसंहिताश्चक्रुर्बहुलाः परमर्षयः।
वेदाना प्रविभागश्च कृतस्तैस्तु सहस्रशः॥

—मार्कण्डेय ४५।२०–२१

यहाँ 'बहुलाः परमर्षयः' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इस सारवान् कथन का ऐतिहासिक तात्पर्य सातिशय गम्भीर है। ब्रह्मा के मुखो से **पुराण** (एकवचन मे प्रयुक्त) निकला तथा बहुत से परमर्षियो ने **पुराण संहिताओ** का प्रणयन किया। यह पुराणो के विकास क्रम का अभिव्यञ्जक श्लोक बतलाता है कि ब्रह्म के मुख से पुराण का निःसरण विद्या के रूप मे हुआ था और महर्षियो के प्रयत्न से ग्रन्थ-रूप मे पुराणो का प्रणयन अवान्तरकाल की घटना है। संकलन के कारण ही पुराण ग्रन्थ प्रथमतः 'पुराण संहिता' नाम से अभिहित किये गये हैं। 'पुराण का अवतरण' नामक परिच्छेद मे प्रतिपादित तत्त्व की यह पौराणिक संपुष्टि नितान्त महनीय तथा ग्राह्य है।

(ग) कूर्मपुराण का वचन

अष्टादश पुराणानि व्यासाद्यैः कथितानि तु।
नियोगाद् ब्रह्मणो राजन् तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः॥

—कूर्म, पूर्वार्ध, अ० १२, श्लो० २६८।

यहाँ 'व्यासाद्यैः' पद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। तब 'वेदव्यास' के पुराणकर्ता होने के कारण क्या ? पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है कि व्यास किसी व्यक्ति का नाम न होकर पदाधिकारी की संज्ञा है। मूलतः वेदव्यास ने प्रथम पुराण-संहिता का प्रणयन किया था। उन्होने दोनो संहिताओं की रचना प्रायः एक ही काल मे की थी—इतिहास विषय मे—**जयसंहिता** (महाभारत संहिता का मूलरूप) तथा पुराण विषय मे **पुराण संहिता**। तदनन्तर उनके शिष्य **लोमहर्षण** ने तथा उनके शिष्यत्रय ((**अकृतव्रण, सावर्णि** तथा **शांसपायन**) ने मिलकर चार पुराण-संहिताओ का संकलन किया था और इन्ही पुराणसंहिताओं का विस्तार तथा विकास अष्टादश पुराणो के रूप मे किया गया। इस कार्य मे मूल प्रेरणा वेदव्यास की ही है। उन्ही की 'पुराण संहिता' के ही ये अष्टादश पुराण विस्तृत संस्करण है—इस सिद्धान्त के मानने मे कोई भी ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नही है। तात्पर्य के ऐक्य तथा प्रेरणा के ऐक्य के कारण वेदव्यास को ही सब पुराणो के प्रणेता (अथवा संस्कर्ता) मानने मे किसी प्रकार का दोष उपस्थित नही होता। ऋषियो के स्वरूप-विषय मे ब्रह्माण्ड पुराण का यह कथन इस प्रसंग मे मननीय है।[१]

पुराणो के कारण ही धार्मिक सहिष्णुता का साम्राज्य भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित हुआ। वैष्णवपुराण शिव की निन्दा नही करता, प्रत्युत शिव को भी वह हरि के रूप मे ही ग्रहण करता है। ब्रह्मा से इन दोनो देवो का एकत्व पुराणो मे अभीष्ट है। विष्णुभक्ति के मुख्यतया प्रतिपादक होने पर भी नारदीय पुराण ने स्पष्टतः शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा का एकत्व प्रतिपादन किया है :—

हरिशंकरयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नर.।
भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम् ॥

---

१. धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्ना सर्वगाश्च वै ॥ ३१ ॥
तपः प्रकर्षः सुमहान्येषां ते ऋषयः स्मृताः।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च व्यासः सारस्वतस्तथा ॥ ३२ ॥
व्यासाः शास्त्रप्रणयनाद् वेदव्यास इति स्मृताः।
यस्मादवरजाः संतः पूर्वेभ्यो मेधयाधिकाः ॥ ३३ ॥
ऐश्वर्येण च संपन्नास्ततस्ते ऋषयः स्मृताः।
यस्मिन्काले न च वयः प्रमाणमृषिभावने ॥ ३४ ॥
दृश्यते हि पुमान्कश्चित्कश्चिज्ज्येष्ठतमो-धिया।
यस्माद् बुद्ध्या च वर्षीयान्बलोऽपि श्रुतवानृषिः ॥

—ब्रह्माण्ड, अ० ३३

हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येकरूपिणम् ।
स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः ॥

—नारदीय ६।४८–४९ ।

महापुराण के वर्णनो की यही दिशा है । उपपुराण की रचना किसी विशिष्ट धार्मिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए की गयी है । इसलिए उपपुराण किसी विशिष्ट देवता के पूजानुष्ठान को लक्ष्य कर निर्मित हुए हैं । ऐसी दशा मे अन्य देवो के साथ संघर्ष की सम्भावना हो सकती है, परन्तु मूलतः पुराणों मे धार्मिक असहिष्णुता की चर्चा बहुत कम है । धार्मिक औदार्य पुराणों का लक्ष्य है । श्रीमद्भागवत मुख्यतया विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों की लीला का वर्णन करनेवाला पुराण है । यहाँ शिव अपने पूर्ण उदात्त रूप में चित्रित किये गये हैं । दक्षप्रजापति ने शिवजी को जो शाप दिया है वह शैव मत के निम्नस्तरीय तथ्यो की ओर संकेत करता है । शिव विष्णु के विरोधी तथा विद्रोही के रूप मे चित्रित नही किये गये है ।

पुराणो मे धर्मशास्त्रीय विषयो का समावेश कब किया गया ? इस प्रश्न के उत्तर मे विद्वानों में मतभेद है । भारतीय परम्परा के अनुसार धर्मशास्त्रीय विषय पुराणसंहिता के मौलिक वर्ण्य विषयों में से अन्यतम था । पूर्व परिच्छेद मे सप्रमाण दिखलाया गया है कि जयमंगला (कौटिल्य अर्थशास्त्र (१–५) की व्याख्या) मे पुराण के पञ्चलक्षण में सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार तथा मोक्ष के संग मे धर्म को भी अन्यतम लक्षण मानती है जिसका प्रतिपादन पुराणकर्ताओं को सर्वथा अभीष्ट था । आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन भी इसी तथ्य के पोषक है । आधुनिक विद्वानों की दृष्टि इससे भिन्न है । वे धर्मशास्त्रीय विषय—जैसे दान; तीर्थयात्रा, आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त आदि—को पुराण का अविभाज्य अंग नही मानते । जनता के भीतर वैदिक सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त ही अवान्तर शताब्दियो मे इन विषयो को पुराण में सम्मिलित कर लिया । इस विषय मे मनुस्मृति, याज्ञवक्यस्मृति तथा नारदस्मृति का नाम मूल स्रोत के रूप में गृहीत किया जा सकता है । मनुस्मृति का रचनाकाल २०० ई० पू० —१०० ई० तक, याज्ञवल्क्य का रचनाकाल १०० ई०—३०० ई० तक तथा नारदस्मृति का रचनाकाल १०० ई०—४०० ई० तक काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास मे स्वीकार किया है । फलतः षष्ठ सप्तम शती से पहले यह विषय पुराणो मे सम्मिलित नही किया गया । अष्टम–नवम शती से इन विषयो का पुराण में समावेश करने का काल मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित प्रतीत होता है ।

पौराणिक धर्म का वैशिष्ट्य

पौराणिक धर्म कोई नवीन उत्पन्न होनेवाला धर्म नहीं है, जो वेद-प्रतिपादित मौलिक धर्म से विभेद रखता है। मूल तत्त्व समस्त वैदिक ही हैं। केवल परिवर्तित स्थिति की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए कतिपय प्राचीन विषयों का परिहार किया गया है और कतिपय नवीन विषयों का ग्रहण। वैदिक युग में कर्मकाण्ड पर विशेष आग्रह था; पौराणिक युग में भक्ति के ऊपर विशेष महत्त्व दिया गया। इस प्रकार के सामान्य अन्तर को देखकर क्या यह धर्म एक नवीन धारा का प्रतिपादक माना जा सकता है ? अवश्य ही वैदिक देवों में अधिकांश को पुराणों ने अपने क्षेत्र से हटा दिया। केवल पाँच देवों को ही उसने महत्त्व देकर ग्रहण कर दिया। ये देव हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश तथा सूर्य। भगवान् के हृदय से आविर्भूत होकर वेद पहले ऋषि, मुनि, ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त लोगों के मानस में विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यों को उनमें दीक्षित होकर जीवन की सार्थकता सम्पादन करने का अधिकार नहीं था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मन्त्रों के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने की योग्यता मानव-समाज में थोड़े ही लोगों में थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्न स्तर के लोग अपने जीवन को वेदमय बनाने से वंचित रह गये। इस कमी की पूर्ति महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिए, मानव-समाज के ऊर्ध्वलोक से निम्नस्तर में लाने के लिए अपने को नियुक्त किया। इसी का सुभग परिणाम हुआ पुराणों की रचना। वेद और पुराण वस्तुतः अभिन्न हैं। किन्तु वेद द्विज-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं और पुराण सभी श्रेणियों के नर-नारियों में विचित्र वेश-भूषा और विचित्र गतिभंगी से विचरने वाले हैं। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जनसाधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिए उसने सरल संस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तरों में भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियों के नर-नारियों के जीवन को नियन्त्रित करके परम कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त करने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण के इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है।

वेदों के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतितपावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदो ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों से परे है। पुराण कहते हैं कि ब्रह्म सर्वनामी, सर्वरूपी और सर्वभावमय है। वेद कहते हैं—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। पुराण कहते हैं—'एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति।' भगवान् की अनन्त विभूतियो के मधुर रूपो का दर्शन हमें पुराणों मे मिलता है। पुराणो ने यह उद्घाटित किया है कि एक ही परम तत्त्व भगवान् विभिन्न रूप और नामो में विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर सम्पूर्ण संसार में लीला-विलास कर रहे हैं तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी-न-किसी रूप मे उसी भगवान् की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इसी कारण भारत के समग्र धार्मिक सम्प्रदाय एकत्व के सूत्र में बँधे हुए हैं। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच मे लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागरित कर दिया है। पुराणों मे मानव-जाति के इतिहास और विशेषतः भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है, पर साथ ही साथ पुराणों का प्रधान लक्ष्य यह दिखलाना है कि यह सब संसार भगवान् की लीला का विलास है। इस प्रकार पुराणो ने वैदिक तत्त्वो को रोचक रूप से जन साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्ही पुराणों को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होनेवाले विद्वान् ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मो की चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति वेद में श्रद्धा रखते हुए पुराणो मे आस्था नही रखता, वह हिन्दूधर्म के मौलिक सिद्धान्तो से नितान्त अनभिज्ञ है। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन धर्म के भिन्न काल मे आविर्भूत होनेवाले विशिष्ट ग्रन्थ है। वैदिक संहिताओ मे कर्मकाण्ड का विशेष प्राबल्य हमे मिलता है। परन्तु उन्हे ज्ञान तथा भक्ति से शून्य बतलाना भी नितान्त उपहास्यास्पद है। तथ्य बात यह है कि संहिताओं मे बीज रूप से निहित सिद्धान्तों का ही पल्लवीकरण हमे पिछले साहित्य में उपलब्ध होता हैं। भक्ति की चर्चा केवल पुराणो में ही है, उपनिषदो मे नही, यह कथन दुःसाहसपूर्ण है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नही किया जा सकता। विद्या और बुद्धि उसकी प्राप्ति में नितान्त व्यर्थ हैं। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया गया है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुधा श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,
तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"

—(कठ० उप० १।२।२३)

केनोपनिषद् मे कहा है कि ईश्वर भजनीय है, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिए—

"तद्वनमिति उपासितव्यम्" (केन० उप०)

वरुण-सूक्तो मे भक्तों की भावना जिस मधुर रूप में व्यक्त की गयी है वह विद्वानो से अपरिचित नही है। इन प्रमाणो के रहते हुए भक्ति को पुराण-काल की नयी उपज मानना भ्रान्ति की चरम सीमा नही तो क्या है ?

(१)

पौराणिक हिन्दूधर्म का स्वरूप

१. हिन्दूधर्म स्वतन्त्रता-पोषक धर्म है

प्रत्येक सत्यान्वेषीको यह स्पष्टतया विदित है कि हिन्दू-धर्म का स्वरूप ईश्वर, आत्मा, सृष्टि एवं मानव-जीवन के ध्येय के सम्बन्ध में किसी वादविशेष को स्वीकार करना, किन्ही विशिष्ट क्रियाओं का अनुष्ठान तथा वाह्य आचारों का पालन एवं उपासना की विशिष्ट पद्धतियो का अनुसरण अथवा किसी खास पैगंबर अथवा ईश्वरीय दूत को विना न-नु-न-च किये प्रमाण मानना नही है। इन सव प्रश्नो के विषय मे हिन्दूधर्म मानवीय वुद्धि एवं हृदय दोनों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। ईश्वर को जगत् का कर्ता एवं नियन्ता न मानना, आत्मा को नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना तथा मुक्ति को आत्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति अङ्गीकार न करना भी हिन्दूधर्म की दृष्टि मे कोई अक्षम्य अपराध नही माना गया है। हिन्दूधर्म ने ऐसे लोगों को भी अवतार अथवा ऋषि मानने में आगा-पीछा नही किया, जिन्होंने ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही किया; किन्तु जो वैसे महान् आध्यात्मिक पुरुष थे। हिन्दूधर्म का कभी यह आग्रह नही रहा कि मानवीय विचार, भावना तथा इच्छा-शक्ति पर अनुचित रोक-टोक लगायी जाय।

इसके विपरीत हिन्दूधर्म ने सदा इस वात को डंके की चोट कहा है कि मनुष्य स्वरूपतः सभी वन्धनों से मुक्त है और अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के वल से पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हिन्दूधर्म की यह मान्यता है कि यद्यपि स्वतन्त्रता पर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर भी इस जगत् मे वाह्य एवं आन्तरिक—शारीरिक एवं मानसिक—परिस्थितियाँ दुर्भाग्यवश उसकी इस स्वतन्त्रता को कम कर देती हैं, अतः प्रत्येक मनुष्य का ध्येय यह होना चाहिए कि जितनी स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, उसका वह पूर्ण स्वतन्त्रता—सव प्रकार के वन्धनों एवं उपाधियों से मुक्ति—पाने के लिए उपयोग करे। इसीलिए हिन्दूधर्म मानवीय आत्मा के निर्वाध विकास पर किसी प्रकार का निग्रहपूर्ण नियन्त्रण नहीं लगा सकता; वल्कि वह प्रत्येक पुरुष, स्त्री एवं वच्चे की वुद्धि को अन्धकार से मुक्त करने की चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अपनी अधिकृत स्वतन्त्रता का समुचित उपयोग कर सके। इसलिए हिन्दूधर्म किसी को किन्ही विशिष्ट मतवादो,

उपासना के प्रकारों अथवा वाह्य आचारों को ग्रहण करने के लिए वाध्य नही करता। इसके फलस्वरूप हिन्दूधर्म की सीमा के अन्दर हमे असंख्य सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं, जिनके परात्पर-तत्त्व एवं परमोपास्य के सम्वन्व मे भिन्न-भिन्न मत हैं तथा जिनमे साधना के भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न-भिन्न क्रिया-कलाप, आचार एवं रीति-रिवाज पाये जाते है। परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि हिन्दूधर्म इतने सम्प्रदायो का एक निर्जीव समुदायमात्र है, उसमे एकता अथवा स्वतन्त्र जीवन है ही नही ? नही, ऐसी वात कदापि नहीं है। हिन्दूधर्म का एक शरीर और एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है, जिसके शरीर मे ये सव भेद संघटित एवं समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सवको अनुप्राणित एवं आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवी से सम्वद्ध रहकर विकसित एवं नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हे सम्वद्ध रखता है और वे उसका महत्त्व वढ़ाते रहते हैं।

२. हिन्दूधर्म का शरीर

हिन्दूधर्म के शरीर की ओर दृष्टि डालने पर हमे कुछ ऐसे विशेष लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जो हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायो मे समान रूप से पाये जाते हैं और जो उन्हे एक सूत्र मे वांधे रखते हैं। हिन्दूधर्म की आत्मा ने इन वाहरी सामान्य लक्षणो मे तथा उनके भीतर से अपने को प्रकट कर रखा है।

(क) भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर भाव

पहली मुख्य विशेषता है—हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का भारत की सदा विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर का भाव। सभी हिन्दुओं का वेदो मे, जिनपर उनका समान अधिकार है, अमर विश्वास है। प्राचीन भारतीय ऋषियो ने वुद्धि, नीति, कला एवं अध्यात्म के क्षेत्र मे जो सवसे वड़ी करामाते कर दिखायी है, वेद उनके वाङ्मय प्रतीक हैं। उनका जीवन सादा, हृदय पवित्र तथा शरीर और मन निष्पाप थे तथा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एवं पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए उन्होने सच्ची खोज की थी। इन्ही सव कारणो से वे मनुष्य की वौद्धिक चेतना के समक्ष विश्वात्मा भगवान् को प्रकट करने के लिए उपयुक्त माध्यम वने हुए थे। वेदों मे एक ही दिव्य मानव, एक मसीहे, एक अवतार या एक पैगम्वर के ही उपदेश नही है। उनका दर्शन प्राचीन भारत की अनेक प्रवुद्ध आत्माओ को हुआ था। भारत के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्को ने उनकी परस्पर तुलना करके उनकी एकवाक्यता तथा उनके अनुभव की परीक्षा की और उन्हे हिन्दू समाज, हिन्दूधर्म एवं हिन्दू-संस्कृति की सुदृढ भित्ति वनाया। उन्हे प्रमाण मानने का अर्थ है—भारतीय आत्मा के विकास की आदिम एवं पवित्रतम

भूमिकाओं मे भारत-माता के अन्दर जो कुछ उत्तम से उत्तम बातें थी, उन्हें निःसङ्कोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभा के इन प्राचीनतम कार्यों के प्रति स्वाभाविक आदरभाव ही हिन्दुओ की एकता का एकमात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, तन्त्र, पुराण एवं दर्शनों के प्रति, जो देश के परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कों की कृतियां हैं, हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का महान् आदर है। भारतीय जीवन और संस्कृति के सभी विभागों मे विचारों एवं आदर्शों को लेकर जो भी उन्नति हुई है—धार्मिक कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय आत्मा का जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसी के प्रतीक हैं। हिन्दूजाति अतीत के गौरव को तथा अपने प्रति उसकी देन को कभी अस्वीकार नही करती। दूसरी ओर उसने प्राचीन शास्त्रों के वाचिक अर्थ के प्रति अथवा प्राचीन आचारों के वाह्य रूप के प्रति अनुचित पक्षपात कभी नही दिखलाया, किन्तु अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुकूल बनाकर सदा ही सनातनधर्म का सचाई के साथ अनुगमन करने की चेष्टा की है। हिन्दू लोग अतीत के गौरव को सिर झुकाते हुए भी वर्तमान काल में विचार एवं क्रिया के स्वातन्त्र्य की कदापि उपेक्षा नही करते तथा अपनी धारणा के अनुसार समुज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढने से भी नही चूकते। हिन्दुओं की शास्त्रो मे श्रद्धा का स्वरूप क्या है? अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर भारतीय इतिहास के अत्यन्त अर्वाचीन सृजनोन्मुख काल तक भारत ने ऊँचे से ऊँचे तथा उत्तम से उत्तम जो कुछ भी काम कर दिखाया है, उसके प्रति ठोस आदर का भाव एवं उसे बिना न-नु-न-च किये प्रमाण मानना।

(ख) राष्ट्र के संत-महात्माओं एवं वीरों के प्रति श्रद्धा

महान् हिन्दू-समाज के सभी वर्गों मे एकता के उपर्युक्त बलवान् सूत्र के अतिरिक्त उनमे भारत के राष्ट्रीय सन्त-महात्माओं एवं वीरों के प्रति—उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियो के प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगति की किसी भी भूमिका मे उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवन पर किसी भी प्रकार का स्थायी प्रभाव डाला है—ठोस व्यक्तिगत आदर भाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पराशर और व्यास आदि प्राचीन भारतीय महर्षियों ने; बुद्ध और शङ्कर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसीदास प्रभृति महान् संतो एवं युगप्रवर्तकों ने; भगवान् कृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र, भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद आदि विख्यात

राष्ट्रीय वीरो एवं राजर्षियो ने तथा भगवती सीता और सावित्री, जगज्जननी सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी प्रभृति भारत की आदर्श महिलाओं ने अपने को हिन्दू कहलानेवाले सभी पुरुषो एवं स्त्रियो के हृदय पर अटल नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। सिद्धान्तो एवं जीवनचर्या में बहुविध अन्तर होने पर भी सामान्यतः हिंदूमात्र प्रेरणा के इन शाश्वत सर्वसुलभ स्रोतों से प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं और अपने को इन्ही के कुटुम्बी रूप मे अनुभव करते हैं। इस प्रकार के सभी आदर्श पुरुषो एवं देवियो की स्मृति—जो दिन-प्रतिदिन, मास-प्रतिमास और वर्ष-प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार के उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक घटनाओं की कथाओ, यात्राओ, अभिनयो एवं अन्य उल्लासपूर्ण खेल-तमाशों के द्वारा जाग्रत ही नही अपितु अधिक जाज्वल्यमान एवं ताजी रखी जाती है,—सभी युगो मे तथा देश के सभी भागों मे हिंदू-समाज एवं धर्म के सभी अवयवों मे सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता बनाये रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़ बनाती है। इतना ही नही, वह उनमें इस भाव को भी जाग्रत् करती है कि सृष्टि के आरम्भ से ही उसमे अमर जीवन की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही है। हिन्दू जाति उन यशस्वी व्यक्तियों को, जिन्होने सनातन तथ्यो को अपने जीवन मे उतारा है, उन तथ्यों के सम्बन्ध मे कोरे वादो एवं कल्पनाओ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है।

(ग) राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों का आदर

हिंदुओ के सभी सम्प्रदायो मे एकता बनाये रखनेवाला तीसरा सूत्र भारत के राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानो के प्रति पवित्रता की बुद्धि है। ये स्थान, जो इस महान् देश के सभी भागों में—नगरो एवं वनो मे, नदियों तथा सरोवरों में, पर्वतो एवं उपत्यकाओ मे, बिखरे पड़े हैं, तीर्थ माने जाते हैं। प्रत्येक हिन्दू, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा जातिका क्यो न हो, अपने एवं अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अपनी स्थिति के अनुसार इनमे से अधिक से अधिक तीर्थों की यात्रा करने मे हिन्दू लोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थों में कोई भेदबुद्धि नही करते। वे सभी भारतमाता के प्रत्येक बच्चे की दृष्टि मे पवित्र है।

ये तीर्थ[१] क्या है? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारकापुरी, उज्जयिनी आदि किसी न किसी समय भारत के कुछ महान् प्रतापशाली राज्यों की प्रसिद्ध राज-

---

१. तीर्थों का विषय पुराणो मे बड़े विस्तार से दिया गया है। तीर्थ की संस्था अत्यन्त प्राचीन काल से भारत मे प्रचलित थी। महाभारत के वनपर्व (अ० ८५) मे इसका सर्वप्राचीन रूप दृष्टिगोचर होता। तीर्थों के

धानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियो से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान् केन्द्रो के रूप मे अपने गौरव को बनाये हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी ढंग का जोरदार प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य तीन नदियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे बंटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गों के लोगों के लिए सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिंदू को प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीने के जल में आवाहन करना सिखाया जाता है। देश के किसी भी नगण्य कोने मे स्थित किसी भी छोटे से गाँव में वह क्यो न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान् और पवित्र भारत देश का निवासी हूँ और जिस जल मे स्नान करता हूँ या जिसे मैं पीता हूँ अथवा भगवान् को चढाता हूँ या जिससे मैं अपने पितरों का तर्पण करता हूँ, वह मातृभूमि की सम्पूर्ण नदियों का सम्मिलित जल है। इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि इत्यादि महान् पर्वत, जो उसे अपनी महान् जन्मभूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं; वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान् वन, जिनमे प्राचीन तपोवन एवं वनस्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियो की आनन्ददायिनी क्रीड़ाओं की स्मृतियाँ निहित हैं; द्वैपायन, पुष्कर, मानस, चम्पा, नारायण आदि महान् सरोवर, जो अनेक राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं—प्रत्येक हिंदू इन सबका तीर्थों के रूप मे स्मरण करता है, जहाँ का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो जो स्थानविशेष भारत के पूज्य संत-महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधन से पवित्र हो चुके हैं अथवा महान् राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषिकल्प विद्वानों की उदार कृतियो से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखनेवाली महती घटनाओ के कारण चिरस्मरणीय हो गये हैं अथवा

अनेक प्रकारो का निर्देश पुराणो मे है, यथा पितृतीर्थ गणना (मत्स्य, अ० २२), देवीपीठ गणना (मत्स्य १३ अ०), ब्रह्मतीर्थ गणना (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। सामान्य तीर्थो के सूचनार्थ द्रष्टव्य ब्रह्म २५ अ०, अग्नि० १०९ अ०। काशी के उद्यानो का साहित्यिक वर्णन मत्स्य १७९ अ० २१–४४ श्लोक, वाराणसी तथा प्रयाग का वर्णन कूर्म १।३१-३५ तथा ३६–३९। इन तीर्थो के विषय मे विशेष रूप से द्रष्टव्य काणे कृत हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४ पृ० ५५२–८२७।

जिन्होने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एवं भव्यता से लोगो का ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिंदुओ के लिए तीर्थरूप हैं, चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति-रिवाज अथवा आचरण सम्बन्धी नियम कैसे भी क्यो न हो। इस प्रकार अपने सारे प्राकृतिक एवं अर्जित गौरव तथा अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को लिये हुए समग्र भारतवर्ष का प्रत्येक हिंदू की दृष्टि मे एक आध्यात्मिक अर्थ है। प्रत्येक हिंदू बच्चा करीब-करीब अनजान मे ही भारतवर्ष को आदरपूर्वक एक सुन्दर एवं महान् सजीव व्यक्ति—अपनी सन्तानो के प्रति वात्सल्य एवं करुणा से पूर्ण तथा उनकी सब प्रकार के अनिष्टो से रक्षा करने की शक्ति एवं साधनो से सम्पन्न भगवती जगदम्बा के रूप मे स्मरण करना सीख जाता है। भारत के समस्त सम्प्रदायों एवं जातियों को हिंदूधर्म की सर्वसंग्राहक भुजाओं के भीतर एक सूत्र मे पिरोने तथा उनके जीवन एवं संस्कृत को एक विशेष रूप देने मे यह भाव कितना प्रबल सहायक है—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

३. हिंदूधर्म और भारतवर्ष

इस प्रकार भारतमाता के प्रति इस सजीव बुद्धि को हिंदूधर्म का शाश्वत एवं नित्य नूतन शरीर कहा जा सकता है। हिंदूधर्म का व्यापक रूप जो सभी सम्प्रदायों के हिंदुओं की बुद्धि मे उतरा हुआ है और जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तो, सामाजिक प्रथाओ एवं दार्शनिक मतवादो से कोई सम्बन्ध नही है, उसका स्वरूप है—भारत की नैतिक, बौद्धिक, ललित कला सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सम्पत्ति मे जो कुछ भी अच्छा और महान् है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। जो कोई भी भारतमाता को अपने जीवन की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे स्वीकार करता है, वह हिंदू कहलाने का न्यायतः अधिकारी है। हिंदूधर्म अपने कलेवर के अन्दर इस देश की तथा बाहर की सभी सभ्य एवं जंगली जातियो तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायो एवं सामाजिक संघटनो को उनके धार्मिक सिद्धान्तो, भावनाओ एवं आचारों की तथा उनके सामाजिक विचारो, रीतियो और रिवाजो की विशेषताओं को मिटाये बिना ही हजम कर जाने की शक्ति रखता है और उसने अतीत काल मे ऐसा किया भी है। शर्त यही है कि वे भारत के गौरव पर गर्व करना सीख जायँ, उनकी दृष्टि वस्तुतः भारतीय हो जाय और वे भारत की आत्मा से अनुप्राणित हों, जो नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधना के विभिन्न रूपों द्वारा अति प्राचीन काल से अपने को चरितार्थ कर रही है।

हिन्दुओ का अस्तित्व ही भारत की एकता के भाव—भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भाव के साथ—सम्बद्ध है। हिन्दू एक-दूसरे के साथ एक ही माता के बच्चो के रूप में सम्बद्ध हैं, जो उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को उदात्त एवं पूर्ण बनाने के लिए उन्हे भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक—सभी प्रकार का भोजन देती है। भारतमाता की पूजा एवं सम्मान तो अपने-अपने ढंग से हिन्दूधर्म के अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं और अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए वे उसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक हिन्दू का आध्यात्मिक ध्येय है—अपनी व्यष्टि आत्मा का भारत की आत्मा के साथ ऐक्यबोध करना; क्योकि उसकी दृष्टि मे भारत की आत्मा विश्वात्मा की अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिन्दुओ की दृष्टि मे भारत निरा भौतिक देश—भौतिक जगत् का एक क्षुद्रांश—ही नही है, अपितु विश्वात्मा का एक विशिष्ट शरीर है और इस रूप मे वह आध्यात्मिकता का सनातन स्रोत है। इसी देश मे भगवान् प्रत्येक युग-पर्यन्त मे भ्रान्त एवं मूढ़ जगत् को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति, सामञ्जस्य, एकता एवं आनन्द का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए विशेष रूप से प्रकट होते हैं।

४. हिन्दूधर्म की आत्मा

अब हिन्दूधर्म की आत्मा के सम्बन्ध मे कुछ शब्द कहूँगा। यह स्पष्ट है कि हिन्दूधर्म की आत्मा का मनुष्य की अपूर्ण भाषा मे पूर्णतया निर्देश नही किया जा सकता। बौद्धिक ज्ञान, सामाजिक प्रथा, धार्मिक सिद्धान्त आदि मे महान् अन्तर रहते हुए भी हम एक ही आत्मा को सभी सम्प्रदायो के हिन्दुओ की दृष्टि तथा व्यापार को अनुप्राणित एवं आलोकित करते हुए अनुभव कर सकते हैं, परन्तु इन सभी भेदो मे तथा उनके भीतर से अपने को अभिव्यक्त करनेवाली इस अमर आत्मा की तर्कशास्त्रानुमोदित परिभाषा नही की जा सकती। अन्य साम्प्रदायिक मजहबो की भाँति हिन्दूधर्म भी यदि विशिष्ट पैगम्बरो के नपे-तुले उपदेशो से आविर्भूत होता, यदि विशिष्ट आचार्य-परम्परा के द्वारा उपदिष्ट निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर ही इसकी स्थापना हुई होती तो इसकी आत्मा का उन उपदेशो अथवा सिद्धान्तो की भाषा मे निर्देश किया जा सकता था। परन्तु हिन्दूधर्म मे ऐसी कोई मान्यता नही है, जिसे उसका प्राण कहा जा सके। उसकी आत्मा किन्ही ईश्वर के भेजे हुए दिव्य मानव के द्वारा सदा के लिए निर्धारित किन्ही सिद्धान्तो, किन्ही नियमों एवं कानूनो, किन्ही विचारो, भावनाओ तथा क्रियाकलापो के अन्दर बद्ध नही है। हिन्दूधर्म की आत्मा स्वयं विकसित हो रही है। युग-युग मे मनुष्यों की बाहरी परिस्थिति में तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यता में जो कुछ

है, प्रतीयमान जगत् के प्रत्येक पदार्थ का एक आध्यात्मिक अर्थ है और जगत् मे काम करनेवाली सम्पूर्ण शक्तियाँ एक आध्यात्मिक उद्देश्य के द्वारा नियन्त्रित है और एक चिन्मय इच्छा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ है। सभी हिन्दू जगत् को अजर-अमर माता के रूप मे नमन करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवो को उत्पन्न करके उनका प्रेम एवं आनन्द के साथ पोषण करती है। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखने मे असंख्य प्रकार की वस्तुओं एवं घटनाओ से बना हुआ है, हिंदुओ की दृष्टि मे एक सजीव व्यक्ति है, जो असंख्य रूपो मे अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियम से अनुप्राणित एवं ओतप्रोत है। हिन्दू अपने हृदय मे विश्व की महत्ता एवं सौन्दर्य का अनुभव करते हैं तथा उसे माता के रूप मे पूजते हैं। विश्व के चिन्मय स्वरूप की पूर्ण अनुभूति ही उसके चिन्मय स्वरूप की पूर्णता है। जीवन एवं जगत् के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टि हिन्दूधर्म के आत्मा की अभिव्यक्ति है।

(ख) जगत् के नैतिक शासन में विश्वास

हिन्दूधर्म के आत्मा की दूसरी महान् अभिव्यक्ति हिन्दुओं का यह विश्वास है कि जगत् के अभ्यन्तर शासन मे नैतिक विधान की प्रधानता है। हिन्दूमात्र इस नैसर्गिक विश्वास से अनुप्राणित है कि एक न्यायपूर्ण विधान जगत् के जीवो मे सुख-दुःख, सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूढता, उच्चाकांक्षाओ और नीच प्रवृत्तियो, उदात्त भावनाओ एवं नीच मनोविकारो तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का विभाजन करता है। जीव-जगत् मे भौतिक कार्य-कारणभाव नैतिक कार्यकारणभाव के सर्वथा अधीन एवं उसी के द्वारा नियन्त्रित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मो का अनिवार्य फल भोगता है। अतः अपने कर्तव्य का मार्ग निश्चित करने मे हिन्दू इसी बात का विचार करते हैं कि वह शुभ है अथवा अशुभ, उसका नैतिक परिणाम शुभ होगा या अशुभ, वह शास्त्रोक्त नैतिक नियमों के अनुकूल है या नही; वे केवल अथवा मुख्यतया इस बात का विचार नही करते कि भौतिक दृष्टि से तथा भौतिक कार्य-कारणभाव के विचार से उस कर्म से तात्कालिक लाभ होगा या हानि। उनके कर्मो का नियन्त्रण अधिकतर नैतिक विचार से होता है, लौकिक लाभ की दृष्टि से नही। नैतिक कार्य-कारण-भाव या कर्म के विधान मे विश्वास हिन्दूधर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वास का अर्थ यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, अकेला वही अपने सुख-दुःख के लिए, अपनी मनोवृत्तियो के लिए तथा अपने जीवन मे आनेवाले अनुकू अवसरो तथा विघ्न-बाधाओ के लिए जिम्मेवार है। यह विश्वास उसे यह सिखलाता है कि किसी दूसरे के

प्रति, जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो तथा जो अधिक आराम भोगता हो, अथवा जिसे अधिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या, द्वेष या वैर का भाव मत रखो; क्योंकि यह उसके पिछले कर्मों का फल है। वह उसे अपनी स्थिति को सुधारने के लिए दूसरो के साथ कटुतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा करने से रोकता है; क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त है, यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्र को उन्नत बनाये तो उसे नैतिक विधान के अनुसार ठीक समय पर अपने शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। जगत् के नैतिक शासन मे विश्वास के साथ-साथ तथा उसी से पूरा-पूरा मेल खाता हुआ हिन्दुओ का दूसरा विश्वास पूर्वजन्म के सिद्धान्त में है। मनुष्य का जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीर के जन्म से नही प्रारम्भ होता और न उस शरीर की मृत्यु के साथ उसका अन्त होता है। कर्म का विधान ही प्रत्येक जीवन का नियन्त्रण करता है। वर्तमान जीवन में उसे जो योनि, जैसी योग्यता और जो अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मों के नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान जीवन में फलीभूत नही होते, वे भावी जन्मों में फलीभूत होगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास एवं आत्मा की पूर्णता के लिए बार-बार अवसर दिये जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिन्दू को पूर्णता एवं आनन्द की आशा से भर देता है और उसे वर्तमान जीवन की विपत्तियों को सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

(ग) मुक्ति का सिद्धान्त

हिन्दूधर्म की आत्मा एक दूसरे उच्च सिद्धान्त के रूप मे अपने को अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्मा की चरम आकांक्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत् के सीमित भागो से पूर्ण नही हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धन से, प्रतीयमान जगत् के सुख-दुःखो से तथा सब प्रकार की सीमाओ एवं उपाधियो से सर्वथा छूटने मे ही है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार सब प्रकार की सीमाओ को लाँघ जाना, जगत् के नैतिक शासन से और उसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु एवं आपेक्षिक सुख-दुःखो के चक्र से भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता—निरतिशय आनन्द की नित्यस्थिति—प्राप्त करना मानवीय आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। अपनी संसारयात्रा का अन्त करने के लिए तथा अपने सासारिक जीवन के परम उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहङ्कार से, इच्छाओ एवं वासनाओ से, सांसारिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि की आसक्ति से, भौतिक दृष्टि एवं दूसरो के साथ प्रतिस्पर्द्धा भाव से मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, निःस्वार्थ प्रेम, अविचल शान्ति, कल्मषहीन पवित्रता तथा समस्त भूतो

के साथ अभेदबुद्धि सम्पादन करे और इस प्रकार भगवान् के साथ अभेद स्थापित करे। प्रत्येक हिन्दू की सर्वोच्च आकांक्षा यही होती है।

(घ) भगवान् का सर्वग्राही स्वरूप

अन्ततोगत्वा मैं हिन्दूधर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप बतला देना चाहता हूँ, जिसके कारण धर्मोन्माद या धर्मान्धता हिन्दुओं की बुद्धि में गहरी जड़ नहीं जमा सकती। ईश्वर एवं मुक्ति के सम्बन्ध मे हिन्दुओं की ऐसी मान्यता है कि जिसमे सभी मतो का समावेश हो जाता है। हिन्दूधर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नही कहता कि ईश्वर का स्वरूप बस, यही है—इससे भिन्न नही; वह इस बात की घोषणा नही करता कि अमुक संत अथवा पैगम्बर की अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा ने परात्पर वस्तु के स्वरूप का पूर्ण रूप से आकलन किया है। वह यह भी नही कहता कि परमोपास्यरूप से साकार भगवान् की सत्ता मे विश्वास करना मानवीय आत्मा को आध्यात्मिक पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जो हिन्दू संस्कृति के प्रभाव मे जन्मे एव पले हुए प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के हृदय में—चाहे वह विद्वान् हो या अनपढ़—काम करते हैं। पहली मान्यता है निर्विशेष ब्रह्मपरक। इस रूप मे वे ही सब कुछ—एकमात्र तत्त्व माने जाते हैं। एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं है। केवल इतनी ही बात नही, अपितु एक परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नही है। सारी सोपाधिक सत्ताएँ उस एक निरुपाधिक स्वतःसिद्ध सत्ता के आभासमात्र है। भीतर-बाहर—सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उसमे एकमात्र उन्ही को देखना—यही सच्चा ज्ञान है। वे निर्गुण हैं, क्योंकि गुणो के साथ सम्बन्धो का होना अनिवाय है और जहाँ सम्बन्ध हैं, वहाँ उनसे सम्बद्ध अन्य वस्तुएं भी होनी ही चाहिए। जो एक एवं अद्वितीय है, वह निर्गुण, नित्य, अपरिच्छिन्न एवं निर्विशेष तो होगा ही। सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ स्वरूपतः उनमे अभिन्न है।

दूसरी मान्यता है परमेश्वर के विषय मे। इस रूप मे वे समस्त जीवो एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों के तथा अनन्त भेदो से युक्त अखिल विश्व के अधीश्वर हैं। इस सापेक्ष रूप मे वे जगत् की सम्पूर्ण परिच्छिन्न एवं अनित्य वस्तुओ के उत्पादक, नियन्ता एवं संहारक हैं। वे अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं सौम्यता तथा अनन्त प्रकार के उत्तम गुणों से सदा संपन्न हैं, जिनके कारण सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा से उनकी वन्दना करते हैं। परन्तु उनका कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है। वे समस्त नाम-रूपात्मक हैं। चूँकि

नाम और रूप की सहायता के बिना मनुष्य के लिए चिन्तन सम्भव नहीं है, अतः उनका चिन्तन एवं उपासना करने के लिए मनुष्य किसी भी नाम अथवा रूप का उपयोग कर सकता है। किसी भी नाम या रूप को, जो मनुष्य के चित्त में जगदीश्वर भगवान् के सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वरूप की स्फूर्ति कर सकता हो, हिन्दू भगवन्नाम अथवा भगवद् रूप मान लेता है। प्रत्येक हिन्दू का विश्वास है कि ऐसे सभी रूप अतीन्द्रिय भगवान् के इन्द्रियगोचर रूप हैं। भगवान् के विषय में कौन सी मान्यता कहाँ तक पूर्ण है, यह स्वाभाविक ही इस बात पर निर्भर करता है कि उपासक का बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास कहाँ तक हुआ है।

तीसरे, सभी हिन्दुओं का यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत् मे अनेक देवताओ के रूप में अपने को अभिव्यक्त किये रहते हैं। इनमे से प्रत्येक देवता के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि साक्षात् परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूप मे प्रकट हैं और उसी शरीर मे उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेज की विशिष्ट कलाएँ प्रकट रहती है। इन देवताओ के विभिन्न नाम और विभिन्न रूप हो सकते हैं और इनके द्वारा विभिन्न शक्तियो एवं गुणों का प्रकाश हो सकता है। परन्तु स्वरूपतः वे एक-दूसरे से अभिन्न हैं; क्योंकि उन सबमे एक ही परमात्मा का निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमे तथा उनके द्वारा भिन्न-भिन्न लीलाएँ करते हैं। हिन्दुओ की दृष्टि मे भगवान् के ये सभी रूप विज्ञानमय एवं चिन्मय जगत् में परिच्छिन्न जीव एवं इन्द्रियगोचर पदार्थ सत्य हैं। अतः कोई व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा जाति चाहे किन्ही भी देवताओं की उपासना करे, अथवा जगदीश्वर की किसी भी नाम-रूप से आराधना की जाय, हिन्दू इस प्रकार की उपासना अथवा इस प्रकार के किसी भी उपासक के प्रति द्वेष का भाव नही रख सकते। इसलिए धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारो की अपेक्षा अधिक गिरानेवाला एवं भयावह होता है, हिन्दुओ के चित्त मे कभी जड़ नहीं पकड़ सकता।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की आत्मा अपने आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टि के रूप मे तथा ईश्वर सम्बन्धी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओ तथा सब प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं के समादर के रूप मे अभिव्यक्त करती है। अतः हिन्दू धर्म ही विश्वधर्म का सच्चा नमूना है। वर्तमान हिन्दूधर्म का यही स्वरूप है। यह स्वरूप पुराणो के ऊपर ही आश्रित है। अतः इसे **पौराणिक धर्म** का रूप मानना सर्वथा उचित है।

---

(२)

महाभारत मे धर्म का स्वरूप

महाभारत की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थो मे अनुपम है। यह एक उपजीव्य महाप्रबन्धात्मक काव्य होने पर भी मूलतः इतिहास[१] संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके रचयिता महर्षि व्यासदेव ने स्वयम् इसे इतिहासोत्तम बतलाया है जिसका आश्रय लेकर कवि की प्रतिभा नये-नये काव्यों की—गीतिकाव्यो तथा महाकाव्यो की—और नये-नये रूपको की संघटना मे कृतकार्य हुई है। इतना ही नही, यह एक साथ एककालावच्छेदेन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र है जिसकी तुलना इस वैचित्र्य के कारण किसी भी अन्य ग्रन्थ से हो ही नही सकती। फलतः यह अपनी विशिष्टता की दृष्टि से एकदम बेजोड़ है, अन्ततः अनुपमेय है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

—आदिपर्व, २।३८३

फलतः महाभारत का धर्मशास्त्रीय स्वरूप आख्यानादिको के साथ आजकल जो उपलब्ध हो रहा है, वह भी नूतन निर्माण नही है। यह तो निश्चित है कि यह स्वरूप महाभारत के आदिम रूप मे—'जय' नामक पाण्डवों की विजयगाथा के मूलतः वर्णनात्मक ग्रन्थ मे—वर्तमान नही था, क्योकि शतसाहस्री संहिता मे ही आख्यानो का अस्तित्व विद्यमान है, इसका प्रमाण 'महाभारत मे अनेकत्र मिलता है।[२] महाभारत मे आख्यानो की प्राचीनता का प्रमाण हमे कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि के महाभाष्य से भली भाँति मिलता है। 'आख्या-

---

१. इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥

—महाभारत, आदिपर्व, २।३८५

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

—वही, श्लोक ३८९

२. इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥

—वही, १।१०१

नाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' (पाणिनि सूत्र ४।२।६० पर कात्यायन वार्तिक) के ऊपर अपने महाभाष्य मे पतंजलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियंगु' तथा 'ययाति' के आख्यानों का उल्लेख किया है। इनमे से 'यवक्रीत' तथा 'ययाति' का आख्यान महाभारत मे क्रमशः वनपर्व मे (१३५–१३८) तथा आदिपर्व (अ० ७६–८५) मे आज उपलब्ध होता है। फलतः इन आख्यानो से संवलित महाभारत का प्रणयन पतञ्जलि से (द्वितीय शती ई० पू०) पूर्वकाल मे निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नही, आश्वलायन गृह्यसूत्र (ईस्वीपूर्व पंचम षष्ठ शती लगभग) मे तर्पण के अवसर पर भारत तथा महाभारत दोनो ग्रन्थो के धर्माचार्यो का पृथक् पृथक् तर्पणविधान का निर्देश किया गया है (सुमन्तु जैमिनि वैशम्पायन-पैल-सूत्र भाष्य भारत-महाभारत धर्माचार्या……तृप्यन्तु)। फलतः महाभारत का धर्म-शास्त्रीय रूप काफी पुराना है। ई० पू० पंचम या षष्ठ शती मे इसका अथवा इसके मुख्य अंश का प्रणयन माना जाय, तो कथमपि असमंजस न होगा।

महाभारत मे 'धर्म' की बड़ी ही व्यापक तथा विशद कल्पना अङ्गीकृत की गयी है। इस विशाल विश्व के नाना विभिन्न अवयवो को एक सूत्र मे, एक शृङ्खला मे बांधनेवाला जो सार्वभौम तत्त्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओ को एक सूत्र मे धारण करनेवाला तत्त्व दूसरा नही है। यदि धर्म का अस्तित्व इस जगत् मे न होता, तो यह जगत् कब का विशृङ्खल होकर छिन्न-भिन्न हो गया रहता। युधिष्ठिर के धर्मविषयक प्रश्न के उत्तर में भीष्म पिता-मह का यह सर्वप्रथम कथन धर्म की महनीयता तथा व्यापकता का स्पष्ट संकेत प्रदान करता है—

> सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपःफलम् ।
> बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥
>
> —शांतिपर्व, १७४।२।

यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। इसका आशय है कि सब आश्रमो मे वेद के द्वारा धर्म का विधान किया गया है जो वस्तुतः अदृष्ट फल देनेवाला होता है। सद्वस्तु के आलोचन (तपः) का फल मरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान दृष्ट-फल होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नही होती—धर्म का कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नही जाता। अतः धर्म का आचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है।

परन्तु संसार की स्थिति श्रद्धालु जनो के हृदय मे भी श्रद्धा का उन्मूलन करती है। वनवास मे युधिष्ठिर को अपनी दुरवस्था पर, अपनी हीन-दीन दशा पर बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न हुआ था। अपनी स्थिति का परिचय देकर

वे लोमश ऋषि से धर्म की जिज्ञासा करते हुए दीख पडते हैं। वे पूछते हैं—भगवन्, मेरा जीवन अधार्मिक नही कहा जा सकता, तथापि मैं निरंतर दुःखो से प्रताडित होता रहा हूँ। धर्म करने पर भी इतना दुःख का उदय! उधर अधर्म का सेवन करनेवाले सुख-समृद्धि के भाजन हैं। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर मे धर्म की महत्ता प्रतिपादित करनेवाले लोमश ऋषि के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

—वनपर्व, ९४।४

अधर्म के आचरण से मनुष्य की वृद्धि जो दीख पड़ती हे वह स्थायी न होकर क्षणिक ही होती हैं। मनुष्य अधर्म से वढता है, उसके वाद कल्याण को देखता तथा पाता है। इतना ही नही, वह शत्रुओ को भी जीतता है, परन्तु अन्त मे वह समूल नष्ट हो जाता हैं। अधर्म का आचरण-कर्ता अकेले ही नाश नही प्राप्त करता, प्रत्युत अपने पुत्र-पौत्रादिको के साथ ही वह सदा सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का स्वारस्य धर्म के आचरण मे है—जो सकाम भाव से सम्पादित होने पर ऐहिक फलो को देता है और निष्काम भाव से आदृत होने पर आमुष्मिक फल—मोक्ष की उपलब्धि कराता है। फलतः महान् फल को भी देनेवाले, परन्तु धर्म से विहीन, कर्म का संपादन मेधावी पुरुष कभी न करे। क्योकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक (तद्धित) नही माना जा सकता—

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥

—शातिपर्व, अ० २९३।८।

इस धर्म का साम्राज्य वड़ा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। इसके द्वार अनेकत्र परिदृष्ट होते है। यदि किसी सभा मे न्याय के लिए व्यक्ति उपस्थित हो और उस सभा के सभासद्गण उसके वचनो की उपेक्षा कर न्याय करने के लिए उद्यत नही होते, तो उस समय व्यासजी की दृष्टि मे धर्म को महान् पीड़ा पहुँचती हैं, ऐसे दो प्रसंग महाभारत मे वड़े ही महत्त्व के तथा आकर्षक हैं—सभापर्व (अ० ६८) मे द्रौपदी के चीरहरण के अवसर पर विदुर का वचन तथा उद्योगपर्व (अ० ९५) मे कौरवसभा मे दौत्य के अवसर पर श्रीकृष्ण का वचन। विदुरजी का यह वचन कितना मार्मिक है—

द्रौपदो प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥

—सभापर्व, ६८।५९।

किसी राजसभा में आर्त व्यक्ति, जो दुःखों से प्रताडित होकर न्याय माँगने के लिए जाता है, जलती हुई आग के समान होता है। उस समय सभासदों का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे सत्य धर्म के द्वारा उस प्रज्वलित अग्नि को शान्त करें। यदि अधर्म से विद्ध होकर धर्म सभा मे उपस्थित हो, तो सभासदों का यह धर्म होता है कि वे उस काँटे को काटकर निकाल वाहर करे। यदि वे ऐसा नही करते, तो उस सभा के वे सदस्य स्वयम् ही अधर्म से विद्ध हो जाते हैं। ऐसे समय के पाप का विभाजन भी महाभारत की सूक्ष्म धार्मिक भावना का पर्याप्त अभिव्यंजक है। महाभारत का कथन है कि जिस सभा मे निंदित व्यक्ति निन्दित नहीं किया जाता, वहाँ उस सभा का श्रेष्ठ पुरुष आधे पाप को स्वयम् लेता है; करनेवाले को चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप सभासदों को प्राप्त होते हैं। न्यायान्याय की इतनी सूक्ष्म विवेचना अन्यत्र शायद ही कही मिले। इस प्रसंग मे महाभारत के मूल श्लोक ध्यान देने योग्य हैं, क्योकि वे सूत्ररूप में ही पूरे मन्तव्य का प्रकाशन करते है, नपे-तुले शब्दो मे, साफ-सुथरे संक्षिप्त वचनों मे—

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६० ॥

× × ×

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभा यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ७७ ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७८ ॥

—सभापर्व, अ० ६८।

यही विवेचन उद्योगपर्व मे भी दृष्टिगोचर होता है जब श्री कृष्णचन्द्र धृतराष्ट्र की सभा मे सन्धि कराने के उद्देश्य से स्वयम् दौत्य कर्म स्वीकारते हैं। 'विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण' वाला श्लोक वहाँ भी उद्धृत किया गया है (अ० ९५, श्लोक ५०)।

इस श्लोक के पीछे तथा आगे भी दो श्लोक नितान्त मार्मिक तथा तथ्य प्रतिपादक हैं जिनमे से प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि जहाँ सभासदों के देखते हुए भी धर्म अधर्म के द्वारा और सत्य अनृत द्वारा मारा जाता है (हन्यते), वहाँ सभासदो की हत्या जाननी चाहिए—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

—उद्योगपर्व, ९५।४९।

तथा द्वितीय श्लोक का आशय इसीसे मिलता-जुलता है कि जो सभासद अधर्म को देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अन्याय या अधर्म का प्रतिकार नही करते, उन्हे वह धर्म उसी भाँति तोड़ डालता है जिस प्रकार नदी किनारे पर उगनेवाले पेडो को अपने वेग से तोड़कर गिरा डालती है—

धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ।
येऽधर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥

—वही, ९५।५१।

विराट पर्व मे भी ऐसा ही प्रसंग तब उपस्थित होता है जब द्रौपदी के साथ किये कीचक के दुष्कृत्यो पर राजा विराट ध्यान नही देता तथा उसे अन्याय के रास्ते से रोकने का प्रयत्न नही करता। सैरंध्री नाम से महारानी की परिचर्या करनेवाली अपमानिता द्रौपदी भरी सभा मे राजा विराट को ललकारकर चुनौती देती है और कहती —

न राजा राजवत् किञ्चित् समाचरति कीचके ।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि संसदि शोभते ॥

—विराटपर्व, १६।३१

राजा का धर्म अन्यायी को दंड देना है, परन्तु तुम राजा होकर भी कीचक के प्रति राजवत्–राजा के समान–कुछ भी नही करते हो। यह तो डाकुओ का धर्म है। सभा मे यह तुम्हे कथमपि नही शोभता। कितनी उग्र है यह भर्त्सना !!! कीचक परस्त्री के साथ जघन्य अन्याय करने पर तैयार है। ऐसी दशा मे राजा द्रुपद को (जिसकी सेना का वह आधिपत्य करता है) उसे उचित दंड देना सर्वथा न्याय्य है। इस न्याय से पराङ्मुख होने वाले राजा का धर्म डाकुओ का धर्म है—निरन्तर अन्याय तथा अत्याचार करना।

यह तो हुई सभाधर्म की चर्चा। महाभारत का समय बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म के उत्कट तथा घनघोर संघर्ष का युग था। बौद्ध धर्म अपने नास्तिक विचारो के कारण जन-साधारण का प्रिय पात्र बना हुआ था। उस युग मे ऐसे व्यक्ति जिन्हे अभी तक मूँछ भी नही जमी थी[1] घर द्वार से नाता

---

१. केचित् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातृन् पितृंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥

—शान्तिपर्व, ११।२-३।

तोड़, माता-पिता तथा गुरु-बन्धुजनों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर संन्यासी का बाना पहनकर जङ्गल मे तपस्या करने लगे थे। महाभारत के प्रणेता के सामने यह समाज-ध्वंस की अनिष्टकारिणी प्रथा अपना कराल मुख खोलकर खड़ी थी। विकट समस्या थी समाज को इन नाशकारी प्रवृत्तियों से बचाने की। शान्तिपर्व के आरम्भ मे इस संघर्ष की भीषणता का पूर्ण परिचय हमे प्राप्त होता है। युधिष्ठिर यहाँ वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना कर निवृत्ति-मार्ग के पथिक के रूप मे चित्रित किये गये हैं। वे अरण्य-निवास के प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छन्दता का वर्णन बड़ी मार्मिकता तथा युक्ति के सहारे करते हैं। इस प्रसंग में उनके वचन मंजुल तथा हृदयावर्जक हैं (शान्तिपर्व अध्याय ९)। मेरी दृष्टि मे महाभारत युद्ध मे भूयसी नरहत्या से विषण्णचित्त युधिष्ठिर मानव के शाश्वत मूल्यों की अवहेलना कर संन्यास-जीवन के प्रति अत्यासक्ति के कारण बौद्ध भिक्षु का प्रतिनिधित्व करते हैं और यदि उन्हें अपने चारो अनुजो के, श्रीकृष्ण तथा व्यासदेव के स्वस्थ उपदेश—वर्णाश्रम धर्म के समुचित पालन के विषय में—उचित समय पर न मिलते, तो वे भी वही कार्य कर बैठते जो उनके शताब्दियो पीछे कलिंग-विजय मे सम्पन्न नरहत्या से ऊबकर सम्राट् अशोकवर्धन ने किया था। मनुस्मृति मे भी इस संघर्ष तथा विरोध की फीकी झलक हमे हठात् इन शब्दो मे मिलती है—

अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि।
अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः॥

—मनुस्मृति।

ऋणत्रय की कल्पना वैदिक आचार का पीठस्थानीय है। अपने ऋषियो, पितरो तथा देवो के ऋणों का वेदाध्यापन, पुत्रोत्पादन यथा यज्ञविधान के द्वारा बिना निष्क्रय-सम्पादन किये संन्यास का ग्रहण विडम्बना है, धर्म से नितान्त प्रतिकूल है। इसीलिए महाभारत का आदर्श मानव-जीवन के लिए है वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन। अन्य तीन आश्रमो का निर्वाह करने के कारण गृहस्थाश्रम ही हमारा परम ध्येय है। इसका उपदेश महाभारत मे नाना प्रकारों से, नाना प्रसङ्गो मे किया गया है जिनमे से एक-दो प्रसङ्ग ही यहाँ सक्षेप में संकेतित किये जाते हैं। इन विशिष्ट धर्मो के अतिरिक्त महाभारत में सामान्य धर्म का सर्वस्व इस प्रख्यात पद्य मे निर्दिष्ट है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरो के लिए कभी न करनी चाहिए—धर्म का यह मौलिक तत्त्व महाभारत की दृष्टि मे धर्म का 'सर्वस्व'

(समस्त धन) है और इसे ऐसा होना भी चाहिए। कारण यह कि इस जगत् के बीच सबसे प्रिय वस्तु तो आत्मा ही ठहरी। उसी आत्मा की कामना से ही जगत् की वस्तुएँ प्यारी लगती हैं—स्वतः उन वस्तुओं का अपना कुछ भी मूल्य नहीं है, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। इस आत्मतत्त्व की कसौटी पर कसने से इस उपदेश से बढ़कर धर्म का अन्य उपदेश क्या कोई हो सकता है? इस लक्षण का निर्देश निषेधमुखेन किया जाना भी अपना महत्त्व रखता है। अपने प्रतिकूल वस्तुओं का आचरण तो दूसरों के साथ कथमपि तथा कदापि होना ही नहीं चाहिए। बाइबिल में क्राइस्ट का उपदेश भी इन्हीं शब्दों में है। इसी तथ्य का प्रतिपादन महाभारत में अन्य शब्दों में भी उपलब्ध होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥

—पराशर गीता, शांति अ० २९०।

दूसरे व्यक्तियों के जिस कार्य की हम निन्दा किया करते हैं उसे हमें कभी स्वयं न करना चाहिए। इस कथन के भीतर जनजीवन को उदात्त पन्थ पर ले चलने का बड़ा ही गम्भीर तत्त्व अन्तर्निहित है। समाज के प्राणी धर्म के इन सामान्य नियमों का जितना ही आदर अपने जीवन में करते हैं, उतना ही महत्त्वशाली होता है वह समाज—इस विषय में दो मतों की गुञ्जाइश नहीं है।

शान्तिपर्व के ११वें अध्याय में अर्जुन से प्राचीन इतिहास के रूप में तापस शक्र के जिस संवाद का उल्लेख किया गया है वह इस प्रसङ्ग में नूनं अवधार्य है। अजातश्मश्रु बाल संन्यासियों की टोली के सामने शक्र ने 'विघसाशी' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'विघसाशी' का फलितार्थ है गृहस्थ। जो सायं प्रातः अपने कुटुम्बियों को अन्न का विभाजन करता है; अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजन को देने के बाद अवशिष्ट अन्न को स्वयं खाता है वही 'विघसाशी' के महत्त्वपूर्ण अभिधान से वाच्य होता है (विघस = पञ्चमहायज्ञों का अवशिष्ट अन्न, आशी = भोक्ता) —

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्त्वाऽतिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥

—शान्तिपर्व, ११।२३–२४।

फलतः पञ्चमहायज्ञों का विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। असामयिक वैराग्य से उद्विग्नचित्त युधिष्ठिर की नकुल

ने गृहस्थाश्रम को छोड़ असमय मे निवृत्ति मार्ग के पथिक होने के कारण गहरी भर्त्सना की है। उनके ये वाक्य बड़े ही महत्त्व के हैं--हे प्रभुवर युधिष्ठिर, महायज्ञो का बिना सम्पादन किये, पितरो का श्राद्ध यथार्थतः बिना किये तथा तीर्थों में बिना स्नान किये यदि प्रव्रज्या लेना चाहते हैं, तो आप उस मेघखण्ड के समान नाश प्राप्त कर लेंगे जो वायु के झोके से प्रेरित किया जाता है। वह व्यक्ति तो 'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' के अनुसार दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर अन्तराल में ही झूला करता है, फलतः पूर्वोक्त कर्मों का अनुष्ठान किये बिना संन्यास का सेवन महानिन्दनीय कर्म है--

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः॥

--वही, १२।३३-३४

गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रतिष्ठा का हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम के ऊपर ही आश्रित तथा अवलम्बित हैं। अर्जुन ने इस आश्रम की स्तुति मे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो का उद्घाटन किया है (अध्याय १८)। उनका कथन है कि यदि याचमान भिक्षुक को गृहस्थ राजा दान नही देता, तो वह अग्नि के समान स्वतः ही उपशान्त हो जायेगा अर्थात् इंधन न डालने से अग्नि जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त कर लेती है, वही दशा दान से वंचित भिक्षुक की होती है--उपशान्ति अर्थात् मृत्यु। अन्न के दान से ही भिक्षुओं का जीवन निर्वाह होता है और इसलिए राजा का (तथा सामान्यतः गृहस्थ का) अन्न दान देना एक नित्यविहित आचरण है। अन्न से ही गृहस्थ होता है और गृहस्थ से ही भिक्षुओं का अस्तित्व है। अन्न से ही प्राण बनता है और इसलिए अन्नदाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थ से निर्मुक्त होने पर भी गृहस्थो पर ही आश्रित रहता है। फलतः दान्त लोग गृहस्थों से ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त कर निश्चिन्तता से अपना जीवन यापन करते है। फलतः गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदण्ड है। वही हमारे समाज की रीढ है जो समाज के शरीर को उन्नत तथा स्वस्थ बनाये रहती है। मनु के भी एतद्विषयक सिद्धान्त महाभारत के इन मौलिक तथ्यों से नातिभिन्न हैं--

न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥

—वही, १८।२७–२९।

महाभारत के अनुसार गृहस्थ जीवन के लिए हिंसा का ऐकांतिक परित्याग न तो किया जा सकता है और न यह कथमपि गर्हणीय ही है। मानव जीवन हिंसा के ऊपर आधारित है। बड़े पशु छोटे पशुओं की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं और अपना प्राण धारण करते हैं (शान्तिपर्व, १५।२०–२५)। महाभारत हिंसा के उज्ज्वल पक्ष को हमारे सामने रखता है जब वह कहता है कि दूसरों के मर्म को विना छेदे हुए, दुष्कर कार्य को विना किये और अपने शत्रु को विना मारे क्या मनुष्य कभी महती लक्ष्मी को पा सकता है ?

नाछित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महती श्रियम्॥

—वही, १५।१४

इतना ही नही, अपने शत्रु को जिसने नही मारा क्या उसे कभी कीर्ति मिलती है तथा धन और प्रजा को क्या कभी वह पाता है ? नही, कभी नही। इन्द्र ने वृत्रवध के कारण ही महेन्द्रत्व प्राप्त किया। लोक उन्ही देवों की अर्चा-पूजा करता है जिन्होने शत्रु को मारकर अपना पद प्रतिष्ठित बनाया। रुद्र, स्कंद, शक्र, अग्नि, वरुण आदि वे ही देव हमारी उपासना के प्रिय विषय हैं जिन्होने अपने शत्रुओं को मार डाला तथा अपनी प्रतिष्ठा निरवच्छिन्न बना रखी। निष्कर्ष यह है कि इस लोक मे कोई भी जीवित प्राणी अहिंसा से कभी जीवित नही रहता—उसे अपने जीवन-निर्वाह के निमित्त हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता है—यह लोकजीवन का ध्रुव सत्य है—

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।

—वही, श्लोक २०।

यहाँ बौद्ध तथा जैन धर्म के अहिंसावाद की खरी आलोचना की गयी है। हिंसाका आश्रय कर दण्ड का विधिवत् आश्रयण राजा का मुख्य अनिवार्य कर्तव्य होता है। इस १५वें अध्याय मे अर्जुन ने दण्ड की भूयिष्ठ स्तुति प्रस्तुत की है जो समाज के मंगल-साधन का एक प्रधान अङ्ग है। आज भारतवर्ष को इस तत्त्व को समझने तथा मनन करने की नितान्त आवश्यकता है। महात्मा गाधी के 'अहिंसा' सिद्धान्त का अन्यथा तात्पर्य लगाकर जो अधिकारी वर्ग आज भी अपने विरोधी राष्ट्रो के आक्रमणो का प्रतिकार करने से हिचकते है उन्हें महाभारतका यह अध्याय (शान्तिपर्व, अध्याय १५) गम्भीरता से मनन तथा

अनुशीलन करना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि अपने शत्रुओं से विरोध करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य हैं, विशेषतः किसी भी देश तथा राष्ट्र के शासक का। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उशना नामक दण्डनीति के प्राचीन आचार्य के अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जायेगी जिस प्रकार सांप बिलशायी चूहों को निगल जाता है—

द्वावेव ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥[1]

हिंसा को गृहस्थ-जीवन के लिए महाभारत एक नितान्त आवश्यक तथा अनिवार्य साधन मानता है। यह युक्ति से तथा व्यवहार से दोनो दृष्टियो से एक निर्भ्रान्त सत्य है।

महाभारतयुगीन धार्मिक संघर्ष का एक सामान्य वर्णचित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। वही संघर्ष मनुस्मृति के काल मे भी पूर्णतया लक्षित होता है और यह होना स्वाभाविक ही है। मनुस्मृति ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के निमित्त आवश्यक धार्मिक अनुष्ठानो की विवृति देनेवाली एक महनीय स्मृति है। इसका रचनाकाल विक्रम पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। ब्राह्मणवंशी शुङ्गो के राज्य-काल मे, जव सम्राट् अशोक के वैदिक मार्गद्वेषी धर्म तथा राजनीति के विपुल प्रभाव के विध्वंसन के निमित्त मौर्य के ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य नरेश को मारकर ब्राह्मणवंश की स्थापना की थी। इसीलिए मनुस्मृति मे गृहस्थ धर्म की विपुल प्रतिष्ठा का आदर्श वहुशः आख्यात हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के समय में भी इसी प्रकार का एक तुमुल संघष लक्षित होता है—वर्णाश्रमाश्रयी हिन्दू समाज में तथा निवृत्ति को ही एकमात्र आदर्श माननेवाले निर्गुणी सन्तो तथा योगियो मे। गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियो ने समाज के आदर्श को केवल निवृत्ति मे प्रतिष्ठित कर उसे वैदिक रूप से अधश्च्युत कर रखा था। इन निर्गुनिया सन्तो के विशेष प्रभाव के कारण भारतीय समाज आदर्शहीन होकर भ्रान्त तथा विक्षिप्त वन गया था। उस आदर्श से भारतीय समाज को हटाकर वर्णाश्रम धर्म मे प्रतिष्ठित करना गोस्वामीजी के महनीय प्रवन्ध काव्य 'मानस' के प्रणयन का मुख्य हेतु मानना कथमपि इतिहासविरुद्ध

---

१. यह श्लोक महाभारत मे अनेक स्थानो पर उद्धृत किया गया है। शान्तिपर्व के ५७वें अध्याय मे राजनीति के तथ्यो का संक्षिप्त विवरण प्राचीन श्लोको के उद्धरण के साथ साथ वड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह श्लोक 'उशना' के द्वारा प्रतिपादित वताया गया है।

—द्रष्टव्य शान्ति० अ० ५७, श्लोक २–३।

नही है। गोसाईंजी ने इसीलिए गृहस्थाश्रम को इतनी प्रतिष्ठा प्रदान की और अपने इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र को शील, सौन्दर्य तथा शक्ति के सामञ्जस्य रूप मे पूर्णतः प्रतिष्ठित किया। मेरी दृष्टि मे तुलसीदास के सामने महाभारत मे व्याख्यात धर्म की पूर्ण कल्पना सर्वदा जागरूक रही और परिवर्तित परिस्थिति को लक्ष्य कर उन्होने उसी आदर्श को इस नये युग के लिए भी उपादेय माना तथा उसकी विस्पष्ट व्याख्या कर प्राचीन आदर्श का ही अपने नवीन ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के द्वारा उपबृंहण किया।

निष्कर्ष यह है कि महाभारत की दृष्टि से धर्म ही मानव-कल्याण का परम साधक तत्त्व है। त्रिवर्ग का सार धर्म ही है। इसीलिए व्यासजी ने भारत-सावित्री मे इस शतसाहस्री संहिता का सार इस छोटे से श्लोक में कितनी विशदता से प्रतिपादित किया है कि 'मैं अपनी भुजा उठाकर उच्च स्वर से पुकार रहा हूँ। परन्तु कोई भी मेरी बात नही सुनता। धर्म से ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्म से ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा काम का मूल निश्चित रूप से धर्म ही है। तब उस धर्म की उपासना क्यो नही करते ?'

ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येप न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र संघर्ष का काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकता का स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझने के लिए महाभारत मे प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्यु-मय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवों के युद्ध मे पाण्डवों की विजय अधर्म के ऊपर धर्म की विजय का भव्य निदर्शन है। इस कल्पना को ध्यान से पढिए—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रासुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

—आदिपर्व, १।११०–१११।

महाभारतीय कथानक का अभिधेयार्थ इसी धर्म-विजय की अभिव्यंजना मे है। कहने का तात्पर्य है कि महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन नही करता, प्रत्युत वह अपने कार्यों से, नाना घटनाओ से, पाण्डवो के विषम स्थिति मे निष्पादित कार्य-समूहो से धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है; इसके विषय मे मत-द्वैविध्य हो नही सकता। इसीलिए यह ग्रन्थरत्न

अपनी सुभग शिक्षा धर्म के चयन के निमित्त देता है, क्योंकि धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बंधु है। अर्थ तथा भार्या बंधु के रूप मे सामान्यतः प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परन्तु निपुण व्यक्तियो के द्वारा सेवित होने पर भी ये दोनों न तो आप्तभाव-मित्र भाव को ही प्राप्त करते है, और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इनके, धर्म निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य तत्त्व है। फलतः धर्म की उपासना ही कल्याणकारी मानव का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिए, महाभारत का यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है :—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोक-गतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥

—आदिपर्व, २।३९१।

पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम

भारतवर्ष भक्तिरस से स्निग्ध है। भक्ति की मधुर धारा से उसका प्रत्येक प्रान्त आप्यायित है। इस भारतवर्ष मे भक्ति का उद्गम कब और कहाँ हुआ? इसका अब विचार किया जायगा। इस प्रश्न की चर्चा रहस्य से शून्य नही है। जब से पश्चिमी विद्वानो ने भारतीय साहित्य तथा धर्म से परिचय पाया, तबसे उनमे से बहुतो का आग्रह रहा है कि भारत में भक्ति की कल्पना ईसाई धर्म की देन है। पाश्चात्य जगत् मे कर्मप्रधान यहूदी धर्म की तुलना मे ईसाई धर्म मे प्रेम की प्रचुरता अवश्यमेव एक ध्यानगम्य वस्तु है। ईसाई मत का मूल सिद्धान्त है—भगवान् का अटूट प्रेम या भगवान् की भक्ति। पाश्चात्य विद्वानो का कहना है कि संसार के इतिहास में ईसाई मत मे ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वहीं से यह भारतवर्ष मे भी प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। भारत भक्ति की कल्पना के लिए ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परन्तु इस प्रश्न की समीक्षा करने पर यह पाश्चात्य मत नितान्त निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है। इस अवसर पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। धर्म के सिद्धान्तों के इतिहास की पर्यालोचना करने पर प्रायः देखा जाता है कि किसी युग मे किसी सिद्धान्त-विशेष की उपोद्बाधक सामग्री विद्यमान रहती है, यद्यपि उस सिद्धान्त का प्रतिपादक शब्द उपलब्ध नही होता। ऐसी दशा मे अभिधान के अभाव मे हम तत् तत् सामग्री की भी उपेक्षा कर बैठते है। यह सत्य है कि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे अनुरागसूचक 'भक्ति' शब्द का सर्वथा अभाव है, परन्तु यह मानना सत्य नही है कि इस अभाव के कारण उस युग मे भक्ति की कल्पना अभी तक प्रसूत हो नही हुई थी। संहिताओ मे कर्मकाण्ड का प्राबल्य था, परन्तु इसका अर्थ नही है कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नही हुआ था। मन्त्रो मे विशिष्ट देवताओ की स्तुति की गयी है, परन्तु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गयी हैं कि इसमे स्तोता के हृदय में अनुराग का अभाव मानना नितान्त उपहासास्पद है। हमारा तो कथन है कि बिना भक्ति-स्निग्ध हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियो का उदय ही नही हो सकता। शुष्क हृदय मे न तो इतनी कोमलता आ सकती है

और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बन्धु आदि नितान्त मनोरम हृदयंगम सम्बन्ध स्थापित करता है। और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्तोता के हृदय मे देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।

कतिपय देवताओं की स्तुतियो का अध्ययन कर हम अपना सिद्धान्त दृढ़ करना चाहते हैं। सर्वप्रथम अग्नि की ही परीक्षा कीजिए। अग्नि वैदिक कर्म-काण्ड के प्रतिनिधि देवता ठहरे, उन्ही के सद्भाव से यज्ञयागों का सम्पादन सिद्ध होता है। अतः शुष्क कर्मकाण्ड के प्रमुख देवता की स्तुति में अनुरागात्मिका भावना का अभाव सहज मे ही अनुमेय है, परन्तु बात ऐसी नही है। वे विपत्तियो के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप मे ही चित्रित नही किये गये हैं, प्रत्युत पिता तथा माता जैसे रागात्मक सम्बन्धो के आधार भी स्वीकृत किये गये हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र अग्नि को मनुष्यो का पिता तथा माता बतला रहा है :—

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

—(ऋग् ६।१।५)

यह आश्चर्य की ही घटना होगी यदि अग्नि को पिता तथा माता बतलाने वाले उपासक के हृदय मे अनुराग की रेखा का उदय न हो, भक्ति की भावना का अवतार न हो।

वैदिक देवताओ मे इन्द्र शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं तथा दस्युओ पर आर्यों के विजय प्रदान करने के कारण वे उनके प्रधान उपास्य देव समझे जाते हैं। बात है भी बिल्कुल ठीक। इन्द्र की अनुकम्पा से आर्यगण अपने शत्रुओं की किलाबन्दी ध्वस्त करने मे सर्वथा समर्थ होते है। ऐसे शौर्य–प्रधान देवता की स्तुति मे केमल रागात्मक संबंध की स्थापना का अभाव संभाव्य प्रतीत होता है, परन्तु उपासको ने इन्द्र के साथ बहुत ही स्निग्ध अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित किया है। इन्द्र केवल पिता ही नही, प्रत्युत माता भी माने गये है—

त्व हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।

(ऋग्वेद ८।९८।११)

इन्द्र उपासको के सखा या पिता ही नही हैं, प्रत्युत पितरो मे सर्वश्रेष्ठ भी है —

सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः।

—(वही, ४।१७।१७

वामदेव गौतम ऋषि की अनुभूति है कि इन्द्र मे मित्रता, सहृदयता तथा भ्रातृ-भाव का इतना मनोरम आवास है कि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इन्द्र के इन गुणो की स्पृहा न रखेगा ? ऋग्वेद के सुन्दर शब्द हैं —

को नानाम वचसा सोम्याय
मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं
को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥

—(वही, ४।२५।२)

इन मन्त्रों मे भक्ति के समान रागात्मक-सम्बन्ध स्थापना की सूचना क्या नही है ?

किन्ही किन्ही सूक्तो मे इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया गया है कि वह शृङ्गार कोटि को भी स्पर्श कर रहा है। इन सूक्तो मे शृङ्गारिक रहस्यवाद की कमनीय चारुता आलोचकों का चित्त हठात् चमत्कृत कर रही है। एक मंत्र मे कृष्ण आङ्गिरस ऋषि से कह रहे हैं कि जिस प्रकार जाया पति को आलिङ्गन करती है उसी प्रकार हमारी मति इन्द्र को आलिङ्गन करती है —

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥

—ऋ० सं० १०।४३।१

दूसरे मंत्र मे काक्षीवती घोषा अश्विनी कुमारो से पूछ रही है—हे अश्विनौ ! आप लोग रात को कहाँ निवास करते हैं ? किसने आप को अपने प्रेम मे बाँध अपनी ओर खीच रखा है जिस प्रकार विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है —

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वा शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

—ऋ० सं० १०।४०।२

इन मंत्रों के अध्ययन से क्या किसी को संदेह रह सकता है कि स्तोता का हृदय भक्तिभाव से स्निग्ध तथा सिक्त था ?

भक्ति की भावना हमे सब से अधिक मिलती है वरुण के सूक्तो मे। वैदिक देवताओ मे वरुण का स्थान सर्वतोभावेन मूर्धन्य है। वह विश्वतश्चक्षुः है;

अर्थात् सब ओर दृष्टि रखनेवाला है। वह धृतव्रत (नियमों को धारण करने-वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक) तथा सम्राट् है। वह सर्वज्ञ है—वह अन्तरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार वह समुद्र पर चलनेवाली नावों का[१]। स्तोता वरुण को दया तथा करुणा गुणों का निकेतन मानता है। वरुण सर्वज्ञ होने से मनुष्यों के अन्तःकरण मे होनेवाले पापो को भली भाँति जानता है और इसलिए वह अपराधियों को दण्ड देता है तथा अपना अपराध स्वीकार कर प्रायश्चित्त करनेवाले व्यक्तियों को वह क्षमा प्रदान करता है। वह ऋत—मांगलिक व्यवस्था—का निर्माता तथा नियन्ता है। स्तोता का हृदय अपराध की भावना से द्रवीभूत हो जाता है और उनसे प्रार्थना करता है—

> य आपिर्नित्यं वरुण प्रियः सन्
> त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
> मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
> यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥
>
> —ऋ० सं० ७।८८।६

[इस मन्त्र का आशय है कि तुम्हारा नित्य आप्त प्रियजन हूँ। मैंने आपके प्रति अनेक पाप किये हैं। इन पापो को क्षमा कर मुझे अपनी मित्रता दीजिए। हे यक्षिन्। हे अद्भुत कर्मो के कर्ता, हमारे पापो को दूर कर दो जिससे अप-राधी बनकर हम अपना भोजन न करे। तुम बुद्धिमान् हो, इस स्तुतिकर्ता को अनिष्ट निवारक वरणीय वस्तु प्रदान करो।] इस स्तुति के भीतर स्तोता की रागात्मिका वृत्ति स्वतः प्रवाहित हो रही है। इस मन्त्र को भक्त हृदय का मधुर उद्गार मानना क्या कथमपि अनुचित कहा जा सकता है? यह सख्य भक्ति का सुन्दर दृष्टान्त माना जा सकता है।

यह हुई मन्त्रों मे तटस्थ रूप से भक्ति की सत्ता। परन्तु प्राचीन आचार्यों की सम्मति मे वेद के मन्त्रो मे साक्षात् रूप से भक्ति तत्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है—'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः' (१।२।९)=भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है। इसकी व्याख्या मे नारायणतीर्थ ने भक्ति तथा उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मन्त्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[२]। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१. वेदा वीना पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः। —ऋ० सं० १।२५।७

२. द्रष्टव्य भक्तिचन्द्रिका पृ० ७७–८२ (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, संख्या९ काशी १९२४)।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥
—ऋ० सं० १।१५६।३

[इस मन्त्र का आशय है—इस संसार के कारण-रूप (पूर्व्यं) उस विष्णु की अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदान्त वाक्यों (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्तुति असम्भव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हम लोग विष्णु के तेज तथा सर्वसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेमलक्षण सेवा करते हैं।] इस मन्त्र में भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥
—ऋ० १।१५६।२

[अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्यनूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे), स्वयं उत्पन्न होनेवाले अथवा समस्त संसार में मद उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये[१]) विष्णु के लिए अपने द्रव्य को तथा स्वयं अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय (महतः) विष्णु के पूजनीय (महि) जन्म तथा उपलक्षणात् कर्म को कहता है—कीर्तन करता है, वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न (श्रवोभिः) से सम्पन्न होकर सबके गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है।]

यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का स्पष्ट प्रतिपादन करती है।

ब्राह्मणयुग में भक्ति की भावना उपासना क्षेत्र में नितान्त दृढ़ रूप से उपलब्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना न्यून होती नहीं दीख पड़ती, प्रत्युत श्रद्धा की भावना से संपुटित होने पर हृदय की अनुरागात्मक प्रवृत्ति बढ़ती पर दृष्टिगोचर होती है। आरण्यकों

---

१. सुमज्जानये स्वयमेवोत्पन्नाय। सुमत् स्वयमिति यास्कः (निरुक्त: ६।२२) यद्वा सुतरां मादयतीति सुमत्। तादृशी जाया यस्य स तथोक्तः तस्मै। सर्वजगन्मादनशील-श्रीपतये इत्यर्थः।

—सायणभाष्य।

मे बहिर्याग की अपेक्षा अंतर्याग को विशेष महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के विपुल प्रचार का यह युग है। इन दोनो से पुष्ट होकर भक्ति की प्रबलता की ओर साधकों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ। उपनिषद् ज्ञान-कांड के सब से श्रेष्ठ माननीय ग्रन्थ हैं, इसमे तनिक भी संदेह नही, परन्तु उनमे भी भक्ति की गरिमा स्थान-स्थान पर अंगीकृत की गयी है।

कठोपनिषद् का अनुशीलन भक्ति के सिद्धान्तों का स्पष्ट निदर्शक है। आत्म-प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते समय यह उपनिषद् बतला रही है —

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनू स्वाम् ।।

—कठ १।२।२३

[यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नही है और न धारणा-शक्ति से और न अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देती है] इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। इस मंत्र मे आत्मा के अनुग्रह की ओर गूढ़ संकेत है, परंतु दूसरे मंत्र मे 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धांत स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको।
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः[1] ।।

—कठ १।२।२०

अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।

वैष्णव धर्म मे 'प्रसाद' (दया, अनुग्रह) का यह सिद्धांत नितांत महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त की कामना-वल्लरी पुष्पित तथा फलित होती है[2]। श्रीमद्भागवत मे इसे 'पोषण' (पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४)

---

१. यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।२०) तथा महानारायण उप-निषद् मे भी आया है। यहाँ शांकर भाष्य के अनुसार 'धातु-प्रसादात्' पाठ है, परंतु इन उपनिषदों मे 'धातुः प्रसादात्' ही स्पष्ट पाठ है।

२. सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां।
नैवार्थदो यत् पुनरर्थता यतः ।।

सिद्धांत कहते है और श्री वल्लभाचार्य का वैष्णव मत इसीलिए 'पुष्टिमार्ग' के नाम से अभिहित किया जाता है। श्वेताश्वतर के अन्य मन्त्र मे तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६।२१) इस उपनिषद् मे भक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है—

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
>
> —श्वेता० ६।२३

"जिस पुरुष को देवता मे उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते है"। उपनिषत्-साहित्य मे 'भक्ति' शब्द का यह प्रथम प्रयोग माना जाता है। अवातर वैष्णव-दर्शन मे गुरु की जो महिमा विशेष रूप से अंगीकृत को गयी है उसी की सूचना इस मन्त्र मे दी गयी है। वैष्णव मत मे भक्ति की अपेक्षा **प्रपत्ति** का गौरव अधिक माना जाता है। प्रपत्ति मे भगवान् ही उपेय है तथा उपाय भी वे ही है। भक्त को केवल उनके शरण मे जाने की आवश्यकता मात्र रहती है। शरणापन्न होते ही भगवान् अपनी निर्मल दया के प्रभाव से उसका उद्धार संपन्न कर देते है। भक्त के लिए तदतिरिक्त कोई कार्य नही रहता। इस प्रपत्ति का सिद्धात भी श्वेताश्वतर मे स्पष्ट शब्दो मे अंकित किया गया है—

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
> यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
> मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
>
> —श्वेता० ६।१८

इस मन्त्र मे ब्रह्मा के भी निर्माण करनेवाले तथा उनके निमित्त वेदो का आविर्भाव करनेवाले अपनी बुद्धि मे प्रकाशित होनेवाले दीप्यमान भगवान् के शरण मे जाने का निःसंदेह वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता वैष्णव धर्म का नितात माननीय ग्रंथ है जिसमे भक्ति के तत्व का विशदीकरण किया गया है। भगवद्गीता इस विषय मे कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदो के प्रति नितान्त

> स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
> मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥
>
> —भागवत ५।१९।२७

ऋणी है अथवा कहना चाहिए कि इन उपनिषदों के तथ्यों का संकलन गीता में किया गया है। इस समीक्षा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति का सिद्धान्त वैदिक है—वैदिक संहिता तथा उपनिषद् में उसके रहस्य का प्रतिपादन है। ब्रह्म सर्वकाम, सत्यसंकल्प है। उसके प्रसाद' से ही साधक इस लोक के क्लेशों से अपना उद्धार पा सकता है। वैष्णव धर्म की यह मूल पीठिका वेद पर अवलम्बित है, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

इस विषय की ओर प्राचीन आचार्यों का भी ध्यान अवश्यमेव आकृष्ट हुआ था। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने 'मन्त्र रामायण' तथा 'मन्त्र भागवत' लिखकर वेद में रामायण तथा भागवत के आख्यानों की सत्ता वैदिक मंत्रों के द्वारा प्रमाणित की है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८७ अध्याय में वेद-स्तुति या श्रुति गीता का भी यही तात्पर्य है। वेदस्तुति का यही तात्पर्य है कि धर्म तथा ज्ञान के समान भक्ति का प्रतिपादन भी श्रुतियो को अभीष्ट है। इस पाण्डित्यपूर्ण स्तुति मे अनेक मंत्रों का अभिप्राय भक्ति के विशद विवरण में दर्शाया गया है। अतः पुराणों के कर्ता वेदव्यास को भी यह अर्थ अभिलषित प्रतीत होता है। होना उचित ही है। वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियो के द्वारा आर्ष दृष्टि से प्रत्यक्षीकृत सत्यो का अलौकिक भण्डार है। वह भारतवर्ष के अवान्तर काल मे विकसित होनेवाले दार्शनिक मतो तथा धार्मिक सम्प्रदायो का वीज प्रस्तुत करता है। अत: श्रुति को कर्म तथा ज्ञान की उद्गम-भूमि होने के अतिरिक्त भक्ति की उद्गमस्थली होना सर्वथा उचित ही है। मन को वश मे करने से भगवद्भक्ति का उदय होता है और मन का वशीकार गुरु की कृपा से ही होता है। इस विषय मे उपनिषद् की नाना श्रुतियो[1] का तात्पर्य वेदस्तुति के इस कमनीय श्लोक मे है—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥

—भाग० १०।८७।३३

---

१. गुरुतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ—

(क) आचार्यवान् पुरुषो वेद। —छान्दोग्य ६।१४।२

(ख) नैषा तर्केण मतिरापनेया।
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥ —कठ १।२९

(ग) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ —मुण्डक १।२।१२

[हे अज, जिन्होने गुरु के चरण को छोड़कर अपनी इन्द्रिय और प्राणो को वश मे कर लिया है, वे भी वश मे न होनेवाले अति चंचल मनरूपी घोड़े को वश मे करने का यत्न करते है। वे उन उपायो से दुःख पाते हैं और इस संसार-समुद्र मे ही पड़े हुए सैकड़ो दुःखों से वैसे ही व्याकुल रहते हैं जैसे जहाज से व्यापार करनेवाले लोग नदी-समुद्र आदि में मल्लाह के विना दुःख पाते हैं।] इस प्रकार वैदिक साहित्य की समीक्षा हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भक्ति का सिद्धान्त वैदिक है तथा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम काल से इस भारतभूमि पर प्रचलित तथा प्रसृत है।

भक्ति के नव प्रकार

श्रीमद्भागवत मे भक्तितत्त्व की मीमासा बड़े वैशद्य से की गयी है। नवलक्षणा भक्ति के रूप ये हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन। इन सब प्रकारो का वर्णन तथा परस्पर सूक्ष्म विभेद का विवरण भागवत मे सुन्दरता से किया गया है। इस क्रम मे एक मनोवैज्ञानिक आरोहण है। भक्ति आरम्भ होती है भगवान् के श्रवण से, भगवान् के नाम तथा गुणों के श्रोत्र से ग्रहण भक्ति की आरम्भिक सीढी है जो कीर्तन, स्मरण आदि सोपानो से चढकर साधक को 'आत्मनिवेदन' के द्वारा भगवत् प्रासाद मे पहुँचा देती है। आत्मसमर्पण इस शृङ्खला की अन्तिम कड़ी है। इनमे से केवल भगवन्नाम के विषय मे स्वल्प विवरण पुराणो के, विशेषतः श्रीमद्भागवत के, आधार पर भक्तितत्त्व के सर्वसुलभ साधन की अभिव्यक्ति के निमित्त यहाँ दिया गया है।

भगवन्नाम—निरुक्ति और प्रभाव

भगवन्नाम की महिमा का वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि जिस प्रकार भगवान् अनन्त हैं, उनके नाम भी अनन्त हैं तथा उन नामो की महिमा भी अनन्त है। जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप तथा गुण का वर्णन करना असम्भव है, उसी प्रकार उनके नामो का भी वर्णन असम्भव ही है। आवश्यकता है दृढ विश्वास की, अपनी अभिरुचि के अनुसार अनन्त के अनन्त नामो मे से किसी एक नाम को चुन लेना चाहिए। और उसी नाम का स्मरण तथा मनन यथा-शक्ति निरन्तर करते रहने की आवश्यकता है। इसी भगवन्नाम के विषय मे कतिपय तथ्य यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

भगवान् के नामो के प्रकार का वर्णन या विवेचन भी एक प्रकार से असम्भव ही है, परन्तु सामान्यरूप से हम उन्हे दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं (१) गुणनाम तथा (२) कर्मनाम। कुछ नाम तो भगवान् के गुणो के आधार पर निश्चित किये गये हैं—जैसे भक्तवत्सल नाम। भगवान् के भक्तो के प्रेमी होने के कारण यह नाम उन्हे दिया गया है। कर्मनाम भगवान् के किसी विशिष्ट कर्म को लक्षित कर निर्दिष्ट है—जैसे 'हरि' तथा 'कंसनिपूदन' आदि नाम। पापो के हरणकर्ता होने के कारण भगवान् का नाम 'हरि' है, तो पापाचारी कंस को मारने के कारण उन्हें 'कंसनिपूदन' नाम प्राप्त हुआ है। प्रधानरूप से इन्ही गुण तथा कर्म के आधार के ऊपर भगवान् के नाम वेद-शास्त्रों मे निर्धारित किये गये हैं। प्रमाण मे भगवान् का यह वचन है (शान्ति, नारायणीयपर्व, अ० २४१)

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्
ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्व सामसु
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥

महाभारत के इन वचनों के आधार पर श्रीमद्भागवत के इस प्रसिद्ध श्लोक मे 'गुणकर्मनाम्नाम्' का यही तात्पर्य है कि भगवान् के नाम दो प्रकार के होते हैं—गुणनाम और कर्मनाम। इसलिए इस शब्द का उचित विग्रह होगा—**गुणाश्च कर्माणि चेति गुणकर्माणि तेषां नामानि तेषाम्।** समग्र पद को द्वन्द्व समास मानना ठीक नही। फलतः 'गुणाश्च कर्माणि च

नामानि च तेषाम्' विग्रह स्वारस्य नही रखता । श्लोक यहाँ दिया जाता है—

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

—भाग० ६।३।२४

भगवान् के कतिपय नामों का निर्वचन

(१) **वासुदेव**—इस शब्द का प्रथम अंश 'वासु' शब्द वस् आच्छादने (ढकना) तथा वस् निवासे (रहना) इन दो धातुओं से निष्पन्न होता है, (क) **वासयति आच्छादयति विश्वमिति वासुः** । (ख) **वसत्यस्मिन् विश्वमिति वासुः । वासुश्चैव देवश्चेति वासुदेवः** जिस प्रकार सूर्य अपने किरणो से समस्त जगत् को आच्छादित करता है, उसी प्रकार इस विश्व को आच्छादित करने के कारण भगवान् 'वासुदेव' नाम से अभिहित किये जाते हैं। सब जगत् उन्ही मे निवास करता है—रहता है, इस कारण भी वे इस नाम से अभिहित होते हैं। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द के भीतर **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** तथा **'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः'** दोनो श्रुति-वाक्यो का तात्पर्य समाविष्ट है। इस निर्वचन का प्रमाण महाभारत तथा विष्णु-पुराण के ये वचन हैं :—

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ ४१ ॥

—शान्तिपर्व, अ० ३४१ ।

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

—विष्णु १।२।१२

(२) **केशव**—इस नाम की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकारो से दी गयी है। (क) महाभारत के अनुसार - सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के किरण जो प्रकाशित होते हैं, वे ही भगवान् के केश-पद-वाच्य हैं और उनके धारण करने के कारण ही भगवान् केशव पुकारे जाते हैं :—

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥

—शान्ति २४१।४८

इस पद्य की नीलकण्ठी व्याख्या—**केशैः केशवत् सूक्ष्मैः सूर्यादिरश्मिभिस्त-द्रूपेण वा याति गच्छति इति केशवः।** इसी अर्थ को लक्ष्य कर गीता का वचन है—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

'केशव' नाम के जपने का सद्यः फल है नेत्र की प्राप्ति। इस प्रसंग मे अन्धे 'दीर्घतमा' ऋषि के चक्षुष्मान् बनने की वैदिक कथा का निर्देश शान्तिपर्व अ० २४१।४९–५७ मे विस्तार से किया गया है।

(ख) 'विष्णुसहस्रनाम' के भाष्य मे शंकराचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारो से की है—

(i) 'अभिरूपाः केशा यस्य'—अत्यन्त सुन्दर केशो से सम्पन्न होने से 'केशव'।

(ii) केशी के वध करने के कारण केशव—

यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन।
तस्मात् केशव नाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यति॥

—विष्णु० ५।१६।२३

यहाँ 'केशीवधक' शब्द से पृषोदरादित्वात् सिद्धि मानी गयी है।

(iii) क (=ब्रह्मा)+अ (विष्णु) + ईश (शिव) =केश अर्थात् ब्रह्मा विष्णु-शिव रूप त्रिमूर्ति। ये तीनो जिसके वश मे रहकर अपने निर्दिष्ट कार्यो का सम्पादन करते है वह 'परमात्मा' है—केशव।

(३) **पृश्निगर्भ**—पृश्नि जिसका गर्भ या गर्भस्थानीय हो उसे पृश्निगर्भ कहते हैं। पृश्नि के अर्थ है—अन्न, वेद, जल तथा अमृत। ये भगवान् मे सर्वथा गर्भरूप से रहते हैं अर्थात् निवास करते हैं, इसलिए वे **पृश्निगर्भ** नाम से संकेतित किये जाते हैं।

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा।
ममैतानि सदा गर्भं पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम्॥

—शान्ति २४१।४५

इस नाम के जपने का फल भी निर्दिष्ट है 'त्रित' नामक ऋषि को उनके एकत और द्वित नामक भ्राताओ ने ईर्ष्यावश कूप मे गिरा दिया था। वहाँ से वे प्रार्थना करते थे भगवान् का यही विशिष्ट नाम लेकर—'पृश्नि गर्भ! त्रितं पाहि'। इस नाम के कीर्तन का सद्यः फल उन्हें प्राप्त हुआ और वे उस

अन्ध कूप से बाहर निकल आने मे समर्थ हुए। यह वैदिक कथा ऋग्वेद मे अनेक मन्त्रो मे निर्दिष्ट है।

(४) हरि—भगवान् का यह सुप्रसिद्ध नाम है। इसकी व्युत्पत्ति नारायणीयपर्व (अ० ३४२।६८) में इस प्रकार है :—

इडोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद् हरिरहं स्मृतः॥

'हरि' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गयी है—(क) 'इडोपहूता सह दिवा' मन्त्र के द्वारा आहूत भगवान् यज्ञो मे स्वनिर्दिष्ट हविर्भाग को ग्रहण करते हैं तथा (ख) उनका वर्ण (रङ्ग) हरित् है—हरिन्मणि (नीलमणि) के समान उनका रूप नितान्त सुन्दर तथा रमणीय है। विष्णुसहस्रनाम मे ३५९ वाँ नाम हविर्हरिः है जिसकी व्याख्या मे शंकराचार्य ने पूर्वोक्त श्लोक को उद्धृत कर भगवान् को यज्ञीय हविष् का ग्रहणकर्ता माना है। यह व्याख्या 'यज्ञो वै विष्णुः' के वैदिक आधार के ऊपर आधृत है।

(५) कृष्ण—'कृष्ण' शब्द की महाभारतीय व्याख्या विलक्षण है। भगवान् ने इस शब्द की निरुक्ति के प्रसङ्ग मे स्वयं कहा है—

कृष्णाभि मेदिनी पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन॥

—तत्रैव, श्लोक ७९।

मैं काले लोहे की बड़ी कील बनकर पृथ्वी का कर्षण करता हूँ और मेरा वर्ण भी कृष्ण है—काला है। इसीलिए मैं 'कृष्ण' नाम से पुकारा जाता हूँ। अन्य ग्रन्थो मे इस शब्द की निरुक्ति भिन्न प्रकार से की जाती है।

भगवन्नामो मे से कतिपय नामो की निरुक्ति दिखलाने का यही तात्पर्य है कि गुणकर्म के अनुसार विभिन्न निरुक्तियाँ महाभारत तथा पुराणों मे प्रदर्शित की गयी है। भगवान् के गुणो की न इयत्ता है, न कर्मों की। फलतः इन निरुक्तियो मे वैभिन्न होने पर भी कोई आश्चर्य नही होता। वक्ता की अभिरुचि के अनुसार ही इनमे भेद की कल्पना की जानी उचित है।

एक और भी तथ्य ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार विभिन्न मन्त्रो की उपासना का फल शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, भगवान् के नामों के जप का फल भी उसी प्रकार समझना चाहिए। सप्तशती के मन्त्रो का चुनाव उद्देश्य की सिद्धि के लिए भिन्न प्रकार का मन्त्रशास्त्र मे बतलाया गया है। भगवान् के नामो के विषय मे भी यही बात है। पूर्वोक्त निरुक्तियो को दिखलाते समय नारायणीय पर्व ने नाम-जप के विभिन्न उद्देश्यों की ओर भी

संकेत किया है, यथा 'केशव' के जपने का फल है—अन्धे मनुष्य को चक्षु का लाभ तथा 'पृश्निगर्भ' नाम के जपने का फल है—जल में पड़े हुए या डूबते हुए मनुष्य का उस आपत्ति से उद्धार। नाम-जप के सार्वभौम प्रभाव का यह संकोचीकरण नही है, प्रत्युत नाम-निरुक्ति की उपयोगिता दिखलाने के लिए शास्त्र की एक विशिष्ट सूझ है। इन नामो की एक दीर्घकालीन परम्परा है अर्थात् वेद मे भी ये नाम परमतत्त्व के द्योतनार्थ प्रयुक्त किये जाते थे और उसी वैदिक परम्परा के अन्तर्गत पुराणो की परम्परा समन्वित होती है। जो आलोचक वेद और पुराण के तात्पर्यों मे भेददृष्टि अपनाने के पक्षपाती है, उन्हें स्मरण रखना चाहिए महाभारत का यह सुपुष्ट मत—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास तथा पुराण के द्वारा वेद का समुपबृंहण करना चाहिए। शैली का भेद भले ही हो, परन्तु पुराण वेद के द्वारा प्रतिपादित सत्य तथा तदर्थ का विस्तार करते हैं।

भगवन्नाम का प्रभाव

भगवान् नामो के जपने का फल पुराणों मे बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। नाम-जप के माहात्म्य का वर्णन करना असम्भव ही है। नाम के ग्रहण करते ही नामी का रूप साधक के मानस नेत्र के सामने स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो उठता है। नामी के समान नाम भी चिन्मयवपु होता है। नाम के दिव्यरूप होने से उसमे एक अद्भुत शक्ति होती है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्र के द्वारा महर्षि पतञ्जलि का साधकों को यह उपदेश है कि नाम का जप करते समय उसके द्वारा द्योतित अर्थ की भावना अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि नाम और नामी का, शब्द और अर्थ का एक अविभाज्य नित्य सम्बन्ध सर्वदा स्थापित रहता है। नाम की प्रभविष्णुता के ऊपर अनुभवसम्पन्न सन्तो और साधकों का आग्रह होना नितान्त नैसर्गिक है। गोस्वामीजी ने तो नाम को राम से भी बढ़कर सिद्ध कर दिया है तथा बालकाण्ड के आरम्भ में ही उनका 'नाम-रामायण' अपनी अलौकिक नूतनता के हेतु साधको मे पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। 'नाम' को गोस्वामीजी ने 'चतुर दुभाषी' कहकर साधनाजगत् के एक महनीय तथ्य की अभिव्यक्ति की है। दुभाषी का कार्य होता है विभिन्न भाषा बोलनेवाले व्यक्तियो के बीच सुबोध माध्यम का कार्य निष्पन्न करना। नाम का भी यही स्वरूप है। भक्त भगवान् के स्वरूप को जानने में यदि समर्थ नही है, तो 'नाम' उसे बतलाने मे सर्वथा कृतकार्य होता है। 'नाम' के द्वारा भक्त भगवान्

के सामने पहुँचने मे तथा उनका रसास्वादन करने मे सर्वथा समर्थ होता है। इसलिए 'नाम' की महिमा से पुराण तथा भक्ति-साहित्य भरा पड़ा है।

पाप दूर करने का महौषध है—नाम-स्मरण। प्रायश्चित्त पाप दूर करने का सुगम उपाय माना जाता है अवश्य, परन्तु उसमे उतना प्रभाव तथा व्यापकत्व नही होता। इस विषय मे विष्णुपुराण का यह वचन कितना प्रमाणभूत है—

> यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
> विघ्नो, यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः।
> मुक्ति चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
> किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते॥
>
> —विष्णु० ६।८।५७

आशय है कि जिसमे चित्त लगानेवाला नरकगामी नही होता, जिसके चिन्तन मे स्वर्गलोक भी विघ्नरूप है, जिसमे चित्त लग जाने पर ब्रह्मलोक भी तुच्छ प्रतीत होता है और जो अविनाशी प्रभु शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषो के हृदय मे स्थित होकर उन्हे मुक्ति प्रदान करते है, उस अच्युत का चिन्तन करने से यदि पाप विलीन हो जाते हैं, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

नाम के द्वारा पापराशि उसी प्रकार जल जाती है, जिस प्रकार आग से रुई का ढेर—

> सकृत् स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्यशतैः कृतम्।
> पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः॥

नामस्मरण करते ही भगवान् ज्यो ही साधक के हृदय मे विराजते हैं, त्यों ही उसके समस्त दोषो को नष्ट कर देते है जिस प्रकार ऊँची-ऊँची लपटवाला अग्नि वायु के साथ मिलकर सूखी घास के ढेर को जला डालता है—

> यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः।
> तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्विषम्॥
>
> —विष्णु० ६।७।७४

अजामिल का उपाख्यान नामस्मरण के विषय मे नितान्त विश्रुत है। मरते समय धोखे से भी यदि भगवान् का नाम उच्चारित हो जाय, तो शुभ फल होने मे तनिक भी विलम्ब नही होता। पुत्र को बुलाने की अभिलाषा से उच्चारित 'नारायण' नाम न होकर 'नामाभास' ही तो है, परन्तु इसके सार्वभौम प्रभाव से प्रत्येक भक्त परिचित है। नाम के शोधन के विषय मे श्रीमद्भागवत का प्रख्यात पद्य है—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि
स्तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ।।

—भाग० ६।२।११

नाम के उच्चारणमात्र से ही पवित्रकीर्ति भगवान् के गुणो का सद्यः ज्ञान हो जाता है जिससे साधक का चित्त उसमे रमने लगता है। नामस्मरण का यही परम उद्देश्य है भगवान् के निश्छिद्र गुणो मे अपने आपको लगा देना और तदुत्पन्न आनन्द-रस का आस्वादन देना। अन्य फल गौण है, यही तो मुख्य फल है। भगवान् मे, उनके गुण, लीला और स्वरूप मे रम जाने का एकमात्र सुलभ साधन है—नामसंस्मरण

नाम-व्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ।

भगवान् के नाम का स्मरण प्रतिक्षण होना चाहिए। एक क्षण के लिए भी उसकी विस्मृति होना महान् अपराध है। नाम ही ऐसी वस्तु है जो भगवान् की रसमयी-मूर्ति हमारे नेत्रो के सामने सर्वदा उपस्थित कर देती है। अन्य साधनो से यह कार्य सुचारुरूप से नही हो सकता। इसीलिए शास्त्र का वचन है—

एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम् ।

—विष्णुसहस्रनामभाष्य मे उद्धृत ।

लुटेरो ने किसी सम्पत्तिशाली धनाढ्य को लूट लिया हो, तो चिल्लाना ही स्वाभाविक होता है। उसी प्रकार यदि मानव का एक भी क्षण भगवान् के ध्यान के विना वीत जाय, तो उसे अत्यन्त विलाप करना चाहिए। और यह ध्यान भगवान् के नाम द्वारा ही अनायास सिद्ध हो सकता है।

कलियुग की महिमा

नाम स्मरण की उपादेयता इस कलिकाल मे विशेषरूप से मानी गयी है। विष्णुपुराण (अंश ६, अ० २) मे इसका विवरण बड़े ही नाटकीय ढंग से किया गया मिलता है। अल्प आयास से महत् फल की प्राप्ति पाने की जिज्ञासा मुनियो को वेदव्यासजी के पास ले गयी। वे गंगाजी मे उस समय स्नान कर रहे थे। पानी के ऊपर आते ही वे जोरो से चिल्लाने लगे—

शूद्रः साधुः कलिः साधुः.......................... ।
योषितः साधुधन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ? ।।

मुनि लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ इस नवीन तथ्य के द्योतक वाक्यपुंज पर। स्नान से निवृत्त होने पर मुनियो ने जब अपने संदेह का निराकरण चाहा, तब वेदव्यास ने इन तीनों की धन्यता के विषय मे अपना निश्चित मत प्रकट किया। फल की सिद्धि का चतुर्युगीय अनुपात इस प्रकार व्यासजी ने बतलाया—१० वर्ष (सत्ययुग) : १ वर्ष (त्रेता) : १ मास (द्वापर) : १ दिनरात (कलि)। तात्पर्य यह कि सत्ययुग मे तप, ब्रह्मचर्य तथा जपादि की सिद्धि के लिए ३६०० दिन (तीन हजार छः सौ दिन) लगते हैं, वहाँ कलियुग मे एक अहोरात्र ही पर्याप्त है। इतना ही नहीं, साधन की लघुता की दृष्टि से भी कलियुग धन्य है—

ध्यायन् कृते, यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति, तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

—विष्णु ६।२।१७

कृतयुग मे (चंचल चित्त से दुःसाध्य) ध्यान से, त्रेता मे (दीर्घव्यय-साध्य) यज्ञ से, द्वापर मे (महनीय साधनों की सहायता से) अर्चना से जो फल प्राप्त होता है, वही कलि मे केशव के (अल्प आयास से साध्य) संकीर्तन से होता है। इसी तथ्य को इसी अध्याय मे पराशरजी ने पुनः दुहराया है—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥

—तत्रैव, श्लोक ३९

वेदव्यास की दृष्टि मे कलि की धन्यता का यही कारण है। श्रीमद्भागवत मे तथा अन्य पुराणो मे भी यह मान्यता दुहरायी गयी है। (द्रष्टव्य भाग० १२।३।५२)। 'हरये नमः' मन्त्र की सार्वकालिक व्यवस्था इसे सर्वपातको के क्षालन की क्षमता प्रदान करती है (भाग० १२।१२।४६)। सूर्य अन्धकार को तथा प्रचण्ड बवंडर मेघ को समग्ररूप से दूर कर देता है, उसी प्रकार भगवान् का संकीर्तन प्राणियो के व्यसन तथा विपत्ति को दूर कर फेंक देता है (तत्रैव श्लोक ४७)। इसीलिए कलियुग के मानवों का परम कर्तव्य है कि वे भगवान् के अनन्त नामो मे से किसी नाम को चुन ले और उसीका यथाशक्ति निरन्तर कीर्तन किया करें यह कीर्तन उभय लोको मे अभीष्ट फल का प्रदाता होता है। इस लोक में ऐहिक भौतिक कल्याण तथा परत्र पारलौकिक निःश्रेयस (मुक्ति) की सद्यः प्राप्ति भगवन्नाम के जप से तुरन्त होती है। इसलिए इस मार्ग का आश्रयण प्रत्येक मानव का कर्तव्य होना चाहिये। ब्रह्माजी का नामस्मरण विषयक यह पद्य साधक को सर्वदा ध्यान मे रखना चाहिए—

यस्यावतारगुण-कर्म-विडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

—भाग० ३।९।१५

नाम-जप के प्रधान आचार्य, अपनी वीणा पर भगवन्नाम के कीर्तनकार श्री नारदजी की यह उक्ति साधको के लिए संवल का काम करती है—इसे कौन भूल सकता है?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोक-गुणानुवर्णनम्॥

—भाग० १।५।२२

पुण्यकीर्ति भगवान् के गुणो का कीर्तन मनुष्यो की तपस्या का, वेदाध्ययन का, स्वनुष्ठित यज्ञ का, सुन्दर कथन का, ज्ञान तथा दान का अस्खलित फल बतलाया गया है। फलतः भगवान् की अनुकम्पा से ही उनके नाम के स्मरण में चित्त लगता है। पुराण के भक्तिविषयक सिद्धान्तो का यही निष्कर्ष है।

पौराणिक धर्म पर तान्त्रिक प्रभाव

तन्त्रों के विषय मे घोर अज्ञान साधारण जनता मे तथा विज्ञ पण्डितजनों मे भी व्याप्त है। उसकी उपासना-पद्धति के गुह्य तथा रहस्यात्मक होने के कारण अज्ञान या अल्पज्ञान का होना कुछ अनुचित भी नही कहा जा सकता। तनु विस्तारे धातु से औणादिक ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्—उणादि सूत्र ६०८) प्रत्यय के योग से निष्पन्न तन्त्र शब्द शास्त्र, सिद्धान्त, विज्ञान तथा विज्ञान-विषयक ग्रन्थ का बोधक[१] है। शंकराचार्य ने साङ्ख्यदर्शन को भी 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है[२]। परन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ मे ही अधिकतर किया जाता है। यन्त्र मन्त्र आदि से समन्वित एक गुप्त साधन मार्ग के उपदेशक धार्मिक ग्रन्थो के लिए ही सकुचित अर्थ मे 'तन्त्र' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। 'तन्त्र' की ही अपर संज्ञा 'आगम' है। देवता के स्वरूप, गुण-कर्म आदि का चिन्तन करने वाले मन्त्रों का जहाँ उद्धार किया जाता है तथा इन मन्त्रो को यन्त्र मे सयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के **पाँचों अंग**—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र व्यवस्थित रूप से दिखलाये जाते हैं, उन ग्रन्थो की ही संज्ञा तन्त्र है। वाराही तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) तथा ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थ को आगम या तन्त्र कहते हैं[३]। 'तन्त्र' का वैशिष्ट्य

---

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥
—कामिक आगम का वचन

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता।
—शाङ्करभाष्य २।१।१

'न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः'।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥
—महाभारत

३. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तम् आगमं तद् विदुर्बुधाः ॥
—वाराहीतन्त्र का वचन

'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक अथवा विधानात्मक आचार तन्त्र का मुख्य विशिष्ट विषय है। ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति **निगम** (= वेद) पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह **आगम** (तन्त्र) पर भी आश्रित है। निगम और आगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम पहेली है—नितान्त दुष्कर तथा दुर्भेद्य, परन्तु तान्त्रिक ग्रंथो के अनुशीलन के आधार पर यह सुलझाया जा सकता है। तथ्य यही है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदवाह्य। कुल्लूकभट्ट ने 'श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी च' कहकर वेदानुकूल सिद्धान्तो के प्रकाशक तन्त्रो की ओर संकेत किया है और उन्हें सर्वथा श्रुत्यनुकूल स्वीकृत किया है। वैष्णव आगम (पाञ्चरात्र तथा वैखानस) तथा शैव आगम (पाशुपत, शैव सिद्धान्त आदि के मूल ग्रन्थ) के अनेक सिद्धान्त वेदानुकूल ही हैं, यद्यपि किन्ही अवैदिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के कारण इन्हें अनेकत्र 'वेदवाह्य' कहा गया है। महिम्नःस्तोत्र मे इनकी गणना 'त्रयी' के बाहर ही की गयी है[१]। शंकराचार्य ने पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त **चतुर्व्यूहवाद** को वेदविरुद्ध माना[२] है, यद्यपि उपासनाविषयक अनेक तथ्यों को वे वेदानुकूल ही मानते हैं। शैवागम को इसी प्रकार अप्पय दीक्षित वेदवाह्य कभी अंगीकार नही करते। तन्त्रो के वेद से वाह्य तथा विपरीत होने तथा जनसमाज मे निन्दित होने का कारण भी खोजा जा सकता है।

शाक्ततन्त्र के सप्तविध आचारो[३] मे **वामाचार** अन्यतम आचार है। शाक्त मत मे पञ्चमकारोपासना एक नितान्त अन्तरंग तथा गूढ साधना है। इसके अन्तर्गत पाँच मकारादि शब्द आते हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। समयाचार के अनुसार ये अन्तर्याग के लिए उपयुक्त साधन है।[४] इन्हे सामान्य भौतिक अर्थ मे न लेकर अभौतिक प्रतीकात्मक रूप मे ग्रहण करना ही शास्त्र-मर्यादा है। परन्तु इस मर्यादा का उल्लंघन कर इन्हें स्थूल भौतिक अर्थ मे लेकर

---

१. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च॥

—महिम्नःस्तोत्र, श्लोक संख्या ४।

२. द्रष्टव्य शाकरभाष्य ब्रह्मसूत्र २।२।४२–४५।

वेदप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान् इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्। २।२।४५ के भाष्य का अन्तिम निर्णय।

३. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, षष्ठ सं० (१९६०)।

४. वही, पृष्ठ ७८३–७८५।

उनका वैसा ही प्रयोग करना वामाचार की प्रतिष्ठित उपासना विधि है। इस उपासना विधि का केन्द्र है आसाम मे स्थित प्रख्यात (या कुख्यात ?) शक्ति-पीठ कामाख्या, जहाँ तिब्बती पूजा-पद्धति का भी पर्याप्त प्रभाव पडना स्वयं तंत्र ग्रंथो को मान्य है। रुद्रयामल तंत्र की उक्ति है कि वसिष्ठ ऋषि ने इस उपासना को महाचीन (भोट देश=तिब्बत मे स्वयं सीखकर भारतवर्ष मे प्रचार किया। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तिब्बत मे 'बोन' नामक एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय था जिसकी नितान्त स्थूल भौतिकवादी उपासना का प्रचार पूरबी सीमान्त प्रदेशो से होकर आसाम तथा बंगाल मे दशमी शती के आसपास हुआ। यह निश्चयेन विदेशी तथा अवैदिक थी। इसे भी शास्त्र की मर्यादा के भीतर अंतर्भुक्त करने तथा वैदिकत्व का पूरा आवरण डालने की दृष्टि से ही वैदिक मंत्रद्रष्टा वसिष्ठ के द्वारा इसके प्रचार की कल्पना गढ़ ली गयी होगी—ऐसी कल्पना करना निराधार नही कहा जा सकता। इस प्रकार वामाचार की घृणित, जघन्य पूजा-विधि देखकर ही तंत्रो के विषय मे विद्वानो मे हेय दृष्टि का उदय हुआ। परंतु सब बछड़ो को एक ही डण्डे से हाँकना ठीक नही होता।

तंत्र के अधिकाश सिद्धांत तथा उपासना-प्रकार भी नितान्त वेदानुकूल हैं। वेद तथा तंत्र का भेद अधिकारी-भेद तथा युगभेद से माना गया है। वेद के क्रियाकलापो मे त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) का ही अधिकार है, वहाँ तत्र ने अपने क्रियाकलाप के लिए अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनो के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। इसमे किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नही है। निगम जहाँ मुख्यतया ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतया क्रिया-प्रधान है यह तो हुआ अधिकारी-भेद से पार्थक्य। युगभेद से भी पार्थक्य माना गया है। महानिर्वाण तंत्र कहता है कि आगम मार्ग के विना कलियुग मे उद्धार का कोई मार्ग नही है; वहा कुलार्णवतन्त्र युगधर्म के विषय मे कह रहा है—सत्ययुग मे वेद तथा वैदिक उपासना का विधान है; त्रेता मे स्मृति तथा स्मार्त पूजा का; द्वापर मे पुराण तथा पौराणिक उपासना का और कलियुग मे तंत्र तथा तान्त्रिक उपासना का –

> विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।
>
> —महानिर्वाणतंत्र।

> कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
> द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः॥
>
> —कुलार्णवतंत्र[1]

निष्कर्ष यह है कि तान्त्रिकी उपासना विद्वज्जन से लेकर पामरजन तक तथा ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक अबाध रूप से, अनियंत्रित रूप से सबके लिए विहित है।

विशेषतः उस कलियुग के लिए वह अनिवार्य अनुष्ठान है, जिसमे हम-आप इस समय निवास करते है। फलतः समयोपयोगी तथा विश्वोपयोगी होने से तान्त्रिक अनुष्ठान का आजकल बोलबाला सर्वोपरि है।

तन्त्र और पुराण

तन्त्र तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों के विषय मे पुराणों मे अनेक और परस्पर-विपरीत मत उपलब्ध होते हैं। देवीभागवत तथा वराहपुराण मे इस विषय का विवेचन विशेष रूप से मिलता है।

(क) लोकों के मोहन के निमित्त ही शंकर ने तन्त्रो की रचना की—समस्त तन्त्रो की। शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य आगमो का निर्माण भगवान् शंकर ने ही किया। यह उन ब्राह्मणो के उद्धारार्थ है जो वेदमार्ग से वहिष्कृत है[1]। तन्त्रों के विषय मे पुराण की यही सार्वभौम दृष्टि है।

(ख) तन्त्र मे ऐसे भी अंश है जो वेद से विरुद्ध नही है। फलतः ऐसे अंशो के ग्रहण मे वैदिको का किसी प्रकार के दोष की उद्भावना न करनी चाहिए। परन्तु वेद से भिन्न अर्थवाले तान्त्रिक अनुष्ठान मे द्विज कभी अधिकारी नही होता। वहाँ तो उन्ही जनो का अधिकार होता है जो वेद से वहिर्भूत होते है :—

> तत्र वेदाविरुद्धोऽशोऽप्युक्त एव क्वचित् क्वचित्।
> वैदिकैस्तद्-ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित् ॥ ३१ ॥
> सर्वथा वेद-भिन्नार्थे नाधिकारी द्विजो भवेत्।
> वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तत्राधिकारवान् ॥ ३२ ॥
>
> देवीभाग०, ७ स्कन्ध, ३९ अ०।

वेदानुष्ठान को ही विहित माननेवाले पुराणकर्ताओं का यह दृष्टिकोण सर्वथा नैसर्गिक है। उस युग में भी तन्त्र सर्वथा वेदवाह्य नही माने जाते थे, प्रत्युत उनमे वेद से अविरुद्ध सिद्धान्तो की भी सत्ता अवश्यमेव वर्तमान थी जिसका अनुष्ठान सर्वथा ग्राह्य और आदरणीय माना जाता था।

(ग युगभेद से भी उपासनाभेद को किन्ही पुराणों ने अंगीकार किया है। चारो युगो मे क्रमशः वेद, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र का प्राबल्य था। फलतः कलियुगी जीवो के कल्याणार्थ तन्त्र का प्राबल्य वर्तमान युग मे मानना अनेक पुराणो मे उल्लिखित है[2]।

---

१. देवीभागवत ७।३९।१८

२. वराह० ७०।२४–२५; पद्म ६।५३।४–५; ६।५३।२६–२७।

(घ) देवीभागत के समय मे वैखानस आगम के अनुयायी तप्त मुद्रा धारण करते थे और इस पुराण की दृष्टि मे वे वेदमार्ग से वहिष्कृत माने जाते थे। – (देवीभाग० ९।१।३१)।

(ङ) देवीभागवत के भी वचन ऊपर के सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं। यह वेद को ही धर्म का एकमात्र प्रमाण मानता है। इसलिए वेदानुकूल होने से ही स्मृति तथा पुराण भी प्रमाणकोटि मे माने गये हैं। रही तन्त्र की प्रामाणिकता की वात। यहाँ भी वही सिद्धान्त लगाया गया। वेद से अविरोधी तन्त्र तो ग्राह्य होता है और वेद से विरोधी तन्त्र कथमपि मान्य नही होता। इससे स्पष्ट है कि देवीभागत के काल मे तन्त्र का समावेश पुराणो में हो गया था तथा दोनो प्रकार के उसके रूप थे—वेदविरोधी तथा वेदाविरोधी। इनमे द्वितीय रूप ही प्रमाण कोटि के भीतर माना जाता था। **वेदविरोधी तन्त्र की मान्यता कथमपि ग्राह्य नहीं थी।** देवीभागवत के ये तथ्य वड़े ही सारवान् तथा महत्त्वशाली हैं[१]।

पुराणो मे तान्त्रिक विपयो के अनुप्रवेश के समयविपय मे विद्वानों मे ऐकमत्य उपलब्ध नही होता। डा० हाजरा ने इस विपय का अपने ग्रन्थ मे वहुत विचार कर कुछ निष्कर्षो को निकाला है[२]—अष्टम शती से प्राचीनतर पुराणांशों मे तान्त्रिक पूजा का लेश भी विद्यमान नही है। प्रथमतः पुराणो मे किसी देवविशेष के मुद्रान्यास आदि का ही वर्णन किया गया और तदनन्तर समग्र तान्त्रिक विधियो का उपन्यास स्मार्त कर्मों के संग मे ही विना किसी वैमत्य के पुराणो ने प्रस्तुत किया। दशम तथा एकादश शती मे पुराणों मे तन्त्रो ने अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रामाण्य प्राप्त कर लिया। गरुड और अग्नि-पुराण मे उपलब्ध तान्त्रिक विधान इसके प्रमाण हैं।

---

१. श्रुतिस्मृति उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्–त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥ २१ ॥

× × ×

पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्टं यथातथम्।
धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कदाचन ॥ २४ ॥
वेदाविरोधि चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशयः।
प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धं यत् तत् प्रमाण भवेन्न च ॥ २५ ॥

—देवीभागवत, ११ स्कन्ध, १ अध्याय।

२. Puranic Records on Hindu Rites and Customs नामक ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद मे इनका विस्तार देखिए।

अग्निपुराण का पूजाविधान पाञ्चरात्र विधि के अनुसार है, यह अन्तरंग अनुशीलन से स्पष्ट होता है। पाञ्चरात्रों से वर्तमान अग्निपुराण अत्यन्त प्रभावित है। इसपर शैव तथा शाक्त तन्त्र का कुछ भी प्रभाव लक्षित नही होता। इसने २५ पाञ्चरात्र संहिताओ का नामतः उल्लेख किया है[१]। इस पुराण ने २१ अ० से लेकर १०६ अ० तक तान्त्रिक कर्मो तथा विधानों का ही विस्तृत अथ च विशद विवरण दिया है। आगे-पीछे देखने से यह स्पष्टतः किसी अर्वाचीन युग मे जोड़ा गया अंश है। यहाँ पाञ्चरात्र विधियों का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन है कि प्रकाशित पाञ्चरात्र संहिताओ के साथ इनकी तुलना कर इनके मूल स्थान का भी पता लगाया जा सकता है।

उदाहरणार्थ, **तान्त्रिकी दीक्षा** का विवेचन बड़े वैशद्य के साथ किया गया है। साथ ही साथ त्रिविध पशुओ (विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल पशु) के निमित्त विभिन्न प्रकार की दीक्षा विवेचित है। समय दीक्षा (८१ अ०), संस्कार दीक्षा (८२ अ०), निर्वाण दीक्षा (८३ अ०) का विवरण अपने पूर्ण तान्त्रिक वैभव तथा विस्तार के साथ यहाँ इतनी सूक्ष्मता से है कि ग्रन्थकार किसी तान्त्रिक ग्रन्थ का यहाँ संक्षेप प्रस्तुत करता प्रतीत होता है जो उसकी संग्राहिका शैली के नितान्त अनुरूप है। इस प्रकरण मे तान्त्रिक मन्त्रों का भी यथास्थान प्रयोग मिलता है। [२]षट्कर्मो—शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण—का विवरण अ० १३८–१४४ अ० तक विस्तार के साथ है। गरुडपुराण मे भी तान्त्रिक विधिविधानों की वर्तमान उपलब्धि (अ० ७–११, २१–२३, ३५–३७, ३८ आदि) उसके आविर्भावकाल को नवम-दशम शती में नियन्त्रित कर रही है।

तन्त्र का सन्निवेश प्राचीन पुराण जैसे वायु, भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय आदि मे बिल्कुल नही है। भागवत में वैदिकी पूजा के संग मे तांत्रिकी तथा मिश्र पूजा का संकेतमात्र है, कही भी विस्तार नही किया गया। उपपुराणो के निर्माणकी प्रेरणा, लेखक की दृष्टि मे, तंत्रो के व्यापक प्रभाव का परिणत फल मानी जा सकती है। उपपुराण किसी एक देवता के पूजा विधान के विव-

---

१. अग्नि ३१, अ० २–५ श्लो०। इन नामों की डा० श्रादेर कृत An Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya Samhita (Adyar. Madras) मे दिये गये नामों से तुलना करनी चाहिए जिससे अग्निपुराण के आविर्भावकाल का भी पता चल सकता है।

२. शान्तिवश्य स्तम्भनादि–विद्वेषोच्चाटने ततः।
मारणान्तानि शंसन्ति षट् कर्माणि मनीषिणः॥

रण के निमित्त ही निर्मित हुआ है। फलतः उपपुराणों के युग मे तान्त्रिक पूजा का विधान पुराणो मे स्वतंत्र रूप से किया गया उपलब्ध होता है। महापुराणों मे तो वैदिक मन्त्रो के संग मे ही तान्त्रिक मंत्रो का समावेश कहीं-कहीं वर्तमान है। यह घटना दशम-एकादशी शती मे प्रचुरतया से उपलब्ध होती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए देवीभागवत का एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

देवीभागवत की महापुराणता का खण्डन ऊपर सप्रमाण किया गया है। यह निःसन्देह एक उपपुराण ही है, परन्तु शाक्त लोगो के लिए यह किसी भी महापुराण से कम महत्त्व नही रखता। इसमे पराशक्ति के स्वरूप का जहाँ दार्शनिक विवेचन है, वहाँ उनकी पूजा विधि का गम्भीर तान्त्रिक प्रतिपादन है। समग्र पुराण का वातावरण ही तन्त्रमय है। नाना रूपो मे शक्ति का प्राधान्य बतलाना पुराण-कर्ता को अभीष्ट है। विभिन्न स्थानों मे विशिष्ट देवी के नाम का उल्लेख एक पूरे अध्याय (७।३८) मे मिलता है जिसमे कोलापुर की महालक्ष्मी, तुलजापुर की देवी, हिंगुला, ज्वालामुखी, शाकम्भरी, भ्रमरी आदि के स्थानो का उल्लेख कर विन्ध्याचल-निवासिनी विन्ध्यादेवी सर्वोत्तमोत्तम बतलायी गयी है। इससे पूर्व ही एक अध्याय (७।३५) मे षट्चक्र के निरूपण मे पूर्ण तान्त्रिकता की अभिव्यक्ति है। शारद तथा चैत्र—उभय नवरात्रो के व्रत भगवती की प्रसन्नता के कारण होते हैं तथा ७।३९ में देवी का पूजा-विधान वैदिक तथा तान्त्रिक उभय मन्त्रो की सहायता से निष्पन्न माना गया है। ७।४० मे बाह्यपूजा का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे पूर्व तृतीय स्कन्ध के २६ तथा अन्य अध्यायों मे कुमारी-पूजन जैसे विशुद्ध तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि बतलायी गयी है तथा इस कार्य मे निषिद्ध कुमारियो का भी विवरण विषय की पूर्ति के लिए किया गया है। नवम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में सरस्वती का स्तोत्र, पूजा, कवच आदि तान्त्रिक अनुष्ठान के अनिवार्य अगों का विवरण देकर ग्रन्थकार लोकप्रचलित षष्ठी, मंगल चण्डी तथा मनसा (नाग) देवी के पूजन तथा उससे जायमान फल को आख्यानमुखेन वर्णन करता है। (९।४६ ४७ तथा ४८ क्रमशः)। इन देवियो के पूजाक्षेत्र बंगाल मे होने से इस पुराण के निर्माण का भौगोलिक क्षेत्र भी यही पूर्वी प्रान्त माना जाना चाहिए। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि बंगला साहित्य के मध्य युग मे इन देवियों के आख्यानों का वर्णन अलंकृत शैली मे काव्य रूप मे उपलब्ध होता है जिन्हे मंगल काव्य के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार देवीभागवत शक्ति की तान्त्रिक आराधना का प्रतिपादक एक महनीय उपपुराण है जो विषय की गम्भीरता, प्रतिपादन की विविधता और दार्शनिक तत्त्वो के उन्मीलन मे किसी भी महापुराण से घटकर नहीं है।

श्रीसत्यनारायण व्रत-कथा

यद्यपि भारत के कोने-कोने में प्रत्येक शुभ अवसर पर श्री सत्यनारायण व्रत-कथा का समादर किया जाता है तथापि प्रचलित कथा की पुष्पिका में दिया गया 'स्कन्दपुराणे रेवा खण्डे' पण्डितों में सदैव विवाद का विषय रहा है, क्योंकि स्कन्दपुराण की इस समय उपलब्ध प्रतिलिपियों के रेवाखण्ड मे यह कथा नही है। किंवदन्तियो से यह अनुश्रुत है कि जो वस्तु संकेतित संस्कृत की पुस्तको में उपलब्ध न हो सके, उसके बारे मे समझना चाहिए कि या तो वह ब्रह्मलोक मे है या कालकवलित हो चुकी है, फिर भी आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता को यह सहसा मान्य नहीं। साथ ही स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथावस्तु का विष्णुव्रत-कथाओ मे साक्षात् कोई लगाव भी नही है। तो क्या यह परम्परा निर्मूल है ? इस कौतूहल को लेकर इसकी मौलिकता के अन्वेषण में प्रायः समुपलब्ध सभी पुराणों का अध्ययन करने पर यह कथा भविष्यपुराण, खण्ड २ के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायो मे वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पुस्तकाकार की पृष्ठसंख्या ४५०-५८, सं० १९६७ और पत्राकार पृ० सं० २७४-७९) मिली है। कथा कुल ६ अध्यायों मे है। प्रचलित पुस्तक से बहुधा साम्य रखते हुए भी चन्द्रचूड आदि राजाओं की कथाएँ विशेष रूप मे वर्णित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे पुस्तक का रूप देते समय स्थल-विभ्रम के कारण स्कन्दपुराणे आदि कह दिया गया और कथा को पूर्ण बनाने के लिए कुछ श्लोक भी गढ़ लिये गये।

श्रीसत्यनारायण व्रत-कथा के विषय मे इस कथा के ऊपर तीन आक्षेप किये गये हैं जिनका उत्तर यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है :—

(१) स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड मे यह कथा उपलब्ध होती है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित रेवाखण्ड मे इस कथा का अभाव अवश्य है, परन्तु बंगवासी प्रेस, कलकत्ता के संस्करण में यह उपलब्ध होती है। हाल मे ही (१९६२) गुरुमण्डलग्रन्थमाला (कलकत्ता) के विंशपुष्प के रूप मे प्रकाशित रेवाखण्ड मे यह कथा चार अध्यायों में (अ० २३३–२३६) तथा पृ ११२३–११३५ मे उपलब्ध है। प्रचलित कथा से अन्तर केवल अध्यायो का ही है; मूल रेवाखण्ड का तृतीय अध्याय (२३५ वाँ अध्याय) लम्बा होने से दो अध्यायो मे विभक्त कर दिया है जिससे आज इसमें पाँच अध्याय हैं।

(२) लेखक का दूसरा आक्षेप है—"स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथावस्तु का विष्णुव्रत कथाओं से साक्षात् कोई लगाव भी नही है"। यह आक्षेप निराधार है। रेवाखण्ड मे नर्मदा के तीरस्थ शिवलिङ्गों का विशेष विवरण

अवश्य मिलता है, परन्तु साथ ही साथ विष्णु-नारायण के पूजन-अर्चन का वाहुल्य भले ही न हो, अभाव तो कथमपि नही है। लिखा है कि रेवा (नर्मदा) के दक्षिण तीर पर शैव मन्दिरो की प्रतिष्ठा है, तो वाम तीर पर विष्णु मन्दिरो की सत्ता है। अध्याय १९३, १९४ तथा १९५ इन तीन अध्यायों मे विष्णु की महिमा तथा लक्ष्मीनारायण के विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार विष्णु की मान्यता रेवाखण्ड मे स्वीकृत होने से तत्-सम्बद्ध कथा की प्राप्ति उसके भीतर होना नितान्त स्वाभाविक है। फलतः रेवाखण्ड से विष्णुव्रत-कथा का सम्बन्ध स्वाभाविक है।

(३) भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायो मे यह कथा अवश्य मिलती है। रेवाखण्डोय कथा से इसकी तुलना करने पर यहाँ की सत्यनारायण कथा विस्तृत रूप में दी गयी है। कतिपय नामो के अन्तर से कथा वही ज्यों की त्यो है। परन्तु रेवाखण्डीय साधु बनिया की कथा मे सत्य की उपेक्षा का जो दुष्परिणाम दिखलाया गया है, वह इतना स्वाभाविक तथा क्रमवद्ध है कि आलोचक को उसे ही मूल कथा मानने को वाध्य होना पड़ता है। कुछ उपबृहण करके ही चार अध्यायोवाली कथा ६ अध्यायो मे वढाकर दी गयी है। पुराणों मे कथाओ का सन्निवेश कई स्थलो पर कतिपय सामान्य पार्थक्य के साथ मिलता ही है। इसमे आश्चर्य करने की बात नही। इस कथा का भौगोलिक क्षेत्र नर्मदा-तीर बतलाया गया है, जो स्पष्टतः अपने मूल, रेवा (नर्मदा) खण्ड का अविस्मरणीय संकेत है।

(४) सत्यनारायण के व्रत तथा कथा का प्रचलन केवल उत्तरी भारत में ही नही है, प्रत्युत महाराष्ट्र मे भी तथा आन्ध्र प्रान्त मे भी यह कथा सर्वतो-भावेन प्रचलित है। और सर्वत्र **इसका मूल स्थान रेवाखण्ड ही माना गया है**। फलतः इतनी दीर्घकालीन तथा दीर्घदैशिक परम्परा का अतिक्रमण करना कथमपि उचित नही है। यह कथा निःसन्देह रेवाखण्ड की ही है, इसमे सन्देह करने की कोई भी गुन्जाइश नही।
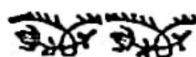
दशम परिच्छेद

पौराणिक देवता

वैदिक देवता पुराणकाल तक आते-आते अपनी पूर्ण विभूति को धारण नही रख सके। इनमे से कुछ के स्वरूप का लोप ही हो गया और कतिपय अपने उदात्त रूप से च्युत होकर सामान्य स्तर पर विचरण करने लगे। वरुण का पौराणिक रूप इस तथ्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है। वैदिक काल में वरुण अत्यन्त उदात्त स्तर पर कल्पित देव थे—नितान्त न्यायप्रिय, विश्व के प्रत्येक पदार्थं के ज्ञाता तथा कर्मानुसार प्राणियो के कर्मफल के वितरण करनेवाले ऐश्वर्यसम्पन्न देव; परंतु पुराणकाल में उनमें एकदम ह्रास हो गया। कहाँ उनका उदात्त वैदिक रूप और कहाँ जलदेवता के रूप मे सीमित उनका पौराणिक विग्रह! वैदिक देवो मे विष्णु तथा रुद्र का प्रामुख्य इस युग मे निर्विवाद रहा। कुछ लोग गणेश को पुराणकाल की नयी उपज मानते हैं जिसमे आर्य से भिन्न पूजानुष्ठान का प्रचुर प्रभाव अङ्गीकार करते हैं, परंतु यह सर्वमान्य मत नही है। अधिकांश मनीषी गणपति को वैदिक देव मानते है जिनकी स्तुति 'ब्रह्मणस्पति' के रूप मे वैदिक संहिताओ मे उपलब्ध है।[1] इस काल मे कतिपय प्राचीन वैदिक देवो के विषय मे नवीन कल्पना जाग्रत हुई—सूर्य इसके विशिष्ट निदर्शन हैं। शक-कुषाणो के आगमन से प्रथम शती मे उनके उपास्य देव सूर्य का भी तान्त्रिक अनुष्ठान भारत में प्रचलित हुआ। इस नवीन कल्पना को पुराणो ने, विशेषतः भविष्यपुराण ने, स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है। भारतवर्ष मे सूर्य के उपासको का अभाव होने के कारण शकद्वीप मे सूर्योपासक ब्राह्मणो (मग, भोजक या शाकद्वीपी) को विष्णु-वाहन गरुड ने स्वयं लाकर उस उपासना मे महान् योगदान दिया—इसे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकारनेवाले पुराण पर अप्रिय वार्ता के दवाने का दोष कभी आरोपित नही किया जा सकता। प्राचीन काल से आनेवाली सूर्यपूजा के साथ इस नवीन तान्त्रिक सूर्यपूजा का समन्वय स्थापित कर पुराणो ने अपनी

---

१. बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के स्वरूप के विषय मे द्रष्टव्य डा० मैकडानल: वैदिक माइथोलोजी (हिन्दी रूपान्तर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१), पृष्ठ १९१–१९७।

उदार संग्राहक वृत्ति का परिचय दिया है। हनुमान् भी इस प्रकार एक नवीन देव के रूप मे गृहीत किये गये हैं। रामचन्द्र की उपासना के संग मे उनके अनन्य सेवक हनुमान् की उपासना का लोकप्रिय प्रसार सर्वथा नैसर्गिक है। हनुमत्पूजा का प्रचार दशम शती मे आरम्भ हो चुका था, क्योंकि ९२२ ईस्वी मे निर्मित मन्दिर मे हनुमान् की मूर्ति स्थापित की गयी है।

देवों के स्वभाव—स्वरूप मे भी कुछ अन्तर अवश्य आ गया। पौराणिक देवता का रूप सगुण—साकार था। फलतः वे मानवों के विशेष सन्निकट तथा सान्निध्य मे उपनीत हुए। वे मानव-सुख-दुःख के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध मे आबद्ध हो गये। संसार के नाना दुःखो से सन्तप्त मानव अपनी दुःखद गाथा सुनाने के लिए किसी सहानुभूतिपूर्ण देवता की खोज मे था जो उसे सुने, उसे दूर करने का अमृत औषध प्रदान करे तथा विचलित मानव-मानस को स्वस्थ बनाकर शान्ति प्रदान करे। ऐसे देव की कल्पना पुराणों ने की। पौराणिक देवता कही आकाश मे विचरणशील, जगत् के कार्यो से उदासीन व्यक्ति न थे, प्रत्युत भूतलचारी मानवो के सुख-दुःख मे हाथ बटानेवाले थे। इस प्रकार वैदिक देवो की अपेक्षा वे व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण भक्तो के बिलकुल पास थे। वे अधिक मात्रा मे वैयक्तिक हो गये। वे निर्विशेष न होकर सविशेष रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

पुराण मे **समन्वय साधन** के बीज ही नही, प्रत्युत पल्लवित तरु की कल्पना साकार रूप से वर्तमान है। प्राचीन युग से आनेवाली, लोक समाज मे प्रचलित होनेवाली इतस्ततः विकीर्ण रूप से उपलब्ध होनेवाली उपासना-पद्धतियों, आचार-विचारो, कल्पना-मान्यताओ—सबका एक विराट् समन्वय उपस्थित कर जो साहित्यिक रचना इनमे उपलब्ध है वह वैविध्य धारण करने पर भी सुसमंजस है, अनेकता से मण्डित होने पर भी ऐक्य भावापन्न है, लोकप्रिय जन-विश्वासो का आगार होने पर भी शास्त्रीय विश्वासो से सम्पन्न है। इसी समन्वय भावना के कारण अवतारवाद का जन्म हुआ जिसके साथ भक्ति का सार्वभौम राज्य पुराणो पे विराजने लगा। कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की दुरूहता के कारण वे जनप्रिय नही हो सके। फलतः मानवहृदय को विकसित करनेवाली भक्ति ही एकमात्र प्रधान उपासना-मार्ग के रूप मे गृहीत हुई। इसी प्रकार धर्म तथा मानव-स्वभाव के संवेगात्मक पक्ष पर आग्रह कर पुराण ने मानव-मन की परिष्कृति के नवीन मार्ग की उद्भावना की। धर्म तथा साहित्य मे इस भक्तिमार्ग के योग से जो मधुरिमा, जो कोमलता आयी है वह पुराण-युग की एक विशिष्ट देन है।

(क)

पञ्चदेव

विष्णु

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु सौर देवता हैं अर्थात् सूर्य के ही अन्यतम रूप हैं। 'विष्णु' नाम की निरुक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है। यास्क का कथन है कि रश्मियो द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के हेतु सूर्य 'विष्णु' नाम से अभिहित किये जाते हैं। विष्णु के साथ त्रिविक्रम (अर्थात् तीन डगो को रखना) नाम का अनिवार्य सम्बन्ध है। विष्णु ने अपने तीन डगों—पादविक्षेपो—के द्वारा समस्त विश्व को माप रखा है। विष्णु के इस वैशिष्ट्य का प्रतिपादक यह मन्त्र प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है—

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
> समूढमस्य पांसुरे ॥
>
> —(ऋग्० १।२२।१७)

इसीलिए 'उरुगायः' (विस्तीर्ण गतिवाला) और उरुक्रमः (विस्तीर्ण पादप्रक्षेप करनेवाला) विशेषण विष्णु के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध हैं। ये तीन क्रम क्या हैं ? इसकी द्विविध व्याख्या उपलब्ध होती है। यास्क ने इस विषय मे शाकपूणि तथा और्णवाभ नामक आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। शाकपूणि के अनुसार (तथा अर्वाचीन संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों के अनुरूप) विष्णु के तीन क्रम का सम्बन्ध जगत् के तीन लोको—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से है जो धीरे-धीरे नीचे से ऊपर की ओर है। और्णवाभ के मन्तव्यानुसार इन तीन डगो का सम्बन्ध सूर्य की दैनंदिन परिक्रमा के तीन स्थानो उदयस्थान, मध्य बिन्दु तथा अंतस्थान से है। परंतु यह व्याख्या वैदिक मंत्रो से विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं प्रतीत होती है। विष्णु का तृतीय क्रम सबसे ऊंचा स्थान बतलाया गया है जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है ('परमं पदमव भाति भूरि'—ऋ० १।१५४।६)। यही उनका

अथ यद् विपितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।

—निरुक्त १२।१९

यथा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वम्, तदा विष्णुरादित्यो भवति॥

—दुर्गाचार्य २।३

प्रिय लोक है जिसकी प्राप्ति के लिए साधक की कामना सतत जागरूक रहती है। वहाँ उनके भक्त लोग आनन्द मनाया करते हैं। वह सबका सच्चा बन्धु हैं। उसके परमपद मे मधु का झरना (उत्स) वर्तमान है जिससे उसके भक्त आप्यायित रहते हैं। ऋग्वेद का कहना है—विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सदा आकाश मे वितत सूर्य के समान देखते हैं—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

—(ऋग् १।२२।२०)

इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि विष्णु का तृतीय पद या परमपद आकाश मे ऊँचे पर स्थित है। जिस प्रकार आकाश मे रश्मियो को चारों ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है, उसी प्रकार यह परमपद भी उस ऊँचाई से चारो ओर चमकता है। ऋग्वेद का यह मंत्र ही स्वतः और्णवाभ की कल्पना की पुष्टि न करके शाकपूणि के सिद्धान्त को सिद्ध तथा प्रामाणिक बतला रहा है।

विष्णु वेद मे एक बलरहित निर्बल देवता के रूप मे चित्रित नही किये गये हैं। इन्द्र के साथ उनकी गाढ मित्रता तथा सहवास से भी यह बात अनुमेय है कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर्यशाली तथा बलसम्पन्न देवता हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घतमा औचथ्य ऋषि ने विष्णु के तीन वीर्यपूर्ण कार्यो का उल्लेख किया है—(१) उन्होने पृथिवी के ऊपर विद्यमान लोको का निर्माण किया है, (२) ऊर्ध्वलोक मे विद्यमान आकाश को दृढ बनाया है। किसी युग मे वह हिलता-डुलता अस्थिरता का दृष्टान्त बना हुआ था। विष्णु के प्रभाव से ही वह अपने स्थान पर दृढ तथा स्थिर बना हुआ है। (३) तीसरा पराक्रम है तीन डग रखना जिसका उल्लेख पहले ही किया गया है। 'भयंकर पर्वत पर रहनेवाला (गिरिष्ठा), स्वतंत्रता से विचरण करनेवाला (कुचरः) सिंह जिस प्रकार प्राणियों मे अपने पराक्रम से प्रख्यात है, उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यो की स्तुति के पात्र हैं—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥

—(ऋग् १।१५४।२)

वेद मे विष्णु का सम्बन्ध गायों के साथ विशेष रूप से दीख पड़ता है और यह परम्परा वैष्णव धर्म के इतिहास मे सर्वत्र लक्षित है। काण्व मेधातिथि ऋषि की आध्यात्मिक अनुभूति है—विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (ऋग्वेद १।२२;१८)

अर्थात् विष्णु अजेय गोप हैं—ऐसे रक्षक हैं जिनका दम्भन या पराजय कथमपि नही किया जा सकता। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति और भी स्पष्टतर है। उनका कथन है कि विष्णु के परमपद मे या उच्चतम लोक मे गायों का निवास है जो भूरिश्रृङ्गा—अनेक श्रृङ्गो को धारण करनेवाली तथा 'अयासः'—नितांत चंचल हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ॥

—(ऋग् १।१५४।६)

भौतिक जगत् में 'भूरिश्रृङ्गा अयासः' गाये सूर्य की चंचल किरणे हैं जो आकाश मे नाना दिशाओं को उद्‌भासित करती दीख पड़ती है। इन्ही मन्त्रों के आधार पर अवान्तरकालीन वैष्णव मत के अनेक सिद्धान्त अवलंबित हैं। विष्णु का सर्वोच्च पद 'गोलोक' कहलाता है जिसका वैष्णव ग्रन्थों में बड़ा ही सांगोपांग वर्णन मिलता है।[1] गोपवेषधारी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण ही है, इसमे संदेह की गुंजायश नही। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ के विचित्र सौंदर्य की कल्पना के अवसर पर इस गोप-वेषधारी विष्णु का स्मरण किया है—

रत्नच्छाया-व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥

—मेघ १।१५

विष्णु का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बड़ा घनिष्ठ है। अनेक मन्त्रों मे वे दोनो एक साथ ही प्रशंसित किये गये हैं। वृत्र के मारने के अवसर पर इन्द्र विष्णु से प्रार्थना करते है कि वे अपने विक्रम को और भी अधिक बढा दें। संहिताकाल में ही विष्णु का पद देव-मंडली मे कम महत्त्वपूर्ण न था, इसका परिचय हमे एक अन्य घटना से भी मिलता है। एक मन्त्र में वे गर्भ के रक्षक बतलाये गये है तथा अन्य देवो के साथ गर्भ की स्थिति तथा पुष्टि के लिए उनसे प्रार्थना की गयी है। मानव-जीवन के संरक्षण मे जो देवता नितांत समर्थ तथा कृतकार्य है, वह सोमयाग मे विशेष महत्त्वपूर्ण न होने पर भी साधारण जीवन के लिए उपयोगी, गौरवशाली तथा लोकप्रिय अवश्य हैं; इसमे तनिक भी संदेह नही है।

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसंहिता ३।२।

ब्राह्मण-युग में विष्णु

ब्राह्मण-युग मे यज्ञसंस्था का विपुल विकास सम्पन्न हुआ और इसके साथ ही साथ देवमण्डलो मे विष्णु का महत्त्व भी पूर्वापेक्षया अधिकतर हो गया। विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गयी—**यज्ञो वै विष्णुः**। और इसमे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ऋत्विजों की दृष्टि मे विष्णु समस्त देवताओ मे श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे, क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार यज्ञ से बढ़कर पवित्र तथा श्रेयस्कर वस्तु अन्य होती ही नही। ऐतरेय ब्राह्मण[१] के आरम्भ मे ही अग्नि हीन (अवम) देवता माने गये है तथा विष्णु (परम) श्रेष्ठ देव स्वीकार किये गये है। इस युग मे विष्णु के तीनों डगो का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से स्थापित किया गया और इनका अनुकरण यज्ञ में यजमान के द्वारा भी किया जाने लगा। यज्ञ मे यजमान 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण कर तीन पगो को वेदी पर रखता है। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के साथ यजमान का ऐक्य-स्थापन ब्राह्मण ग्रंथ का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस ग्रंथ मे असुर से युद्ध के अवसर पर विष्णु के तीन क्रम रखने की कथा का उल्लेख हे। विष्णु ने असुरो से पृथ्वी छीनकर इंद्र को दी। असुरो तथा इंद्र-विष्णु मे लोको के विभाजन के विषय मे झगड़ा हुआ। असुरों ने कहा कि जितनी पृथ्वी विष्णु अपने तीन पगो के द्वारा ले सकते हैं, उतनी पृथ्वी इंद्र को मिलेगी। तब विष्णु ने अपने पगो से समग्र लोक, वेद तथा वाणी इन तीनो को मापकर स्वायत्त कर लिया।[२] शतपथ ब्राह्मण का भी कथन इसी से मिलता-जुलता है। इस ब्राह्मण के अनुसार विष्णु ने अपने पैरो के रखने से देवताओ के लिए वह सर्वशक्तिमत्ता अर्जन कर दी जिसे वे धारण किये हुए हैं[३]। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथो मे विष्णु असुरो से पृथ्वी तथा सर्व-शक्तिमत्ता छीननेवाले गौरवशाली देवता के रूप मे प्रतिष्ठित होते हैं।

इस विशाल ब्रह्माण्ड के भीतर विष्णु की अदम्य शक्तिमत्ता, अलौकिक प्रभाव तथा उपयोगिता समझने के लिए उनके वास्तव स्वरूप की समीक्षा

---

१. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता।
—ऐतरेय ब्राह्मण १।१।

२. इंद्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। ता ह जित्वोचतुः कल्यामहा इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः। सोऽब्रवीदिंद्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकं युष्माकमितरद्। इति। स इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्।
—ऐतरय ब्राह्मण ६।३।१५।

३. शतपथ ब्राह्मण १।९।३।९

नितांत आवश्यक है। विश्व मे दो शक्तियाँ हैं—पोषक शक्ति तथा शोषक शक्ति, धनात्मक शक्ति तथा ऋणात्मक शक्ति। इसकी वैदिक परिभाषा है—अग्निषोम, प्राण तथा रयि। जगत् के मूल में ही दोनो शक्तियाँ जागरूक रहती हैं। इन्ही दोनो शक्तियो के नाना प्रभाव तथा उपबृंहण का सम्मिलित परिणाम वह वस्तु है जिसे हम जगत् के नाम से पुकारते है। इनमे से एक शक्ति पोषण करती और दूसरी शक्ति शोषण करती है। इस अग्निषोमात्मक विश्व मे अग्नि तत्त्व के प्रतिनिधि हैं रुद्र, तो सोमतत्त्व के प्रतीक हैं विष्णु।

भगवान् रुद्र का भौतिक आधार वस्तुतः अग्नि ही है। अग्नि के दृश्य तथा भौतिक आधार के ऊपर रुद्र की कल्पना वेद मे की गयी है। दोनो का साम्य बिल्कुल स्पष्ट तथा विशुद्ध है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है; अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिंग की कल्पना युक्तियुक्त रूप से की गयी है। शिव की जलधारी अग्निवेदी का प्रतीक है। जिस प्रकार अग्नि वेदो पर जलते है, उसी प्रकार शिव-लिंग जलधारी के मध्य मे रखा जाता है। अग्नि मे घृत की आहुति के समान शिव का अभिषेक जल के द्वारा किया जाता है। शिव-भक्तो के भस्म धारण करने की प्रथा का रहस्य इसी घटना मे छिपा हुआ है। भस्म अग्नि से उत्पन्न होता है और इस भस्म को शिव के अनुयायी उपासक अपने उत्तमांग पर धारण करते है। अतः साक्षात् रूप से दोनो रूपो की तुलना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्र ही अग्नि के प्रतिनिधि हैं। इस विषय मे वैदिक प्रमाणो का अभाव नही है। ऋग्वेद (२।१।६) का 'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः' मंत्र डंके की चोट इस एकीकरण की ओर संकेत कर रहा है। अथर्व का मंत्र 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (अथर्व ७।८३) इसी ओर इङ्गित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण रुद्र की आठो मूर्तियो को आठ भौतिक पदार्थो का प्रतिनिधि बतला रहा है जिनमे रुद्र अग्नि के साक्षात् प्रतिनिधि है—

> अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः। पशूना पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्य अशान्तान्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततमम्।
>
> —शतपथ १।७।३।८

इस प्रकार रुद्र अग्नि के प्रतीक ठहरते हैं।

विष्णु सोम के प्रतिनिधि है। जगत् का पोषक तत्त्व है सोम। **सोम ही इस नील गगन के** प्रागण में विचरणशील चंद्रमा है। सोम ही **ओषधियों का शिरोमणि** है पृथ्वी के प्रागण में। सोम का रस निकालकर अग्नि मे हवन किया जाता है। ऋत्विग् तथा यजमान यज्ञ के प्रसादरूप से इसी सोमरस का

पान कर अलौकिक तृप्ति तथा संतोष का अनुभव करते हैं। सोमरस के पान का फल है अमृतत्व की प्राप्ति, ज्योति की उपलब्धि तथा देवत्व का ज्ञान। प्रमाथ काण्व ऋषि इस प्रख्यात मंत्र के द्वारा अपनी अनुभूति को वर्णमय विग्रह पहना रहे हैं—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥
—(ऋग् ८।४८।३)

सोम ही अमृत के सूक्ष्म बिंदुओं की वर्षा कर औषधियों को पुष्ट करता है। सोम ही सुधा के द्वारा देव तथा पितर दोनों समुदायों का आप्यायन करता है। इसीलिए वैदिक ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है तथा सखा मित्र के लिए मैत्रीभाव प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे ऊपर करुणा तथा मैत्री की वर्षा कीजिए और हमारे जीवन के निमित्त हमारी आयु का विस्तार कीजिए—

शम्भो भव हृद आपीत इन्दो
पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः
प्राण आयुर्जीवसे सोम तारीः॥
—(ऋग् ८।४८।४)

इस प्रकार इस विश्व में पोषक तत्त्व है सोम। भगवान् विष्णु इसी सोम का प्रतिनिधित्व करते हैं। पोषक तत्त्व मात्रा में सर्वदा स्वल्पकाय होता है। वह बढ़ते-बढ़ते समग्र शरीर को व्याप्त कर लेता है जिससे उसकी सत्ता का अनुभव उस शरीर के प्रत्येक अङ्ग में प्रत्येक अवयव में, अनुभवकर्ता को भली भाँति लग सकता है। स्वल्पता के गुरुता में परिणत होने में विलंब नहीं लगता। उपयुक्त पात्र में आहित होने पर इस तत्त्व की आकस्मिक वृद्धि तथा विकास में तनिक भी देर नहीं लगती। इसी सिद्धांत का प्रतिपादक है विष्णु का वामन रूप। वामनो वै विष्णुरास—इस ब्राह्मण वाक्य का आध्यात्मिक अर्थ यही है कि जो स्वल्पकाय है वही बृहत्तर काय में परिणत हो जाता है। जगत् का पोषक तत्त्व मात्रा में कितना भी छोटा क्यों न हो, वह अपनी वृद्धि के अवसर पर समग्र विश्व को व्याप्त कर लेता है। अपने पराक्रम में अनुस्यूत होकर अपने रूप का विस्तार कर लेता है। विष्णु के मोहिनी रूप धारण करने का भी रहस्य इसी तथ्य में अंतर्निहित है। देवताओं को अमृत पिलाने में विष्णु का ही हाथ था। उनके अभाव में तो यह असुरों की

सम्पत्ति बन गया रहता। विष्णु की सुधापान कराने की कथा का संकेत सोम के द्वारा अमृतपान करने की ओर है। तंत्रसाधना से परिचित विद्वान् भली भाँति जानते हैं कि राम ही तारा के रूप मे परिणत होते है तथा कृष्ण काली का रूप धारण करते हैं। ये सब प्रमाण विष्णु के पोषक तत्त्व अथवा सोम तत्त्व के प्रतीक होने के सिद्धांत के प्रबल पोषक हैं।

सोमसम्बद्ध देवता की सौर देवता के रूप मे परिणति पाने का कारण उतना दुरूह नही है। सोम का प्रकाश सूर्य की किरणों के प्रसरण का परिणाम है। इसीलिए सोम सूर्यमण्डल का निवासी भी कहा जाता है। महाकवि कालिदास का कथन है—

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान् पितृंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते॥

—विक्रमोर्वशीय ३।७

इस प्रकार सोमतत्त्व के प्रतीकभूत विष्णु को सौर देवता के रूप मे ग्रहण करना कोई विशेष आश्चर्य की बात नही है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनो देवताओ मे विष्णु को जगत् का पालक माननेवाले पुराण भी इसी वैदिक सिद्धान्त की पर्याप्त मात्रा मे पुष्टि करते हैं।

विष्णु का पौराणिक स्वरूप

पुराणो ने इस जगत् के मूल मे वर्तमान, नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय, एकरस तथा हेय के अभाव से निर्मल परब्रह्म की ही विष्णु संज्ञा दी है। वह प्रकृति से भी श्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ अन्तरात्मा मे स्थित परमात्मा, रूप, वर्ण, नाम आदि विशेषणो से विरहित तथा षट् विकारो—जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिणाम, क्षय तथा विनाश—से सर्वथा शून्य रहता है। उसके विषय मे केवल इतना ही कहा जाता है कि **'वह सर्वदा हैं'**—

शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्।

—(विष्णु १।२।११)

जिस समय महाप्रलय उपस्थित है, तब न तो दिन था, न रात्रि, न आकाश था और न पृथ्वी थी; न तो अन्धकार था और न प्रकाश ही था; न इनके अतिरिक्त ही और कुछ था। उस समय श्रोत्र आदि इन्द्रियो का तथा बुद्धि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म और पुरुष था (विष्णु १।२।२३)। तात्पर्य यह है कि नारदीय सूक्त मे तदेकं की संज्ञा से जिस ब्रह्म का कीर्तन किया गया है वही विष्णु है। इस विष्णु के दो रूप होते हैं—

(क) उपाधिरहित ब्रह्म के प्रथम रूप हैं—प्रधान और पुरुष।

(ख) दूसरा रूप है—काल। यही दोनों सृष्टि तथा प्रलय को अथवा प्रकृति और पुरुष को संयुक्त तथा वियुक्त करता है। यह कालरूप भगवान् अनादि हैं तथा अनन्त हैं। इसीलिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी कभी नही रुकते। अर्थात् नित्य काल के प्रभाव से जगत् के उदयादि प्रवाहरूप से निरन्तर होते रहते हैं। कभी रुकते ही नही।

प्रधान तथा पुरुष दोनो अलग-अलग स्थित रहते है, परन्तु सायंकाल उपस्थित होने पर वही सर्वव्यापी परमेश्वर अपनी इच्छा से विकारी प्रकृति और अविकारी पुरुष मे प्रविष्ट होकर उन्हे क्षोभित करता है। तभी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। उस ब्रह्म या विष्णु का प्रथम रूप पुरुप है। प्रधान तथा व्यक्त (महदादि) उसके दूसरे रूप हैं तथा सबको क्षोभित करनेवाला काल उसका परम रूप है। इस प्रकार पुरुष, प्रधान, व्यक्त तथा काल उसके रूप अवश्य हैं, परन्तु वह इन चारों से भी परे है। भगवान् विष्णु के परम विशुद्ध पद को सूरि लोग ही देखते है। तात्पर्य यह है कि विष्णु योगीजनो की ही दृष्टि से अपने हृदयाकाश मे उदित सूर्य के समान साक्षात् किया जाता है, अन्यथा नही—

> प्रधान-पुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
> पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद् विष्णोः परमं पदम् ॥
>
> —विष्णु १।२।१६

विष्णु सर्वव्यापी है और यह विश्व उन्ही मे वसा हुआ है। इसीलिए वे 'वासुदेव' नाम से विश्रुत है। 'वासुदेव' शब्द की यह विष्णुपुराणीय निरुक्ति महाभारतीय निरुक्ति से सर्वथा साम्य रखती है।[1]

विष्णु के इस व्यापक रूप का संकेत उनके मूर्त रूप के आयुधों और आभूषणो से भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है—

(१) कौस्तुभमणि—जगत् के निर्लेप, निर्गुण तथा निर्मल क्षेत्रज्ञ स्वरूप का प्रतीक।

---

१. सर्वत्रासौ समस्तं वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

—(विष्णु १।२।१२)

तुलना कीजिए—

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूत-निवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तुते ॥

—महाभारत।

(२) श्रीवत्स = प्रधान, या मूल प्रकृति।

(३) गदा = वुद्धि।

(४) शंख = पञ्च महाभूतों का उदय कारण तामस अहंकार।

(५) शार्ङ्ग (धनुष्) = इन्द्रियो को उत्पन्न करने वाला राजस अहंकार।

(६) सुदर्शन चक्र = सात्त्विक अहंकार।

(७) वैजयन्ती माला = पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूतों का संघात। वैजयन्तीमाला मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील तथा हीरा—इन पाँचों रत्नो से वनी हुई रहती है और इसीलिए वह संख्या मे पाँच तन्मात्र तथा महाभूतों का प्रतीक है।

(८) त्राण=ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

(९) खड्ग=विद्यामय ज्ञान (जो अज्ञानमय कोश से आच्छादित रहता है)। तात्पर्य यह है कि भगवान् विष्णु से ही तो पचीस तत्त्व (सांख्य दर्शनाभिमत) उत्पन्न होते है। इन्हे प्रतीक रूप से अपने शरीर पर वे आयुधो और आभूषणो के रूप मे धारण करते हैं।[१] अर्थात् विद्या, अविद्या, सत्, असत् तथा अव्यय जो कुछ भी विश्व मे है, वह सव भगवान् विष्णु ही हैं। वेद; शास्त्र, इतिहास, पुराण, वेदाङ्ग, काव्य चर्चा तथा समस्त राग रागिनी आदि अर्थात् विश्व मे शास्त्र तथा ललित कला जो कुछ भी विद्यमान है वह सव शब्दमूर्तिधारी विष्णु का ही शरीर है।

काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मन:॥

—विष्णु १।२२।८५

आशय यह है कि भगवान् विष्णु ही जगत् के एकमात्र व्यापक तत्त्व हैं। इनकी ज्ञानात्मिका भक्ति से जीव संसार के वन्धनो से निश्चित रूपेण मुक्त हो जाता है।

---

१. द्रष्टव्य विष्णु पुराण १।२२।६४–७५।

(२)

रुद्रशिव

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल में तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल मे न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता है, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे-धीरे शताब्दियो मे सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने से रुद्र के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातो का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद मे केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६ वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओ के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद मे रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति मे प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं मे थोडे बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात है। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त मे रुद्रदेव की स्तुति की गयी है।

ऋग्वेद में रुद्र का स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है : रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।१०)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालो का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।१४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले है (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनो से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे तथा अथर्व के रुद्रसूक्त मे उनके स्वरूप का इससे कही अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा तथा दाँतो का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र है (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नीलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)[1] उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी-कभी वे मुण्डित केश

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

(व्युप्तकेश श० यु० १६।२९) भी कहे गये हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के है (हरिकेशः)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (वभ्लुशः १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक वलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष तथा वाण है। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का वना हुआ, हजारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ो वाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित वतलाया गया है (धनुर्विभर्षि हरितं हिरण्यं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिए वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ है। उनके हाथ मे तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिए उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते है। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिए वे अनेक साधनो को पहने हुए है। माथे की रक्षा करने के लिए वे शिरस्त्राण धारण करते है (विल्मी शु० य० १६।३५) और देह के वचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[१]। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अंगरखा' के ढङ्ग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का वना हुआ जिरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना जाता था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्ति वसानः—शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढकर धनुर्वाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण मे शत्रुओं के संहार के लिए जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर विल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहनकर रथ पर आसन मार धनुष पर वाण चढ़ाकर अपने भक्तो के वैरियों को मारने के लिए मैदान मे उतरते है। धनुष पर वाण हमेशा चढ़ाये रहते है। इसलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र शस्त्र इतने भयानक है कि ऋषि इनसे वचने के लिए सदा प्रार्थना किया करते है—

> विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो वाणवान् उत।
> अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥
>
> —शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त वलशाली है। ऋग्वेद मे वे क्रूर वतलाये गये है। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह है (ऋ० १।११४।५)। वे सवसे श्रेष्ठ

---

१. पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।
—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

वृषभ है; वे तरुण है उनका तारुण्य सदा टिकनेवाला है। वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतो मे टिकी हुई नदियों में वल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हे न माननेवाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने वाणो से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यो के लिए वे अत्यन्त उपकारी है। इसलिए वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियो का परिचय मन्त्रो के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतो के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रो मे मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गयी मिलती है। मरुतो के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतों के पिता होने के विषय में षड्गुरु-शिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' मे रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर द्या द्विवेद ने 'नीतिमञ्जरी' मे यह उपदेश निकाला है—

> दृष्ट्वा परव्यथा सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
> दितेर्गर्भव्यथां हत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता ॥

पिछले ग्रन्थो मे रुद्र के लिए 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र मे किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) मे भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है :—

> त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
> उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥
>
> ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्र वाला' किया है परन्तु पाश्चात्य विद्वानो को इस अर्थ में आस्था नही है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननी वाचक मानकर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते है, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नही होता कि रुद्र की ये तीन माताएँ कौन सी थी। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिए प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) मे आता है, परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया— एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थो में मिलते है। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक मे और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् मे प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली मे रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं मे इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता

है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिए भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नही मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियो के ऊपर इनका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नही है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रो रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी है। वे अन्नो के खेतो के वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद मे रुद्र के नामो मे भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१)। पशुपति का तात्पर्य इतना ही नही है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है :—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता।
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥

—अ० ११।२।९

इस प्रकार 'पशु' के तात्त्विक अर्थ का आभास हमे अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते है वह नाना वस्तुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि मे, जल मे, ओषधियो तथा लताओ मे ही नही है, बल्कि उन्होने इन समस्त भुवनो की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाकॢपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

—अथर्व ७।८३

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा स्पष्ट शब्दो मे प्रकट कर रहा है; यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओ की बात। ब्राह्मण काल मे तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखो से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ मे प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसंग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गयी है। वहाँ गौरव के ख्याल से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर संमाननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य मे रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहाँ ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदों मे रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर मे रुद्र की एकता, जगन्निर्माण मे निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओ के उत्पादक तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तो का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा मे किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (३।२),

'यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'॥ (३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय मे प्रमाणरूप से उद्धृत किये जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदो मे अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदो के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली संहिताएँ 'उग्र' नाम से पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गयी है? 'रुद्र' की शब्द व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नही मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थो मे सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्र' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलायी गयी है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) मे रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है की प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिए रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) मे इसी प्रकार दशो इन्द्रियो तथा मन को एकादश रुद्र के रूप मे ग्रहण किया गया है। इन्हे 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे-सम्बन्धियो को रुलाते है (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ

१. 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिए देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

रोदयन्ति । तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।) पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ़ निकालने का विशेष परिश्रम किया है (इन सब मतों के लिए डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद' पृ० १४६-७ देखिए ।) डा० वेबर रुद्र को तूफान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति मे ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० श्रादेर के विचार मे मृतात्माओ के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है कि मृतको की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनबर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जंगल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते है। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा हैमवती कही जाती हैं। अतः इस मत के लिए भी कुछ आधार है। परंतु इन कथनो मे कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है। रुद्र के पूर्ववर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनो से कथमपि नही बैठता। इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती है।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गयी है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गयी है। अग्नि वेदी पर जलते है। इसी कारण शिव जलधारी के बीच मे रखे जाते है। अग्नि मे घृत की आहुति दी जाती है। इसलिए शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिव-भक्तो के लिए भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धांत के मानने से भली भाँति हो जाता है। इस सिद्धांत के पोषक वैदिक प्रमाणो पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र मे इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (३।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यंत स्पष्ट भाषा में दोनों का एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है, 'शर्व' जलरूप है, 'पशुपति' औषध है, 'उग्र' वायु है, 'अशनि' विद्युत् है, 'भव' पर्जन्य है, 'महान् देव' (महादेव) चंद्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्य लोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा वाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परंतु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम है—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) मे अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक्-पृथक् नाम कहे गये है। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश मे काले मेघों के बीच से चमकनेवाली विद्युत् के रूप मे वे ही प्रकट होते है। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद मे एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के संसार को लीलने के लिए जीभ लपलपाने का वर्णन मिलता है। मुझे जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम्' शब्दो के द्वारा काले बलाहकों के बीच मे कौंधनेवाली क्षण-क्षण मे चमकनेवाली बिजली की ओर स्पष्ट संकेत है। इसी को पुष्ट करनेवाली अथर्ववेदीय प्रार्थना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमे संसक्त न कीजिए। यह जो बिजली दीख रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कही अन्यत्र गिराइए—

मा नः सं स्त्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्।

—अ० ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भाँति पहचान लेते है। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही वह अपने भक्तो को विपत्तियो से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यो मे वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक् तमं त्वा भिषजा शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग मे रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते है—जलाष (ठंडक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओ को रखनेवाला)।

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। —(ऋ० २।३३।७)

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार के संहार करने मे समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप

में वही संसार के पालन मे भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिए भी प्राणियो मे प्राण का संचार रह सकता है? विद्युत् मे संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जोवित रहने मे मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय मे भी सृष्टि के बीज निहित रहते है और संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्ति मे भी उपादेयता दीख पड़ती है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीज-प्ररोह-जननीं ज्वलनः करोति।

—(रघु० ९।८०)

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' है, वे ही जगत् के मङ्गल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थो में सुस्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादित की गयी है (२।३३:७) ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ साथ रुद्रदेव से हम भी प्रर्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हम लोगो को स्पर्श न कर दूर से ही हट भी जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे सम्बन्धियो के ऊपर उस दानशील की दया सतत् बनी रहे :—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड॥

—(ऋ० २।३३।१४)

—:※:—

शिव का पौराणिक रूप

शिव के दो रूप होते हैं—(१) अगुण तथा (२) सगुण। इनमें से अगुण रूप तो निर्विकारी, सच्चिदानन्द स्वरूप तथा परब्रह्म कहलाता है और सगुण रूप जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है और इस कार्य में शिव एक होते हुए भी त्रिधा भिन्न माने जाते हैं। विष्णु रूप में वह विश्व के रक्षक हैं, ब्रह्मा रूप से उत्पादक और हर-रूप में वे संहारकर्त्ता हैं। शिवपुराण का कथन है कि शिव तथा विष्णु में किसी प्रकार का अन्तर तथा पार्थक्य नहीं है। शिव तथा रुद्र भी इसी प्रकार एक ही भिन्नतारहित रूप के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए शिवपुराण ने प्रसिद्ध वेदान्तसम्मत दृष्टान्तों को अपनाकर इस तत्त्व की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। सुवर्ण तो नाना अलंकारों के लिए प्रयुज्यमान होकर भी एक ही होता है—आकार की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व की भिन्नता नहीं होती। मृत्तिका की भी यही दशा है। पार्थिव द्रव्यों की नानाता होने पर भी मृत्तिका में एकता ही सदा वर्तमान रहती है शिवतत्त्व का एकत्व भी इसी प्रकार का है—

> सुवर्णस्य तथैकस्य वस्तुत्वं नैव गच्छति।
> अलङ्कृति-कृते देव नामभेदो न वस्तुतः॥
> यथैकस्या मृदो भेदे नानापात्रे न वस्तुतः।
> कारणस्यैव कार्यस्य सन्निधानं निदर्शनम्॥

शिवपुराण, रुद्रसंहिता ९।३५–३६

समस्त दृश्य शिवरूप ही है अर्थात् यह दृश्यजगत् शिव से कथमपि भिन्न नहीं है। शिव ही सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप है और सबका मूल है। शिव जब सत्त्व, रज तथा तम आदि गुणों से युक्त होकर सृष्टयादि कार्यों का निष्पादक होता है, तभी वह ब्रह्मादिक नामों के द्वारा अभिहित किया जाता है। शिव के वाम अङ्ग से हरि की उत्पत्ति होती है और दक्षिण अङ्ग से ब्रह्मा की तथा हृदय से रुद्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तीनों के उदय का मूल आधार शिव ही है।

ब्रह्म अर्थात् शिव अद्वय, नित्य, अनन्त, पूर्ण तथा निरञ्जन (कालुष्य-रहित) होता है। विष्णु में तमोगुण की सत्ता भीतर रहती है और सत्त्व की बाहर, इससे ठीक विपरीत स्थिति है हर की, जो अन्तः सत्त्व तथा तमोबाह्य होता है—भीतर सत्त्व और बाहर तम। ब्रह्मा अन्तः तथा बाह्य उभयत्र रजोविशिष्ट

होता है। इस प्रकार गुणों के साथ सम्बद्ध होने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा हर की स्थिति है, परन्तु शिव तो गुणों से सर्वथा भिन्न ही रहता है—उनके साथ उसका रंचकमात्र भी सम्बन्ध नही होता।

एवं गुणास्त्रिदेवेषु गुणभिन्नः शिवः स्मृतः।

(तत्रैव श्लोक ६१)। पुराणों की निन्दा करनेवालो का यह आरोप है कि शिवपुराण शिव की ही महिमा का प्रतिपादक होने के साथ ही साथ वह विष्णु का निन्दक भी है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। शिव की यह उक्ति कितनी तात्त्विक है[१]—

ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम॥

—तत्रैव, श्लोक ५५।

हरिहरयोः प्रकृतिरेका प्रत्ययभेदेन रूपभेदोऽयम्।
एकस्यैव नटस्यानेकविधा भूमिका भेदात्॥

पुराण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में अभिन्नता मानता है। हरि और हर की प्रकृति तो एक है, प्रत्यय भेद से ही रूपभेद दोनो में पाया जाता है। यही गम्भीर तत्त्व है। यह दोनों प्रकार से सिद्धान्त है अध्यात्मदृष्ट्या और व्युत्पत्ति दृष्ट्या। हरि तथा हर—दोनो शब्द एक ही हृ धातु से निष्पन्न है; केवल प्रत्ययो की भिन्नता के कारण दोनो का रूप भिन्न-भिन्न है। अध्यात्म दृष्टि से ये दोनो देव एक ही ब्रह्मस्वरूप शिव के विभिन्न कार्यो के निष्पादन के कारण भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। नट के दृष्टान्त से यह तत्त्व भली भांति समझ में आता है।

शिव तथा विष्णु के ऐक्य का प्रतिपादक शिवपुराणीय श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है। इसी की पुष्टि विष्णुपुराण के इस पद्य से होती है—

स एवाहं महादेवः स एवाहं जनार्दनः।
उभयोरन्तरं नास्ति घटस्थजलयोरिव॥

—विष्णुपुराण।

परात्पर ब्रह्म ही सब देव और देवियो का मूल स्थान है। जिस प्रकार हरि, विष्णु तथा हर उससे उत्पन्न होते है, उसी प्रकार शक्ति की भी उत्पत्ति वही से होती है—

---

१. इसी प्रकार राम और शिव का ऐक्य पद्मपुराण प्रतिपादित करता है—
ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥—पातालखण्ड २८।२१।

तस्मान्महेश्वरश्चैव प्रकृतिः पुरुषस्तथा।
सदा शिवो भवो विष्णुर्ब्रह्मा सर्वं शिवात्मकम् ॥

—शिवपुराण, वायवीय, पूर्व भाग १०।६।

इसी प्रकार शिव तथा शक्ति में भी अभिन्नता है। शक्ति शिव में छिपकर कभी निष्क्रिय रहती है और कभी प्रकट होकर सक्रिय होती है। दोनों का अविनाशी सम्बन्ध है—

एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता।
न शिवेन विना शक्तिर्न च शक्त्या विना शिव. ॥

—शिव० वाय० उ० ख०

फलतः पुराणों की देवताविषयक दृष्टि पर्याप्तरूपेण उदार और विशद है।

इस प्रकार शिव अनेकत्व से विरहित हैं तथा सांसारिक रूपों से भिन्न हैं। वे पूर्ण आनन्द, परम आनन्द के निधान तथा सर्वश्रेष्ठ आत्मा हैं। वह भोक्ता (अनुभवकर्ता जीव), भोग्य (अनुभूयमान पदार्थ) तथा भोग (अनुभव)—इन तीनों से पृथक् होता है। सत्ता की दृष्टि से वही एकात्मक सत्तात्मक रूप है। परंतु माया के कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है।

नील-लोहित रूप रुद्र का पुराणों में जो वर्णित है वह वेदानुकूल ही है। शिव की आठ मूर्तियों का तथा उनके विभिन्न अभिधानों का विवरण वायुपुराण में विस्तार से दिया गया है (२७ अध्याय)। विष्णु ने शिव की एक विशिष्ट स्तुति की है जो प्रायः वैदिक मन्त्रों में दिये गये नामों के द्वारा ही सम्पन्न हुई है[1]। इस शिवस्तव (वायु० २४ अ०) का तात्पर्य शिव की व्यापकता दिखलाना है। रुद्राध्याय के समान ही शिव यहाँ भी सब पदार्थों के पति बतलाये गये हैं—

पितॄणां पतये चैव पशूनां पतये नमः।
वाग्-वृषाय नमस्तुभ्यं पुराणवृषभाय च ॥ १०५ ॥
सुचारु चारुकेशाय ऊर्ध्वचक्षुः शिराय च।
नमः पशूनां पतये गोवृषेन्द्रध्वजाय च ॥ १०६ ॥

—वायु० २४ अ०

सांख्य मतानुयायी शिव को प्रकृति से परे मानते हैं। योग-मतानुयायी ध्यानयोग के द्वारा शिव को प्राप्त कर मृत्यु के प्रपञ्च से बच जाते हैं। शिव

---

१. यह संकेत मूल में ही दिया गया है—

नामभिश्छान्दसैश्चैव इदं स्तोत्रमुदीरयत्।

—वायु० २४।९०।

अर्थात् इस स्तोत्र के नाम छन्दस अथवा वैदिक ही हैं।

तथा विष्णु में किसी प्रकार का द्वैविध्य नही है (वायु० २५ अ०)। इस प्रकार शैवपुराण शिव की महिमा तथा व्यापकता का विशद वर्णन करते है।

पुराणो मे शिव की आठ मूर्तियो का विशद उल्लेख अनेकत्र मिलता है। लिङ्गपुराण (उत्तरार्ध, १२ तथा १३ अध्याय) में इन मूर्तियों के अधिकारी देवों के नाम नीचे दिये जाते है[1]—

ध्यातव्य यह है कि ये नाम वैदिक हैं। शिव के नाम तो वेदो से ही लिये गये हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न मूर्तियो के साथ अभिधान रूप से सम्बद्ध बतलाना पुराण का काम है। प्रत्येक मूर्ति की भार्या तथा एक पुत्र की कल्पना उस मूर्ति के साथ सम्बद्ध मानी जाती है।

१ पृथ्वी-आत्मक शिव का नाम है—	शर्व
२ जलात्मक	—भव
३ अग्नि	—पशुपति
४ वायु	—ईशान
५ आकाश	—भीम
६ सूर्यात्मा	—रुद्र
७ सोमात्मा	—महादेव
८ यजमानमूर्ति	—उग्र

पत्नी	पुत्र
१ विकेशी	अङ्गारक
२ उमा	शुक्र
३ स्वाहा	षणमुख
४ शिवा	मनोजव
५ दिशाएँ	सर्ग
६ सुवर्चलता	शनैश्चर
७ रोहिणी	बुध
८ दीक्षा	सन्तान

---

१. इन मूर्तियो के विशिष्ट वर्णन के लिए द्रष्टव्य वायुपुराण २७वाँ अध्याय। अन्य पुराणों में भी शिव की इन मूर्तियो के नाम का वर्णन मिलता है। लिङ्ग-पुराण ५३ अ० ५१-५६ श्लोक।

शिवभक्ति

शिवभक्ति के अनेक प्रकार पुराणो ने वतलाये हैं। मुख्यतया वह तीन प्रकार की होती है—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो काम, वाक् तथा मन से क्रमशः सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार लौकिकी, वैदिकी तथा आध्यात्मिकी—ये तीन भेद भी किये गये हैं।

लौकिकी भक्ति—नाना प्रकार के लौकिक साधनो से सिद्ध होती है जो गो-घृत, रत्नादिको के उपहार तथा नृत्य आदि के प्रयोग से सम्पन्न होती है।

वैदिकी भक्ति—वेद के मन्त्रो द्वारा हविष्य आदि की आहुति से जो क्रिया सम्पन्न की जाती है वह वैदिकी भक्ति के नाम से पुकारी जाती है।

आध्यात्मिकी भक्ति—इसमे ज्ञान का भी प्रमुख सहयोग किया जाता है। यह दो प्रकार की होती है—(क) साख्या तथा (ख) यौगिकी। सांख्या भक्ति मे रुद्र के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यौगिकी भक्ति मे भगवान् रुद्र का ध्यान ही पराभक्ति कहलाता है।

शिव की उपासना मे तंत्रो के साधनो का भी प्रयोग वतलाया जाता है। कौल, कवच, अर्गला, सहस्रनाम आदि को विशिष्टता से समन्वित तान्त्रिकी पूजा का विधान मध्ययुगीय पुराणो का निजी वैशिष्ट्य है। ऊपर दिखलाया गया है कि वायु जैसे प्राचीन शैवपुराण मे वैदिकी पद्धति ही पूर्णतया ग्राह्य है। मध्ययुगों मे तान्त्रिक पूजा का प्रचलन प्रचुर मात्रा मे होने लगा जिसका प्रभाव पुराणप्रोक्त पूजा-विधान पर भी विशेष रूप से उपलब्ध होता है।

(३)

गणपति

१. आध्यात्मिक रहस्य

गणपतितत्त्व निरूपण करने के पहले ही गणेश के वैदिकत्व के विषय में सामान्य चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से विकास सिद्धान्त के अनुसार प्रायः सब पौराणिक देवताओ का मूलरूप वेद मे मिलता है। धीरे-धीरे ये विकास को प्राप्त होकर कुछ नवीन रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका नाम वेदों मे गणेश न होकर 'ब्रह्मणस्पति' है। जो वेद में 'ब्रह्मणस्पति' के नाम से अनेक सूक्तों मे अभिहित किये गये है, उन्ही देवता का नाम पीछे पुराणों मे 'गणेश' मिलता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का यह सुप्रसिद्ध मन्त्र गणपति की ही स्तुति मे है—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ
नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

इसमे आप 'ब्रह्मणस्पति' कहे गये हैं। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वाक्—वाणी—है। अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ वाक्पति—वाचस्पति—वाणी का स्वामी हुआ। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' मे ब्रह्मणस्पति का यही अर्थ प्रदर्शित किया गया है—

"एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिस्तस्माद्‌ ब्रह्मणस्पतिः
वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद्‌ बृहस्पतिः॥"

'ज्येष्ठराज' शब्द जो पीछे गणपति के लिए प्रयुक्त किया गया मिलता है, यही का है। इसका अर्थ है सब से ज्येष्ठ—सब से पहले उत्पन्न होनेवाले देवताओ के राजा—शासनकर्ता। इन्द्र तो केवल देवो के अधिपतिमात्र हैं, परन्तु इन्द्र के भी प्रेरक होने से आप का नाम ज्येष्ठराज है। इस मन्त्र से गृत्समद ऋषि देवगणो के अधिपति, क्रान्तदर्शी—अतीत अनागत के भी द्रष्टा—कवियो के कवि, अनुपमेय कीर्तिसम्पन्न; ज्येष्ठराज ब्रह्मणस्पति का आवाहन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे आवाहन मन्त्र को सुनते हुए आप अपनी रक्षा के साथ हमारे गृह मे आकर निवास कीजिये। यह पूरा का पूरा सूक्त ब्रह्मणस्पति गणपति—की प्रशंसा मे है। अन्य सूक्तो में भी आपकी स्तुति मिलती

है। अतः गणेशजी को ब्रह्मणस्पति के रूप में वैदिक देवता होने में तनिक भी सन्देह नही। और भी एक बात है—गणेश के जिस विशिष्ट रूप का वर्णन पुराणो मे उपलब्ध होता है उसका आभास वैदिक ऋचाओं में स्पष्ट रीति से मिलता है। निम्नलिखित मन्त्रों मे गणपति को 'महाहस्ती', 'एकदन्त', 'वक्रतुण्ड' तथा 'दन्ती' कहा गया है—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रामं संगृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो 'दन्ती' प्रचोदयात् ॥

'गणपतितत्त्वरत्नम्' मे गणपति के वैदिक स्वरूप का अच्छा वर्णन मिलता है।

गणपति शब्द का अर्थ है—'गणो का पति।' इसी अर्थ में गणों के ईश होने से इन्हे गणेश भी कहते हैं। यहां 'गण' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। 'गण् समूहे' इस समूहवाचक गण् धातु से 'गण' शब्द बना है। अतः इसका सामान्यार्थ समूह–समुदाय होता है। परन्तु, यहाँ पर इसका अर्थ देवताओं का गण, महत्तत्त्व अहंकारादि तत्वो का समुदाय तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्मगण है। अतः गणपति शब्द से यह सूचित होता है कि आप समस्त देवता-वृन्द के रक्षक हैं, महत्तत्त्व आदि जितने सृष्टि-तत्त्व हैं उनके भी आप स्वामी हैं अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति इन्ही से हुई है। सगुण-निर्गुण ब्रह्मसमुदाय के पति होने से गणपति हो इस जगत् मे सबसे श्रेष्ठ तथा माननीय देवाधिदेव हैं। 'गण' की दूसरी व्याख्या से आपका जगत्कर्तृत्व और भी अधिक रूप से स्पष्ट प्रतीत होता है। मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य विश्व का वाचक 'ग' अक्षर है तथा मनोवाणीविहीन रूप का ज्ञान 'ण' अक्षर कराता है। इस प्रकार 'गण' शब्द के द्वारा जितना मनोवाणीसमन्वित तथा तद्विरहित जगत् है सबका ज्ञान हमे होता है। उसके पति—ईश होने के कारण हमारे आराध्य गणेश सर्वतो-महान् देव हैं। 'गण' शब्द की यह व्याख्या 'मौद्गल पुराण' मे इस प्रकार कथित है—

"मनोवाणीमयं सर्वं दृश्यादृश्यस्वरूपकम्।
गकारात्मकमेवं तत् तत्र ब्रह्म गकारकः ॥
मनोवाणीविहीनं च संयोगायोगसंस्थितम्।
णकारात्मकरूपं तत् णकारस्तत्र संस्थितः ॥"

गणपति का मुख हाथी के आकार का बतलाया जाता है। इसी से उन्हे गजानन, गजास्य, सिन्दुरानन आदि नामो से अभिहित किया जाता है। इस

विचित्र रूप के लिए पुराण मे समुचित कथानक भी वर्णित है। परन्तु, इस रूप के द्वारा जिस अव्यक्त भावना को व्यक्त रूप दिया गया है वह नितान्त मनोरम है। गणपति के अन्तर्निहित गूढ आध्यात्मिक तत्व को जिस ढंग से इस रूप के द्वारा सर्वजनसंवेद्य बनाने को कल्पना की गयी है वह वास्तव मे अत्यन्त सुन्दर है। गणपति के बाह्यरूप को समझना क्या है उनके आभ्यन्तर गुहास्थित सत्य रूप की पहचान करना है। उनके रहस्य जानने के लिए यह बड़ी भारी मूल्य-वाली कुञ्जी है।

गणेशजी का सकल अंग एक प्रकार का नही है। मुख है गज का, परन्तु कण्ठ के नीचे का भाग है मनुष्य का। इनके देह मे नर तथा गज का अनुपम सम्मिलन है। 'गज' किसे कहते है ? 'गज' कहते है साक्षात् ब्रह्म को। समाधि के द्वारा योगीजन जिसके पास जाते है—जिसे प्राप्त करते हैं वह हुआ 'ग' (समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति गः) तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है वह हुआ 'ज' (यस्माद् बिम्बप्रतिबिम्बतया प्रणवात्मकं जगत् जायते इति जः) विश्वकारण होने से वह ब्रह्म गज कहलाता है। गणेश का ऊपरी भाग गजाकृति है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। ऊपरी भाग श्रेष्ठ अंश होता है—मस्तक देह का राजा है। अतः गणपति का यह अंश भी श्रेष्ठ है क्योकि यह निरुपाधि-उपाधिरहित—मायानवच्छिन्न ब्रह्म का संकेतक है। नर से अभिप्राय मनुष्य—जीव—सोपाधि ब्रह्म से है। अधोभाग ऊपरी भाग की अपेक्षा निकृष्ट होता है। अतः सोपाधि अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य—जीव—का रूप होने से अधोभाग निकृष्ट है। अथवा 'तत्त्वमसि' महावाक्य की दृष्टि से हम कहेगे कि गणेशजी का मस्तक 'तत्' पदार्थ का तथा अधोभाग 'त्वं' पदार्थ का निर्देश करता है। 'तत्' पद मायानवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य निरुपाधि ब्रह्म का वाचक है अतः उसके द्योतन के लिए गजानन का उत्तमाग नितान्त उचित है। 'त्वं' पद उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् जीव का संकेतक है। अतः गजानन का नराकार अधोभाग उसकी अभिव्यक्ति करने मे समुचित ही है। इन दोनो पदार्थों का 'असि'—पदप्रतिपाद्य समन्वय ('तत् त्वमसि' इस महावाक्य मे) गणपति मे प्रत्यक्षरूप से दिखाई पड़ता है। जिस 'तत् त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का परिशीलन सतत समाधिनिष्ठ ज्ञानीजन अनेक उपायो से किया करते हैं, जिसकी प्राप्ति अनेक जन्मसाध्य सत्कर्मोका जाग्रत परिणाम है, उसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हमारे जैसे सर्वसाधारण उदरम्भरि पामर जन के लिए है श्री गजाननजी महाराज की मंगलमूर्ति। 'श्रीगणेशाथर्वशीर्ष' की आदिम श्रुति—"त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि" के 'प्रत्यक्ष' पद का सकलविद्वज्जनमनोरम अभिप्राय यही है जो ऊपर अभिव्यक्त किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि 'गणेशपुराण'

के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'गणपतिसहस्रनाम' के द्वारा होती है। वहाँ गणेशजी के सहस्रनामों में एक नाम है—'तत्त्वंपदनिरूपितः।' यथा—

"तत्त्वानां परमं तत्त्वं तत्त्वंपदनिरूपितः।
तारकान्तरसंस्थानस्तारकस्तारकान्तकः॥ ९६॥"

इस अभिधान के द्वारा गणपति-स्वरूप का जो जीव-ब्रह्मैक्यप्रतिपादनपरक श्रुतिसम्मत तात्पर्य निरूपण किया गया है उनकी सुचारु रूप से प्रतिपत्ति होती है।

गणेश के नामों की व्याख्या

गणपति की मनोज्ञ मूर्ति की आध्यात्मिकता पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके साक्षात् परब्रह्म होने की वास्तविकता प्रकट होने लगती है। गणेशजी 'एकदन्त' कहे जाते हैं। उनका दाहिना ही दांत विद्यमान है। पुराणों में उनके बायें दाँत के भंग होने की कथा मिलती है। अतः उन्हे 'भग्नवामरद' कहा गया है। इस नाम के यथार्थ ज्ञान से उनके सत्यरूप का हमे पता चलता है। 'एक' शब्द यहाँ माया का बोधक है तथा 'दन्त' शब्द सत्ताधारक मायाचालक ब्रह्म का द्योतक है। अतः इस नाम से प्रकट है कि गणपति साक्षात् सृष्टि के लिए माया की प्रेरणा करनेवाले जगदाधार समस्त सत्ता के आधारभूत परम ब्रह्म के ही अभिव्यक्त रूप हैं। 'मौद्‌गलपुराण' से इसकी पुष्टि होती है—

"एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वं समुद्‌भवम्।
भ्रान्तिदं मोहदं पूर्णं नानाखेलात्मकं किल॥
दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते।
विम्बेन मोहयुक्तश्च स्वयं स्वानन्दगो भवेत्॥
माया भ्रान्तिमती प्रोक्ता सत्ता चालक उच्यते।
तयोर्योगे गणेशोऽयमेकदन्तः प्रकीर्तितः॥

गणेश का एक दूसरा नाम 'वक्रतुण्ड' है। इससे भी ऊपर के सिद्धान्त की सिद्धि होती है। यह मनोवाणीमय जगत् सर्वजन-साधारण है। सब के लिए यह सम भाव से अनुभवगम्य है। परन्तु आत्मा इस जगत् से—सतत गमनशील वस्तु से—सर्वथा भिन्न है—पृथक् है—टेढ़ा है। अतएव यहाँ 'वक्र' शब्द से मनोवाणीहीन अविनश्वर, अपरिवर्तनशील चैतन्यात्मक आत्मा का बोध होता है। वही आत्मा गणेशजी का मुख है—मस्तक है। 'तत्त्वमसि' के साक्षात् स्वरूपधारी गजानन के कण्ठ के नीचे का भाग जगत् है और ऊपर का अंश आत्मा है। अतः उन्हे 'वक्रतुण्ड' कहना नितान्त उपयुक्त है—

"कण्ठाधो मायया युक्तो मस्तकं ब्रह्मवाचकं।
वक्राख्यं तत्र विघ्नेश तेनायं वक्रतुण्डकः॥"

भगवान् गणेश की चार भुजाओं में चार हाथ हैं। इन भुजाओं के द्वारा आप भिन्न-भिन्न लोकों के जीवो की रक्षा अभयदान देकर किया करते हैं। एक भुजा स्वर्ग के देवताओं की रक्षा करती है तो दूसरी इस पृथ्वी तल के मानवों की, तीसरी असुरो की तथा चौथी नागों की। इन भुजाओं में आपने भक्तो के कल्याण के लिए चार चीजें धारण कर रखी हैं—पाश, अङ्कुश रद और वर। पाश मोहमय है। उसे अपने भक्तों के मोह हटाने के लिए ले रखा है। अङ्कुश का काम नियन्त्रण करना है। अतः वह उस व्यापार के लिए उपयुक्त है। दन्त दुष्टनाशकारक है। अतः वह सब शत्रुओ का विनाश करनेवाला है। वर भक्तों के मनोरथो को पूर्ण करनेवाले ब्रह्म का रूप है। अतः गणेशजी ने सकल मानवो के कल्यणसाधन तथा विघ्नविनाशन के लिए अपने चारों हाथो में इन विभिन्न वस्तुओ को धारण कर रखा है। आदि मे जगत् के स्रष्टा तथा अन्तकाल मे सब विश्व को अपने उदर मे वास कराने—प्रतिष्ठित कराने—वाले जगन्नियन्ता गणेश का 'लम्बोदर' होना उपयुक्त ही है।

गणेश 'शूर्पकर्ण' हैं—उनके कान सूप की तरह हैं। इस नाम से भी आपके उच्च परमात्मस्वरूप का परिचय हमे होता है। जब तक धान भूसे के साथ मिला रहता है वह बेकाम होता है, मैला बना रहता है। सूप से फटकते ही असली रूप का पता चलता है, धान भूसे से अलग होकर चमकने लगता है—शुद्ध रूप को पा लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म जीवरूप मे माया के साथ मिलकर मलावरण से इतना आच्छन्न हो गया है कि उसका असली प्रकाशमय रूप बिल्कुल विस्मृत हो गया है—मालिन्य या तम का पटल इतना मोटा हो गया है कि चैतन्य का आभास भी नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्था मे सद्गुरु के मुख से निकला हुआ गणेश नाम मनुष्यो के कर्णकुहर मे प्रवेश कर हृद्गत होकर सूप की तरह पाप-पुण्य को अलग कर देता है—शूर्पकर्ण की उपासना माया को बिल्कुल हटाकर चैतन्यात्मक ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। अतः आपके 'शूर्पकर्ण' नाम की सार्थकता स्पष्टरूप से प्रतिपादित होती है—

"शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः॥"

गणेशजी 'मूषकवाहन'—'मूषकध्वज' हैं उनका वाहन मूषक है। मूषक किस तत्व को द्योतित करता है, इस विषय में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। मूषक का काम वस्तु को कुतर डालना है। जो वस्तु सामने रखी जाय उसके अंग-प्रत्यंग का वह विश्लेषण कर देता है। इस कार्य से वह मीमांसा करने के उपयुक्त वस्तुस्वरूपविश्लेषणकारिणी बुद्धि का प्रतिनिधि प्रतीत हो रहा है। गणेशजी बुद्धि के देवता हैं। अतः जिस तार्किक बुद्धि के द्वारा वस्तुतत्त्व का

परिचय प्राप्त किया जाता है तथा उसके सार तथा असार अंश का पृथक्करण किया जाता है, जिसके द्वारा वस्तु के अन्तस्तल तक प्रवेश किया जाता है उसका गजानन का वाहन बनना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। दूसरी दिशा में विचार करने पर 'मूषक' ईश्वर तत्त्व का द्योतक भासमान होता है। ईश्वर अन्तर्यामी है, सब प्राणियो के हृदय मे निवास करता है। सब प्राणियो के द्वारा प्रस्तुत किये गये भोगो का वह भोग करता है परन्तु अहंकार के कारण मोहयुक्त प्राणी इसे नहीं जानता। वह तो अपने ही को भोक्ता समझता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। प्राणियों का प्रेरक अन्तर्यामी हृदयपद्म मे निवास करनेवाला ईश्वर ही वास्तव मे सब भोगो का भोक्ता है। इस अवस्था मे मूषक की कार्यपद्धति उस पर खूब घटती है। मूषक भी घर के भीतर पैठकर चीजें मूसा करता है, परन्तु घर के मालिक को इसकी तनिक भी खबर नही होती। इसलिए मूषक के रूप मे ईश्वर की ओर संकेत है। पुराणो मे गणेश की सेवा करने के लिए ईश्वर का मूषकरूप बन जाने की कथा भी मिलती है। उस परब्रह्म के सेवार्थ ईश्वर के वाहनरूप स्वीकार करने की कथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयुक्त है—

"ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
तदेवं मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः।
मायया गूढरूपः स भोगान् भुङ्क्ते ही चोरवत् ॥"

अतः गणपति चिन्मय हैं, आनन्दमय हैं, ब्रह्ममय है, सच्चिदानन्दरूप हैं। उन्ही से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, उन्ही के कारण इसकी स्थिति है और अन्त मे उन्ही मे इस विश्व का लय हो जाता है। ऐसे परमात्मा का सकल कार्य के आरम्भ मे स्मरण तथा पूजन करना अनुरूप ही है। एक बात और भी। गणेश की मूर्ति साक्षात् 'ॐ' सी पतीत होती है। मूर्ति पर दृष्टिपात करने से भी इनकी प्रतीति नही होती, प्रत्युत शास्त्रो मे भी गणेशजी ॐकारात्मक माने गये हैं। लिखा है कि शिव-पार्वती दोनो चित्रलिखित प्रणव (ॐ) पर ध्यान से अपनी दृष्टि लगाकर देख रहे थे। अकस्मात् ॐकार की भित्ति को तोडकर साक्षात गजानन प्रकट हो गये। इसे देख शिव पार्वती अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस पौराणिक कथा की सूचना—

"प्र त इन्द्र पूर्व्याणि प्रनूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
सतीतमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् ॥"

मन्त्र मे बतलायी गयी है। प्रणव सब श्रुतियो के आदि मे आविर्भूत माना जाता है। 'प्रणवश्छन्दसामिव।' अतः ॐकारात्मक होने के कारण गणपति का सब देवताओं से पहले पूजा पाना उचित ही है गणेश के शिवपुत्र होने के

विषय मे भी एक पौराणिक कथा मिलती है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने शङ्कर की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके घर अवतार लिया था; ऐसी कथा मिलती है। अतः गणपति के परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप होने मे तनिक भी सन्देह नही है।

२. भौतिक रूप

गणपति के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन ऊपर किया गया है। अब उनके आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। गणपति के विषय मे अनेक पुराणो में उल्लेख पाये जाते हैं। पुराणेतर सामग्री भी कम नही है। इन सब साधनों के आधार पर गणपति के भौतिक रूप का वर्णन भली भाँति किया जा सकता है। एक पाश्चात्य महिला श्रीमती ए० गेट्टी ने गणेश पर एक बड़ी सुन्दर तथा रोचक पुस्तक लिखी है, जो सन् १९३६ में 'आक्स-फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस' से प्रकाशित हुई है। भारतीय दृष्टि से इसमे अनेक त्रुटियाँ हैं पर तब भी यह पुस्तक पठनीय है। गणेश की पूजा का प्रचार भारत के कोने-कोने मे तो है ही, साथ ही साथ बृहत्तर भारत—जावा, सुमात्रा, बाली, चीन, जापान आदि देशो—मे भी इसके प्रचलित होने के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते है। स्थान की भिन्नता के कारण गणेश की मूर्तियो मे भी भिन्नता मिलती है। भारत मे गणेश का एक ही सिर मिलता है, पर नेपाल मे हेरम्ब गणपति की मूर्तियों मे पाँच सिर पाये जाते है, भारत मे भी ऐसी मूर्तियाँ मिलती है, पर बहुत कम। गणेश एकदन्त है, पर दन्त की स्थिति मे भी भिन्नता दीख पड़ती है। विशेषकर बायी ओर दन्तवाली मूर्तियो की बहुलता पायी जाती है पर दाहिनी ओर तथा दोनो ओर दंतवाली मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं। गणेश के साधारणतया दो ही नेत्र दिखलाये जाते हैं, पर तान्त्रिक पूजा मे उनके तीन नेत्र पाये जाते हैं। गणेश की मूर्तियो मे साधारणतया तिलक का विशेष विधान नही है, पर कही-कही चन्द्रमा इसका काम करता है। हाथो की संख्या भी साधारण रीति से होती है, परंतु तान्त्रिक पूजा मे व्यवहृत होनेवाली मूर्तियों में भुजाओ की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इन हाथों मे धारण की हुई वस्तुओं के विषय मे भी मतभेद है।

यों तो गणेश का पूजन प्रत्येक आर्य सन्तान का करणीय विषय है, पर प्राचीन काल मे गणपति का उपासक एक विशिष्ट सम्प्रदाय था जो 'गाणपत्य' के नाम से पुकारा जाता था। पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। इस कारण आजकल भी महाराष्ट्र मे गणपति की प्रचुर उपासना पायी जाती है। 'गाणपत्य' सम्प्रदाय तान्त्रिक था, जिसमें भिन्न-भिन्न गणपति की उपासना; फल की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न रूप में की जाती थी। गाणपत्यों मे भी ६ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनकी उपासना-पद्धति में भिन्नता तथा विशिष्टता

थी। वे भिन्न-भिन्न गणपतियो की पूजा किया करते थे। 'महागणपति' का अंग लाल तथा भुजाएँ दस होती हैं। 'ऊर्ध्व गणपति' तथा 'पिङ्गल गणपति' का रंग पीला तथा भुजाएँ ६ होती हैं। 'लक्ष्मी गणपति' का रंग श्वेत होता है, भुजाएँ चार या आठ। 'हरिद्रा गणपति' का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजाएँ चार तथा नेत्र तीन होते हैं। 'उच्छिष्ट गणपति' का रंग लाल तथा भुजाएँ चार होती हैं। गाणपत्यो का पूजा-प्रकार रहस्यमय होता था, उसमें तांत्रिक प्रकार की प्रधानता होती थी। ऊपर उल्लिखित सम्प्रदायो में महागणपति, हरिद्रा गणपति तथा उच्छिष्ट गणपति का प्रचार विशेष रूप से व्यापक बतलाया जाता है। इनमे उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तो के वामाचार के ढंग की होती थी तथा स्वभावतः भयानक होती थी। आजकल इन सम्प्रदायो का एक प्रकार से अभाव-सा हो गया है। पर आज भी स्थान-स्थान पर गाणपत्य लोग मिलते हैं। इनका कहना है कि 'गणपति' ही सर्वप्रधान देवता है। उन्ही से जगत् के सर्गादि कार्य सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन त्रिदेवो की उत्पत्ति गणपति से ही होती है। अतः सर्वमान्य देवता गणपति ही हैं।

समस्त विघ्नों के सर्वथा नाश कर देने की शक्ति विनायकरूपी गणेश मे विशेष रूप से विद्यमान है। इसीलिए गृहप्रवेश करते समय घर के दरवाजे पर विनायक की मूर्ति स्थापित की जाती हे। किसी नगर की रक्षा का भार भी विनायक की कृपा पर छोड़ दिया जाता था। इस विषय मे हमारी पवित्र पुरी काशी की रक्षा का प्रधान कार्य विनायक के सुपुर्द किया गया मिलता है। 'काशीखण्ड' के अनुसार 'पंचक्रोशी सहित समस्त काशी सात वृत्तो में बाँटी गयी है, जिनका नाम है 'आवरण'। सबसे बड़ा प्रथम आवरण वर्तमान पंचक्रोशी मे पड़ता है तथा अन्तिम आवरण विश्वनाथजी के मंदिर की परिधि मे सीमित है। प्रत्येक आवरण मे रक्षक रूप से ८ विनायको को स्थान दिया गया है। इस प्रकार समस्त आवरणो की रक्षा के निमित्त ५६ विनायको की स्थिति मानी गयी है। प्रथम आवरण के आठ विनायक हैं—अर्क विनायक (लोलार्क कुण्ड के पास), दुर्ग विनायक, भीमचण्ड विनायक, देहली विनायक, उद्दण्ड विनायक, पाशपाणि विनायक, खर्व विनायक तथा सिद्धि विनायक (मणिकर्णिका घाट पर)। अर्थात् लोलार्क कुण्ड के पास के गंगा तट से लेकर समस्त पंचक्रोशी को होते हुए मणिकर्णिका घाट तक काशी का प्रथम आवरण है। अन्तिम आवरण विश्वनाथ मंदिर के आसपास है, जिसमे मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख, गणनाथ, ज्ञान, द्वार तथा अविमुक्त विनायक है। काशी के चारो ओर इन आवरणो की कल्पना नितांत महत्त्वपूर्ण है। पर इन विनायको के अतिरिक्त अन्य गणपतियो की भी स्थिति तथा मान्यता है—यथा दुग्ध, दधि, शर्करा, मधु तथा घृत विनायक (पंचगंगा के पास दूधविनायक महल्ले मे), साक्षी विनायक तथा वक्रतुण्ड विनायक

(जो बड़े गणेश के नाम से विख्यात हैं)। हमारा विश्वास है कि इस विश्वनाथ-नगरी मे जितने विनायकों की स्थिति है उतनी अन्य नगरी मे नही है। इन छप्पन विनायकों के नाम तथा स्थान के वर्णन के लिए 'वाराणसी आदर्श' तथा 'काशीयात्रा' का अवलोकन करना चाहिए।

बौद्धधर्म के गणेश

वैदिक धर्म के गणपति का माहात्म्य तो है ही, पर बौद्धधर्म मे भी इनकी महिमा कम नही है। महायान के तांत्रिक सम्प्रदायों ने विनायक की कल्पना को ग्रहण कर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी है। पिछली शताब्दियो मे बुद्ध की कल्पना विनायक रूप से मिलती है तथा 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप मे भी विनायक की पूजा का विपुल प्रचार दृष्टिगत होता है। नेपाल में बौद्धधर्म के साथ-साथ गणपति की पूजा भी चलती है। वहाँ से खोतान, चीनी तुर्किस्तान तथा तिब्बत मे भी गणेश की उपासना का प्रचार हुआ। इन देशो मे विनायक की नृत्यशालिनी मूर्ति (नृत्य गणपति) का प्रचुर प्रचार है। हेरम्ब विनायक के नाम से भी इनकी स्थिति नेपाल मे है। हेरम्ब की बड़ी विशेषता यह है कि उनके पाँच मुख होते हैं तथा मूषक के स्थान पर सिंह ही उनका वाहन है। इन पाँच मुखो का क्रम भी बड़ा विलक्षण रहता है। कभी चारो दिशाओं मे चार मुख होते हैं और ऊपर बीच मे एक मुख। कभी तीन ही मुख एक पंक्ति में और एक के ऊपर एक रूप से दो मुख होते हैं। तिब्बत मे प्रत्येक मठ के अधिरक्षक देवता के रूप में गणपति की पूजा आज भी प्रचलित है। हिन्दू लोगो ने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश बनाये थे, इसका पता इतिहास दे रहा है। जहाँ ये लोग धर्मप्रचारक के रूप मे या व्यापारी के रूप में बस गये, वहाँ ये अपने साथ भारत से अपनी सभ्यता भी लेते गये, अपने देवता तथा उनकी भारतीय पद्धति को अपने साथ ले जाना नही भूले। फलतः गणपति की मूर्ति विघ्नराज के रूप में बृहत्तर भारत के समग्र देशो में आज भी पायी जाती है। इन देशो मे गणपति के नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। गेट्टी ने इन नामो की तालिका अपने ग्रन्थ मे दी है। गणपति का तमिल मे नाम है 'पिल्लैयर', भोट भाषा मे 'सोग्द-दाग', वर्मी मे 'महा-पियेन्ने', मंगोलियन मे 'त्वोतखारून खागान', कम्बोडियन मे 'प्राह केनीज', चीनी भाषा मे 'कुआन-शी-तिएन', जापानी मे 'काङ्गी-तेन'। भारत के समीपस्थ उपनिवेश बर्मा तथा श्याम मे गणपति का प्रवेश बहुत पहले हुआ। इन देशो मे गणेश की कांसे की बनी मूर्तियाँ बड़ी लोकप्रिय हैं। कम्बोडिया (कम्बोज—हिंदचीन) मे गणपति की मूर्तियों मे स्थानीय ख्मेर कला के कारण विशेष परिवर्तन पाया जाता है। चतुर्मुख मूर्तियाँ यही मिलती हैं और अधिकतर ये खड़े होने की मुद्रा में दिखलायी जाती है। जावा मे हिन्दू-

धर्म का प्रवेश प्राचीनकाल मे ही हो गया था। पंचम शताब्दी मे चीनी यात्री फाहियान को जावा मे ब्राह्मण तथा बौद्ध श्रवण मिले थे। जावा में गणपति के स्वतन्त्र मन्दिर नही मिलते, पर शिवमन्दिर मे ही इनकी मूर्तियाँ पायी जाती है। इन मूर्तियो की एक विशेषता है कि शिव के समान गणेश को भी मुण्डमाल पहनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया है। बोर्निओ तथा बालीद्वीप मे भी गणपति का विशेष प्रचार है।

चीन तथा जापान में गणेश का प्रवेश पाना आपाततः आश्चर्यजनक माना जा सकता है, पर विचार करने पर यह प्रवेश स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। महायान बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ गणपति ने भी इन देशो में प्रवेश पा लिया। चीन मे गणेश का प्रवेश या तो चीनी तुर्किस्तान या नेपाल—तिब्बत के रास्ते से हुआ होगा। चीन मे गणेश की मूर्ति दो नाम तथा दो रूप से विख्यात है—'विनायक' (बौद्धसम्मत मूर्ति) तथा 'काङ्गी-तेन' (गणेश की युगल मूर्ति)। काङ्गी-तेन मूर्ति बड़ी विलक्षण है। वह इन पूरबी प्रदेशो की अपनी खास कल्पना का परिणाम है। चीन देश के तान्त्रिक बौद्धधर्म ने विनायक का ग्रहण बड़ी जल्दी कर लिया तथा अपने देवताओ मे इन्हे बड़ा आसन दिया। विनायक बोद्धिसत्त्व अवलोकितेश्वर के ही प्रतिरूप माने जाते हैं। वज्र धातु की कल्पना मे विनायक का विशेष प्रभाव है। नवमी शताब्दी के बाद जापान मे गजानन जी विराजने लगे। कोबो-दाइशी नामक विद्वान् ने चीनदेशीय बौद्धाचार्यो से दीक्षा लेकर विनायक का जापान मे प्रवेश कराया और स्थानीय प्रसिद्ध शिगोन सम्प्रदाय ने इन्हे अपना लिया। शिगोन मत तान्त्रिक मत है। अतः उसने रहस्यमयी कांगी-तेन मूर्तियो का विशेष प्रचार किया। यह गजानन की युगल मूर्ति है, जिसमे दोनो मूर्तियो की पीठ एक साथ लगी हुई तथा मुँह दो दिशाओं की ओर हैं। जापानी बौद्ध इन मूर्तियो को रहस्यमय तथा शक्ति और शक्तिमान् की एकता का प्रतिपादक बतलाते हैं। सुदूर अमरीका मे भी लम्बोदर की मूर्ति मिली है। आकृति वही लम्बा तुन्दिल शरीर, ऊपर हाथी का इधर-उधर दोलायमान शुण्डादण्ड। इन मूर्तियो का दिवान चम्मनलाल ने 'हिन्दू अमरीका' नामक अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है। इन मूर्तियो की कल्पना से प्रतीत होता है कि भारतीयो ने कभी अमरीका मे भी अपने उपनिवेश बसाये थे।

इस प्रकार गणेशजी की पूजा उत्तरी मगोलिया से लेकर दक्षिणी बालीतक तथा भारत से लेकर अमरीका तक कम या अधिक अंश मे भिन्न-भिन्न शताब्दियों मे प्रचलित थी। मंगल के अवसर पर गणपति का पूजन करनेवाले कितने हिन्दू इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित हैं तथा भारतीय सभ्यता के प्रचार मे गणपति-पूजा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं?

त्रिदेवों की मूर्तियाँ

पुराणों का प्रभाव मूर्तिशास्त्र पर विशेष रूप से पड़ा है। तथ्य तो यह है कि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पुराणो के आधार पर ही निर्मित की जाती है। मूर्तिकल्पना मे स्वच्छन्दता का राज्य नही है, प्रत्युत अमूर्त भावना को व्यक्त रूप देने के लिए ही मूर्तियो की कल्पना की गयी है। वैदिक काल मे मूर्ति के अस्तित्व के विषय मे अनेक विद्वान् संशयालु है। अधिकांश विद्वान् पौराणिक काल मे—पुराणों की अभ्युन्नति के समय मे—मूर्तियो का उदय मानते है। यहाँ केवल पञ्चदेवो की मूर्तियो का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस देवपञ्चक मे विष्णु, शिव, गणेश, ब्रह्मा तथा सूर्य की गणना की जाती है।

विष्णु

पंचदेव के रूप मे ही नही, अपितु त्रिदेव के रूप मे भी विष्णु महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिविक्रम के रूप मे विष्णु की मान्यता वैदिक है। किन्तु सम्प्रदायविशेष के देवतारूप मे विष्णु-पूजा का विशेष प्रचार ईस्वी सन् के कुछ पूर्व से ही है।

विष्णु की व्युत्पत्ति और महत्त्व की विवेचना विष्णुपुराण मे इस प्रकार की गयी है—

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं यस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥

—विष्णुपु० ३।१।४५

विष्णुपुराण मे विष्णु को सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण भी कहा गया है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म-विष्णु शिवात्मिकाम्।
स सज्ञा याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियेत चान्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः॥

विष्णुपु० १।२।६६–६७

विष्णु के अनेक नाम और गुण हैं। विष्णु तथा उनके विविध रूपों के विकास का आधार इच्छा, भूति, क्रिया तथा षड्गुण (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस्) है। इन्ही तत्त्वो के आधार पर चौबीस विष्णुओ की कल्पना

की गयी। विविध पुराणो मे चौवीस विष्णुओं का क्रम और आयुधविधान भिन्न-भिन्न कहा गया है। अग्निपुराण (अ० ४८) की तालिका अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसमे चौवीस विष्णुओ की नामावली इस प्रकार है—

१. वासुदेव, २. केशव, ३. नारायण, ४. माधव, ५. पुरुषोत्तम, ६. अधोक्षज, ७. संकर्षण; ८. गोविन्द, ९. विष्णु, १०. मधुसूदन, ११. अच्युत, १२. उपेन्द्र, १३. प्रद्युम्न, १४. त्रिविक्रम, १५. नरसिंह, १६. जनार्दन, १७. वामन, १८. श्रीधर, १९ अनिरुद्ध, २० हृषीकेश, २१ पद्मनाभ, २२. दामोदर, २३. हरि, २४. कृष्ण। इन चतुर्विंशति विष्णुओ के विभाजन का आधार विष्णु के आयुधो (शंख, चक्र, गदा, पद्म) के विभिन्न क्रम हैं।[1]

कुषाणकाल से ही विष्णु के अवतारों के स्वरूप का दर्शन होने लगता है। दशावतार की मूर्तियाँ वंगाल मे विष्णुपट्ट पर वनती थी तथा दशावतार का अङ्कन संयुक्त रूप मे विष्णुमन्दिरो के द्वार पर ही प्रदर्शित होता रहा है। पृथक्-पृथक् अवतारो के आधार पर पृथक्-पृथक् मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दशावतारो में वराह, वामन और नृसिह की प्रतिमाएँ वहुप्रचलित रही। उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति वड़ी ही विशिष्ट है। यह प्रतिमा गुप्तकालीन है।

सामान्यतया अवतारो की संख्या दस ही है जिनमे मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराह, वामन, भार्गवराम, राम, वलराम, वुद्ध और कल्कि की गणना होती है। ग्रन्थभेद से पुराणो की संख्या वढ़ती-घटती भी रही है। परिणामतः कभी-कभी अवतारो की संख्या १६, २२ या २३ तथा ३९ तक गिनायी गयी है।[2]

विष्णु की स्थिर मूर्तियो को वैखानस-आगम तथा पञ्चरात्र संहिताओ मे 'ध्रुव वेट' कहा गया है। 'ध्रुव' मूर्तियो की कोटि मे ३६ विष्णुओ की गणना होती है। इनको चार विभागो में वाँटा गया है जिन्हे योग, भोग, वीर और आभिचारिक कहा गया है। इस वर्गीकरण का आधार उपासना की विशिष्ट भावना और इच्छा है। पुनः इनका विभाजन स्थानक, आसन और शयन मूर्तियो के आधार पर भी किया गया है। इनमे वारह-वारह मूर्तियो की गणना होती है। कई आगमो मे विष्णुमूर्तियों का विभाजन उत्तम, मध्यम और अधम वर्गीकरण के आधार पर भी किया गया है। शयनमूर्ति की कोटि मे भी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा विशिष्ट है। विष्णु के इस रूप का प्रदर्शन देवगढ मे वड़ा ही विशिष्ट है।

भुजाओ और मुखो की संख्या के आधार पर मध्यकाल मे चार विशिष्ट विष्णु-मूर्तियो की कल्पना की गयी। इन मूर्तियो को चतुर्मुख विष्णु कह सकते

---

१. रूपमण्डन (सं० वलराम श्रीवास्तव), पृ० ५०–५३।

२. वनर्जी—डेवलेपमेण्ट आफ हिन्दू इकानोग्राफी, पृ० ३९०–९३।

हैं। भुजाओं की संख्या में अन्तर होता है। इस प्रकार चतुर्मुख विष्णु की चार विशिष्ट प्रतिमाएँ वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप के नाम से जानी जाती हैं जिनके भुजाओं की संख्या क्रमशः ८, १२, १६ और २० होती हैं। विष्णु के चार मुख नर, नारसिंह, स्त्रीमुख और वराह मुख होते हैं। अग्निपुराण (अ० ४९) में इन विशिष्ट रूपों की अच्छी चर्चा है।

शिव

पूजा तथा देवालयो मे स्थापित करने की दृष्टि से शिवलिगो को जो महत्ता प्राप्त है वह शिव-मूर्तियों को नही। शिवाख्यानो के आधार पर कल्पित अनेक अनुग्रह, संहार और दक्षिणा मूर्तियों की कल्पना पुराणकारो द्वारा हुई है। इनमे अधिकांश शैव मन्दिरों के भित्ति पर अलंकरण के रूप मे या स्वतंत्र मूर्तियों के रूप मे प्रदर्शित मिले है।

शिवलिगो मे गुड्डीमल्ल का मुखलिंग इतिहास और कला की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पुराणो मे विशेषकर अग्नि और मत्स्य मे विविध प्रकार के शिवलिगो की अच्छी विवेचना है। शिवलिंगो के शिरोविधान तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव भागो की विभाजन-प्रक्रिया लिंगपुराण (अ० ९९) और मत्स्य-पुराण (अ० २६२।१–१२) मे अच्छी प्रकार बतायी गयी है। मत्स्यपुराण मे लिङ्ग-पीठिका का भी विधान बताया गया है (मत्स्यपुराण २६१।१८–१९)

शिव की एकादश मूर्तियाँ (एकादश रुद्र के रूप मे) बड़ी प्रसिद्ध हैं। 'रूपमण्डन' जैसे मध्यकालीन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थो मे एकादश रुद्र के आधार पर द्वादश शिव की कल्पना की गयी हैं, जिनमे सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईश, मृत्युञ्जय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, बहुरूपी सदाशिव, और त्र्यम्बक के नाम आते हैं। इनमे हाथो की संख्या तथा आयुधो का बड़ा विभेद है[१]। एकादश रुद्र या द्वादश शिव का आधार पञ्चमुख शिव प्रतीत होता विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिव के पाँच मुख सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं।

> सद्योजातं वामदेवमघोरं च महाभुजम्।
> तथा तत्पुरुषं ज्ञेयमीशानं पञ्चमं मुखम्॥
>
> —विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।४८।१

इन पाँच मुखो का रूपकत्त्व भी विष्णुधर्मोत्तर पुराण (४।४८।३।३) मे स्पष्ट है।[२]

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य रूपमण्डन पृ. ६१–६३.

२. वही पृ. ६१.

पुराणो में शिव-मूर्तियों का जो प्रसंग है, उसके आधार पर यह प्रतीत है कि शिव की मूर्तियों का दो प्रसिद्ध वर्ग था। एक घोर और दूसरा अघोर। अघोर या शान्त शिव मूर्तियो मे चन्द्रशेखर,उमासहित, आलिङ्गन–चन्द्रशेखर, वृषवाहन, मुखासन, उमामहेश्वर, सोमस्कन्द आदि की गणना की जा सकती है। ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ घोर वर्ग की है। भैरव; अघोर, रुद्र पशुपति, वीरभद्र, विरूपाक्ष और कंकाल शिव के घोर रूप हैं किन्तु, इनके मूल मे कोई पौराणिक ख्यात नही है। ये मूर्तियाँ शिव के संहारक तत्त्वोकी व्याख्या मात्र करती हैं। किन्तु घोर या उग्र वर्ग मे गजासुर वध, त्रिपुरासुरवध, अन्धकासुर वध, जालन्धर वध आदि की पौराणिक ख्यातो का प्रदर्शन करने वाली मूर्तियाँ आती हैं। इसी वर्ग मे यमरि, कालारि, शरभेश मूर्ति आदि भी आती हैं। इलौरा और एलिफण्टा की गुफाओ मे त्रिपुरान्तक और अन्धकासुर वध का अच्छा प्रदर्शन है। गजासुर संहार की एक अच्छी प्रतिमा दरमुरम मे मिली है।

शिव की कुछ युग्म मूर्तियाँ जैसे अर्धनारीश्वर और हरिहर की वड़ी ही लोकप्रिय रही हैं। इन मूर्तियो के माध्यम से दर्शन के गूढतम तथ्यो की सरल विवेचना की गयी है। नारदपुराण (अ० ६।४४–४५) मे हरिहर रूप की अच्छी विवेचना हे। हरिहर का सबसे अच्छा मूर्तिकरण वादामी मे तथा अर्द्ध-नारीश्वर का सबसे सुन्दर अङ्कन इलौरा मे किया गया है।

गणेश

भारतीय धर्म और उपासना मे गणेश की वड़ी महत्ता है। आयुध-भेद से गणेश के कई नाम और रूप पुराणो मे वर्णित हैं। पंचमहादेवो मे गणेश का सम्मान है तथा **गाणपत्य सम्प्रदाय** के लिए तो ये आदिदेव के रूप मे मान्य है। आर० जी० भण्डारकर महोदय के अनुसार गाणपत्य सम्प्रदाय और गणेश की पूजा परम्परा वहुत प्राचीन नही हैं। ये गणेश की परम्परा गुप्तोत्तरकालीन मानते है। किन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। **विनायक पूजा** की परम्परा महाभारत, से भी प्रमाणित है (नलोपाख्यान, वनपर्व) उस समय सार्थवाहों द्वारा विनायक की पूजा विघ्न-विनाशन के रूप मे होती थी और वे सिद्धि के प्रदाता माने जाते थे। श्री गोपीनाथ राव महोदय ने गणेशोत्पत्ति से सम्वन्धित पौराणिक ख्यातो का अच्छा संकलन किया है[१]। गणपति मूर्तिशास्त्रीय विवेचना के अनुसार यक्ष परम्परा से विशेष सम्बद्ध प्रतीत होते है। आरम्भ मे गणेश की द्विभुज

१.एलिमेण्टस आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी भाग १. खण्ड १. पृ० ३५–४५.

प्रतिमाओं का ही प्रचलन था। बृहत्संहिता मे गणेश की प्रतिमा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित पंक्ति मिलती है—

प्रमथाधिपो गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारी स्यात्।
एकविषाणो बिभ्रन्मूलक-कंदं ... ... ॥[१]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे गणेश के मूर्ति-विधानीय तत्त्व ये हैं—

१. गजमुख।

२. प्रलम्ब जठर।

३. एकदंत।

४. द्विभुज (एक हाथ मे दाँत और दूसरे मे मूलक)।

प्राप्त मूर्तियों मे अमरावती से प्राप्त गणेश की प्रतिमा सबसे प्राचीन (दूसरी शती ईस्वी) प्रतीत होती है। इसी से ही कुछ समय के बाद की बनी मथुरा से भी एक गणेश की मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा तथा भूमरा से मिली गणेश की प्रतिमाएँ द्विभुज हैं। गणेश की चतुर्भुज प्रतिमा सबसे पहले भूमरा (गुप्तकालीन) से मिली है। पुराणों मे गणेश की प्रतिमा का जो विधान है, उसमें चतुर्भुज गणेश की ही चर्चा है। उदाहरणार्थ, मत्स्यपुराण मे गणेश का वर्णन इस प्रकार है—

स्वदन्तं दक्षिणकरे उत्पलं च तथापरे।
लड्डुकं परशुं चैव वामतः परिकल्पयेत्॥

—मत्स्य, २५९।५३।

गुप्तकाल तक की किसी भी उपलब्ध प्रतिमा मे गणेश का वाहन मूषक नही दिखाया गया है। न इसकी चर्चा किसी पौराणिक मूर्ति-विधान ही मे है। पूर्व मध्यकालीन और मध्यकालीन प्रतिमाओ मे मूषक भी प्रदर्शित है। इस प्रकार मूषकयुक्त गणेश की प्रथम प्राप्त प्रतिमा उड़ीसा मे मिली है। इसी प्रकार उड़ीसा से ही गणेश की कुछ अष्टभुज प्रतिमाएँ भी मिली है। गणेश के मूर्ति-विधान के अन्य तत्त्वो के रूप मे त्रिनेत्र, व्याल-यज्ञोपवीत भी महत्त्वपूर्ण है। गणेश की कतिपय मूर्ति नृत्यमुद्राओ मे भी है।

---

१. बृहत्संहिता की यह पंक्ति क्षेपक प्रतीत होती है। बैनर्जी—डेवलेपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० २५७।

ब्रह्मा या ब्रह्मदेव

पुराण मे जिस देव को हम ब्रह्मा या ब्रह्मदेव के नाम से पुकारते है वह वेदो मे 'प्रजापति' के नाम से अभिहित किये गये है। प्रजनन तथा जीवित प्राणियो के रक्षकरूप मे प्रजापति का अथर्ववेद मे प्रायः आवाहन किया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१२१) मे प्रजापति की प्रख्याति आकाश और पृथ्वी, जल तथा समस्त जीवित प्राणियो के स्रष्टा के रूप मे की गयी है। इनका 'प्रजापति' नाम सार्थक है अर्थात् उत्पन्न होनेवाले समग्र जीवो के वे पति माने गये हैं। वे सब गतिशील तथा श्वास लेनेवाले प्राणियो के राजा हैं; देवो मे श्रेष्ठ है। इनके विधानो का पालन समग्र प्राणी ही नही, प्रत्युत देवगण भी करते हैं। इन्होने ही आकाश और पृथ्वी को स्थापित किया; ये ही अन्तरिक्ष के सब स्थानो मे व्याप्त हैं; ये समस्त विश्व और समस्त प्राणियो को अपनी भुजाओं से आलिङ्गन करते है। ऋग्वेद के इस वर्णन से प्रजापति की देवो मे प्रमुखता की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, ऋग्वेद मे प्रजापति का प्रामुख्यद्योतक निर्देश एक ही वार हुआ है, परन्तु अथर्व और वाजसनेयी संहिता मे साधारणतः और ब्राह्मणो मे नियमतः ये ही सर्वप्रमुख देव के रूप मे स्वीकृत किये गये हैं। यह देवो के पिता है (शतपथ ११।१।६।१४)। इसी ब्राह्मण के कथनानुसार सृष्टि के आरम्भ मे अकेले इन्ही का अस्तित्व था (शतपथ २।२।४।१)। प्रजापति का यही वेदप्रतिपाद्य स्वरूप है।

मैत्रायणी संहिता (४।२।१२) मे प्रजापति को अपनी पुत्री उषस् पर आसक्त होने की कथा मिलती है जो ब्राह्मणो मे अनेक स्थानो पर दुहरायी गयी है (ऐतरेय ब्रा० ३।३३, शतपथ १।७।४।१, पंचविंश ब्रा० ८।२।१०)। इस कथा का संकेत तो ऋग्वेद के मन्त्रो मे भी माना जाता है। ऋग्वेद (१०।१२१) के इस सूक्त के प्रथम नव मन्त्रो मे किसी अज्ञात देवता के विषय मे प्रश्नवाचक 'कः' शब्द का प्रयोग किया गया है (कस्मै देवाय हविषा विधेम)। दसवें मन्त्र मे इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर दिया गया है कि 'प्रजापति' ही इन सब निर्दिष्ट कार्यो का सम्पादन करता है। इस मन्त्र का पश्चाद्वर्ती साहित्य पर इतना प्रभाव पड़ा कि 'प्रजापति' की 'क' एक उपाधि ही हो गयी और 'क' सर्वोच्च देवता का वाचक वना दिया। 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी वही संकेतित होता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

'प्रजापति' को ही पुराणों में 'ब्रह्मा' के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रजापति के सम्बन्ध की समस्त गाथाएँ ब्रह्मा के ऊपर आरोपित की गयी है। फलतः प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा पुराणो मे ब्रह्मा के विषय में उल्लिखित की गयी है। क्षीरसागर मे शेषशायी नारायण के नाभिकमल के ऊपर ब्रह्मा का जन्म स्वतः होता है। इसलिए वे 'स्वयंभू' नाम से अभिहित किये गये है। आकाशवाणी के द्वारा प्रेरित किये जाने पर उन्होने उग्र तपस्या हजारो वर्षो तक की जिसके फलस्वरूप उन्होने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। सृष्टिका कार्य ब्रह्मदेव का अपना विशिष्ट कार्य है। सरस्वती उनकी पत्नी हैं तथा हंस उनका वाहन है। हिरण्यकशिपु ने अपने वरदान के अवसर पर ब्रह्माजी की जो प्रशस्त स्तुति की है (७।३।२६–३४) उसमें ब्रह्माजी का स्वरूप नारायण के सदृश ही चित्रित किया गया है। वे ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् और सम्पूर्ण जीवो के जीवनदाता अन्तरात्मा माने गये हैं (७।३।३१)। कार्य-कारण, चल और अचल ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो ब्रह्मा से भिन्न हो। समस्त विद्या और कलाएँ आपके रूप है। आप त्रिगुणमयी माया से अतीत स्वयं ब्रह्म हैं। यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भ मे स्थित रहता है। आप इसे अपने मे से प्रकट करते हैं—

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजद्
ऐजच्च किञ्चित् व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि वृहत् त्रिपृष्ठः॥ —भाग० ७।३।३२

इस पद्य से ब्रह्मा के स्वरूप का यत्-किञ्चित् परिचय प्राप्त होता है।

ब्रह्मा की प्रतिमा

त्रिदेव मे ब्रह्मा प्रथम हैं। किन्तु 'पञ्चदेव' की कल्पना में ब्रह्मा का महत्त्व और स्थान विष्णु, सूर्य, शिव और गणेश की अपेक्षा गौण है। इनकी महत्ता गणेश से भी कम है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रभाव इनकी उपासना पर भी पड़ा। इस देव के आधार पर भारत मे कोई सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। वैसे पौराणिक मान्यता में भी ब्रह्मा सृष्टि के स्रष्टा वने रहे। ब्रह्मा के मन्दिर भी कम ही वने और अकेले ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों (विप्रान् विदुर ब्राह्मणैः) के द्वारा ही विधिसम्मत कही गयी[१]। ब्रह्मा की यह दुर्दशा पुराणों के अनुसार (जिनमे 'लिङ्गोद्भव' प्रसंग आया है) इनकी विष्णुकी प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुई। विविध पुराणो में ब्रह्मा को गौण पद दिया है तथा विष्णु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए उन्हे विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन

१. बनर्जी पृ० ५१२–५१३।

दिखाया गया है। इस कथानक से यह मान्यता प्रमाणित होती है कि ब्रह्मा स्वयं विष्णु से उत्पन्न है। मार्कण्डेयपुराण में मधु, कैटभ का जो प्रसंग है; वह मुख्यतया विष्णु की महत्ता और ब्रह्मा की विपन्नता सिद्ध करने के लिए ही है।

ब्रह्मा के स्वरूप पर विचार बृहत्संहिता (५७।४१) मे किया गया है। पुराणों मे ब्रह्मा के प्रतिभास्वरूप की चर्चा है। मत्स्यपुराण का विवरण इस प्रकार है :—

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः॥
वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलु वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुवञ्चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वैः स्तूयमानं समन्ततः॥
कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुक्लाम्बरधरं विभुम्।
मृगचर्मधरञ्चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्॥
आज्यस्थाली न्यसेत्पार्श्वे वेदांश्च चतुरः पुनः।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्री दक्षिणे च सरस्वती॥
अग्रे च ऋषयस्तद्वत्कार्य्याः पैतामहेपदे।

—मत्स्य० २५९।४०–४४

ब्रह्मा की सबसे प्राचीन मूर्ति गन्धार की बौद्ध-कला मे मिलती है। यह ब्रह्मा का अंकन बुद्ध के जन्म-प्रसंग मे है। जैन मूर्तिविधान मे ब्रह्मा का प्रदर्शन जैन तीर्थंकर शीतलनाथ के रूप मे या दिक्पाल के रूप में होता है। प्रारम्भ मे ब्रह्मा की द्विमुख और द्विबाहु प्रतिमा बनती थी। श्मश्रु भी नही प्रदर्शित किया जाता था। चतुर्मुख और चतुर्बाहु की परम्परा मूर्तिविधान मे बाद में चली। मथुरा से मिली चतुर्मुख ब्रह्मा की एक प्रतिमा विचित्र है। इस प्रतिमा मे ब्रह्मा के तीन मुख एक पंक्ति मे और चौथा मुख बीच वाले मुख के ऊपर है।[१] यह प्रतिमा कुषाणकालीन है। यहीं से गुप्तकालीन ब्रह्मा की एक प्रतिमा मिली है जो स्थानक है। इस प्रतिमा मे केवल तीन ही मुख और दो भुजाएँ हैं। बीच वाले मुख मे श्मश्रु भी प्रदर्शित है। मध्यकाल में ब्रह्मा की प्रतिमाएँ, जो सामान्यतया मत्स्यपुराण की मूर्ति-विधानीय परम्परा का पालन करती हैं, आवरणदेवता के रूप में बहुशः प्रचलित रही! मध्यकालीन ब्रह्मा की प्रतिमाओं में ब्रह्मा या तो 'ललितासन' में दिखाये गये है या विश्वपद्म पर 'ललिताक्षेप' ढंग में बैठे प्रदर्शित किये गये है।

---

१. बनर्जी पृ० ५१७

सूर्य

सूर्य हिन्दुओं के पंचदेवों में एक हैं।[१] ऋग्वेद मे सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है :—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

—ऋक् १।११५।१

वैदिक साहित्य में सूर्य का विशद वर्णन है और वैदिक ख्यातों के आधार पर ही पुराणो में विशेषकर भविष्य, अग्नि और मत्स्य मे सूर्य-संबंधी परम्पराओं का विकास हुआ है। सूर्योपनिषत् में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का ही रूप माना गया है :—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः।

—सूर्योपनिषत्[२] पृ० ५५

वैसे तो द्वादशादित्य की गणना शतपथ ब्राह्मण में भी है किन्तु पुराणों में द्वादशादित्य की संख्या और नामावली अपेक्षाकृत सुनिश्चित हो गयी थी।[३] इनके नाम क्रमशः धातृ, मित्र, अर्यमन्, रुद्र, वरुण, सूर्य, भाग, विवश्वन्, पूषन्, सविता, त्वष्टा और विष्णु मिलते हैं। मित्र, अर्यमन् के नाम से सूर्य की पूजा ईरानियों मे भी प्रचलित थी।

सूर्य-सम्बन्धी कई पौराणिक आख्यातो का मूल वैदिक है। सूर्य की उपासना का इतिहास भी वैदिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य और रामायण-महाभारत मे भी सूर्य की उपासना की बहुशः चर्चा है। गुप्तकाल के पूर्व से ही सूर्य के उपासकों का एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ था, जो सौर नाम से प्रसिद्ध था। सौर सम्प्रदाय के उपासक उपास्य देव के प्रति अनन्य आस्था के कारण सूर्य को आदि-देव के रूप में मानने लगे। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत में सूर्योपासना व्यापक रही। मुल्तान, मथुरा, कोणार्क, कश्मीर, उज्जयिनी, मोधेर (गुजरात में) आदि सूर्योपासकों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। राजवंशो मे भी कतिपय राजा सूर्य-भक्त थे। मैत्रक राजवंश और पुष्पभूति के कई राजा 'परम आदित्य भक्त' के रूप में माने जाते थे।

---

१. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १६२.

२. सूर्योपनिषत् अभी अप्रकाशित है; प्रतीक विद्या १६३.

३. डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकेनाग्राफी, पृ० ४२८-२९.

सूर्योपासना का आरम्भिक स्वरूप प्रतीकात्मक था। सूर्य का प्रतीकत्व चक्र, कमल आदि से व्यक्त किया जाता था। इन प्रतीकों को विधिवत् मूर्ति की ही तरह प्रतिष्ठित किया जाता था, जैसा कि पञ्चाल के मित्र राजाओं के सिक्कों से पता चलता है। मूर्त रूप मे सूर्य की प्रतिमा का प्रथम प्रमाण बोध गया की कला मे है। यहाँ सूर्य एक-चक्ररथ पर आरूढ है। इस रथ मे चार अश्व जुते है। उषा और प्रत्यूषा सूर्य के दोनो बगल मे खडी हैं। अंधकाररूपी दैत्य भी प्रदर्शित है। बौद्धो मे भी सूर्योपासना होती थी। भाजा की बौद्ध गुफा मे सूर्य की प्रतिमा बोध-गया की परम्परा मे ही बनी है। इन दोनों प्रतिमाओ का काल ईसा पूर्व की प्रथम शती है। बौद्धो की ही तरह जैन गुफा मे भी सूर्य की प्रतिमा मिली है। खंडगिरि (उड़ीसा) के अनन्त गुफा में सूर्य की जो प्रतिमा है (दूसरी शती ईसवी) वह भी भाजा और बोधगया की ही परम्परा मे है। चार अश्वो से युक्त एकचक्र रथारूढ सर्य की प्रतिमा मिली है। गंधार से प्राप्त सूर्य प्रतिमा की एक विशेषता यह भी है कि सूर्य के चरण को जूतों से युक्त बनाया गया है। इस परम्परा का परिपालन मथुरा की सूर्य मूर्तियो मे भी किया गया है। मथुरा मे बनी सूर्य प्रतिमाओ को उदीच्यवेश मे बनाया गया है। बृहत्संहिता मे उदीच्यवेश या शैली मे सूर्य प्रतिमा के निर्माण का विधान इस प्रकार है :—

> नाशाललाटजङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
> कुर्य्यादुदीच्यवेशं गूढं पादादुरो यावत् ॥
> बिभ्राणः स्वकररुहे बाहुभ्यां पङ्कजे मुकुटधारी।
> कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारो वियद्गवृतः॥
> कमलोदरद्युतिमुखः कञ्चुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुखः।
> रत्नोज्ज्वलप्रभामण्डलश्च कर्त्तुः शुभकरोऽर्कः॥
>
> —बृहत्संहिता ५७।४६–४८

पुराणो मे सूर्य की प्रतिमा का जो विधान वर्णित है उसमे रथ की भी चर्चा है। उदीच्य-वेश मे रथारूढ सूर्य की प्रतिमा का विधान मत्स्यपुराण मे इस प्रकार है :—

> रथस्थं कारयेद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम्।
> सप्ताश्वञ्चैकचक्रञ्च रथं तस्य प्रकल्पयेत्॥
> मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भ–समप्रभम्।
> नानाभरणभूषाभ्यां भुजाभ्यां धृतपुष्करम्॥
> स्कन्धस्थे पुष्करे ते तु लीलयैव धृते सदा।
> चोलकच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत्।
> वस्त्रयुग्मसमोपेतं चरणौ तेजसा वृतौ॥—मत्स्य २६०।१–४

ऊपर निर्दिष्ट श्लोको में से अन्तिम श्लोक उदीच्यवेश का पूरा परिचायक हैं। यह उदीच्यवेश शकों के द्वारा समादृत सूर्य का परिधान होने से इस नाम से पुकारा जाता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि शको के उपास्य देव सूर्य भगवान् थे—इसका परिचय पुराणो ने शकद्वीप में उपास्य देवता के प्रसंग में बहुशः दिया है। उत्तरदेश के निवासियों के द्वारा गृहीत होने के कारण ही यह वेष 'उदीच्य' कहलाता है। इस वेश का परिचायक पद्य मत्स्य का पूर्वोक्त अन्तिम पद्य है। सूर्य की यह प्रतिमा अधिकतर खड़ी दिखलायी जाती है; रथस्थ यह प्रतिमा मात्रा मे कम मिलती है। उसके ऊपर रहता है चोगा (चोल) जो पूरे शरीर को ढके रहता है। पैर मे बूट दिखलाये जाते हैं। कही-कहीं बूट न दिखलाकर तेजःपुंज के कारण नीचे का पैर दिखलाया नही जाता। शरीर के ऊपर जनेऊ दिखलाया जाता है जो कभी खड्ग का भ्रम उत्पन्न करता है। यह वेश शकराजाओ का विशिष्ट राजसी वेष था जिसका विशद निदर्शन मथुरा संग्रहालय के कनिष्क की मूर्ति है।

गुप्तपूर्वकालीन सूर्य प्रतिमाएँ थोडी है। मथुरा केन्द्र मे ही प्रमुख रूप से सूर्य की प्रतिमाएँ बनती थी। यहाँ सूर्य प्रायः स्थानक प्रदर्शित हुए है। गुप्त-कालीन प्रतिमाओ मे ईरानी प्रभाव कम था, बिल्कुल ही नही है। निदायतपुर, कुमारपुर (राजशाही बंगाल) और भूमरा की गुप्तकालीन सूर्य प्रतिमाएँ शैली, भावविन्यास और आकृति मे भारतीय है। भूमरा की प्रतिमा मे सूर्य नहीं प्रदर्शित है। किन्तु यह वेश तथा अन्य विशेषताओं मे कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिपरम्परा को प्रदर्शित करती है। दंडी और पिंगल भी दिखाये गये है जो ईरानी वेष मे हैं। सूर्य के मुख्य आयुध कमल (दोनो हाथो मे) ही विशेषतया प्रदर्शित हैं। कभी-कभी सूर्य दोनों हाथो से अपने गले मे पहनी माला को ही पकड़े रहते है।

मध्यकालीन सूर्य की उपलब्ध प्रतिमाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो स्थानक सूर्य की प्रतिमाएँ और दूसरी पद्मस्थ प्रतिमाएँ। खिचिङ्ग से मिली सूर्य की एक प्रतिमा ऊषा और प्रत्यूषा के अतिरिक्त अन्य अनेक सूर्य-पत्नियों से युक्त है यथा राज्ञी, निक्षुभा, छाया, सुवर्चसा और महाश्वेता। वङ्गाल, विहार से मिली अनेक सूर्यप्रतिमाएँ किरीट और प्रभावली से भी युक्त है।

पश्चिम भारत और दक्षिण भारत से मिली सूर्य-प्रतिमाओं मे 'उदीच्य-वेशीय' प्रभाव नही परिलक्षित होता। सूर्य के पैरो मे न तो पदत्राण या बूट ही होता है और न सप्त अश्व या सारथी अरुण ही प्रदर्शित हुए है। कोट भी नही धारण करते और न उनके साथ उनके प्रतिहार ही दिखाये जाते हैं।
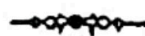
पुराणों का दार्शनिक तत्त्व

पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन भी बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृति में आचार तथा विचार का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार के द्वारा कार्यरूप में परिणत किये बिना विचार का कुछ भी महत्त्व नही है और इसी प्रकार विचार की भित्ति और आधार के अभाव मे आचार की स्थापना भी निराधार और निरवलम्ब होती है। पुराण मे जनता के लिए अनुकरणीय और प्रतिदिन जीवन मे संग्रहणीय सदाचार का विशद विवरण है। वह अपने आधार के रूप मे विचार को चाहता है। इसलिए पुराणो ने विचार का भी विश्लेषण अपनी दृष्टि से किया है। पुराणगत दार्शनिक तथ्यों के विवरण के निमित्त तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है, परन्तु यहाँ स्थानाभाव से सामान्य बाते ही दी जायेगी।

पुराण नाना रूपो मे भासमान जगत् के मूल मे एक सर्वशक्तिसम्पन्न तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है जिसकी सत्ता से यह विश्व स्थिति-सम्पन्न है। उस परमतत्त्व के विभिन्न नाम है। वही है विष्णु (विष्णुपुराण तथा नारदीय मे), वही है शिव (वायु, कूर्म तथा शिवपुराण में) वही है शक्ति (देवीभागवत तथा देवीपुराण मे) और वही है श्रीकृष्ण (श्रीमद्‌भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त मे)। इन पुराणो ने अपने परमोपास्य तत्त्व के स्वरूप का विवेचन बड़ी रुचिरता तथा वैशद्य के साथ किया है। वह दोनो रूपो मे वर्तमान रहता है—निर्गुण तथा सगुणरूप मे। परन्तु सामान्य मानव के लिए उसका सगुणरूप ही विशेषतः उपादेय तथा ग्रहणीय माना गया है। मूलतत्त्व के नाम मे भिन्नता होने पर उसके मौलिक स्वरूप में पार्थक्य नही है। पुराण ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-इन तीनो मार्गों का वर्णन करता है। परन्तु कलियुग के प्राणियो के लिए उसका विशिष्ट आग्रह भक्ति पर ही है। उसी भक्ति का आश्रयण मानवो को अनायास दुःखबहुल संसार के निस्तार तथा आनन्दपूर्ण स्थिति मे पहुँचने के लिए एक-मात्र सुगम साधन बतलाया गया। इसी तत्त्व का प्रतिपादन प्रति-पुराण मे प्रायः समान है, परन्तु श्रीमद्भागवत ने, जो पुराणो मे मूर्धन्य स्थान धारण करता है, इस भक्तितत्त्व का बड़ा ही सर्वाङ्गीण विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो सब पुराणो मे सर्वथा मान्य है। भागवत का एकादश स्कन्ध का अपर नाम उद्धवगीता है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को भागवत तत्त्वो का उपदेश बड़ी ही सुन्दर शैली मे दिया है। भक्ति के साथ योग का भी सामञ्जस्य

पुराणों में अभीप्सित है। शैवपुराणो मे वह पाशुपतयोग के नाम से अभिहित है, तो वैष्णवपुराणो मे वह भागवतयोग की संज्ञा से प्रतिपादित है।

यहाँ श्रीमद्भागवत के आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुराण-साहित्य मे 'श्रीमद्भागवत' अपनी दार्शनिकता तथा व्यापक धार्मिकता के कारण नितांत प्रख्यात है। दशम स्कन्ध तो इसका हृदय माना जाता है; क्योंकि इस स्कन्ध मे भगवान् श्रीकृष्ण के कमनीय चरित्र का सुचारु चित्रण है। इस स्कन्ध के उत्तरार्ध के ८७वे अध्याय में श्रुतियों के द्वारा श्रीकृष्ण की प्रशस्त स्तुति का वर्णन है, जो वेदस्तुति के नाम से अभिहित किया जाता है। इस स्तुति के अनुशीलन से हम भागवत के दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु को समझने में कृतकार्य हो सकते हैं। इतना ही नही, हम यह भी जान सकते है कि आज से लगभग डेढ हजार वर्ष पूर्व श्रुतियों के तात्पर्य की दिशा किस ओर थी। उसके मंत्रो के भीतर किस आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि मानी जाती थी। वेदार्थ का चिन्तन भारतीय मनीषियो के आध्यात्मिक मनन का एक विशेष विषय रहा है। भागवत के रचयिता के विचार से वेद का दार्शनिक तत्त्व क्या था, इसे भी भली भाँति समझने मे हमे इस स्तुति के स्वाध्याय से पूर्ण सहायता मिल सकती है। इसी महत्त्व से प्रेरित होकर इस सारगर्भित स्तुति के सिद्धान्तों का एक सामान्य दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

भागवत एक गम्भीर विचार का पुराण है। उसके तत्त्वज्ञान की मीमांसा एक दुरूह व्यापार है। इसीलिए, यहाँ 'वेदस्तुति' के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक विचारो का वर्णन किया जा रहा है, जो भागवत के अनुसार जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। विद्यावतां भागवते परीक्षा—यह लोकोक्ति भागवत के रहस्यमय रूप को प्रकट करती है।

साध्य तत्त्व

साध्य तत्त्व के अन्तर्गत ब्रह्म का विचार प्रस्तुत किया गया है। भगवान अकरण हैं। वे चिन्तन, कर्म आदि के साधनभूत मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि करणो से सर्वथा रहित है। फिर भी, समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणों की शक्तियो से सर्वदा सम्पन्न है (अखिलकारकशक्तिधरः)। वे स्वयं प्रकाश है और इसीलिए कोई काम करने के लिए उन्हे इन्द्रियो की सहायता की तनिक भी आवश्यकता नही है। वे इस विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति-स्थानीय है, जिनके आदेशो का पालन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव अपने कार्यों मे प्रवृत्त होते है (श्लोक २८)। भगवान् नित्यमुक्त स्वभाववाले है। वे माया से अतीत हैं, परन्तु जब वे ईक्षण-मात्र से अर्थात् संकल्पमात्र से माया के साथ क्रीड़ा

किया करते है, तब जीवों के सूक्ष्म शरीर तथा उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते है और जीवों की सृष्टि होती है। उनमे समत्व गुण की विशिष्टता है, फलतः उनके लिए न कोई अपना है और न कोई पराया। कार्य-कारण-रूप प्रपंच के अभाव होने से वे वाह्य दृष्टि से शून्य के समान प्रतीत होते हैं (वियत इवापदस्य शून्यतुलां दधतः); परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण वे परम सत्यरूप हैं (श्लोक २९)। भगवान् इस विश्व के नियामक हैं। नियमन करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्ही के नियमन मे संचालित यह विश्व अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता हुआ अबाध गति से आगे चलता जाता है। वे समदर्शी हैं। उनके उपासको की दो श्रेणियाँ हैं। कुछ परिछिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके व्यक्त रूप की उपासना मे आसक्त रहते है; तो अपरिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके निराकार, एकरस रूप के चिन्तन मे लीन रहते हैं। इन दोनों मे वे किसी प्रकार का अन्तर अथवा भेद-भाव नही मानते, प्रत्युत समान दृष्टि से उनकी सेवा तथा उपासना को चरितार्थ करते हैं। अपने प्राण, मन तथा इन्द्रियो को वश मे रखकर दृढ योगाभ्यास के द्वारा अपने हृदय मे उपासना करनेवाले योगियो को जो गति प्राप्त होती है, वही गति मिलती हैं उन प्राणियों को भी, जो उनसे सर्वदा वैरभाव रखते है। इन दोनों के ऊपर भगवान् सदा-सर्वदा एक प्रकार ही अपनी दया की वृष्टि किया करते है (श्लोक २३)।

इस जगत् की सृष्टि बतलानेवाले अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने मत की शिक्षा देते हैं। कोई असत् से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं (वैशेषिक); कोई सत्-रूप दुःखो के नाश को मोक्ष मानते है (नैयायिक = सतो मृतिम्); कुछ लोग जीवो मे भेद बतलाते हैं (साख्य = आत्मनि ये च भिदाम्); तो कुछ लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोक-रूप व्यवहार को सत्य मानते हैं (मीमांसक = विपणमृतम्)। परन्तु, ये सब बातें भ्रममूलक हैं तथा आरोप के द्वारा ही ऐसा मत प्रचलित है। भगवान् 'अवबोध रस', अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। फलत: उनमे किसी प्रकार भेद-भाव की कल्पना न्याय्य नही है (श्लोक २५)।

भगवान् का शासन अखण्ड रूप मे इस विश्व के सब प्राणियो पर, देवता-दानव तथा पशु-मानव के ऊपर समभाव से वर्त्तमान है। भगवान् स्वयं इन्द्रियो से रहित हैं, परन्तु समस्त जीवो की इन्द्रियो के वे ही प्रवर्त्तक है। मनुष्य अपने कल्याण के लिए देवताओ को वलि दिया करते हैं और उपासना के समय नाना प्रकार के पदार्थ समर्पित करते है, परन्तु देवता लोग उस वलि को भगवान् को ही समर्पित कर देते है। इस विषय मे भागवत चक्र

वर्ती तथा सामन्त नरेश की उपमा देता है। जिस प्रकार सामन्त नरेश प्रजाओं के द्वारा प्राप्त बलि (मालगुजारी) को चक्रवर्ती राजा को समर्पित कर देते हैं, उसी प्रकार देवता लोग भी मनुष्यो द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को भगवान् को समर्पित करते है। सारांश यह है कि भगवान् ही इस विश्व का परम ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् हैं, जिनके शासन में रहकर देव और मानव अपने कार्यों के सम्पादन मे लगे हुए हैं (श्लोक २८)। भगवान् अनन्त हैं, उनके अन्त का पता नही। जिस प्रकार वायु मे धूल के नन्हे-नन्हे कण उड़ते रहते है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणो के साथ समस्त ब्रह्माण्डसमूह कालचक्र के संग एक साथ घूमता रहता है। सब श्रुतियाँ तात्पर्य-वृत्ति से भगवान् के वर्णन मे ही चरितार्थ होती हैं, अर्थात् श्रुतियो के द्वारा गम्य तथा बोध्य भगवान् ही है। इसी का तात्पर्य गीता के इस पद्यांश में है—
'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।

जगत्

जगत् के विषय मे वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नही है। केवल यही नहीं, प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पनामात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा मे ही कल्पित है (स्वकृतं) तथा आत्मा से ही व्याप्त है (अनुप्रविष्टं) और इसीलिए आत्मज्ञानी लोग इसे आत्मरूप मानते है तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहने भी तो अन्ततोगत्वा सोना ही है। अतएव, इस रूप को जाननेवाले पुरुष इसे छोड़ते नही। जगत् की भी ठीक यही दशा है (श्लोक २६)।

जगत् की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु का उपन्यास किया गया है। यह जगत् उत्पत्ति से पहले नही था और प्रलय के बाद भी नही रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्य मे भी यह असत् रूप ही है। श्रुतियो मे दिये गये उदाहरण इस तथ्यहीनता को स्पष्ट बतला रहे हैं। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, लोहे मे शस्त्र और सोने मे कुण्डल आदि नाममात्र है, वास्तव मे तो मिट्टी, लोहा और सोना ही है, उसी प्रकार परमात्मा मे वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नही। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है, वस्तुतः नही—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात्
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

अत उपमीयते द्रविण–जाति–विकल्पपथै-
वितथमनो–विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

—श्लोक ३७

भगवान् के ईक्षणमात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिए जगत् की सृष्टि करती है। फलतः, सृष्टि मे जो विचित्रता तथा विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मों की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है और उन कर्मफलों को भोगने के लिए उसे इस सृष्टि के भीतर आना पड़ता है। फलतः, जगत् के जीवो की वर्तमान दशा उन्ही के पूर्व कर्मों के फल से जन्य है। सृष्टि-वैषम्य कर्म-वैषम्य-जन्य है। भगवान् तो परम कारुणिक, एकरस और समदृक् है। उसमे किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है (श्लोक २६)।

प्रलय

जिस समय भगवान् सब सृष्टि को समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई भी साधन नही रह जाता, जिससे उनके साथ सोया हुआ जीव उन्हें जान सके। प्रलयकाल मे सत् नही रहता, अर्थात् आकाश आदि स्थूल जगत् का अभाव होता है और न असत् ही रहता है, अर्थात् महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व भी उस समय नही रहता। इन दोनो के योग से बने हुए न शरीर ही होते हैं और न क्षण, मुहूर्त आदि काल के अङ्ग ही रहते है। उस दशा मे कुछ भी नही रहता। फलतः उस दशा मे वर्तमान भगवान् के रूप को जानने के साधन का अभाव होने से हम उन्हे किसी प्रकार भी नही जान सकते (श्लोक २४)।

जीव

जीव के स्वरूप के विषय मे भी यहाँ खूब विवेचन किया गया मिलता हैं। भगवान् शासक हे तथा जीव उनके द्वारा शासित। भगवान् नियामक हैं और जीव उनके द्वारा नियम्य। यह तभी सम्भव है, जब जीव भगवान् से उत्पन्न तथा भगवान् की अपेक्षा न्यून हो। जीव भगवान् से उत्पन्न होता है, इस कथन का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह नही है कि भगवान् परिणाम के द्वारा जीव बनाते है। प्रकृति और पुरुष दोनो अजन्मा हैं। प्रकृति मे पुरुष और पुरुष मे प्रकृति के संयोग के कारण ही जीवो के नाना रूप तथा गुण रख दिये जाते हैं—जल बुद्बुद के समान। जल (उपादान) तथा वायु (निमित्त कारण) के संयोग से जिस प्रकार 'बुद्बुद' नामक पदार्थ बनता है, जो स्वयं

कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही होता, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष के अध्याय से जीवो का नानात्व गुण तथा रूप कल्पित किया गया है। अन्त में जिस प्रकार समुद्र में नदियाँ समा जाती है तथा मधु में समस्त फूलो के रस समा जाते हैं उसी प्रकार सब जीव उपाधि-रहित होकर भगवान् मे समा जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है। जीव को पृथक्, स्वतन्त्र और वास्तविक मानना अज्ञान के ही कारण है। जीव के स्वरूप का प्रतिपादक यह महत्त्वपूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

> न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुपयोरजयो-
> रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलवुद्वुदवत्।
> त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
> सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥
>
> —(श्लोक ३१)

जीव तथा ईश मे वस्तुतः ऐक्य ही वर्तमान है, परन्तु संसार-दशा मे दोनो मे भेद है। जीव मायाबद्ध है अर्थात् माया के पाश मे सर्वदा बद्ध रहता है। इसके विपरीत ईश मायामुक्त होते हैं। जीव होता है अपेतभगः, ऐश्वर्य से हीन; परन्तु ईश होते हैं आत्तभगः ऐश्वर्य से सम्पन्न। जीव माया से अविद्या-युक्त होता है, इसलिए देह और इन्द्रिय आदि का सेवन करता है; उन्ही को अपना स्वरूप मानता है और आनन्दादि गुणो से तिरोहित होने पर संसार को प्राप्त करता है। अतः, जीव के लिए कर्मकाण्ड की आवश्यकता होती है, परन्तु भगवान् माया को उसी प्रकार छोड देते है तथा उसका अभिमान नही करते, जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल को छोड़ देता है और उसका अभिमान नही रखता। भगवान् नित्यसिद्ध ज्ञान तथा अनन्त ऐश्वर्य से युक्त, अणिमा आदि आठों सिद्धियो से सम्पन्न होने के कारण पूजित है। इस प्रकार वस्तुतः अद्वैत होने पर भी संसारदशा मे द्वैत भासता है (श्लोक ३८)। जीव असंख्य, परन्तु नित्य नही हैं। वे भगवान् के द्वारा शासित होते है। भगवान् शासक तथा नियामक हैं, जीव शासित तथा नियम्य। मति और बुद्धि से परे होने से उसका रूप अत्यन्त कठिन है (श्लोक ३०)।

साधन-मार्ग

भागवत के अनुसार साध्य की प्राप्ति का सरल उपाय कौन-सा है? भागवत के अनुसार भगवान् की सेवा ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। भगवान् से विमुख करनेवाली सबसे बड़ी वस्तु है—काम। यह मानव-हृदय को जटा के समान नाना रस्सियो से बाँधे रहती है। काम की वासना को

दूर करना परम आवश्यक है। फलतः, जिन यतियों ने मन, इन्द्रिय तथा प्राणों को अपने वश मे कर रखा है, परन्तु काम के हटाने मे समर्थ नही हैं, वे अपने हृदय में स्थित भगवान् को नही जान सकते। उनकी दशा, भूलने की आदत रखनेवाले उस मनुष्य की तरह होती है, जो अपने ही गले मे लटकनेवाली मणिमाला को एकदम भूलकर बाहर खोजता चलता है। अतः, साधकों के लिए काम की वासना का उन्मूलन नितान्त आवश्यक है। इस शुभ कार्य में भागवत गुरु की उपादेयता पर जोर देता है। जिस प्रकार विना मल्लाह के नाव तूफान मे पडकर डूब जाती है, उसी तरह विना गुरु का साधक लक्ष्य की प्राप्ति न कर बीच मे ही डूब जाता है। भागवत, भक्ति को ही सुगम साधन बतलाता है। भगवान् की आनन्दमयी उपलब्धि के लिए ज्ञानमार्गी तो केवल भूसा कूटने-वाले जैसे होते हैं, जिन्हे उसमें से एक दाना भी नही मिलता। अतः भागवत की दृष्टि मे श्रेय साधन करनेवाली भक्ति ही चरम साधन है—

> श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यत्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

श्रीमद्भागवत : भक्तिशास्त्र का सर्वस्व

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्वों का वर्णन व्यास ने समाधि दशा मे अनुभूत करके किया है। भागवत का प्रभाव वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है।

साध्यतत्त्व

श्रीमद्भागवत अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों मे करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय मे ब्रह्माजी को इस प्रकार उपदेश दिया है :—

> अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

"सृष्टि के पूर्व में ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था।

यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा"। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीवजगत सब वही है। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते है। वही सब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अविच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप से रहते हैं—तब निर्गुण कहलाते है और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर सगुण कहलाते है। परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव के शब्दो द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वहाँ निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु कहते है, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को ब्रह्मा, तमोमिश्रित सत्त्वावछिन्न चैतन्य को रुद्र और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावछिन्न को पुरुष कहते है। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार मे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते है, पुरुष उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, माया सम्बन्ध-रहित हुए भी माया से युक्त रहता है सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे पुरुष कहते है। इस पुरुष से भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्ट पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार है। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत मे विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं। भक्ति की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते है। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया है' जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बताया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत् न प्रतीयेत् चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

वास्तव के विना भी जिसके द्वारा आत्मा मे किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नही होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्र मण्डल मे दोख नही पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्य-शक्ति समन्वित हैं। वे एक समय मे एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारकापुरी मे एक समय मे ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियो के महलो मे विद्यमान भिन्न कार्यो मे संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन तत्त्व

इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम मार्ग बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन ही भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य पुत्रो मे प्राण का ही संचार नही हुआ प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

परम भक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दो मे किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नही होते, वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के सिवाय अन्य साधन उपहासमात्र है—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति-प्राप्ति मे प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक है साक्षाद्रूपेण नही। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम-विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके विषदन्त तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति

के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्ति विषय में श्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—साधनरूपा भक्ति, साध्यरूपा भक्ति। साधन भक्ति नौ प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत मे सत् सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दो मे किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत् पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नही चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन मे ललित विहार की कामना करने वाले, भगवच्चरण-चञ्चरीक भक्त शुष्क, नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ठ्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियो के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह मे व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकाएँ थी जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपञ्चाध्यायी मे किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभय दृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य मे अनुपम है। सर्ववेदान्तसार भागवत का कथन यथार्थ है :—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः।

भागवती साधना

भागवत मे किस साधनापद्धति का किस प्रकार से उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवत के पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूप से कर सकते हैं, परन्तु फिर भी इस विषय का एक छोटा-सा वर्णन पाठको के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

हमारे देखने मे भागवती साधना का कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ मे तथा तृतीय स्कन्ध के कपिलगीता वाले अध्यायो मे किया गया मिलता है। कपिल की माता देवहूति के सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान के पाने का सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्न को उन्होने अपने पुत्र कपिलजी से किया जिसके उत्तर मे उन्होने अपनी माता की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बाते कही है। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षित को। उन्होने ब्राह्मण का अपमान किया था। सातवें दिन उन्हे अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। बस, इतने ही स्वल्पकाल मे उन्हे अपना कल्याण-साधन करना था। बेचारे बड़े विकल थे, बिलकुल बेचैन थे। उनके भाग्य से उन्हे उपदेष्टा मिल गये शुकदेव जैसे ब्रह्मज्ञानी। अतः उनसे उन्होने यही प्रश्न किया—हे महराज, इतने कम समय मे क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधक की खोज मे थे। उन्हे ऐसे साधक के मिलने पर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेवजी ने परीक्षित से कहा कि भगवान् से परोक्ष रहकर बहुत से वर्षो से क्या लाभ है? भगवान् से विमुख रहकर दीर्घ जीवन पाने से भला कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान के स्वरूप को जानकर उनकी सन्निधि मे एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवन का उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुण कीर्तन मे है। यदि न हो सके तो पृथ्वीतल पर दीर्घ जीवन भी भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षि ने इस जीवन की असारता को जानकर अपने सर्वस्व को छोड़कर समस्त भयो को दूर करने वाले अभय हरि को प्राप्त किया। तुम्हे तो अभी सात दिन जीना है। इतने काल में तो बहुत कुछ कल्याणसाधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिका के अनन्तर शुकदेवजी ने भगवती भागीरथी के तीर पर सर्वस्व छोड़कर बैठने वाले राजा परीक्षित से भागवती साधना का विस्तृत वर्णन किया। अष्टांग योग की आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्ग मे है। इस भक्ति-मार्ग मे भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होने कहा कि साधक को चाहिए कि किसी एक आसन मे बैठने का अभ्यास करके उस आसन पर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणो का पूरा आयमन करे। संसार के किसी भी पदार्थ मे आसक्ति न रखे। अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना हो

जाने पर साधक का मन उस अवस्था में पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मन को जिस स्थान पर लगायेगा, उस स्थान पर वह निश्चयरूप से टिक सकेगा। अभी भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान करना चाहिये। भगवान् के विराट् रूप का ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान् का रूप है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः'। इस जगत् के चौदहों लोकों में भगवान् की स्थिति है। पाताल भगवान् का पादमूल है, रसातल पैर का पिछला भाग है, महातल पैर की एड़ी है, तलातल दोनों जंघाएँ हैं, सुतल जानुप्रदेश है और दोनों उरु वितल तथा अतल लोक है। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीर के अधोभाग के रूप में है। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपर के भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान् का मस्तक है इस जगह पर भागवतकार ने भगवान् के विराट् रूप का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। जगत् की जितनी चीजें हैं वे सब भगवान् का कोई-न-कोई अङ्ग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान् का ही रूप ठहरा तब उसके भिन्न-भिन्न अंगों का भगवान् के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान् का स्थविष्ठ--स्थूलतम स्वरूप। साधक को चाहिये कि इस रूप में इस प्रकार अपना मन लगाये, वह अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जब तक भगवान् में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तब तक इस स्थूल रूप का ध्यान नियत रूप से साधक को अपनी नित्यक्रियाओं के अन्त में करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधना को श्रेष्ठ समझकर इसी का उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाश में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसी का उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक को चाहिये कि अपने हृदय में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान् के पाद से और अन्त करे भगवान् के मृदुल मधुर मुसुकान से। 'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचे से आरम्भ कर ऊपर के अङ्गों तक जाय और जब एक अङ्ग का ध्यान निश्चित हो जाय तब अगले अङ्ग की ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूप का ध्यान दृढ रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह के ध्यान का विशद वर्णन तृतीय स्कन्ध के २८ वें अध्याय में किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणि के पैर से ध्यान करना आरम्भ करे। भगवान् के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल के चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभा से मनुष्यों के हृदय का अन्धकार आप-से आप दूर हो जाता है।

श्रीभागीरथी का उद्‌गम इन्ही से हुआ है। ऐसे चरणों मे चित्त को पहले लगाये। जव वह वहाँ स्थिर रूप से स्थित होने लगे, तव दोनों जानुओ के ध्यान मे चित्त को रमाये। तदनन्तर ललित पीताम्वर से शोभित होनेवाले, ओज के निधान भगवान् की जंघाओ पर ध्यान लगाये। तदनन्तर व्रह्माजी के उत्पत्तिस्थानभूत कमल की उत्पत्ति जिससे हुई, उस नाभि का ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, वाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हृदय स्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदि का ध्यान करता हुआ भगवान् के मुखारविन्द तक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तल से परिवेष्टित, उन्नत भ्रू से सुशोभित, मीन की भाँति चपल नयनो पर अपनी चित्तवृत्ति लगाये। मनुष्यो के कल्याण के लिए अवतार धारण करनेवाले भगवान् के कृपा-रस से सिक्त तापत्रयनाशिनी चितवन को अपने ध्यान का विषय वनाये। अन्त मे भगवान् के होठों पर विकसित होनेवाली मन्द मुसकान में अपना चित्त लगाकर वस, वही दृढ़ धारणा से टिक जाय। वहाँ से टले नही। वही अन्तिम स्थान ध्यान हुआ। पर इस स्थान पर निश्चित रूप से स्थित होने का प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जव तक हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति का सञ्चार न होगा, तव तक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होगे। अष्टाङ्ग योग भी तो विना भक्ति के छूछा ही है—नीरस ही है। भक्ति होने पर ही तो भक्त का प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा का अंग हो जाता है, अतः इस भक्ति का पहले होना सवसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकार को पूर्वोक्त प्रकार की ही साधना अभीष्ट है, क्योकि ध्रुव आदि भक्तो के चरित मे इसी प्रकार की साधना का उपयोग किया गया मिलता है। श्रीकृष्ण के चरित से भी इस भागवती साधना का तत्त्व समझा जा सकता है।

(४) श्रीकृष्ण और सुदामा

> त्रिभुवनकमनं तमालवर्णा रविकरगौरवराम्वरं दधाने।
> वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

आनन्दकन्द वृन्दावन-चन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र सव भावो से परिपूर्ण है। जिस दृष्टि से उसे देखा जाय उसी से वह पूरा दीखता है, जिस कसौटी पर उसे कसा जाय वह पूरा उतरता है। वह वृन्दावनविहारी मुरलीधारी वनवारी किस रस का आश्रय नही है, किस भाव का पात्र नही है? वह स्नेहमूर्ति कन्हैया प्रेम का अगाध समुद्र है, सख्य का अनन्त सागर है।

भगवान् की अनन्त लीलाओ मे सुदामा का प्रसङ्ग भी अपनी एक विचित्र मोहकता धारण किये हुए है। पुराने सहपाठी सुदामा को दरिद्र-दीन दशा मे देख भगवान् के हृदय मे करुण रस का जो प्रवाह उमड़ पड़ा, दया की जो

दरिया बहने लगी, भगवान् कृष्णचन्द्र के रहस्यमय चरित्र मे वह भक्तों के लिए परम पावन वस्तु है—दुःखो आत्माओ को शान्ति देनेवाली यह एक अति अनुपम कथा है।

सुदामा की कथा

सुदामा एक अत्यन्त दीन ब्राह्मण थे। बालकपन मे उसी गुरु के पास विद्याध्ययन करने गये थे जहाँ भगवान् श्री कृष्णचन्द्र अपने जेठे भाई बलरामजी के साथ शिक्षा ग्रहण करने के लिए गये थे। वहाँ श्री कृष्णचन्द्र के साथ इनका खूब सङ्ग रहा। इन्होने गुरुजी की बड़ी सेवा की। गुरुपत्नी की आज्ञा से एक बार सुदामा कृष्णचन्द्र के साथ जंगल से लकड़ी लाने गये। जंगल मे जाना था कि आँधी पानी आ गया। अन्धकार इतना सघन छा गया कि अपना हाथ अपनी आँखो नही दीखता था। रात भर ये लोग उस अन्धेरी रात मे वन मे भटकते रहे परन्तु रास्ता मिला ही नही। प्रातःकाल सदय-हृदय सान्दीपनि गुरु इन्हें खोजते जंगल मे आये और घर लिवा ले गये।

गुरुगृह से लौटने पर सुदामा ने एक सती ब्राह्मणकन्या से विवाह किया। सुदामा की पत्नी थी बड़ी पतिव्रता तथा अनुपम साध्वी। उसे किसी बात का कष्ट न था, चिन्ता न थी। यदि थी तो केवल अपने पतिदेव की दरिद्रता की। वह जानती थी भगवान् श्री कृष्ण उसके पति के प्राचीन सखा हैं—गुरुकुल के सहाध्यायी हैं। वह सुदामा जी को इनकी समय-समय पर चेतावनी भी दिया करती थी, परन्तु सुदामा जी इसे तनिक भी कान नही करते—कभी ध्यान नही देते थे। एक बार उस पतिव्रता ने सुदामा जी से बडा आग्रह किया आप द्वारकाजी में श्रीकृष्ण जी से मिलिये, उन्हे अपना दुःख सुनाइये। भगवान् दया-सागर हैं, हमारा दुःख अवश्य दूर करेंगे। जरा हमारो इस दीन-हीन दशा की खबर अपने प्यारे सखा कृष्ण को तो देना—'या घरते न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती'। सुदामा जी केवल भाग्य को भरपेट कोसा करते थे—केवल कहा करते थे कि—

> पावैं कहाँ ते अटारी अटा जिनको है लिखी विधि टूटिय छानी।
> जो पै दरिद्र ललाट लिखो कहु को त्यहि मेटि सकैगो अयानी॥

परन्तु इस बार उस साध्वी के सच्चे हृदय से निकली प्रार्थना काम कर गयी। सुदामा जी द्वारकाधीश के पास जाने के लिए तैयार हो गये। उपायन के तौर पर इधर-उधर से माँगकर पत्नी ने चावल की पोटली पतिदेव के हवाले की। सुदामा जी पोटली को बगल मे दबाये द्वारका के लिए रवाना हुए परन्तु बड़े अचम्भे की बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामा की कुटिया से कोसों

दूर थी वह सामने दीखने लगी— उसके सुवर्ण-जटित प्रासाद आँखों को चकाचौंध करने लगे। झट से सुदामा जी द्वारका पहुँच गये।

पूछते-पूछते भगवान् के द्वारे पहुँचे। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। भगवान् के दरबार मे भला दीन-दुखी को कौन रोक सकता है ? द्वारपाल झट से श्रीकृष्ण के पास सुदामा जी के आगमन की सूचना नरोत्तमदासजी के शब्दों में यो देने गया—

शीश पगा न झँगा तन में प्रभु जाने को आहि वसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नही सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्वल एक रहो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूँछत दीनदयाल को धाम वतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् ने अपने पुराने मित्र का पहचान लिया। वे स्वयं आकर महल मे लिवा ले गये। रत्नजटित सिंहासन पर वैठाया, अपने हाथों से उनका पाँव पखारा, प्राचीन विद्यार्थी-जीवन की स्मृति दिलायी और भक्ति के साथ लाये हुए भाभी के द्वारा अर्पित चावलो की एक मुट्ठी अपने मुँह मे डाली, दूसरी मुट्ठी के समय रुक्मिणी ने उन्हे रोक दिया। सुदामा भगवान् के महल मे कई दिनों तक सुख-पूर्वक रहे; श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से उन्हे बिदा किया। सुदामा रास्ते में चले जाते थे और मन-ही-मन कृष्ण की बद्धमुष्टिता पर खीझते थे। जब अपने घर पहुँचे तो उन्हे अपनी टूटी मड़ैया नही दीख पडी। उसके स्थान पर एक विशालकाय प्रासाद खड़ा पाया। पत्नी ने पति को पहचाना, जब वे महल के भीतर गये तब अपना ऐश्वर्य देख मुग्ध हो गये और भगवान् की दानशीलता और भक्तवत्सलता का अवलोकन कर अवाक् हो रहे। बहुत दिनो तक अपनी साध्वी पत्नी के साथ सुखपूर्वक दिन बिता अन्त मे भगवान् के चिरन्तन सुखमय लोक मे चले गये।

सुदामा की भक्त-मनोहरिणी कथा संक्षेप में यही है जो ऊपर दी गयी है। भगवान् की दयालुता का यह परम सुन्दर निदर्शन है। यह कथा वास्तव मे सच्ची है। साथ-ही-साथ यह एक आध्यात्मिक रहस्य की ओर संकेत कर रही है जो विचारशील पाठको के ध्यान मे थोड़े-से मनन से स्वयं आ सकता है।

आध्यात्मिक रहस्य

अव पाठक जरा विचारिये कि यह सुदामा कौन है ? उनकी पत्नी कौन है ? वे तन्दुल कौन-से है ? इत्यादि। यदि अन्तःप्रविष्ट होकर देखा जाय तो सुदामा की कथा में एक आध्यात्मिक रूपक है—भक्त और भगवान् के परस्पर मिलन की एक मधुर कहानी है। इसी रहस्य का किंचित् उद्घाटन थोड़े मे किया जायगा।

'दामन्' शब्द का अर्थ है—रस्सी, बाँधने की रस्सी। यशोदा मैया के द्वारा बांधे जाने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण का एक नाम है—दामोदर। इस प्रकार 'सुदामा' शब्द का अर्थ हुआ रस्सियो के द्वारा अच्छी तरह बाँधा गया पुरुष अर्थात् बद्धजीव, जो सांसारिक मायापाश मे आकर ऐसा बँध गया है कि उसे अन्य किसी भी वस्तु की चिन्ता ही नही। सुदामा सन्दीपनि-मुनि के पास कृष्ण का सहाध्यायी है। जीव भी आत्मातत्त्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान के सङ्ग होने पर उस जगदाधार परब्रह्म का चिरन्तन मित्र है—सखा है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।' ज्ञान का आश्रय जब तक जीव को प्राप्त है, तब तक वह अपने असली रूप मे है, वह श्रीकृष्ण का—परब्रह्म का—सखा बना हुआ है, परन्तु ज्यो ही दोनो का गुरुकुलवास छूट जाता है—वियोग हो जाता है, जीव संसारी बन जाता है, वह माया के बन्धन मे आकर सुदामा बन जाता है। वह अपने सखा को बिल्कुल भूल जाता है। सुदामा की पत्नी बड़ी साध्वी है—जीव भी सात्त्विकी बुद्धि के संग चिरसुखी रहता है। सात्त्विकी बुद्धि जीव को बारम्बार उसके सच्चे मित्र की स्मृति दिलाया करती है। जीव संसार मे पड़कर सब को—अपने सच्चे रूप को—भूल ही जाया करता है, केवल सत्त्वमयी बुद्धि का जब-जब विकास हुआ करता है, वह जीव को अपने प्राचीन स्थान की ओर लौट जाने के लिए—उसे चिरन्तन मित्र परब्रह्म की सन्निधि पाकर अपने समस्त बन्धनो को छुडा देने के लिए—बारम्बार याद दिलाया करती है। सुदामा जी सदा अपने कुटिल भाग्य को कोसा करते थे। जीव भी भाग्य का उलाहना देकर किसी प्रकार अपने को सन्तुष्ट किया करता है।

आखिर सुदामा जी पत्नी के द्वारा संगृहीत चावल को लेकर द्वारका चले। चावल सफेद हुआ करता है। चावल से अभिप्राय यहाँ पुण्य से है। पुण्य का सञ्चय भी सात्त्विकी बुद्धि किया करती है। जीव जब जगदीश से मिलने के लिए जाता है तब उसे चाहिए उपायन। उपायन भी किसका ? सुकर्मों का—पुण्य का। सुकर्म ही सुदामा जी के तण्डुल हैं। जीव जब तक उदासीन बैठा हुआ है—अकर्मण्य बना हुआ है, उस जगदीश की द्वारका काले कोसो दूर है, परन्तु ज्यों ही वह पुण्य की पोटली बगल मे दबाये सुबुद्धि की प्रेरणा से सच्चे भाव से उसकी खोज मे चलता है वह द्वारका सामने दीखने लगती है। भला वह भगवान् दूर थोड़े ही हैं ? दूर हैं वह अवश्य, यदि भक्त मे सच्ची लगन न हो; परन्तु यदि हम सच्चे स्नेह से अपने अन्तरात्मा को शुद्ध बना कर उसकी खोज मे निकलते हैं तो वह क्या दूर हैं ? गरदन झुकायी नही कि वह दीखने लगे। 'दिल के आइने मे है तसवीरे यार। जब कभी गरदन झुकाई देख ली ॥' बाबा तुलसीदास जी भी कह गये हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबहीं। कोटि जन्म अघ नासौं तबहीं ॥

जो मनुष्य किसी वस्तु से विमुख है, समीप में होने पर भी वह चीज दूर है, परन्तु सम्मुख होते ही वह वस्तु सामने झलकने लगती है। भक्तजन को चाहिये कि सुकर्मों की पोटली लेकर भगवान् के सम्मुख हों, भगवान् दूर नहीं हैं।

सुदामा जी द्वारका में पहुँच गये, द्वारपाल से कहला भिजवाया, श्रीकृष्ण स्वयं पुरानी पहचान याद कर दौड़े हुए आये। जीव तो भगवदंश ही है, वह तो उसके साथ सदा विहार करनेवाला है। उसके अन्तर्मुख होते ही भगवान् स्वयं उसे लिवा ले जाते हैं। हिन्दी-कवियों ने लिखा है सुदामा की दीन-दशा देख श्रीकृष्ण बहुत रोये—मनों आँसू बहाया। 'देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये।' परन्तु भागवत में लिखा है—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥

अपने प्यारे सखा को इतने दिनों के बाद मिलने से श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित हुए—सुदामा जी के अङ्गस्पर्श से भगवान् आनन्दमग्न हो गये, उनकी आँखों से आंसू बहने लगे। जिस प्रकार भगवान् को पाकर भक्तजन परम निर्वृति को पाते हैं, उसी प्रकार भक्त के संग में भी उस आनन्दमय जगदीश के हृदय में आनन्द की लहरी उठने लगती है। क्या भक्त और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं? 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्' (नारदसूत्र)।

सुदामाजी से श्रीकृष्ण पूछते हैं—कुछ उपायन लाये हो? भक्तजनों के द्वारा अर्पित की गयी थोड़ी भी चीज को भगवान् बहुत बड़ी समझते हैं—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

सुदामा जी लज्जित होते हैं कि श्रीपति को भला ये चावल क्या दूँ? परन्तु भगवान् लज्जाशील सुदामा की कांख से पोटली निकाल चावल खाने लगते हैं। जीव भी बड़ा लज्जित होता है कि उस जगदीश के सामने अपने सुकर्मों को क्या दिखलाऊँ, परन्तु भगवच्चरण में अर्पित थोड़ा भी कर्म बड़ा महत्त्व रखता है। भगवान् उसके कियदंश से ही भक्तजन के मनोरथ परिपूर्ण करने में समर्थ हैं—सर्वस्व को स्वीकार कर समग्र त्रैलोक्य का आधिपत्य—स्वीय पद भी देने के लिए तैयार हो जाते है, परन्तु श्री—भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति—ऐसा करने नहीं देती। अस्तु सुदामा को चाहिये क्या? वह तो इतने से कृतकृत्य हो

गया और उसने भगवल्लोक को प्राप्त कर लिया। भक्त को भी चाहिए क्या? भगवान् की सन्निधि में आकर अपने संचित कर्मों को—'पत्रं पुष्पं' को—उन्हें अर्पण कर दिया। सुदामा की भाँति जीव कुछ देर तक संशय मे रहता है कि अर्पित वस्तु को जगदीश ने स्वीकार किया या नही, परन्तु जब जीव अपनी कुटिया—भौतिक शरीर को देखता है तब उसे सर्वत्र चमकती हुई पाता है, जन्म-जन्म की मलिनता घुल जाती है, वह पवित्र भवन बन जाता है, जिसमे वह अपनी सुबुद्धि के साथ निवास करता हुआ विषयों से विरक्त रह परम सौख्य का अनुभव करता है। भगवान् की अनुकम्पा का फल देर से थोड़े ही मिलता है! भक्तजन इसी शरीर मे उनका साक्षात् अनुभव करते है।

साधना करनेवालो को सुदामा बनना चाहिए। हम अपने-अपने तण्डुल लेकर भगवान् के सामने चलें, वे करुणावरुणालय उसे अवश्य ग्रहण करेंगे, हमारा दुःख दूर कर देंगे, मायापाश से हमे अवश्य छुडा देंगे, परन्तु हम यदि सच्चे भाव से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को उसी की सेवा मे लगा दें। भागवत के इन पद्यरत्नों को स्मरण कीजिए—

> सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
> स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
> शिरस्तु तस्योभयलिगमानमेत् तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
> अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पण मे ही जीव का परम कल्याण है। साधकों की समस्त इन्द्रियाँ यदि उस मंगल-मूर्ति की आराधना मे लगा दी जायँ तो निःसन्देह ही उनका कल्याण होगा। पुराणो के दार्शनिक सिद्धान्तो का इसी मे पर्यवसान है।

(५) श्रीमद्भागवत में योगचर्या

भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है तथा योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योग के मध्य के काल मे आता है। भागवत मे भक्ति के साथ-साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया मिलता है। कई स्थलो पर योग-साधन की क्रियाओ का अप्रत्यक्ष रूप से संकेतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलो पर योग का प्रत्यक्ष रूप से विशद विवेचन किया गया है। योग के अप्रत्यक्ष संकेत प्रायः दो प्रसङ्गो मे किये गये मिलते है। किसी विशेष व्यक्ति की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के छोड़ने का जहाँ

वर्णन है वहाँ भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीर-त्याग के दोनों अवसरों पर विशेष रूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है।

पहले योग-विषय मे अप्रत्यक्ष निर्देशों की बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवत के प्रथम स्कन्ध मे कई बार आये हैं[१]। नारदजी ने अपने जीवन-चरित से एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है—

(१) जब ये बालक थे तब उन्हे अध्यात्मवेत्ता मुनियो के संसर्ग मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लडकपन मे ही उनकी माता का देहपात हो गया, तब नारदजी ने उत्तर दिशा मे जाकर मुनियो के मुख से सुने गये भगवान् का सांक्षात्कार करने का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान मे उन्होने भगवान् के चरणकमलो मे अपना मन लगाकर ध्यान धरा जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्ग मे 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है[२]।

(२) नारदजी के उपदेश से व्यासजी ने भगवान् की विविध लीलाओ के वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम मे आसन मारकर भगवान् मे अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंग से समाहित हुआ कि उन्होने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया[३]। आसन तथा मनःप्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यासजी ने ऋषि-मुनियो के अतिरिक्त पाण्डवो के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को भी उस स्थान पर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने को आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की तथा अन्त समय मे भगवान् मे मन, वचन, दृष्टि की वृत्तियो से अपनी आत्मा को लगाकर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये।[४] इस प्रसङ्ग मे भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से छोड़ा, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खीचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राणत्याग करना योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

---

१. श्रीमद्भागवत १।६।१६, १७।
२. श्रीमद्भागवत १।६।२०।
३. श्रीमद्भागवत १।७।३४।
४. श्रीमद्भागवत १।९।४३।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनि की पूजनीय माता थीं। बहुत आग्रह करने पर कपिल ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधि के द्वारा किया।[१]

(५) चतुर्थ स्कन्ध मे सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिवजी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को जला दिया था। गोसाईंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि मे सती के भस्म होने की बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजी ने एक श्लोक मे उसकी समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है।[२] इस पद्य की शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत चन्द्रिका-व्याख्या मे बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सती ने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयी कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्ग-सञ्चालन बिलकुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) मे रखा। अनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयी; निश्चय बुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयी। उदान को वहीं टीकाकर सती ने अपने अंगो मे वायु तथा अग्नि की धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णन मे शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊपर ले जाने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजी ने ध्रुव को आसन मार प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर कर समाहित मन से भगवान् के ध्यान करने का उपदेश दिया था।[३] ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया तथा अल्प समय मे ही वह भगवान् का साक्षात्कार करने मे समर्थ हुआ।[४] ध्रुव को नारद ने अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्य की भागवत-चन्द्रिका के देखने से लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' मे यम-नियम का, 'कल्पितासनः' मे आसन का, 'मलं व्युदस्य' मे प्राणायाम तथा प्रत्याहार का, 'ध्यायेत्' मे ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण तथा ध्यान का विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोग का उपदेश है।

---

१. श्रीमद्भागवत ३।३३।२७
२. ,, ४।४।२५, २६
३. ,, ४।८।४४
४. ,, ४।८।७७

(७) दधीचि ऋषि से देवताओ ने वज्र बनाने के लिए उनकी हड्डियाँ माँगी तव लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को अंगीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परम योग का आश्रय लिया। उस समय उन्हे खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया।[१]

(८) वृत्र ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरण-कमलो मे मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राण छोड़े।[२]

(९) अदिति ने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यप को इस अद्भुत घटना का ज्ञान समाधियोग से विना किसी के जनाये ही हो गया।[३]

(१०) श्रीकृष्ण के जीवनचरित मे अनेक प्रसङ्ग भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित हैं जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओ को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतः अलौकिक घटनाओ को उत्पन्न करना उनकी शक्ति के एक कण का कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्यो की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी, इसका उल्लेख वारम्वार मिलता है। वह अनेक वार 'योगी' तथा योगियो मे श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। ब्रह्मा ने ग्वालो तथा गौओ को जब पर्वत की कन्दरा मे चुराकर रख छोड़ा था तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओ में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[४] वह योग को 'कायव्यूह' सिद्धि का उज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपों की जो रक्षा की थी, उसमे उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था।[५] रासलीला के समय में वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायी उसमे उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण था।[६] जब यादवो के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक मे जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम

---

१. श्रीमद्भागवत ६।१०।१२
२. ,, ६।११।२१
३. ,, ८।१७।२२
४. ,, १०।१३।१९
५. ,, १०।१९।१४
६. ,, १०।२९।१

रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से विना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीर के साथ अपने लोक मे चले गये[1]। 'साधारण योगी अग्नि-धारण से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीर को विना भस्म किये सशरीर ही अपने धाम मे चले गये[2]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवनचरित को आदि से अन्त तक व्यासजी ने योगसिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

योग का प्रत्यक्ष वर्णन

भागवत के तीन स्कन्धो मे योग का विशेष विवरण दिया गया है— दूसरे स्कन्ध के अध्याय १ तथा २ में; तीसरे स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वे अध्यायोंमे कपिलजी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश, और फिर एकादश स्कन्ध के अध्याय १३ मे सनकादिको को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, अ० १४ मे ध्यानयोग का विशद वर्णन, अ० १५ मे अणिमा आदि अठारह सिद्धियो का वर्णन, अ० १९ मे यमनियमादि का वर्णन, अ० २८–२९ मे यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का।

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमे यम तथा नियम का संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्ध के अध्याय १९ मे यत्किंचित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रो मे तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के ही वतलाये गये हैं, परन्तु भागवत में उनमे से प्रत्येक के वारह भेद माने गये है।

यम के द्वादश भेद[3]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय,

---

१. संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

—(श्रीमद्भागवत ११।३१।५-६)

२. उक्त श्लोक की व्याख्या मे मान्य टीकाकारो मे भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधर स्वामी के 'अदग्ध्वा' पदच्छेद को मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीव गोस्वामी आदि सव टीकाकारो ने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेव ने अपने सिद्धान्त-प्रदीप मे 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत् के अदृश्य होने की तरह भगवत्तनु के अन्तर्धान होने की वात लिखी है।

३. श्रीमद्भागवत ११।१९।३३

(४) असंग, (५) ह्री, (६) असंचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियम के द्वादश भेद[१]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठा 'असंचय') पातञ्जल दर्शन मे भी है, शेष सात नये है। नियमों में उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जल दर्शन मे भी है, शेष नये हैं।

आसन—यह योग का तीसरा अंग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकांत स्थान मे आसन लगाना चाहिए। जहाँ कही हल्ला नही हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिए चुनना चाहिए। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिए। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत मे स्थान-स्थान पर संकेत है। योग मे अनेक आसन वतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन से बैठे तथा उस समय अपने शरीर को विल्कुल सीधा वना रखे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥

—(श्री मद्भाग० २।१।१६)

'घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल मे स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान मे विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकाय' समभ्यसेत्॥

—(३।२८।८)

'शुचि देश मे आसन लगाकर आसन को जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगा कर सीधा शरीर करके अभ्यासकरे।'

इस श्लोक मे श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारो ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठे; ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवत मे किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नही मालूम पड़ता। स्थान-स्थान पर टीकाकारो के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनो की ओर निर्देश जान पड़ता है।

---

१. श्रीमद्भागवत ११।१९।३४

प्राणायाम—प्राणों का आयाम योग का चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

—(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणों मे दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाम मे जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिए। इन दोनो मे सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणो ने उसीके करने का उपदेश दिया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड के अध्याय सैंतीस मे इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणयामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥ ३३ ॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भ कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥ ३४ ॥

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौगुना है। इसलिए योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम कहा गया है[1]। श्रीमद्भागवत मे भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन मे आवृत्ति करता जाय। ॐकार को बिना भुलाये अपने श्वास को जीते[2]—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥

—(श्रीमद्भाग० २।१।१७)

'इस तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे। इस ब्रह्म बीज को बिना भुलाये श्वास को जीतकर मन को एकाग्र करे।'

---

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७।४०।

२. श्रीमद्भागवत ११। २४। ३४।

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल-रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आग में तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥
—(३।२८।१०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम मे प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध मे 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः (१४ । ३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३ । २८ । ९) कह कर इसमे उलटे क्रम से प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहाँ 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बाद को कुम्भक और अन्त मे पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तःकुम्भक-तथा बहिःकुम्भक। भागवत मे इन दोनो का वर्णन है तथा दोनो मे किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाड़ी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाड़ी से वायु भरकर वाम से रेचक करे। दोनो ही अर्थ योगाभ्यासियो को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनो काल मे—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाय तो एक मास से पूर्व ही साधक पवन को वश मे कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥
—(श्रीमद्भा० ११।१४।३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को जीतकर साधक अपनी इन्द्रियो को उनके तत्तद्विषयो से खीचे। इस कार्य मे सहायता देगा निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियो को विषयो मे खीचकर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
—(श्रीमद्भाग० २।१।१८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मयः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥
—(श्रीमद्भाग० ११।१४।४२)

धारणा—मन को एक वस्तु मे टिकाने का नाम हुआ धारणा। भागवत मे दो प्रकार की धारणा वतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणो में भी नामभेद से वतलायी गयी है। भगवान् के दो रूप है—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्ही को विष्णुपुराण में (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप वतलाया गया है।[1] भगवान् के इन्ही दोनो रूपो का धारणा तथा ध्यान करना चाहिए। अतः भागवतविहित धारणा के दो भेद हुए—

(१) वैराज धारणा तथा (२) अन्तर्यामि धारणा।

सबसे पहले भगवान् के स्थूल रूप मे ही धारणा तथा ध्यान लगाये। २ स्कंध के पहले ही अध्याय मे भगवान् के विराट् रूप का सुन्दर तथा साङ्ग वर्णन किया गया है। स्थूल होने के कारण मूर्त रूप मे मन आसानी से लगाया जा सकता है। इस धारणा का नाम हुआ **वैराज धारणा**। जव यह धारणा साधक के हाथ मे आ जाय, तव अमूर्त रूप की धारणा करनी चाहिए। इस दूसरी धारणा—**अन्तर्यामि धारणा** का अतीव सुन्दर वर्णन भागवत के अनेक स्थलो पर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्ध का दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवे स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनो का आशय[2] है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनालवाले अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिका मे क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मण्डल को रखे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालाधारी को मनमोहिनी मूरति का ध्यान धरे। भगवान् के इस सुहावने रूप का जैसा वर्णन भागवत मे मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

किसी वस्तुविशेष मे अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करे। प्रत्यय की एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते है—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवत मे ध्यान के विषय मे वहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जव हृत्कर्णिका मे भगवान् के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तव प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिए। अंगो का क्रम 'पादादि यावत् हसित गदाभृतः' (चरणो से लेकर हँसते हुए मुख तक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय मे देखने ही योग्य है। भगवान् के पैर के ध्यान से आरम्भ कर ऊपर वढ़ता जाय और अन्त मे मुख की मन्द मुसकान के ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

---

१. विष्णुपुराण अं० ६ अ० ७।

२. श्रीमद्भागवत ११।१४।३६–३७।

सञ्चिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

—(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकार से भगवान् के उस चरण-कमल का ध्यान करे जो चरण-कमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्स्ना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर किया है ।'

× × ×

समाधि—ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है । उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमांचित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा में नहानेवाला भगवान् का भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थ से उसी भाँति अलग कर देता है, जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ वडिश (काँटे) को अलग कर देता है—

'चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते' ।

इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकार मे परिणत हो जाता है (भाग० ३।२८। ३४–३८) ।

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरि मे जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो वारंवार उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा मे नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप वडिश (मछली पकड़ने के काँटे) को भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है । संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन वत्ती जल जाने पर दीपशिखा की महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त होता हूँ । त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया, ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान न देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है । वह पुरुष मन की इस चरम निवृत्ति से सुख-दुःख के वाहर उस महिमा मे लीन हुआ करता है और आत्म-स्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ ऐसा पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नही मानता तथापि सुख-दुःख का जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है ।'

—(भाग० ३।२८।३४)

इस योग की यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लाव्यमान हृदयवाला परम भागवत है। विना भक्ति के लोकविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नही हो सकती। व्यासजी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहा कि योग का उद्देश्य 'कायाकल्प' नही है—शरीर को केवल दृढ बनाना नही है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान् मे चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥
—(श्रीमद्भागवत ११।२८।४१–४३)

श्रीमद्भागवत का योग के विषय मे यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियो के लिए जगदाधार भगवान् मे भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नही है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिना ब्रह्म-सिद्धये॥
—(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान् मे लगी हुई भक्ति के समान 'शिवः पंथाः' कल्याणकारी मार्ग, योगियो के लिए ब्रह्मप्राप्ति मे और कोई नही है।'

एकादश परिच्छेद

पुराणों का देश और काल

पुराणो का निर्माण किस स्थल पर हुआ और कब हुआ ? यह समस्या पौराणिक वैदुषी के लिए एक जीती-जागती चुनौती है। साम्प्रदायिक मान्यता तो यह है कि महर्षि वेदव्यास ने प्राची सरस्वती के तीरस्थ अपने आश्रम मे बैठकर ध्यानस्थ होकर समग्र पुराणो का प्रणयन किया—फलतः पुराणो के देश मे ऐक्य के समान उनके काल मे भी ऐक्य है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के विद्वानों को यह सिद्धान्त कथमपि रुचिकर नही है। पुराणों ने इदमित्थं रूप से अपने निर्माण-क्षेत्र या प्रणयनस्थल का निःसन्दिग्ध रूप से निर्देश नही किया है, केवल विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र पर विभिन्न पुराणो को आस्था है, उसे ही वे भारतवर्ष मे प्रकृष्ट क्षेत्र या तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार की आस्था गाढ परिचय-मूलक ही हो सकती है। पुराण का वह रचियता उस तीर्थविशेष या प्रान्त-विशेष से विशेष परिचय रखता है और इसीलिए वह उस स्थान पर इतना आग्रह दिखलाता है तथा इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करता है। इसी पद्धति से पुराण के देश का कुछ सकेत किया जा सकता है। नितान्त निर्णय एकदम असम्भव नही, तो भी दुःसम्भव अवश्य है। इसी प्रकार की सूचनाएं एकत्र कर पुराण के देश का यहाँ निर्देश प्रस्तुत किया जा रहा है।

काल का भी निर्णय एक विषम पहेली है। पुराणों की रचना का काल-निर्णय एक विषम समस्या है जिसका समाधान नितान्त कठिन है। इसका कारण अवान्तर शताब्दियो मे पुराणों का संस्कार तथा प्रतिसंस्कार माना जाना चाहिए। मूलभूत पुराणो मे कालान्तर मे यत्र-तत्र स्फुट श्लोक ही नही जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय का अध्याय जोड़ा गया है। अनेक पुराणों में प्रति-संस्कार की मात्रा ने मूल स्वरूप को सर्वात्मना आच्छादित कर लिया है। उनके मूल रूप को खोज निकालना बहुत अधिक गम्भीर अनुशीलन चाहता है। किन्ही पुराणो मे तो मूल रूप की आविष्कृति सम्भावना से परे की बात हो गयी है। ऐसी स्थिति मे पुराणो के मूल स्वरूप का समय निर्धारण नितान्त असम्भव नही, तो दुःसम्भव अवश्य है। सच तो यह है कि पुराणो के अध्यायों का ही नही, प्रत्युत उनमे निर्दिष्ट श्लोकों के भी अलग-अलग समय का निरूपण किया जाना चाहिए। अतएव पुराणो के आविर्भावकाल के विषय मे इदमित्थं रूप से कहना

कठिन है। केवल तारतम्य परीक्षा के द्वारा दो पुराणों के बीच में किसी को इतर पुराणापेक्षया अर्वाचीन अथवा प्राचीन माना जा सकता है।

वस्तुस्थिति ऐसी ही है। तथापि कतिपय सिद्धान्त का संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है जो इस विवाद-विषय का कथञ्चित् समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

कालनिर्णय के कतिपय नियामक साधन

(क) आवृत्त अंशवाले पुराण अनावृत्त अंशवाले पुराणो की अपेक्षा नूनं प्राचीनतर है। इस तथ्य का कारण भी अनिर्देश्य नही है। पहले दिखलाया गया है कि पुराण-संहिता का मूल परिमाण केवल चार सहस्र श्लोक ही है। इसका विकास कालान्तर मे अष्टादश पुराणो के रूप मै सम्पन्न हुआ। फलतः कुछ प्राचीनतम सामग्री (श्लोकात्मक ही नही, अपितु अध्यायात्मक भी) कई पुराणो मे आवृत्त होती गयी है। इसके विपरीत अनेक पुराण किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की मान्यता को अग्रसर करने के उद्देश्य से निर्मित हुए हैं। फलतः ये अभिनव रचनायें हैं जिनका क्षेत्र नितान्त सीमित है। इसलिए उनके श्लोक अथवा अध्याय कही भी आवृत्त नही हुए। इस कसौटी पर कसने से विष्णुपुराण श्रीमद्भागवत की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है। विष्णुपुराण के अनेक अध्याय या तदंश मार्कण्डेयपुराण में तथा हरिवंश मे एकाकार हैं। प्राकृत-वैकृत रूप नव सर्गों के वर्णनवाले श्लोक दोनो मे एक ही है। विष्णुपुराण प्रथम अंश पञ्चम अध्याय चतुर्थ श्लोक से आरम्भ कर २६ श्लोक तक का अंश मार्कण्डेय अ ४७ के १४ श्लो० से लेकर ३७ तक एक ही है। इसी प्रकार विष्णु० के इसी अध्याय के २८ श्लोक से आरम्भ कर अध्यायान्त भाग मार्कण्डेय का ४८वाँ अध्याय है जिसमे देवादि स्थावरान्त सृष्टि का विवरण है। इसके विपरीत, श्रीमद्भागवत का कोई भी विशिष्ट अंश किसी भी पुराण मे आवृत्त नही हुआ है। इसका एक छोटा अपवाद अवश्य है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्याय के २१ श्लोक (६—२६ तक) गरुड के पूर्वार्ध के प्रथम अध्याय में आवृत्त या उद्धृत हैं (गरुड १।१४—१।३४) यह अंश विष्णु के अवतारो का क्रमशः वर्णन करता है। परन्तु इससे हमारे मूल सिद्धान्त का विपर्यास नही होता कि विष्णुपुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवात अर्वाचीन है। इस तथ्य का पोषक एक अन्य प्रमाण भी अनुसन्धेय है। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पुराण है जिसमे तत्सम्प्रदाय के मान्य तथ्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किये गये है। विष्णुपुराण किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त न होकर सामान्यतः विष्णु-माहात्म्य का प्रतिपादक

एक महत्त्वपूर्ण पुराण है इसीलिए मध्ययुगीन समग्र वैष्णव सम्प्रदायो का यह उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। जिस प्रकार श्रीवैष्णवो तथा माध्वो ने इससे स्वकीय अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण तथा संपोषण किया, उसी प्रकार गौडीय वैष्णवो ने भी अपने अनेक दार्शनिक तत्त्वो का आधार इसे ही बनाया। फलतः इन दोनो साक्ष्य पर दोनो पुराणो के कालनिर्णय का तारतम्य भली-भाँति मिलाया जा सकता है। आवृत्त अध्यायो की अधिकता होने के कारण ही वायु तथा ब्रह्माण्ड प्राचीन पुराणो मे गिने जाते हैं।

(१) कभी-कभी किसी विशिष्ट शब्द के विकृत परिवर्तन के हेतु भी पुराणो का कालतारतम्य निर्णीत किया जा सकता है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसे समझना चाहिए। आभीर जाति का वर्णन महाभारत तथा पुराणो मे अनेकत्र उपलब्ध होता है। महाभारत के मौशल पर्व में ७ तथा ८ अ० इस विषय में विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। आभीरो का हथियार कोई धातुज शस्त्र न होकर लाठी तथा ढेला ही था। वे ग्राम मे ही रहते थे, पञ्चनद (पंजाब) के धन-धान्यपूर्ण क्षेत्र मे। गोपालन आभीरो का प्रधान व्यवसाय था। इनकी संख्या बहुत ही अधिक थी। फलतः श्रीकृष्ण की स्त्रियों को उसी मार्ग से लौटाते समय आभीरो के हाथो से अर्जुन को पराजित होना पड़ा था। वेदव्यासजी के आश्रम पहुँचने पर उन्होने अर्जुन से हतप्रभ होने के कारण की जिज्ञासा की। इसी प्रसङ्ग मे एक गूढार्थ श्लोक आता है—

नखकेश दशा कुम्भ वारिणा किं समुक्षितः।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो वाति गतश्रीरिव लक्ष्यते॥

—मौशल पर्व ८।५—६

किसी भी व्यक्ति को हतश्री बनानेवाले ऊपर निर्दिष्ट सात कारणो मे से 'आवीरजानुगमनं' अन्यतम कारण है। 'आवीरजा' का अर्थ नीलकण्ठ ने 'रज-स्वला' देकर छुट्टी ले ली। इस शब्द की पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी— आविर् (भूतं) रजः यस्याः सा आवीरजा[१] तस्या अनुगमनं मैथुनम्। रजस्वला से तीन दिनो से पूर्व अनुगमन करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। उसका आचरण-कर्ता नियमेन हतश्री होता है, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

विष्णुपुराण के पञ्चम अंश (३८ अध्याय) मे यही प्रसंग इसी रूप मे आया है जहाँ मौशल पर्व के श्लोकों की छाया है तथा कही-कही व्याख्या भी की गयी है। ऊपर निर्दिष्ट श्लोक का रूप यहाँ इस प्रकार है—

---

१. 'आविर्+रजः' इत्यत्र 'रो रि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रेण लोपपूर्वकस्य इकारस्य दीर्घे आवीरजेति सिध्यति।

अवीरजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या कृताऽथवा
दृढाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ।

—विष्णु ५।३८।३७

दोनों श्लोको को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण के समय **'आवीरजा'** शब्द अप्रसिद्ध होने से विस्मृतप्राय हो गया। फलतः महाभारत का वह शब्द 'अवीरजोऽनुगमनं' के रूप में आया जहाँ इसका अर्थ होता है—भेड़ों की धूलि का अनुगमन जो किसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध भले ही हो, परन्तु मूल शब्द का विकृत रूप अवश्यमेव है। ब्रह्मपुराण के २१२ अ० में ठीक यही वर्णन विष्णुपुराण के समान श्लोकों मे ही है, परन्तु उक्त श्लोक का परिवर्तित रूप इस प्रकार है :—

अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्याऽथवा कृता
जयाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ॥

—ब्रह्म० २१२।३७

विष्णुपुराण का 'अवीरजोऽनुगमनं' शब्द यहाँ लेखक को खटका और उसने झट से उसे बोधगम्य रूप मे परिवर्तित कर दिया—अजारजोऽनुगमनम् ।

निष्कर्ष—इस विशिष्ट शब्द के अर्थानुसन्धान करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कठिन मूल शब्द से बोधगम्य अर्थ निकालने के प्रयास मे लेखको ने उसे पूरे तौर पर बदल ही डाला है। जिन अंशों में यह श्लोक उपलब्ध होता है उनके काल के विषय मे हम कह सकते है कि मौशलपर्व सबसे प्राचीन है। विष्णुपुराण उससे कालक्रम मे हटकर है तथा ब्रह्मपुराण तो विष्णु से भी अवान्तरकालीन है।

(ग) पुराणो मे निर्दिष्ट चरित्रो का तुलनात्मक समीक्षण भी उनके काल-निर्णय का एक साधन माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित की ही मीमांसा इस विषय मे दृष्टान्तरूप से ली जा सकती है। यह चरित मूल में तो एकाकार ही हैं, परन्तु घटनाओं के विन्यास से इसका क्रमविकास भी अनुसन्धेय है। जितना कम विस्तार होगा किसी पुराण मे, वह उतना ही प्राचीन होगा। मान्यता यह है कि प्राचीन पुराणो मे कृष्णचरित की स्थूल कतिपय घटनाएँ ही उल्लिखित है और अवान्तरकाल में श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा आकर्षण की अभिवृद्धि होने से उस चरित मे नयी-नयी घटनाएँ जोड़कर उसे परिपुष्ट किया गया है। इस मान्यता को ध्यान मे रखने पर उस कथा के वर्णनपरक पुराणो का कालनिर्णय भली भाँति किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण के पञ्चम अंश मे श्रीकृष्ण का चरित केवल ३८ अध्यायो मे

वर्णित है। इसमे किसी प्रकार के अलंकृत परिबृंहण का उद्योग ग्रन्थकार की ओर से नही किया गया। रासलीला का प्रसङ्ग भी संक्षिप्त शब्दो में ही यहाँ किया गया है (५।१३।१३–६४)। अब हरिवंश में दिये गये श्रीकृष्णचरित की इससे तुलना कोजिए। हरिवंश नयी-नयी घटनाओं को जोड़कर उसे परिबृंहित करता है। हल्लीसक नृत्य का वर्णन अभिनव है। फलतः यहाँ उस चरित का विकास स्पष्टः लक्षित होता है। श्रीमद्भागवत मे उस चरित मे और भी नयी-नयी बातो का समावेश लक्षित होता है। विशेषतः गोपियो का प्रसङ्ग, उद्धव द्वारा संदेश भेजने तथा गोपियों के समझाने का प्रसङ्ग यह सब श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण-वर्णन का प्राण हैं। तथ्य यह है कि भागवत ने उस चरित मे विलक्षण माधुरी तथा सौन्दर्य की सृष्टि की है। विष्णुपुराण मे वह केवल ऐतिहासिक चरित के समान ही केवल घटनाप्रधान नीरस है। भागवत मे वह चरित घटनाप्रधान न होकर रसप्रधान हो गया है। यही उसके विकास की दिशा हैं। इन तीनो ग्रंथो मे अभी राधा के चरित की सूक्ष्म सूचना होने पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नही हैं। यह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवर्त मे स्फुटतर हो जाती है। यहाँ राधा का प्रभुत्व तथा माहात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णचरित के विकासक्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणो का काल-क्रम सिद्ध होता है—विष्णुपुराण (सबसे प्राचीन)—हरिवंश—श्रीमद्भागवत—ब्रह्मवैवर्त (अवरोह क्रम से)। फलतः विष्णुपुराण इस पुराण-चतुष्टयी मे प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवर्त नवीनतम। अन्य प्रख्यात चरितो के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

(घ) पुराणो का अन्तरङ्ग परिक्षण भी उनके समय-निर्माण के लिए विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणो ने विशेषतः विश्वकोश की समतावाले पुराणो ने अपनी त्रिविध सामग्री का संकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तत् शास्त्रीय ग्रंथो से किया है, कही बिना नामोल्लेख किये ही और कही पर नामोल्लेख के साथ। फलतः इन मूल ग्रन्थो के साक्ष्य पर इन पुराणो का कालनिर्देश सुचारु रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—**अग्नि०** का काव्यविवेचन (३३७ अ०, ३४६–३४७ अ०) दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित है। फलतः उस अंश को दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है। **गरुडपुराण** ने कितने ही अध्यायो (९३–१०६ अ०) मे याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयो का विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार **शिवपुराण** में दो शिवसूत्रो का तथा उनके ऊपर

निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलतः शिवपुराण की रचना शिवसूत्रों के तथा वार्तिक की रचना के अनन्तर हुई। शिवसूत्रो के रचयिता वसुगुप्त का समय ८००–८२५ ई० तथा उनके वार्तिककार भास्कर का समय ८५० ई० है। इन ग्रन्थो के स्पष्ट उल्लेख से शिवपुराण नवम शती से प्राचीन नही हो सकता। उधर अलबरूनी (१०३० ई०) ने पुराणों की सूची में शिवपुराण को उसमें अन्यतम स्थान दिया है। इन दोनों के बीच में आविर्भूत होने से शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

(ङ) बहिरंग साक्ष्य के ऊपर भी पुराणो का काल-निरूपण किया जा सकता है। महाभारत ने वायुप्रोक्त पुराण' का स्पष्ट निर्देश किया है (वनपर्व १९१ अ०, १६ श्लो०) तथा उसे अतीतानगत विषयों का प्रतिपादक भी स्वीकृत किया है। यह स्पष्टतः आजकल प्रचलित वायुपुराण का संकेत करता है जिसमे अतीत काल की घटनाओं के वर्णन के संग अनागत= भविष्य काल के राजादिको के वृत्त भी वर्णित हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में वायुपुराण के स्वरूप का तथा लोक-प्रचलित प्रवचन का भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्टतः हर्षचरित (सप्तम शती का पूर्वार्घ) तथा महाभारत (लगभग द्वितीय शती) से प्राक्कालीन होने के कारण वायुपुराण का समय द्वितीय शती से पूर्व ही मानना चाहिए। सप्तम शती से तो वह कथमपि पीछे नही लाया जा सकता[1]।

धर्मशास्त्रीय निबन्धो मे पुराणों के वचन उद्धृत किये गये है तत्तत् विषय की पुष्टि मे प्रमाण देने के लिए। इससे भी उनके समय का निरूपण किया जा सकता है। अरब यात्री अलबरूनी ने अपने समय मे (११ शती का पूर्वार्घ) उपलब्ध पुराणो की सूची दी है जिसमे उन पुराणो की प्राक्कालीनता स्वयं ही अनुमेय है। इन निबन्धकारों मे जयचन्द्र (१२ शती का उत्तरार्ध) के सभापण्डित लक्ष्मीधर भट्ट का अनेक खण्डो में विभक्त 'कृत्यकल्पतरु' प्राचीन निबन्ध माना जाता है—द्वादश शती की रचना। इसमे उद्धृत होनेवाले पुराणों की इससे पूर्वकालीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इतना ही नही, इन निबन्धकारों ने पुराणो के विषयो मे बड़े सुन्दर विवेचन भी किये हैं जिनसे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय लगता है।

बल्लालसेन ने अपने प्रख्यात निबन्ध दानसागर मे पुराणों के विषय में बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। इससे भी उनके रूप का, श्लोक परिमाण का तथा

---

१. इस विषय मे विशेष द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०१–१०३ जहाँ वायु० के समय का निरूपण विस्तार से किया गया है।

रचनाकाल का परिचय आलोचको को मिल ही जाता है। वल्लालसेन के द्वारा स्पष्ट संकेतित होने से ही अष्टादश पुराणो मे श्रीमद्भागवत को ही पुराण मानना पड़ता है तथा देवीभागवत को उपपुराण। वल्लालसेन की समीक्षा से पुराणो के स्वरूप का तथा उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा परिचय परीक्षक को मिल जाता[1] है।

(च) कलिराजाओ के वृत्तवर्णन के आधार पर भी पुराणो का काल-निर्देश किया जा सकता है। पार्जीटर ने इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन कर भविष्यपुराण के कलिराजाओ के वृत्त को मूलभूत तथा प्राचीनतम माना है। इसी का उपबृंहण कालान्तर मे मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड के भविष्य-वर्णन मे अर्थात् कलियुग के शासको के विषय मे उपलब्ध होता है। विष्णु तथा श्रीमद्भागवत मे उपलब्ध यह विवरण भविष्य के ही आधार पर है, परन्तु अवान्तरकालीन संक्षिप्त विवरण है।

भविष्य मे इस ऐतिहासिक वृत्त का संकलन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के समय मे द्वितीयशती के अन्त मे किया गया। यह विवरण कालान्तर मे अन्य पुराणो मे गृहीत हुआ, तब उसे परिबृंहित करने तथा अपने काल तक लाने का प्रयास किया गया। जब भविष्यपुराणीय विवरण मत्स्यपुराण मे गृहीत हुआ, तब उसमें २६० ईस्वी तक का वृत्त आन्ध्र वंश के अन्त तक का निश्चित रूपेण जोड़ दिया। आगे बढकर वायु तथा ब्रह्माण्ड में ग्रहण के अवसर पर वही विवरण गुप्त साम्राज्य के आरम्भिक उदय तक, अर्थात् ३३५ ईस्वी तक बढ़ा दिया तथा संक्षिप्त रूप प्रस्तुत होने पर विष्णु तथा भागवत में यही विवरण गृहीत हुआ। पुराणो में कलिराजाओ के ऐतिहासिक वृत्त के स्वीकरण की यही सामान्य रूपरेखा है। इसे विशेष रूप से समझा जा सकता है।

मत्स्यपुराण (२७३।१७-२६) में आन्ध्र, गर्दभिल्ल, शक, मुरुण्ड, यवन, म्लेच्छ, आभीर तथा किलकिलो का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष में इन विदेशीय जातियो का शासन कुषाण राज्य के ध्वंस होने पर द्वितीय-तृतीय शती के बाद हुआ—यह तो इतिहासविदो को ज्ञात ही है। आन्ध्र राज्य की समाप्ति २३६ ईस्वी मे हुई—तब तक आन्ध्रनरेशो का पूरा वृत्त मत्स्यपुराण मे गृहीत हुआ है। मत्स्य इसके आगे नही बढता। आन्ध्रनरेश का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करना मत्स्यपुराण की अपनी विशिष्टता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड विस्तार से तथा विष्णु और भागवत संक्षेप में ही गुप्तो के

---

१. इसका परिचय पूर्णरूप से इसी ग्रन्थ के अध्याय तीन मे तथा पृष्ठ १२०–१२४ पर दिया गया है।

शासनक्षेत्र का वर्णन करते हैं जब वह वंश प्रयाग, साकेत (अयोध्या) तथा मगध के ऊपर शासन कर रहा था। गुप्तवंश के महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम (समय, ३२० ई०—३२६ ई०) के राज्य-विस्तार का यह संकेत करता है। प्रयाग की प्रशस्ति मे समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। भारतवर्ष के समग्र प्रान्त गुप्तराज्य के अन्तर्गत इस समय तक आ गये थे—इसका परिचय यहाँ मिलता है। यदि पुराण समुद्रगुप्त की इस दिग्विजय से परिचित होते, तो वे प्रयाग -अयोध्या—मगध तक ही गुप्तराज्य को सीमित बतलाने की धृष्टता नही करते। फलतः यह वर्णन ३३० ईस्वी से प्रथम, समुद्रगुप्त की दिग् वजय से पूर्व ही गुप्तों का संकेत करता है।

इस ऐतिहादिक वृत्त के वर्णन से समय का निर्देश किया जा सकता है—(क) भविष्य का रचना काल द्वितीय शती का अन्त है; (ख) मत्स्यपुराण का निर्माण तृतीय शती के आरम्भ अथवा २३६ ईस्वी तक हो चुका था, (ग) वायु तथा ब्रह्माण्ड गुप्तराज्य के आरम्भ काल तक समाप्त हो चुका था; (घ) विष्णुपुराण का कलिवृत्त प्रकरण भी इसी युग का संकेत करता है; (ङ) श्रीमद्भागवत भी, जैसा अन्य पोषक प्रमाण से सिद्ध होता है, गुप्तकाल की ही रचना है। कुछ भाग पीछे के भले हो, परन्तु षष्ठ शती से पूर्व यह समाप्त हो चुका था।

इन निर्णायक साधको के द्वारा पुराणो का कालक्रम से विभाजन हो सकता है। जब हम कहते हैं कि अमुक पुराण प्राचीन है, तब हम किसी पुराण की अपेक्षा ही इस निर्णय पर पहुँचते है। पुराणों की तीन श्रेणियाँ हैं— (क) प्राचीन प्रथम शती से लेकर ४०० ईस्वी तक। इसके अन्तर्गत हम वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य तथा विष्णु को रखते है। मध्यकालीय—इस श्रेणी मे हम श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द, पद्मपुराण को रखते हैं (५०० ई०—९०० ई०) तथा (ग) अर्वाचीन—इस श्रेणी में हम ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिङ्ग आदि (९०० ई०—१००० ई०) को रखते हैं। यह तो हुई सामान्य विवेचना। अब हम प्रत्येक पुराण के देशकाल का निर्णय करने का आगे प्रयत्न कर रहे हैं। वायु तथा विष्णु को लेखक सर्वपुराणो मे प्राचीनतम मानने के पक्ष में है। इस विषय मे विशिष्ट प्रमाण आगे उपन्यस्त किये गये है।

(१) ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण ही अष्टादश पुराणो में अग्रिम तथा प्रथम माना गया है। इसके देश के विचार प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि यह पुराण पृथ्वीतल मे सर्वश्रेष्ठ देश भारतवर्ष को मानता है तथा उस भारत में भी सर्वश्रेष्ठ तीर्थ दण्डकारण्य है। दण्डकारण्य के भीतर ही होकर गौतमी या गोदावरी नदी प्रवाहित होती है जो

नदियों में मुख्य है। इस नदी के तीरस्थ तीर्थों का ही सूक्ष्म विवरण पूरे १०६ अध्यायों मे (प्र० ६९ अ०–१७५ अ०) ब्रह्मपुराण करता है। इस विवरण से पुराणकार का दण्डकारण्य तथा विशेषतः गोदावरी-प्रदेश पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। अतः इन अध्यायों का रचना-देश निश्चित रूप से गौतमी (या गोदावरी) प्रदेश ही प्रतीत होता है। एतद्-विषयक दो-तीन श्लोक प्रमाण मे उद्धृत किये जाते है :—

पृथिव्यां भारतं वर्षं दण्डकं तत्र पुण्यदम्।
तस्मिन् क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्ति-मुक्तिप्रदं नृणाम् ॥ १८ ॥
तीर्थानां गौतमी गङ्गा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्।
तत्र यज्ञेन दानेन भोगान् मुक्तिमवाप्स्यति ॥ १९ ॥

—८८ अ०

यह गौतमी नदी दण्डकारण्य की नदियो मे सर्वश्रेष्ठ है—

श्रूयते दण्डकारण्ये सरित् श्रेष्ठास्ति गौतमी।
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी ॥ ६२ ॥

—१२९ अ०

फलतः ब्रह्मपुराण का अत्यधिक भाग गोदावरी प्रदेश की रचना प्रतीत होता है, परन्तु इसका आदिम भाग (आरम्भ से लेकर ६९ अ०) तक उत्कल देश मे प्रणीत जान पड़ता है, क्योंकि २८ अ० से ६९ अ० तक ४१ अध्यायों मे पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथ क्षेत्र) के छोटे-छोटे तीर्थों का भी माहात्म्य सर्वोपरि श्रेष्ठ बतलाया गया है। ६९ अ० मे पुरुषोत्तम क्षेत्र ही समस्त तीर्थों मे मूर्धन्य स्वीकार किया गया है। २८ अ० मे कोणादित्य (आधुनिक नाम कोणार्क) की महती प्रशंसा है और तत्प्रतिष्ठित भगवान् भास्कर के स्वरूप तथा पूजा के विषय मे छह अध्याय (२९ अ०–३४ अ०) प्रयुक्त किये गये है। ६६ अ० में गुडिवा यात्रा के दर्शन का विशिष्ट फल दिया गया है[1]। 'गुडित्रा' या 'गुण्डिवा' का शुद्ध रूप गुण्डिचा है। जगन्नाथ अपने अग्रज संकर्षण तथा भगिनी सुभद्रा के साथ आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथ के ऊपर चढकर जो यात्रा करते हैं, वही रथ-यात्रा गुण्डिचा[2] यात्रा के नाम से उत्कल मे प्रसिद्ध है। इस स्थानीय

---

१. गुण्डिवामण्डपं यान्तं ये पश्यन्ति रथे स्थितम्।
कृष्णं बलं सुभद्रां च ते यान्ति भवनं हरेः ॥ १ ॥
गुण्डिवा नाम यात्रा मे सर्वकामफलप्रदा ॥ ८ ॥

—ब्रह्म० अ० ६६

२. 'गुण्डिचा' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे उड़िया भाषा के विद्वान् भी एकमत नही है। बहुत से मान्य भाषाविदो की धारणा है कि यह शब्द आर्य

उड़िया शब्द के प्रयोग से ग्रन्थकार का इस प्रदेश से गाढ़ परिचय रखना स्वतः सिद्ध होता है। फलतः लेखक की दृष्टि मे ब्रह्मपुराण के आरम्भिक अंश की रचना का देश उत्कल माना जा सकता है।

इस पुराण में २४५ अध्याय है तथा १३७८३ श्लोक (आनन्दाश्रम संस्करण में) हैं। इस पुराण मे तीर्थों का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है और माहात्म्य प्रसंग में ही तीर्थ-सम्बन्धिनी प्राचीन कथा का भी समुल्लेख रुचिरता से किया गया है। डा० हाजरा का कथन है कि जीमूतवाहन, बल्लालसेन तथा देवण्णभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराणीय श्लोक प्रचलित ब्रह्मपुराण मे उपलब्ध नही होते। इस पुराण ने महाभारत के ही नही, प्रत्युत विष्णु, वायु तथा मार्कण्डेय के अनेक अध्यायों को अक्षरशः अपने मे सम्मिलित कर दिया है। इसलिए यह ब्रह्मपुराण मूल पुराण न होकर कालान्तर में विरचित प्रक्षेप-विशिष्ट पुराण है। इन प्रक्षेपो की छानबीन की जा सकती है। यह पुराण मूल रूप से १७५ अ० मे ही समाप्त हो जाता है जहाँ गौतमी गङ्गा का विशद माहात्म्य अपने पर्यवसान पर पहुँच जाता है। उसी अध्याय के अन्त में (८८–९० श्लोक) इस पुराण के श्रवण तथा दान का माहात्म्य वर्णित है जो निश्चित रूप से पुराण के अन्त मे ही किया जाता है। फलतः १७६ अ० से लेकर अन्तिम २४५ अ० पीछे से जोड़ा हुआ अंश है। निबन्धकारो मे इसकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होती है। कल्पतरु ने कम से कम पन्द्रह सौ श्लोक इसके उद्धृत किये हैं जिनमे से केवल नव श्लोको का पता उसके सम्पादक को लग सका है। श्राद्ध के विषय मे सैकड़ों श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। कल्पतरु में इसी पुराण से सबविक्षा अधिकतम श्लोक उद्धृत हैं। वायु तथा मत्स्य का नम्बर तो इसके बाद आता है। परन्तु इन श्लोकों की प्रचलित पुराण मे उपलब्धि न होने से इसके वर्तमान रूप को अधिकतर प्रक्षेप-विशिष्ट मानना कथमपि अन्याय्य नही है। प्रचलित ब्रह्मपुराण के अनेक तीर्थविषयक श्लोक (४६ अ० से आगेवाले अंश के) **तीर्थचिन्तामणि** में उद्धृत है। इसके लेखक वाचस्पति का समय १४२५ ई०–१४९० ई० अर्थात् १५वी शती का उत्तरार्ध माना जाता है। फलतः प्रचलित ब्रह्म की रचना का काल इससे पूर्व १३ शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(२) पद्मपुराण

इसकी दो वाचनाएँ विद्यमान हैं—(१) उत्तर भारतीय वाचना, (२) दक्षिण भारतीय वाचना। प्रथम के अनुसार यह पाँच खण्डों में विभक्त है और दूसरी

भाषा का न होकर कोलभीलो की भाषा का कोई स्थानीय शब्द है। जगन्नाथ-जी का वर्तमान मन्दिर १५वी शती से प्राचीन भले ही न हो, परन्तु उनकी पूजा तो बहुत-प्राचीन है।

वाचना के अनुसार, जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज मे तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है, छह खण्डों मे विभक्त है—जिनके नाम हैं—आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। यह निश्चयेन उत्तरकालीन वाचना है। पूर्वकालीन वाचना वंगीय हस्तलेखों के आधार पर पांच खण्डों में विभक्त है—सृष्टि, भूमि स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर[१] खण्ड। मत्स्य तथा पद्म के सैकड़ों श्लोक दोनों मे समान रूप से पाये जाते है। हेमाद्रि ने पद्म से लम्बे उद्धरण इन श्लोको को अपने ग्रन्थ में दिया है, जब दूसरे निबन्धकारों ने इन्हीं श्लोकों को मत्स्यपुराण का वचन मानकर उद्धृत किया है। इन दोनों में से कौन किसका अधमर्ण है? मत्स्य मे धर्मशास्त्रीय विषयों का प्राचुर्य है तथा निबन्धों मे उसके उद्धरणों का आधिक्य है। फलतः काणे महोदय की सम्मति मे पद्म ही मत्स्य के श्लोको को अपने मे उद्धृत करनेवाला अधमर्ण प्रतीत होता है। आनन्दाश्रम से प्रकाशित पद्मपुराण मे अध्यायो की संख्या ६२८ है तथा श्लोको की ४८,४५२ जो नारद पुराण मे निर्दिष्ट संख्या से बहुत घटकर न्यून है। निबन्ध मे कल्पतरु ने पद्मपुराण से नाना विषयों के श्लोक प्रामाण्य मे उद्धृत किया है। इस भारी-भरकम पुराण का मूल रूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देना नितान्त कठिन है। विद्वानो ने इसकी अन्तर्गत कथाओं का समीक्षण कर उनमे अनेक को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। डाक्टर लूडर्स का कथन है कि पद्मपुराणान्तर्गत (पातालखण्ड मे) ऋष्यशृङ्ग की कथा महाभारत मे उपलब्ध वनपर्व (११० अ० —११२ अ०) मे वर्णित उस कथा से प्राचीनतर है। अन्य विद्वान् पद्मपुराण मे वर्णित तीर्थयात्रा प्रकरण को महाभारत (वनपर्व) मे वर्णित तीर्थयात्रा प्रसंग से प्राचीनतर मानते है।

पद्मपुराण तथा कालिदास मे परस्पर सम्बन्ध क्या था? वंगीय हस्तलेखो में उपलब्ध वाचना के अनुसार पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड (तृतीय खण्ड) में शकुन्तला का उपाख्यान वर्णित है जो महाभारतीय उपाख्यान से न मिलकर कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक से अपूर्व समता रखता है। डा० विण्टरनित्स तथा डा० हरदत्त शर्मा इस प्रसंग में कालिदास को पद्मपुराण का अधमर्ण स्वीकार करते हैं[२] अर्थात् कालिदास ने यह कथावस्तु पद्मपुराण से गृहीत

---

१. इन खण्डो के विषय का संक्षेप देखिए—

ज्वालाप्रसाद मिश्र : अष्टादश पुराणदर्पण पृ० ७५—९६ डा० विण्टरनित्स: हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर। —प्रथम भाग पृष्ठ ५३६—५४४।

२. द्रष्टव्य डा० हरदत्त शर्मा : पद्मपुराण एण्ड कालिदास, कलकत्ता १९२५ (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, सं० १७)।

डा० विण्टरनित्स : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर पृ० ५४०।

की हैं—यही तथ्य मानते है। इस विषय मे लेखक का मन्तव्य है कि किसी भी पौराणिक कथानक मे नायिका के साथ उसकी संगिनी के रूप मे एक ही सखी का होना पर्याप्त है, दो सखियो की आवश्यकता क्यो ? अत: दो सखियो का यहाँ होना सर्वथा अस्वाभाविक है, पुराण की शैली से सर्वथा विरुद्ध तथा असंगत। अत: पद्मपुराण को ही इस विषय मे कालिदास का अधमर्ण मानना सर्वथा न्याय्य तथा समुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल पर आश्रित होने से स्वर्गखण्ड का तथा सम्पूर्ण पद्मपुराण की रचना का काल पञ्चम शती से अर्वाचीन ही मानना उचित है। यह प्रचलित पद्मपुराण का निर्माण काल है। मूल पद्मपुराण को इससे प्राचीन होना चाहिए।

नागरी मे मुद्रित उत्तरखण्ड[1] तथा वंगीय हस्तलेखो मे प्राप्त अमुद्रित वंगीय वाचनानुसार उत्तरखण्ड मे महान् पार्थक्य है। यह पार्थक्य परिमाण के संग-साथ में निर्माणकाल के विषय मे भी है। मुद्रित उत्तरखण्ड मे ३८२ अध्याय है और वंगीय हस्तलेखो मे केवल १७२ अध्याय है। 'उत्तरखण्ड' स्वयं इस तथ्य का द्योतक है कि यह खण्ड मूल पुराण मे पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु कितना पीछे ? इसका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। वंगीय कोशवाला उत्तरखण्ड तो मुद्रित उत्तरखण्ड से भी अवान्तरकालीन है। यह श्रीमद्भागवत का तथा राधा का ही उल्लेख नही करता, प्रत्युत रामानुज मत का भी उल्लेख करता है। अत। यह श्री रामानुज से प्राचीन नही हो सकता। इस खण्ड मे द्रविड देश के एक वैष्णव राजा की कथा दी गयी है जिसने पाषण्डियो अर्थात् शैवों के मिथ्या उपदेशो के प्रभाव मे आकर अपने राज्य से विष्णुमूर्तियों को फेक दिया, वैष्णव मन्दिरो को वन्द कर दिया और प्रजा को शैव होने के लिए वाध्य किया। श्री अशोक चटर्जी का कथन है कि यह कुलोत्तुङ्ग द्वितीय का संकेत करता है जो शैवो के प्रभाव से उग्र शैव वन गया था। उसे राजसिंहासन पाने का समय ११३३ ईस्वी है जिससे इस खण्ड को उत्तरकालीन होना चाहिए। हितहरिवंश के द्वारा १५८५ ई० मे प्रतिष्ठित राधावल्लभी सम्प्रदाय मे राधा का ही प्रामुख्य है जिसका प्रभाव उक्त लेखक इस खण्ड पर मानते है। फलतः उनकी दृष्टि मे यह उत्तरखण्ड १६वी शती के पश्चात् की रचना है।[2]

---

१. 'उत्तरखण्ड' के स्वरूप तथा विषयो के लिए द्रष्टव्य पुराणम् (भाग तृतीय, १९६१), पृष्ठ ४७–६०।

२. द्रष्टव्य Some observations on the Date of the Bengali Recension of the Uttara.Khanda of the Padma Purana—Purana Bulletin (All India Kashiraja Trust)

—भाग ५, पृष्ठ १२२–१२६।

(३) विष्णुपुराण

पुराण साहित्य मे विष्णुपुराण का गौरव सातिशय महनीय है। नारदीय पुराण मे इसका विस्तार २४ सहस्र श्लोको का बतलाया गया है, वल्लालसेन ने भी इसके २३ हजार श्लोकोवाले सम्प्रदाय का उल्लेख किया है; विभिन्न टीकाकारों ने भी इसके विभिन्न श्लोक-परिमाणो का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु यह आजकल छह सहस्र श्लोको का ही उपलब्ध होता है। और इसी संस्करण के ऊपर तीनो व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं—श्रीधर स्वामी की, विष्णुचित्त की (विष्णुचित्तीय) तथा रत्नगर्भ भट्टाचार्य की (वैष्णवाकूतचन्द्रिका)। इन व्याख्याओं की सम्पत्ति से ही इसका माहात्म्य नही प्रकट होता, प्रत्युत वैष्णव मत के समधिक दार्शनिक तथ्यो से मण्डित होने से भी इसका गौरव है। छोटा होने पर भी विषयप्रतिपादन में महनीय है, क्योकि इसमे पुराण के पाँचो लक्षण बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। इसके वक्ता पराशरजी हैं जिन्होने मैत्रेय को इस पुराण का प्रवचन किया।

ब्रह्माण्ड के सात श्लोको (३।६८।९७–१०३) मे से पांच श्लोक (ययाति के तृष्णाविषयक वचन) विष्णु (४।१०।२३–२७) मे भी वे ही हैं जो ब्रह्मपुराण (१२।४०–४६) में भी मिलते हैं। इन सबो का मूल स्थान सभवतः महाभारत का आदि पर्व है (७५।४४)। याज्ञवल्क्य (३।६) पर मिताक्षरा विष्णु० से लगभग १४ श्लोक नारायणबलि के विषय मे उद्धृत करती है। कल्पतरु, अपरार्क तथा स्मृतिचन्द्रिका ने कई सौ श्लोकों को उद्धृत किया है। काव्यप्रकाश मे विष्णुपुराण के दो श्लोक[१] उद्धृत हैं जिनमें किसी गोपकन्या द्वारा श्रीकृष्ण की गाढ़ अनुरक्ति के कारण मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। विष्णुपुराण मध्ययुगीय वैष्णव सम्प्रदायो का समभावेन उपजीव्य ग्रन्थ है। श्रीरामानुज, श्री मध्वाचार्य तथा श्री चैतन्य ने अपने अनेक विशिष्ट मतो का आधार विष्णुपुराण में निर्दिष्ट तथ्यो को बनाया है।

विष्णुपुराण का समय

विष्णुपुराण के आविर्भाव-काल के विषय मे विद्वानो में विभिन्न मत हैं, परन्तु कुछ ऐसे नियामक साधन हैं जिनका अवलम्बन करने से हम समय का निर्देश भलीभाँति कर सकते हैं—

(क) कृष्णकथा की दृष्टि से—भागवत तथा विष्णु की तुलना का परिणाम इस परिच्छेद के आरम्भ मे ही दे दिया गया है। दोनो मे

---

१. तद् प्राप्ति तथा चिन्तयन्ती० विष्णु के ५।१३।२१-२३ श्लोक हैं जो काव्यप्रकाश के चतुर्थ मे रसध्वनि के उदाहरण है।

पार्थक्य यह है कि विष्णु जहाँ ध्रुव, वेन, पृथु, प्रह्लाद, जडभरत के चरित को संक्षेप मे ही विवृत करता है, वहाँ भागवत उनका विस्तार दिखलाता है। कृष्णलीला के विषय मे ही यही वैशिष्ट्य लक्ष्य है। फलतः विष्णु भागवत से प्राचीन है।

(ख) ज्योतिषविषयक तथ्यो के आधार पर भी विष्णु का समय निर्णीत है। विष्णु (२।६।१६) में नक्षत्रो का आरम्भ कृत्तिका से करता है[१] और वराहमिहिर (लगभग ५५० ई०) के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उनसे प्राचीन काल मे नक्षत्रो का जो आरम्भ कृत्तिका से होता था, वह उनके समय मे अश्विनी से हो गया। फलतः कृत्तिकादि ऋक्ष का प्रतिपादक विष्णु नियमेन ५०० ईस्वी से प्राचीन है, इसी प्रकार राशि का भी उल्लेख विष्णु मे अनेकत्र है (३।८।२८[२], २।८।३०, २।८।४१-४२, २।८।६२-६३)। ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थो मे याज्ञवल्क्यस्मृति में राशियों का समुल्लेख उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का रचनाकाल है द्वितीय शती। फलतः विष्णुपुराण द्वितीय शती से प्राचीन नहीं हो सकता[३]।

(ग) वाचस्पति मिश्र (८४१ ई० ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्त्ववैशारदी मे २।३२; २।५२; २५४ मे विष्णुपुराण के श्लोको को उद्धृत किया है तथा १।१९, १।२५, ४।१३ मे वायुपुराण के वचन उद्धृत किये हैं। 'स्वाध्यायाद् योगमासीत्' इस भाष्य की टीका मे वे लिखते है—'अत्रैव वैयसिकों गाथामुदाहरति' अर्थात् वाचस्पति की दृष्टि मे व्यासभाष्य मे उद्धृत 'स्वाध्यायाद् योगमासीत' व्यास का वचन है और यही श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश ६ अ० के द्वितीय श्लोक के रूप मे मिलता है। योगभाष्य का एक वचन (३।१३—तदेतद् त्रैलोक्यं आदि) न्यायभाष्य मे उपलब्ध है (१।२।६) जिससे योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य के समय (द्वितीय-तृतीय शती) से प्राचीनतर होना चाहिए। योगभाष्य मे वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर उद्धृत होने के कारण विष्णुपुराण को प्रथम शती से पूर्व मानना सर्वथा

---

१. कृत्तिकादिषु ऋक्षेपु विषमेषु च यद्दिवः।
दृष्टार्कपतितं ज्ञेयं तद् गाङ्गं दिग्गजोज्झितम् ॥

—विष्णु २।९।१६।

२. अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विज ॥

—विष्णु २।८।२८।

३. द्रष्टव्य Dr. Hazara का लेख 'The date of Vishnu purana (भण्डारकर पत्रिका भाग १८ (१९३६—३७ मे)।

उचित प्रतीत होता है। ऊपर कलियुग के राजाओं के वर्णन-प्रसङ्ग मे विष्णु गुप्तों के आरम्भिक इतिहास से परिचय रखता है जब ये साकेत (अयोध्या), प्रयाग तथा मगध पर राज्य करते थे। यह निर्देश चन्द्रगुप्त प्रथम (३२० ई०–३२६ ई०) के राज्यकाल मे गुप्तराज्य की सीमा का द्योतक माना जाता है। फलतः विष्णुपुराण का समय १०० ई०—३०० ई० तक मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

(घ) विष्णुपुराण की प्राचीनता के विषय मे तमिल साहित्य के एक विशिष्ट काव्यग्रन्थ से बड़ा ही दिव्य प्रकाश पड़ता है। ग्रन्थ का नाम है—मणिमेखलै जिसमे मणिमेखला नामक समुद्री देवी के द्वारा समुद्र मे आपद्ग्रस्त नाविको तथा पोतारोहियो के रक्षण की कथा बड़ी ही रुचिरता के साथ दी गयी है। ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी की द्वितीय शती माना जाता है। इसमे एक उल्लेख विष्णुपुराण के विषय मे निश्चयरूपेण वर्तमान है। वंजी की सभा मे विभिन्न धर्मानुयायी आचार्यों के द्वारा प्रवचन तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख यह ग्रन्थ करता है जिनमे वेदान्ती, शैववादी, ब्रह्मवादी, विष्णुवादी, आजीवक, निर्ग्रन्थ, साख्य, साख्य आचार्य, वैशेषिक व्याख्याता और अन्त में भूतवादी के द्वारा मणिमेखला के संबोधित किये जाने का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ मे तमिल मे एक पंक्ति आती है—कळलवणं पुराणमोदियन् जिसका अर्थ है—विष्णु-पुराण मे पाण्डित्य रखनेवाला व्यक्ति। इस प्रसंग मे ध्यान देने की बात यह है कि संगम युग में 'विष्णु' शब्द का प्रयोग नही मिलता। उस देवता के निर्देश के लिए तिरुमाल तथा कळलवण विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं। फलतः इस पंक्ति मे विष्णुपुराण का ही स्पष्ट संकेत है, भागवत, नारदीय तथा गरुड जैसे वैष्णव पुराणो का नही। यह सम्मान्य मत है इस विषय के पण्डित डा० रामचन्द्र दीक्षितर् का, जिन्होने तमिल साहित्य तथा इतिहास का गंभीर अनुशीलन अपने एतद्विषयक ग्रन्थ—स्टडीज इन तमिल लिटरेचर ऐण्ड हिस्टरी—मे किया है। मणिमेखलै के इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तमिल देश में उस समय पुराणों का प्रवचन तथा पाठ जनता के सामने उसके चरित के उत्थान के निमित्त किया जाता था। यह दशा द्वितीय शती ईस्वी की थी। इस समय विष्णुपुराण विशेषरूपेण महत्त्वशाली और गौरवपूर्ण होने के कारण इस कार्य के लिए चुना गया था। यह इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत है। द्वितीय शती मे प्रवचन के निमित्त चुने जानेवाले पुराण का समय उस युग से कम से कम एक शताब्दी पूर्व तो होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कम-से-कम प्रथम शती मे विष्णुपुराण की, अथवा उसके अधिकांश भाग की, निश्चयेन रचना हो चुकी थी। व्यास-भाष्य के साक्ष्य पर निर्धारित समय की पुष्टि इस उल्लेख से आश्चर्यजनक रूप मे हो रही है। फलतः विष्णुपुराण का समय निश्चित रूप से ईस्वी के आरम्भिक

काल कम से कम हैं। लेखक की दृष्टि मे इस पुराण का रचनाकाल ईस्वी पूर्व में होना चाहिए—द्वितीय शती ईस्वी पूर्व[१]।

(४) वायुपुराण

इस पुराण मे ११२ अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या १०,९९१ है। ब्रह्माण्ड के समान ही यह चार पादों में विभक्त है। ब्रह्माण्ड तथा वायु के सम्बन्ध का विवेचन पीछे किया गया है तथा इसके मूल रूप पीछे से जोड़े गये अध्यायों का पूरा विवरण ग्रन्थ के पृष्ठ ९६, १०१ पर सप्रमाण दिया गया। मत्स्य के समान ही इसमे धर्मशास्त्रीय विषयों की विपुलता है। कल्पतरु ने वायुपुराण के लगभग १६० उद्धरण श्राद्ध पर दिये है, लगभग ३५ मोक्ष के विषय मे, २२ तीर्थ पर, ७ दान, ५ ब्रह्मचारी तथा ४ गृहस्थ के विषय मे। अपरार्क ने लगभग ७५ उद्धरण श्राद्ध के विषय में दिये है। स्मृतिचन्द्रिका ने भी श्राद्ध के विषय में लगभग २५ उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणो से वायुपुराण का धार्मिक विषयो पर प्रामाण्य प्रकट होता है[२]।

वायु ने गुप्तराज्य के आदिम काल की राज्य-सीमा का उल्लेख किया है[३]। यह पाँच वर्षो के युग को जानता है (५०।१८३)। मेष, तुला (५०।१९६), मकर तथा सिंह (८२।४१।४२) को जानता है। इन उल्लेखो से इसके समय का निरूपण यथार्थ रूप से किया जा सकता है। बाणभट्ट ने अपने गद्यकाव्यों मे—हर्षचरित तथा कादम्बरी मे—वायुपुराण का उल्लेख किया है। गुप्तराज्य का वायुपुराण कृत उल्लेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन है। फलतः ३५० ई० से लेकर ५५० ई० के बीच मे ही इसका रचनाकाल है—लगभग ४०० ईस्वी। सप्तम शती के पुराणों मे यह अग्रगण्य माना जाता था, जैसा शंकराचार्य के उल्लेख द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होता है। प्राचीन पुराणो मे अन्यतम पञ्चलक्षण का स्पष्ट परिचायक यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, कलकत्ता, १९३१, पृष्ठ ३७०–३७१ मे 'दी एज आव दी विष्णुपुराण' शीर्षक टिप्पणी।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

—वायु ९९।३८३

३. वायुपुराण तथा निबन्ध ग्रन्थो के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे द्रष्टव्य Dr. Hazara—The Vayu Purana in the Indian Historical Quarterly Vol. 14 (1938) PP 331–339.

(५) श्रीमद्भागवत

'भागवत' नाम से प्रख्यात दोनों पुराणों की तुलनात्मक समीक्षा पूर्व ही की गयी है जिसका निष्कर्ष यही है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणो मे अन्यतम है तथा देवीभागवत केवल उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत से पूर्ण परिचय ही नही रखता, प्रत्युत अनेक तथ्यो के प्रतिपादन मे उसका अधमर्ण भी है। भागवत पञ्चलक्षण के बृहद्रूप दश लक्षणो से समन्वित एक महनीय आध्यात्मिक पुराण है, जिसमे भूगोल तथा खगोल, वंश और वंशानुचरित का भी विवरण संक्षेप मे उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण को भगवान् रूप मे चित्रित करने तथा उनकी ललित लीलाओ का विवरण देने मे भागवत अद्वितीय पुराण है। परन्तु प्राचीन निवन्ध ग्रन्थो मे भागवत से उदाहरण नही मिलते। काणे महोदय का कथन है कि मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु तथा स्मृतिचन्द्रिका जैसे प्राक्कालीन निवन्धो ने भागवत से उद्धरण नही दिया। वल्लालसेन भागवत को पूर्णतः जानते हैं, परन्तु दानविषयक श्लोको के अभाव मे 'दानसागर' मे उसे उद्धृत नही करते। यह आश्चर्य की वात है कि कल्पतरु मोक्षकाण्ड मे भी इसका उद्धरण नही देता, जव वह विष्णुपुराण से तीन सौ के आसपास श्लोको को उद्धृत करता है। इसीलिए काणे महोदय इसे नवम शती से प्राचीन मानने के लिए उद्यत नही है।

देश—श्रीमद्भागवत के रचना-क्षेत्र के विषय मे भी पर्याप्त मतभेद है। भागवत दक्षिण भारत के भौगोलिक स्थानो तथा तीर्थों से उत्तर भारतीय तीर्थों की अपेक्षा विशेष परिचय रखता है। भागवत ११ स्कन्ध मे (५।३८–४०) द्रविड देश की पवित्र नदियो का—पयस्विनी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, कावेरी तथा महानदी का—नामोल्लेख करते हुए कहता है कि कलियुग में नारायणपरायण जन तो कही-कही ही होंगे, परन्तु द्रविड देश मे वे वहुलता से होंगे (द्रविडेषु च भूरिशः) और पूर्वोक्त नदियो का जल पीनेवाले मनुज प्रायः करके वासुदेव के भक्त होंगे। विद्वानों की धारणा है कि यह द्रविड देश के आड्वारो का गूढ़ निर्देश है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध मे पुरंजन विदर्भनरेश की कन्या का अगले जन्म मे उसका विवाह पाड्यनरेश मलयध्वज के साथ हुआ तथा उससे सात पुत्र द्रविड राजा हुए (४।२८।२९–३०)। ऋषभदेव की जीवनलीला का पर्यवसान कर्नाटक देश मे हुआ जहाँ का राजा उनका भक्त हो गया। उनके सात पुत्रो मे से अन्यतम 'द्रुमिल' द्रविड का प्राचीन रूप माना गया है। द्रविड देश के राजा सत्यव्रत जव कृतमाला (द्रविडदेशीय नदी) मे स्नान कर रहे थे तव उनकी अंजुलि मे मत्स्य का प्रादुर्भाव हुआ (भाग० ८।२४।१२-१३)। जाम्बवती के पुत्रो मे 'द्रविड' नामक पुत्र का उल्लेख केवल भागवत मे ही है

(१०।६१।१२), हरिवंश मे नही। वलराम जी की तीर्थयात्रा में दक्षिण भारत के तीर्थो का विशेष उल्लेख मिलता है (भाग० १०।७९।१३)। इन सब भौगोलिक उल्लेखों के साक्ष्य पर इतना तो स्पष्ट है कि भागवतकार दक्षिण भारत से सामान्यतः और उसमें भी तमिल प्रान्त से विशेषतः अधिक परिचय रखते हैं। गोपीगीत मे तमिल छन्द से साम्य की वात कही जाती है, परन्तु वही तथ्य राजस्थानी भाषा की कविता मे भी व्यापक होने से पूर्व कथन पर श्रद्धा नही रखी जा सकती[1]।

काल—श्रीमद्भागवत का भी कालनिर्देश इसी वहिरङ्ग साक्ष्य पर निर्णीत है। हेमाद्रि यादव नरेश महादेव (१२६०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के धर्मामात्य तथा वोपदेव के आश्रयदाता थे। इन्होने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' मे भागवत के 'स्त्रीशूद्र द्विजवन्धूनां' वाला श्लोक उद्धृत किया है।

द्वैत मत के संस्थापक आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, जन्म ११९९ ई०) ने 'भागवततात्पर्यनिर्णय' मे श्रीमद्भागवत के मूल तात्पर्य का निर्देश किया है तथा इसे पंचम वेद माना है। आचार्य रामानुज (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' मे भागवत की वेदस्तुति (१०।८७) से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय श्लोको को उद्धृत किया है जिससे भागवत का तत्पूर्ववर्तित्व सिद्ध है। श्रीशकराचार्य ने 'प्रवोधसुधाकर' मे अनेक पद्य भागवत की छाया पर निवद्ध किये हैं। इनके गुरु गोविन्द भगवत्पाद के गुरु गौडपादाचार्य ने अपने 'पञ्चीकरण-व्याख्यान' मे भागवत से 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) श्लोक उद्धृत किया है। 'उत्तरगीता के भाष्य में उन्होने 'भागवत' का नाम-निर्देश करके यह प्रख्यात पद्य उद्धृत किया है—

तदुक्तं भागवते—

> श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्यते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवल-वोध-लब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

---

१. द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली सन् १९३२, अष्टम भाग तथा १९५१ के अंक कलकत्ता से प्रकाशित।

२ स्त्रीशूद्र-द्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

—भागवत १।३

यह श्लोक दशम स्कन्ध के ब्रह्मकृत प्रसिद्ध स्तुति १४ अ० का चतुर्थ पद्य है।

इस प्रकार बाह्य साक्ष्य के आधार पर श्रीमद्भागवत गौडपाद से प्राचीनतर होना चाहिए। आचार्य शंकर का आविर्भाव काल सप्तम शती के अन्तिम भाग में लेखक ने विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है[1]। उनके दादा गुरु गौडपाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में युक्तियुक्त है। अतएव भागवत षष्ठ शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता[2]।

(६) नारदीयपुराण

पुराणसाहित्य में नारदीयपुराण तो प्रख्यात है ही; उसी के साथ 'बृहन्नारदीय' नामक भी एक पुराण ३८ अध्यायों में विभक्त लगभग ३६०० श्लोकों से सम्पन्न कलकत्ता से प्रकाशित है (एशियाटिक सोसाइटी)। यह पुराणस्य पंचलक्षणों से सर्वथा विरहित है और वैष्णव मत का प्रचारक एक साम्प्रदायिक पुराण है जिसे उपपुराण मानना न्यायसंगत है। मत्स्यपुराण (५३।२३) में वर्णित नारदीय प्रचलित नारदीय से कोई भिन्न ही पुराण प्रतीत होता है। यह निःसन्देह वैष्णव धर्म का विशिष्ट प्रचारक ग्रन्थ है। उसमें वैष्णवागम का ही उल्लेख नहीं है (३७।४) प्रत्युत पाञ्चरात्र अनुष्ठान का भी पूर्ण संकेत उपलब्ध है (५३।९)। बौद्धों की बड़ी निन्दा की गयी है। एकादशी व्रत के अनुष्ठान का माहात्म्य बड़े विस्तार से प्रभावक शब्दों में यह पुराण वर्णन करता है। यहाँ परम वैष्णव रुक्मांगद राजा का उल्लेख है जिन्होंने अपने राज्य में आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष वयवाले व्यक्तियों के लिए आदेश जारी कर रखा था कि इनमें जो एकादशी का व्रत नहीं करेगा तो वह वध्य माना जायगा। स्मृतिचन्द्रिका (१२००–१२२५ ई०) ने एकादशी व्रत के माहात्म्य-सूचक अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिसमें पूर्वोक्त श्लोक[3] भी हैं। अपरार्क ने भी इसी माहात्म्य के दो श्लोक दिये हैं।

---

१. बलदेव उपाध्याय : आचार्य शंकर (प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, द्वितीय सं०, १९६३)।

२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ १५१–५३)।

३. यह श्लोक इस प्रकार है—

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्णाशीतिवत्सरः।
यो भुङ्क्ते मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत्।
स मे वध्यश्च दण्ड्यश्च निर्वास्यो विषयाद् बहिः॥

नारदीयपुराण अग्नि तथा गरुड के समान समस्त विद्याओं का प्रतिपादन करनेवाला विश्वकोश के समान एक महर्घ पुराण है। इन विद्याओं के प्रतिपादक किसी मान्य ग्रन्थ का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक विषयों के विवरण में यह महाभारत का विशेषभावेन ऋणी है। यह विषय नारदीय-पुराण के पूर्वभाग ४२–४४, ४५ अध्यायो मे उपलब्ध होता है (वेङ्कटेश्वर सं०) तथा महाभारत के शान्तिपर्व १७५–१८५, १८७–३८८, २११–२१२ अध्यायों मे यही विषय इन्ही श्लोको मे मिलता है। महाभारत मे श्लोकी की संख्या ४३५ है तथा नारदीय से तत्समान श्लोकों की संख्या ४२८ है। दोनो के तारतम्य-परीक्षण से नारदीय नियत रूप से महाभारत का अधमर्ण है[१]।

नारदीय की रचना का काल अनुमेय है। नारदीय का एक पद्य (१।९।५०) किरातार्जुनीय के एक प्रख्यात पद्य के भाव को अभिव्यक्त करता है प्रायः उन्ही शब्दो मे—

अविवेको हि सर्वेषामापदां परमं पदम्।

—नार० १।९।५०

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेक: परमापदां पदम्।

—किरात० २।३०

नारदीय बौद्धो की तीव्र आलोचना करता है और बौद्ध-मन्दिर मे प्रविष्ट होनेवाले ब्राह्मण के लिए सैकड़ों प्रायश्चित्त करने पर निष्कृति नही होती है—ऐसा प्रतिपादित करता है[२]।

स्मृतिचन्द्रिका मे उद्धृत यह नारदीय वचन मुद्रित पुराण मे इस प्रकार है—

यो न कुर्याद् वचो मेऽद्य धर्म्यं विष्णुगतिपदम्।
स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च निर्वास्यो विषयाद् ध्रुवम्॥

(उत्तरखण्ड २३।४१)

१. इस परीक्षण के लिए द्रष्टव्य वेडेकर महोदय का सुचिन्तित लेख 'The Identical Philosophical Texts in the Narada Purana and the Mahabharata : Their contents and significance.

—पुराण (पञ्चम खण्ड १९६३) पृष्ठ २८०–३०४

२. बौद्धालयं विशेद् यस्तु महापद्यपि वै द्विजः।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तशतैरपि॥

बौद्धों के प्रति यह आलोचना का भाव सप्तम शती के धार्मिक वातावरण का स्पष्ट द्योतक है जब कुमारिलभट्ट ने अपने मीमांसा ग्रन्थो के द्वारा बौद्धो के मत का प्रबल खण्डन कर उनकी तीव्र निन्दा की। लेखक की दृष्टि में यह पुराण इस प्रकार भारवि (षष्ठ शती) तथा कुमारिल (सप्तम शती) से अवान्तर-कालीन होना चाहिए। फलतः ७०० ई०–६०० ई० के बीच मे इसका रचना-काल मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

(७) मार्कण्डेयपुराण

पुराणो में मार्कण्डेयपुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर १३ अध्यायों मे (८१ अ०–९२ अ०) देवो माहात्म्य का प्रतिपादक बड़ा ही महनीय अंश है जिसमें देवी के त्रिविध रूप—महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चरित का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के अतिरिक्त मन्वन्तरो का विस्तृत विवरण इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन ६९ अ०–७३ अ०, तामस का ७४ अ०, रैवत का ७५ अ०, चाक्षुष का ७६ अ०, वैवस्वत का ७७ अ०–७९ अ० तथा सावर्णि का ८० अ०–९३ अ० तक है और देवी-माहात्म्य या सप्तशती सावर्णि मन्वन्तर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इसमे पुराण के पञ्चलक्षण का विवरण प्रायः उपलब्ध होता है। पीछे दिखलाया गया है कि मार्कण्डेय (४७ अ०) सृष्टि-वर्णन के लिए विष्णुपुराण का अधमर्ण है। इस पुराण मे वैदिक इष्टियो के महत्त्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्रवृन्दा नामक इष्टि द्वारा अपनी परित्यक्ता पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा सरस्वती इष्टि के द्वारा उस नागकन्या के गूँगेपन को दूर किया जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता द्वारा अभिशप्त होने से गूँगी बन गयी थी। सारस्वत सूक्तो के जप होने के कारण से यह इष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेयपुराण का आरम्भ तो महाभारत सम्बन्धी चार प्रश्नो के समाधान के लिए होता है। मार्क० मे व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय मे श्लोक नही हैं, परन्तु आश्रमधर्म, राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट) के विवरण देने मे विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण मे विद्वानों ने विश्लेषण से तीन स्तरों की खोज निकाला है—(१) अध्याय १–४२ जहाँ पक्षी वक्ता के रूप में कहे गये हैं, (२) ४३ अ० से लेकर अन्त तक जिसमे मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का संवाद वर्णित है, (३) सप्तशती (अ० ८१–९३ अ०) इसी खण्ड के

बौद्धाः पाखण्डिनः प्रोक्ता यतो वेदविनिन्दकाः ॥

—नारदीय पूर्वार्ध, १५।५०–५२

भीतर एक स्वतन्त्र अंश मानी जाती है। ये तीनों आपस में असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट हैं।

निवन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये है। कल्पतरु ने मोक्ष के प्रसंग मे इस पुराण से लगभग १२० श्लोक योग-विषय में उद्धृत किये हैं जो प्रचलित पुराण मे मिलते हैं। अपरार्क ने ८५ उद्धरण दिये हैं जिनमें से ४२ योग के विषय में तथा अन्य दानादि के विषय में हैं। मार्क० का ५४ अ० मे (ब्रह्माण्ड के समान ही) कथन है कि सह्य पर्वत के उत्तर भाग में गोदावरी के समीप का देश जगत् में सर्वाधिक मनोरम है—लेखक की दृष्टि मे इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय में यह संकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणो में अन्यतम माना जाता है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यो का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्त काल की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नही है। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख मे 'सर्वमंगलमाङ्गल्ये' (सप्तमशती का प्रख्यात श्लोक) श्लोक उद्धृत है। इसका समय २८९ दिया गया है जिसे भंडारकर गुप्त संवत् मानते हैं (=६०८ ई०), परन्तु मिराशी इसे ही तद्‌भिन्न भाटिक संवत् का निर्देश मानकर इसका समय ८१३ ई० मानते है[१]। जो कुछ भी हो, यह पुराण ६०० ई० से प्राचीनतर है और ४००–५०० ई० के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरितो का वर्णन देवी भागवत में भी आता है (५ स्कन्ध, ३२ अ०)। इन दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि मार्क० का देवीमाहात्म्य (सप्तशती) देवीभागवत के एतद्‌विषयक विवरण से निःसन्देह प्राचीन है। देवीभागवत का विवरण शप्तशती के ऊपर विशेषरूपेण आधृत है[२]।

(८) अग्निपुराण

वर्तमान 'अग्निपुराण' विभिन्न शताब्दियो मे प्राचीन ग्रन्थो से सार संगृहीत कर निर्मित हुआ है और यही कारण है कि निवन्ध ग्रन्थो मे उद्‌धृत इसके वचन यहाँ उपलब्ध नही होते। डा० हाजरा के पास 'वह्निपुराण' का हस्तलेख विद्यमान है जिसमे निवन्धकारो के अग्निपुराणीय वचन शतशः उपलब्ध होते है और इसी कारण वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित

१. द्रष्टव्य मिराशी का लेख A lower limit for the date of the Devi-mahatmya (Purana Vol 1. no 4 pp. 181–186).

२. इन दोनों की तुलना के निमित्त देखिए—पुराणम् (भाग ५, सं० १, जनवरी १९६३), पृ० ९०–११३।

अग्नि पाञ्चरात्रो के द्वारा प्रतिसंस्कृत, वैष्णव पूजार्चा का माहात्म्यबोधक पुराण है जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नही है।

इस पुराण के विषय मे ज्ञातव्य है कि लोक-शिक्षण के लिए उपयोगी विद्याओ का संग्रह प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है जिसे हम आजकल की भाषा मे 'पौराणिक विश्वकोष' के अभिधान से पुकार सकते हैं। उद्देश्य यही है समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करना। इस उद्देश्य मे ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है, क्योकि उसने तत्तत् शास्त्रविषयक प्रौढ ग्रन्थों से सामग्री संकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया है। धर्मशास्त्रीय विषयो के संकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयो का संग्रह भी बड़ा मार्मिक है। ऐसे विषयो मे हैं—आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद (२८२ अ०), गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा (२४६ अ०), धनुर्विद्या (२४९ अ०–२५२ अ०) वास्तुविद्या (४० अ०, ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०), प्रतिमालक्षण (४९–५५ अ०), राजधर्म, काव्यविवेचन (३३७ अ०, ३३३–३४७ अ०) आदि आदि। इन्ही विद्याओ के विवरण से अग्निपुराण के निर्माण काल का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। फलतः इसे एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ है दण्डी का काव्यादर्श (सप्तम शती)। फलतः सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नही की जा सकती। अतः अग्निपुराण का रचनाकाल सप्तम-नवम शती के मध्य मे कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण वह्निपुराण नाम से भी प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है—यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणो मे न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होता है जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है। यह प्राचीन पुराण है जिसकी रचना का काल चतुर्थ शती से अर्वाचीन नही माना जाता। अग्निपुराण मे विहित तान्त्रिक अनुष्ठानो मे कतिपय विशिष्ट अनुष्ठान वङ्गाल में ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। इसलिए इसका उद्भव स्थान वङ्गाल का पश्चिमी भाग प्रतीत होता है।[१]

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० हाजरा के निबन्ध—

(क) Discovery of the genuine Agneya Purana (G. O. I. University of Baroda, Vol V, No 4)

(ख) Studies of the Genuine Agneya Purana alias Vahni-Purana (Our Heritage Vol I–II)

(९) भविष्यपुराण

भविष्यपुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अंश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसंस्कारो के कारण बिलकुल अज्ञेय है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसके चार विभिन्न हस्तलेखो का निर्देश किया है जो आपस मे नितान्त भिन्न है। वेंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य मे इतनी नवीन बाते जोड़ी गयी हैं कि इन प्रक्षेपो की इयत्ता नही। इसकी अनुक्रमणी नारदीय (१।१०० अ०) में, मत्स्य (५३।३०-३१) मे तथा अग्नि (२७२।१२) में उपलब्ध होती है जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नही खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है, परन्तु इसके नाम के द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृंहण खूब ही किया है। इसके चार पर्व हैं—ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायुपुराण भविष्य का निर्देश करता है।

> यान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।
> तेभ्यः परेत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः॥
>
> —(९९।२६७)

परन्तु यह निर्देश प्राचीन भविष्य के विषय मे है, प्रचलित भविष्य के विषय में नही। वराहपुराण ने भी भविष्य का दो बार उल्लेख किया है जिसमे साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्यदेव की मूर्ति-स्थापना की चर्चा है। बल्लाल सेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिलकुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग १६० पद्य इसके उद्धृत करते है। अलबरूनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्य का समय दशम शती मानना कथमपि असङ्गत न होगा।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त को हम प्राचीन पुराण मानने के लिए तैयार नही है। इसका एक विशिष्ट कारण है।

(क) मत्स्य के अनुसार यह राजस पुराण है जिसमे ब्रह्मा की स्तुति की गयी है।[१] स्कन्दपुराणीय 'शिवरहस्य' खण्ड के अनुसार यह पुराण सविता

(ग) डा० रामशंकर भट्टाचार्य—अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी (काशी, १९६३), भूमिका भाग।

१. पद्मपुराण ब्रह्म० वै० को निश्चित रूप से 'राजस' मानता है—

> ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
> भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे॥
>
> —(आनन्दा० सं० उत्तरकाण्ड २६४।८४)

(सूर्य) का प्रतिपादक माना जाता था। मत्स्य के अनुसार इस पुराण का दानकर्ता ब्रह्मलोक में निवास करता है। इस प्रकार ब्रह्मलोक को ब्रह्मा के प्रतिपादक पुराण द्वारा उच्चतम माना जाना स्वाभाविक ही है।[१]

परन्तु प्रचलित ब्र० वैव० कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानता है और उनका निजी लोक गोलोक है जिसकी उपलब्धि वैष्णव भक्तो की एक परमाराध्य अभिलाषा है। इतना ही नही, इसमे ब्रह्मा की निन्दा भी यत्रतत्र पाई जाती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पश्चात्पद नही होते कि किसी समय मे ब्रह्मा-प्रतिपादक पुराण को वैष्णव लोगो ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर उसे सर्वतः वैष्णव पुराण बना डाला है। राधासंवलित श्रीकृष्ण ही परमात्मरूप मे यहाँ स्वीकृत हैं।

(ख) इसमे तान्त्रिक सामग्री की विपुलता पायी जाती है, विशेषतः प्रकृति तथा गणेशखण्ड मे। तान्त्रिक अनुष्ठान का पुराण मे संकलन अर्वाचीन काल की घटना है—नवम-दशम शती की। यह वैशिष्ट्य मूल पुराण मे न होकर उसके अवान्तरकालीन प्रतिसंस्कार मे ही निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

(ग) स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि, रघुनन्दन का स्मृतितत्त्व आदि निबन्धो मे तत्तत् लेखको ने ब्र० वै० से विपुल वचनो को उद्धृत किया है। वचनों की संख्या १५०० पंक्तियो के आसपास है, परन्तु प्रचलित ब्र० वै० मे केवल ३० पंक्तियाँ ही इनमे से प्राप्य हैं—यह स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रचलित ब्र० वै० मूल पुराण नही है।

---

१. मत्स्य के अनुसार 'राजस' पुराण मे ब्रह्मा की ही स्तुति प्राधान्येन निविष्ट रहती है—'राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः' (मत्स्य ५३।२८)। इन्ही दोनो वाक्यो की एकवाक्यता करने पर ब्र० वै० ब्रह्मा का प्रतिपादक पुराण मूलतः प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी होता है कि ब्र० वै० पुराण का दाता ब्रह्मलोक मे पूजित होता है—

पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च।
पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते॥

—(मत्स्य ५३।३५)

स्कन्दपुराण (७।१।२।५३) में भी यही श्लोक उपलब्ध है। फलतः पुराणों की दृष्टि के मूल ब्र० वै० ब्रह्मदेव की स्तुति तथा माहात्म्य का प्रतिपादक पुराण निश्चित होता है। परन्तु प्रचलित ब्र० वै० में यह वैशिष्ट्य उपलब्ध नही होता।

(घ) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह मे देवनागरी में लिखित दो हस्तलेख (सं० ३८२० तथा ३८२१) है जो पुष्पिका में 'आदि ब्रह्मवैवर्त-पुराण' नाम से निर्दिष्ट है। इनकी एक विशिष्टता तो यह है कि ये खण्डो मे विभक्त नही हैं, प्रत्युत समग्र ग्रंथ एक ही सूत्र मे निवद्ध है। दूसरे इनमें श्लोको की संख्याएँ प्रचलित ब्र० वैव० से न्यून है। यह आदि ब्र० वै० प्रचलित एतत्पुराण से निश्चयरूपेण प्राचीनतर है तथा उस नारदीयपुराण के अनुक्रमणी-प्रतिपादक अंश से भी प्राचोन है, क्योकि नारदीय चार खण्डो में विभक्त प्रचलित ब्र० वै० से ही परिचय रखता है। नारदीय के अनुसार यहाँ श्लोकों की संख्या १८ सहस्र होनी चाहिए, जब आज इसमे २२ हजार (वंगवासी सं०) तथा २५ हजार (वेंकटेश्वर सं०) उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि नारदीय की अनुक्रमणी-रचना के अनन्तर भी इसमे तीन हजार से लेकर पाँच हजार तक श्लोक जोड़े गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि चार खण्डो मे विभक्त प्रचलित ब्र० वै० मूल प्राचीन पुराण नही हे, प्रत्युत अवान्तर विषयो तथा श्लोकों से समन्वित मध्ययुगीय पुराण है। ब्रह्मा की महिमा प्रतिपादक मूल ब्र० वै० का यह प्रतिसंस्कृत वैष्णव रूप हे जहाँ कृष्ण की अपेक्षा राधा की ही महिमा सर्वातिशायिनी है।

इस पुराण के उद्गमस्थल का निर्देश ग्रंथ की अन्तरंग परीक्षा से किया जा सकता है। यह पुराण वंगाल के रीति-रस्मो, विश्वासो तथा आचार-व्यवहारो से विशेष रूपेण परिचय रखता है तथा उनका वर्णन करता है। ब्रह्मखण्ड के दशम अध्याय मे संकर जातियो को उत्पत्ति का विशिष्ट प्रसंग आता है। यहाँ म्लेच्छ जाति का निर्देश है (१०।१२०) जो मुसलमानो को ही निर्देश करता है। उसके अनन्तर यह श्लोक भो अपने उद्गम प्रदेश की स्पष्ट सूचना देता है—

म्लेच्छात् कुविन्दकन्याया जोला जातिर्बभूव ह। (१०।१२१)

जोला ('जुलाहा' शब्द का वंगीय रूप) म्लेच्छ (अर्थात् मुसलमान) से कुविन्द (बुनकार) की कन्या मे उत्पन्न हुआ अर्थात् वह मुसलमान ही जाता है। यह वङ्गाल की स्पष्ट मान्यता तथा दृढ विश्वास है। अश्विनीकुमार के वीर्य से विप्रकन्या मे 'वैद्य' की उत्पत्ति होती है। (१०।१२३)—यह भी वंगाल की ही मान्यता है जहाँ वैद्य जाति इसीलिए ब्राह्मणो से कुछ न्यून सामाजिक प्रतिष्ठा मे मानी जाती है। इतना ही नहीं, वंगाल के लोकप्रचलित देवी-देवता की यहाँ पूजा-अर्चा का विशेष विधान है। ऐसी देवियो मे षष्ठी, मंगलचण्डी तथा मनसा देवी का विशिष्ट स्थान है। षष्ठी देवी की उत्पत्ति प्रकृति-खण्ड के ४३ अध्याय में, मंगलचण्डी की ४४ अ० मे तथा मनसा (= नाग

पुराण योगभाष्य से भले प्रकार से परिचय रखता है। लिङ्गपुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(१२) वराहपुराण

यह समग्रतया वैष्णव पुराण है। इसमें २१७ अध्याय और ९,६५४ श्लोक हैं, यद्यपि कतिपय अध्यायों में पूरा गद्य (८१–८३ अ०, ८६–८७ अ० तथा ७४ अ०) ही है। कतिपय अध्यायों में गद्य पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है जैसे व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिमा तथा तत्पूजा, आशौच, श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बड़ी संख्या में श्लोकों को उद्धृत किया है। १५० श्लोक व्रत के विषय में तथा ४० श्लोक श्राद्ध के विषय में उद्धृत हैं। ब्रह्मपुराण (२२०।४४–४७) ने 'वाराहवचन' कहकर इस पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। वराहपुराण से भविष्य-पुराण निश्चय रूप से प्राचीन है, क्योंकि वराह (१७७ अ० ३४ श्लोक तथा ५१ श्लोक) ने भविष्य में दो वचनों को उद्धृत किया है जिसमें दूसरा संकेत बड़ा महत्त्व रखता है—

> भविष्यत्-पुराणमिति ख्यातं कृत्वा पुनर्नवम्।
> साम्बः सूर्य-प्रतिष्ठां च कारयमास तत्त्ववित्॥

जिसमें साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराहपुराण में तीन विशिष्ट स्थानों पर सूर्य मन्दिर की स्थिति निर्दिष्ट है—यमुना के दक्षिण में, बीच में कालप्रिय में (कालपी, उत्तरप्रदेश में कानपुर के पास) तथा पश्चिम में मूलस्थान (मुल्तान) में। भविष्य में भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। वराह-पुराण में नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है जिसका वर्णन पूर्व ही किया गया है (द्रष्टव्य पृष्ठ १५४)।

वराहपुराण वैष्णवता से आमूल आलुप्त है—इसका परिचय रामानुजीय श्रीवैष्णवमत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है। नारायण की आदिदेव रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञान-कर्म का समुच्चय, सृष्टिप्रकार, भुवनकोश का प्रकार, श्राद्धानुष्ठान-प्रक्रिया, श्राद्ध-वर्ज्य पदार्थ, प्रति द्वादशी को विष्णुपूजन की प्रक्रिया, नाना धातुओं से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा उनके प्रतिष्ठापन-आराधन के प्रकार, पाञ्चरात्र का प्रामाण्य—वराहपुराण में वर्णित ये समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये हैं। दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आदर्शजनक है।[१]

---

१. इस समता के लिए द्रष्टव्य 'श्रीवराहपुराणं श्रीरामानुजसम्प्रदायश्च' शीर्षक सुचिन्तित संस्कृत लेख—पुराणम्, चतुर्थ वर्ष (१९६२), पृष्ठ ३६०–३८३।

इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

(१३) स्कन्दपुराण

यह पुराणो में सबसे बृहत्काय पुराण है। श्लोको की संख्या ८१ हजार मानी गयी है। दो प्रकार के संस्करण है—खण्डात्मक तथा संहितात्मक, जिनका उल्लेख पूर्व किया गया है। यद्यपि यह पुराण 'स्कन्द' नाम से प्रख्यात है, परंतु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नही मिलता। पद्मपुराण ५।५९।२ मे स्कन्दपुराण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के प्रथम खण्ड मे किरात के श्लोक की छाया मिलती है (सहसा विदधीत न क्रियाम् श्लोक की)। काशीखण्ड के २४ अ० से बाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बड़ी सुन्दर परिसंख्या तथा श्लेष दिये गये है। दो-तीन उदाहरण ही पर्याप्त होगे—

> विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्।
> नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः॥ ९॥
> बाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा।
> स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने॥ १९॥
> यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः।
> प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः॥ २०॥

भौगोलिक क्षेत्रो का विस्तृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डो का वैशिष्ट्य हे। इसके चतुर्थ खण्ड—काशीखण्ड—में काशीस्थ शिवलिङ्गो का दिशाओ के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिङ्गो की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्तीखण्ड में नर्मदा नदी के तीरस्थ तीर्थो का एक विराट् विवरण धार्मिक और भौगोलिक उभय प्रकार का महत्व रखता हे। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में सत्यनारायण की प्रख्यात कथा है जिसके स्वरूप का विवेचन ऊपर किया गया हे।

प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में स्कन्द के वचन उद्धृत मिलते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० स्मृति २।२९०) ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण को उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु ने इस पुराण के बहुसंख्यक वचन उद्धृत किये है। काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरु ने व्रत के विषय में तो केवल १५ श्लोक उद्धृत किये हैं, परन्तु तीर्थ के विषय में ९२, दान के विषय में ४४, नियत काल के विषय में ६३, राजधर्म के बारे मे १८ श्लोक उद्धृत किये हैं। दानसागर ने दान के विषय में ४८ श्लोक दिये है। स्कन्द के विशाल रूप पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रीय निबन्धो मे इससे उद्धरण परिमाण मे

कम ही है। इस पुराण मे वेद सम्बन्धी सामग्री[1] पर्याप्तरूपेण विस्तृत है जो इसके रचयिता के अलौकिक वैदिक वैदुष्य का संकेत करती है।

यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमे प्रक्षिप्त अंशों को जोड़ने के लिए पर्याप्त अवसर है। अतः समय का यथार्थ निरूपण असम्भव ही है। डा० हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी मे इस पुराण का एक हस्तलेख मिला है जिसका लेखन सप्तम शती की शैली मे किया गया है।[2] सब प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम शती के पूर्वकालीन और नवम शती से उत्तरकालीन नही हो सकती। दोनो के बीच मे सम्भवतः यह प्रणीत हुआ।

(१४) वामनपुराण

यह स्वल्पाकारवाले पुराणो मे अन्यतम है। इसमें ९५ अध्याय है। इसने अपने १२वें अध्याय में भिन्न पदार्थो मे श्रेष्ठ वस्तुओं की जो वर्णना की है उससे इस पुराण के उदय-स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरुक्षेत्र मण्डल मे उत्पन्न हुआ था—ऐसा मानना सर्वथा उचित है, क्योकि क्षेत्रो तथा तीर्थो मे यह क्रमशः कुरुजाङ्गल तथा पृथूदक को सर्वश्रेष्ठ मानता है और दोनों वस्तुएँ कुरुक्षेत्र मे विद्यमान है—

क्षेत्रेषु यद्वत् कुरुजाङ्गलं वरं।
तीर्थेषु तद्वत् प्रवरं पृथूदकम् ॥

—१२।४५

वामन अवतार का प्रतिपादक होने के कारण यह मूल रूप मे वैष्णवपुराण है; परन्तु किसी समय में यह शैव रूप में परिणत कर दिया गया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलतः शिव-पार्वती का चरित्र यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित है। पार्वती की घोर तपश्चर्या, बटुरूपधारी शिव से वार्तालाप, शिव से विवाह आदि विषय यहाँ अलंकृत शैली में वर्णित है। वामन अपने वर्णनो में आलंकारिक चमत्कृति से मण्डित है और इसके ऊपर कालिदास का, विशेषतः विषयसाम्य के कारण कुमारसम्भव का प्रभाव विशद रूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रंजन करता है। कालिदास के राजा प्रकृति-

---

१. इसके संक्षिप्त प्रतिपादन के निमित्त द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य : इतिहास-पुराण का अनुशीलन (पृष्ठ २३८–२४६)।

२. Catalogue of Nepal Palm-leaf Mss, पृष्ठ ५२।

रञ्जनात्' का ही भाव रखना है।[1] उमा का नामकरण इसलिए हुआ कि उनकी माता ने उन्हे तपस्या करने से निषेध किया (उ + मा)—यह भी कालिदास की प्रख्यात उक्ति का संकेत है।[2]

कालिदास के कुमारसम्भव का वामनपुराण के ऊपर प्रभाव बड़ा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा वटु का संवाद वामनपुराण मे कुमार-सम्भव में उपस्थित संवाद से अक्षरशः मेल खाता है—अर्थ में ही नहीं, प्रत्युत शब्द मे भी। अनेकत्र छन्द भी समान ही प्रयुक्त है।[3] एक-दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे—

वामन	कुमारसम्भव
कथं करः पल्लवकोमलस्ते समेष्यते शार्वकरं ससर्पम् ॥ —५१।६३	अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः। करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत् प्रथमावलम्बनम्॥ —५।६६
पुरन्ध्र्यो हि पुरन्ध्रीणा गतिं धर्मस्य वै विदुः ॥ —५२।१३	प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता॥ —६।३२
जामित्रगुणसंयुक्तां तिथिं पुण्यां सुमङ्गलाम् ॥ —५२।६०	तिथौ तु जमित्रगुणान्वितायाम् ॥ —७।१

१. ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्या रञ्जनादभूत्। —वामन ४७।२४
तुलना कीजिए—

राजा प्रकृतिरञ्जनात्। —रघु० ४।१२;
राजा प्रजारञ्जन-लब्ध-वर्णः
परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥
—रघु० ६।२१

२. तपसो वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा। — वामन ४७।२४
तुलना कीजिए—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥
—कुमार० १।२६

३. विशेष साम्य के दृष्टान्तों के लिए द्रष्टव्य।
पुराणम् (रामनगर दुर्ग, वाराणसी)
वर्ष ४, पृष्ठ १८९–१९२

शैव होने पर भी वैष्णव मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या संघर्ष की भावना नही है। वर्णन सर्वत्र उदार, व्यापक तथा मौलिक है। कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है, अर्थात् ६०० ई०—९०० ई० के बीच वामनपुराण का आविर्भाव मानना उचित है।

वामनपुराण के अध्यायो के विषय मे हस्तलेखों का साक्ष्य बड़ी विभिन्नता प्रस्तुत करता है। नारदपुराण मे वर्णित विषयानुक्रमणी के आधार पर वामन के दो खण्ड बतलाये गये है—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। वेंकटेश्वर से प्रकाशित सं० मे पूर्वार्ध का विषय तो यथार्थतः मिल जाता है, परन्तु उसमे उत्तरार्ध का सर्वथा अभाव है। उत्तरार्ध मे माहेश्वरी, भगवती, गौरी तथा गणेश्वरी नामक चार संहिताओ का चार सहस्र श्लोको मे अस्तित्व न तो मुद्रित प्रति मे है और न उसके नाना हस्तलेखो मे ही। मुद्रित प्रति ६ सहस्र श्लोको की है (वास्तव संख्या ५८१५ श्लो०) जो ९५ अध्यायो मे विभक्त है।

काशीराज निधि के निर्देश मे सम्पादित हस्तलेखो का परीक्षण चार प्रकारो का द्योतक है—(१) देवनागरी हस्तलेखों के साक्ष्य पर ८३ तथा ८४ अध्यायो को सम्मिलित करने पर ९४ अ० हैं; (२) तेलुगु हस्तलेखो मे केवल ८९ अ० ही हैं। पाँच अध्याय (जिनमें कतिपय तीर्थ तथा चार विष्णुस्तोत्र हैं) बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं; (३) शारदा हस्तलेख मे ८५ अ० केवल वर्तमान हैं; (४) अडयार तथा शृङ्गेरी के हस्तलेखो मे अध्यायो की संख्या सबसे कम केवल ६७ ही है। इस प्रकार अध्यायो की बड़ी विभिन्नता होने से वामन के मूल रूप का निर्णय करना कठिन है। नारदीय के अनुसार दश सहस्र श्लोको का परिमाण तो कथमपि सम्पन्न नही होता[१] (त्रिविक्रमचरित्राढ्यं दशसाहस्रसंख्यकम्) न मुद्रित प्रति मे, और न हस्तलेखों मे भी।

(१५) कूर्मपुराण

इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध (५३ अध्याय) तथा उत्तरार्ध (४६ अध्याय)। आजकल यह पाशुपत मत का विशेष रूप से वर्णन करता है, परन्तु डा० हाजरा की मान्यता है कि यह प्रथमतः पाञ्चरात्र मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय मे इसका कथन है कि वह एक है (उत्तरार्ध ११।११२।१५), परन्तु उसने अपने को विभक्त किया दो रूपो मे—नारायण और ब्रह्मा रूप मे (१।९।४०) अथवा विष्णु और शिवरूप मे (१।२।९५) अथवा तीन

१. द्रष्टव्य श्री आनन्दस्वरूप गुप्त का लेख On the adhyayas of the Vamana Purana—(Vol V. 1963, pp. 360-366)

रूप में (१।१०।७७) ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप में। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है (पूर्वार्ध १२ अ०)। यह शक्ति चार प्रकार की मानी गयी है—शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही तन्त्रशास्त्र मे 'कला' के नाम से संकेतित की जाती है। इन्ही के कारण परमेश्वर 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है—ठीक पाञ्चरात्रो के समान (पूर्वार्ध १२।१२)। इसी अध्याय मे हिमालय-कृत देवी का सहस्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध मे दो गीताएँ हैं—ईश्वरगीता (अ० १–११) इसमे शैवदर्शन-विषयक तत्त्वो का विवेचन है जिसमे (११ अ० मे) पाशुपतयोग का विशद और महत्त्वपूर्ण विवरण है; व्यासगीता (१२ अ०–३४ अ०) मे वर्णाश्रम के धर्मो का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। भोजन के प्रकार का वर्णन आधुनिकता से सवलित है। कूर्मपुराण की ब्राह्मी संहिता के ही स्वरूप का यह विवेचन है, अन्य संहिताएँ तो आज उपलब्ध नही होती। परन्तु नारदीय पुराण में इन तीनो—भागवती, सौरी और वैष्णवी-संहिताओ के भी विषय का संक्षेप दिया गया है जिससे उनका स्वरूप भली-भाँति समझा जा सकता है।

निवन्धग्रन्थो मे कूर्म के उद्धरण अधिक नही मिलते। पद्मपुराण के पाताल खण्ड मे (१०२।४१–४२) मे कूर्मपुराण का नाम उल्लिखित है तथा एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है—

> कौर्मे समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिदम्।
> इदं पद्यं च शुश्राव पुराणज्ञेन भाषितम्॥
> ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
> कौर्मं पुराणं श्रुत्वैव मुच्यते पातकात्ततः॥

कल्पतरु ने श्राद्ध के विषय मे दो श्लोकों को उद्धृत किया है (पृ० ११९) तथा अपरार्क ने कूर्म के तीन पद्य दिये है और ये तीनो उपवास के विषय मे हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने एक सौ वचन कूर्म से उद्धृत किये है जिनमे से लगभग ६४ श्लोक आह्निक के विषय मे है।

पाशुपत मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ-सप्तम शती की रचना है जब पाशुपत मत का उत्तर भारत मे, विशेषतः राजपूताना और मथुरा मण्डल मे, प्राधान्य था।

(१६) मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण पुराण-साहित्य मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है प्राचीनता की दृष्टि से तथा वर्ण्यविषय की व्यापकता की दृष्टि से, इसीलिए वामन-

पुराण मत्स्य को पुराणो मे सर्वश्रेष्ठ अंगीकार करता है (पुराणेषु तथैव मात्स्यम्) । इसके देश तथा काल के निर्णय मे अनेक मत हैं । प्रथमतः मत्स्य के उत्पत्तिस्थल का विचार कीजिए ।

(१) देशविचार

सबसे विचित्र मत है पार्जीटर का जो आन्ध्रप्रदेश को इसका उदयस्थल मानते है । उनकी धारणा है कि मत्स्य मे कलिवंश का वर्णन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के राज्यकाल मे द्वितीय शती के अन्त मे जोड़ा गया । परन्तु ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा इस मत की संपुष्टि नही करती । मत्स्यपुराण के अनुशीलन से नर्मदा नदी की असामान्य प्रतिष्ठा तथा कीर्ति को गाथा अभिव्यक्त होती है :—

(क) प्रलय के समय नाश न होनेवाली वस्तुओ मे नर्मदा नदी यहाँ अन्यतम मानी गयी है—

एक: स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्वपि परन्तप ।
सोमसूर्यावहं ब्रह्मा चतुर्लोकसमन्वित: ॥
नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेयो महानृषि: ।
भवो वेदा: पुराणाश्च विद्याभि: सर्वतो वृतम् ॥

—मत्स्य २।१२-१४ ।

मत्स्य का यह वचन मनु से देवों को दग्ध हो जाने पर बचनेवाले पदार्थों की सूची देता है जिसमे पुण्यनदी नर्मदा का उल्लेख है । सामान्यतः गंगा पुण्यतमा नदी होने से प्रलयकाल मे अपनी स्थिति अक्षुण्ण बनाये रहती है—यह वर्णन आश्चर्य नही पकट करता; परन्तु नर्मदा नदी को प्रलय में लुप्त न होने का सकेत ग्रन्थकार का विशेष पक्षपात इस नदी की ओर प्रकट कर रहा है ।

(ख) नर्मदा का माहात्म्य ९ अध्यायो मे (१८६-१९५ अ०) बड़े विस्तार से दिया गया है । मत्स्यपुराण का लेखक नर्मदा नदी के तीरस्थ छोटे-छोटे स्थानो से भी अपना परिचय अभिव्यक्त करता है जो किसी दूरस्थ तथा उस स्थान से अपरिचित लेखक के लिए नितान्त असम्भव होता । एक पूरे अध्याय (१८८ अ०) मे नर्मदा और कावेरी का संगम वर्णित है । यह कावेरी दक्षिण भारत की वह प्रसिद्ध नदी नहीं है, प्रत्युत मध्यभारत में ओंकारेश्वर के समीप नर्मदा से संगत होनेवाली एक क्षुद्र नदी है । यह संगम गङ्गा-यमुना के समान अत्यन्त पवित्र तथा सद्यः स्वर्गप्रापक बतलाया

गया है ।[१] नर्मदा तटवर्ती छोटे-छोटे स्थानों से भी यह पुराण परिचित है । यथा 'दशाश्वमेध' का उल्लेख (१९२।२१) मिलता है, जो भड़ोच में एक पवित्र घाट है; भारभूति (१९३।१८) एक छोटा तीर्थ है जो नर्मदा के उत्तरी तट पर भड़ोच से आठ मील दूर 'भाड़भूत' के नाम से आज विख्यात है । इसी प्रकार कोटितीर्थ की स्थिति इसी नाम से है । इन छोटे-छोटे तीर्थों का वर्णन ग्रन्थकार के नर्मदा प्रदेश से एकदम गाढ़ तथा घनिष्ठ परिचय का द्योतक है ।

इन प्रमाणो के आधार पर मत्स्यपुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा प्रदेश मानना नितान्त उपयुक्त तथा प्रामाणिक है ।[२]

(२) कालविचार

मत्स्यपुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का बाहुल्य है । इस पुराण ने मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति से भी अनेक श्लोको को आत्मसात् कर लिया है । शिव तथा विष्णु—इन दोनों देवों के बीच मत्स्य संतुलित वर्णन करता है । विष्णु तथा शिव दोनों के अवतारो का वर्णन समान भाव से बहुसंख्यक श्लोको मे करता है । काणे महोदय ने निबन्धो मे उद्धृत मत्स्य के श्लोको का विवरण दिया है (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ५ खण्ड, २ भाग, पृ० ८९९) । मत्स्यपुराण का एक संक्षेप भी स्वल्प मत्स्यपुराण के नाम से विख्यात है जिसका कुछ नमूना 'पुराणम्' मे प्रकाशित (खण्ड ४, १९६२) है । मत्स्यपुराण में प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारो का निर्देश मिलता है जिनके विषय मे हमारी जानकारी बहुत ही कम है ।[३] कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक तथा मत्स्य के उर्वशी उपाख्यान (२४ अध्याय) में आश्चर्यजनक साम्य है । दोनों मे घटनाचक्र की समानता सचमुच आश्चर्यकारिणी है । यह निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अधमर्ण है ? कालिदास मत्स्य का अथवा मत्स्य कालिदास का ? मत्स्य प्राचीन पुराणो में अन्यतम

१. गङ्गायमुनयोर्मध्ये यत् फलं प्राप्नुयान्नरः ।
कावेरीसङ्गमे स्नात्वा तत् फलं तस्य जायते ॥

—१८८।१९

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य S. G. Kantawala : Home of the Matsya Purana in Purana (Vol III. no. I Jan. 1961) pp. 115-119.

३. द्रष्टव्य Dr. Raghawan : Gleanings from the Matsya Purana (Purana, Vol I PP. 80-88)

है। प्रक्षेपविहीन सर्वथा सुरक्षित पुराणो में से मत्स्य का स्थान निःसन्देह उन्नत है—यह लेखक की दृढ मान्यता है। इसका आविर्भावकाल २०० ई० से लेकर ४०० ई० के बीच मानना चाहिए। उक्त अधमर्णता का निर्णय कालिदास के आविर्भावकाल के ऊपर आश्रित है। यदि कालिदास गुप्त युग मे उत्पन्न हुए, तो निश्चित रूप से उन्होने मत्स्यपुराण से अपने उक्त नाटक की कथावस्तु को संगृहीत किया। अतः मत्स्य पु० के वे ही अधमर्ण हैं। वर्तमान लेखक इससे विपरीत मत रखता है।

(१७) गरुडपुराण

गरुडपुराण अग्निपुराण के समान ही समस्त उपादेय विद्याओ का संग्रह प्रस्तुत करता है और इसलिए इसे हम 'पौराणिक विश्वकोश' की संज्ञा से पुकार सकते हैं। इस पुराण के दो खण्ड हैं—(१) पूर्वखण्ड (२२९ अध्याय) तथा (२) उत्तर खण्ड (३५ अ०)। पूरे ग्रन्थ की अध्यायसंख्या २६४ है। उत्तर खण्ड 'प्रेतकल्प' के नाम से प्रख्यात है और मरणोत्तर प्रेत की गति-विधि, कर्मजन्य स्थानप्राप्ति आदि यावत् प्रेतसम्बन्धी विषयों का यहाँ संकलन है। पूर्वखण्ड मे नाना विद्यासम्बन्धी विवरण कही संक्षेप में और कही विस्तार मे दिये गये है। अपने स्वरूप के अनुसार यह पुराण महाभारत, रामायण तथा हरिवंश आदि मान्य ग्रन्थो का सार प्रस्तुत करता है।

धर्मशास्त्रीय विषयो का यहाँ विवरण यथेच्छ मात्रा मे है। यहाँ वर्णधर्म का विवरण (९३ अ०–१०६ अ० पर्यन्त) याज्ञवल्क्यस्मृति पर आधृत है। इसमें याज्ञ० के राजधर्म और व्यवहार प्रकरण संकलित नही हैं। स्मृति के अनेक वचन ईषत् पाठान्तर के साथ यहाँ संकलित किये गये हैं। कलियुग मे विशेष उपादेय (कलौ पाराशरस्मृतिः) पराशर स्मृति का भी सार १०७ अ० में दिया गया है केवल ३८१ श्लोको मे। नारदपुराण की सूची मे यह अंश कथित नही हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि यह अंश पीछे जोड़ा गया है। गरुडपुराण (१४६ अ०–१६७ अ०) ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार आदि रोगो के निदान का वर्णन करता है तथा १६८ अ०–१७२ अ० तक चिकित्सा का भी विवरण देता है।

विचारणीय है कि गरुड किस आयुर्वेद ग्रन्थ का सारसंकलन कर रहा है? वाग्भट की 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' से ही गरुडपुराण ने पूर्वोक्त अध्यायो की सामग्री संकलित की है। दोनो मे इतनी अधिक अक्षरशः समता है कि गरुड की अधमर्णता के विषय में सन्देह नही किया जा सकता। गरुड ने इतना ही

किया है कि कहीं मूल ग्रंथ के एक अध्याय को दो-तीन अध्यायों में विभक्त कर दिया है। उदाहरणार्थ—

गरुड—परिच्छेद		वाग्भट
१५२ } १५३ }	=	अध्याय ३
१५४ } १५५ }	=	,, ४
१५६ } १५७ } १५८ }	=	,, ५
१५६	=	,, ६

तिब्बती मे 'अष्टाङ्गहृदय-संहिता' का अनुवाद मिलता है जिससे वाग्भट द्वितीय का समय अष्टम तथा नवम शती के मध्य मे माना जाता है। इसका अनुसरण करनेवाले गरुडपुराण का भी यही समय होना चाहिए। अतः यह नवम शती से पूर्वकालीन नही हो सकता। गरुडपुराण का उल्लेख 'तार्क्ष्य-पुराण' के नाम से वल्लालसेन ने 'दानसागर' मे किया है। अलवरूनी ने इसका नामोल्लेख किया है तथा भोजराज ने अपने 'युक्तिकल्पतरु' मे गरुड० से श्लोक उद्धृत किये हैं। फलतः यह पुराण १००० ईस्वी के उत्तरकालीन नही हो सकता। अष्टम-नवम शती में गरुड का निर्माण मानना अप्रासङ्गिक नही होगा[१]।

गरुडपुराण मे १०८ अ० से लेकर ११५ अ० तक सामान्य व्यावहारिक नीति और विशिष्ट राजनीति के विषय में श्लोक संगृहीत किये गये हैं। यह अंश कही 'नीतिसार' के नाम से और कहीं 'बृहस्पति' संहिता के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस अंश के मूल का अन्वेषण डा० लुड्विक स्टर्नबाख नामक अमेरिकन विद्वान् ने बड़े परिश्रम और अनुसन्धान से किया है। उनके अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि यह बृहस्पतिसंहिता 'चाणक्य राजनीति-शास्त्र' नामक ग्रन्थ मे समुल्लिखित चाणक्य नीतिवाक्यो के साथ एकाकार है। संहिता के श्लोको की संख्या ३९० है। इनमें से ३३४ श्लोक चाणक्य राजनीति-शास्त्र के श्लोको के साथ समता रखते हैं; ११ श्लोक चाणक्य के द्वारा

१. द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जिल्द ६, १९३०, पृ० ५५३-५६०।

प्रणीत अन्य ग्रन्थों मे मिलते है और ५ श्लोक अन्य संस्कृत ग्रन्थो में उपलब्ध हैं। इस प्रकार 'बृहस्पतिसंहिता' के केवल ३९ श्लोक ही ऐसे हैं जिन्हे हम गरुडपुराणकार की निजी रचना मान सकते हैं। एक बात और भी ध्यातव्य है। इनमे से ३१ श्लोक ऐसे भी है जो चाणक्य के ग्रन्थो मे तथा इतर पुराणों मे भी उपलब्ध होते है। 'चाणक्य राजनीतिशास्त्र' चन्द्रगुप्त मौर्य के विश्रुत मन्त्री चाणक्य की ही निःसन्दिग्ध रचना है—यह कथन विश्वास-योग्य नही है। तथ्य यह है कि इधर-उधर विकीर्ण नीतिविषयक श्लोक राजनीति मे अलौकिक पाटव के कारण सम्मान्य चाणक्य की रचना के रूप मे कल्पित कर लिये गये है और ऐसे ही श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है चाणक्य-राजनीतिशास्त्र।

हम निश्चितरूपेण जानते हैं कि यह चाणक्य-राजनीतिशास्त्र तिब्बती तंजूर मे तिब्बती भिक्खु 'रिन-चेन-जोन-पो' के द्वारा अनूदित कर संगृहीत किया गया है। इस भिक्खु का जन्म ९५५ ई० में हुआ था जिससे इस तथ्य पर हम पहुँच सकते हैं कि कम से कम दशम शती मे यह ग्रन्थ संगृहीत हुआ था। उस युग मे यह नितान्त प्रख्यात था तथा समादृत था। इसीलिए 'गरुडपुराण' मे इसे संगृहीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। चाणक्य के नाम से प्रख्यात अनेक नीतिवाक्य केवल पुराणो मे ही उपलब्ध नही होते, प्रत्युत बृहत्तर भारत के साहित्य मे भी—जावा, बरमा, तिब्बत, सिंहल आदि देशों के पाली साहित्य में भी—यह सुरक्षित मिलता है। यह चाणक्यनीति की व्यावहारिकता, अनुभवप्रवणता तथा सार्वभौम प्रभाव का विस्पष्ट निदर्शन है। फलतः गरुडपुराड की इस 'बृहस्पतिसंहिता' की रचना नवम शती से भी प्राचीन माननी चाहिए। तिब्बत मे जाने तथा वहाँ अनूदित किये जाने के लिए यदि एक शताब्दी का समय हम माने तो 'चाणक्य राजनीतिशास्त्र' का संकलन-काल अष्टम शती मे माना जा सकता है और गरुडपुराण मे उसका संग्रह उस युग से थोड़ा हटकर होना चाहिए—नवम शती के आसपास[1]। डा० हाजरा ने गरुडपुराण के उद्भव स्थान को मिथिला में माना है[2]।

---

१. डा० स्टेर्नबाख ने 'बृहस्पतिसंहिता' के समस्त श्लोको की तारतम्य परीक्षा 'चाणक्यराजनीतिशास्त्र' की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियो के पद्यों के साथ बड़े परिश्रम से की है। इसके लिए द्रष्टव्य उक्त लेखक का एतद्विषयक निबन्ध 'Canakya's Aphorisms in Puranas'....पुराणम् (खण्ड ६; स०१, जनवरी, १९६४), पृष्ठ ११३–१४६।

२. पुराण (चतुर्थ खण्ड), पृ० ३५४–३५५।

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

पुराणों में यही अन्तिम पुराण है। वायु के समान इसके चार विभाग है जो तत्समान ही नाम धारण करते हैं। इनमे सबसे बड़ा भाग है तृतीय पाद जिसके आरम्भ मे श्राद्ध का विषय बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप मे, मुख्य तथा अवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है (९–२० अ० तथा ८७६ श्लोकों में)। इसके अनन्तर परशुराम की कथा भी बड़े वैशद्य के साथ यहाँ प्रतिपादित है (२१–४७ अ० तथा १५५० श्लोको मे)। पुराणकार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के संघर्ष को बड़ा महत्त्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ़ हजार श्लोको का उपयोग किया है। तदनन्तर राजा सगर की तथा राजा भगीरथ द्वारा गंगा के आनयन की कथा दी गयी है (४८–५७ अ०)। सूर्य तथा चन्द्रवंश के राजाओ का विवरण ५९ अ० मे दिया गया है। निबन्ध-ग्रंथो मे ब्रह्माण्ड के श्लोक मिलते है। मिताक्षरा मे केवल एक श्लोक मिलता है, अपरार्क मे ७५ (जिनमे से ४६ श्राद्ध के विषय मे हैं), स्मृतिचन्द्रिका मे ५०, परन्तु कल्पतरु में इनकी अपेक्षा कम श्लोक ही उद्धृत हैं—१६ श्राद्ध के विषय में और १६ मोक्ष के विषय मे। यह पुराण शब्दो की निरुक्तियाँ देने मे बड़ी अभिरुचि रखता है। एक-दो निरुक्तियाँ यहाँ नीचे दी जाती हैं—

देश—[१]सह्य पर्वत के उत्तर मे प्रवाहित होनेवाली गोदावरी नदीवाला प्रदेश भारतवर्ष मे समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है जिससे अनुमान होता है कि ब्रह्माण्ड के निर्माण का यही विशिष्ट देश था।

ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढङ्ग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष के पश्चिमी तटवर्ती सह्याद्रि प्रदेश से है। परशुरामजी प्रथमतः महेन्द्र पर्वत (गंजम जिले मे पूरवी घाट की आरम्भिक पहाड़ी) पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान मे दे डालने पर उन्हे अपने लिए भूमि खोजने की जरूरत पड़ी। उन्होने समुद्र से वह भूमि माँगी जो सह्याद्रि तथा अरबसागर के मध्य मे सँकरी जमीन है।

---

१. सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः॥
तत्र गोवर्धनं नाम पुरं रामेण निर्मितम्।

—ब्रह्माण्ड २।१६।४३–४४

गोवर्धन के लिए द्रष्टव्य काणे : हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ४, पृ० ७१०, टि० १६१८।

वही कोकण है जो चित्पावन ब्राह्मणों का मूल स्थल है। इस प्रकार परशुराम से विशेषभावेन सम्बद्ध होने से ब्रह्माण्ड पुराण का उदयस्थल सह्याद्रि तथा गोदावरी प्रदेश मे होना सर्वथा सुसंगत है।

काल—वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनो के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डा० किरफैल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका मे इन दोनों पुराणो के साम्य रखनेवाले अध्यायों का विशेप रूप से विश्लेपण किया है। इन दोनो पुराणो के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आसपास माना गया है। अर्थात् अनुमानतः ४०० ईस्वी के आसपास ब्रह्माण्ड ने अपना यह विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। प्रचलित पुराण का समय अन्तरंग परीक्षण के आधार पर निश्चित किया गया है। परशुराम का चरित्र यहाँ २८ अध्यायो मे बड़े मनोरंजक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है जिसकी तुलना महाभारत में निर्दिष्ट तच्चरित से की जा सकती हैं। वह परिबृंहण निश्चित रूप से महाभारत (३०० ईस्वी के आसपास) से उत्तरकालीन है। ब्रह्माण्ड राजनीति सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का विशेप प्रयोग करता है जिसमे 'महाराजाधिराज' पदवी महत्त्व की है। पर्वतों मे सर्वश्रेष्ठ हिमालय की उपमा 'महाराजाधिराज' के साथ दी गयी है (दृष्ट्वा जनैरासाद्यो महाराजाधिराजवत्।—ब्रह्माण्ड ३।२२।२८)। इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप मे गुप्त नरेशो ने किया जिनके करद राजा सामन्त नाम से गुप्तो के अभिलेखो मे व्यवहृत है। यह पुराण कान्यकुब्ज के भूप का निर्देश करता है (३।४१।३२) जो निश्चय रूप से गुप्त नरेशो के उत्तरकालीन मौखरि राजा का सूचक माना जा सकता है। कालिदास के काव्यो का तथा उनकी वैदर्भी रीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनो पर है। इन सब उपकरणो का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोत्तर युग मे अर्थात् ६०० ईस्वी मे मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नही है। ६०० ई०—९०० ई० तक तीन शताब्दियो मे इसके प्रतिसंस्कार का समय न्यायतः माना जा सकता है[१]।

भागवत की टीकाएँ

टीकासंपत्ति की दृष्टि से भी भागवत पुराण-साहित्य मे अग्रगण्य है। भागवत इतना सारगर्भित तथा प्रमेय-बहुल है कि व्याख्यानो के प्रसाद से ही

---

१. द्रष्टव्य Date of the Brahmanda Purana by S. N. Roy (Purana, Vol V no 2, July 1963) pp. —305–319

उसके गम्भीर अर्थ में मनुष्य प्रवेश पा सकता है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' कोई निराधार आभाणक नहीं है। समस्त वेद का सारभूत, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता-रूप अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है और यह उसी में प्रतिष्ठित है। कैवल्य-मुक्ति ही इसके निर्माण का एकमात्र प्रयोजन है। इसी के गम्भीर अर्थ को सुबोध बनाने के निमित्त अत्यन्त प्राचीन काल से इससे ऊपर टीकाग्रन्थों की रचना होती चली आ रही है। इनमेसे मुख्य टीकाओं का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने मत के अनुकूल इसपर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं और अपने मत को भागवतमूलक दिखलाने का उद्योग किया है।

(१) श्रीधरस्वामी—भावार्थदीपिका

श्रीधर स्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओ मे सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन प्रतीत होती है। टीका के मंगल श्लोक से जान पड़ता है कि ये नृसिंह भगवान् के उपासक थे। इनकी टीका के विषय मे यह प्रसिद्ध है—

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह-प्रसादतः॥

भागवत का मर्म व्यासजी तथा उनके पुत्र शुकदेवजी जानते है। राजा परीक्षित के ज्ञान मे सन्देह है कि वे जानते है कि नही। परन्तु ऐसे गम्भीर अर्थं को भी श्रीधर स्वामी भगवान् नृसिंह की कृपा से भली भाँति जानते हैं। चैतन्य को श्रीधर टीका मे इतनी आस्था थी कि वे कहा करते थे कि जिस प्रकार स्वामी की प्रतिकूला भार्या पतिव्रता नही हो सकती, उसी प्रकार स्वामी का प्रतिकूल व्यक्ति भागवत का मर्म समझ ही नही सकता। श्रीधर शंकराचार्य के अद्वैतानुयायी हैं, परन्तु भिन्न मत होने पर भी चैतन्य सम्प्रदाय का आदर इसके महत्त्व तथा प्रामाण्य का पर्याप्त परिचायक है। इसीलिए यह टीका सर्वापेक्षा अधिक लोकप्रिय है। इस टीका की उत्कृष्टता के विषय में नाभादासजी ने अपने भक्तमाल मे एक प्राचीन आख्यान का निर्देश किया है। श्रीधर के गुरु का नाम परमानन्द था जिनकी आज्ञा से काशी मे रहकर ही इन्होंने भागवत की टीका लिखी। टीका की परीक्षा के निमित्त यह ग्रन्थ विन्दुमाधवजी की मूर्ति के सामने रख दिया गया। एक प्रहर के बाद पट खोलने पर लोगों ने आश्चर्यभरे लोचनो से देखा कि माधवजी ने इस व्याख्या-ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों के ऊपर रखकर उत्कृष्टतासूचक अपनी मुहर लगा दी थी। तब से इसकी ख्याति समस्त भारतवर्ष मे हो गयी। नाभादासजी के शब्दों मे—

तीन काण्ड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।

'परमहंससंहिता' विदित टीका विसतारयौ।
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध वेद-सम्मतहिं विचारयौ।
'परमानंद' प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियौ।
श्रीधर श्री भागौत मै परम धरम निरनै कियौ॥
—(छप्पय ४४०)

श्रीधर ने इस ग्रन्थ मे वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य चित्सुखाचार्य की टीका का निर्देश किया है। राधारमणदास गोस्वामी ने दीपनी नामक व्याख्या श्रीधरी पर लिखकर उसे सुबोध बनाया है।

श्रीधर स्वामी के समय का यथार्थ निरूपण भागवत के टीकाकारो के पौर्वापर्य जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(क) श्रीधर ने चित्सुखाचार्य के द्वारा विरचित भागवतव्याख्या का अनुसरण अपनी टीका में किया है। चित्सुख का समय १२२० ई०–१२८४ ई० के बीच स्वीकृत किया जाता है। फलतः १२०० ई० इनके काल की पूर्व अवधि मानी जा सकती है।

(ख) श्रीधर ने वोपदेव का संकेत तथा उल्लेख अपनी भागवत टीका मे किया है और इनके भागवतप्रणेतृत्व का खण्डन भी किया है। फलतः ये १३०० ई० से पूर्ववर्ती नही हो सकते।

(ग) श्रीधर के कतिपय पद्यो को नामनिर्देशपुरःसर श्रीरूपगोस्वामी ने अपने सूक्तिसंग्रह 'पद्यावली' मे उद्धृत किया है। फलतः श्रीधर १६वी शती से पूर्ववर्ती है।

(घ) श्रीधर ने विष्णुपुराण पर जो 'स्वप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है, उसके उपलब्ध हस्तलेखों मे प्राचीनतम हस्तलेख का समय १५११ ईस्वी है। फलतः १५०० ई० श्रीधर के समय की उत्तर अवधि है।

(ङ) विष्णुपुरी ने अपनी 'भक्तिरत्नावली' की स्वरचित व्याख्या 'कान्तिमाला' मे श्रीधरस्वामी के भागवततात्पर्य को पूर्णतया स्वीकृत किया है। इसका उल्लेख ग्रन्थ के अन्त मे उन्होने स्वयं किया है।[1] इस ग्रन्थ का प्रणयन काल १५५५ शक सवत् (= १६३३ ई०) है[2]। फलतः श्रीधर का समय १६०० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

---

१. अत्र श्रीधरसत्तमोक्तिलिखने न्यूनाधिकं यत्त्वभूत्।
तत् क्षन्तुं सुधियोऽर्हत स्वरचनालुब्धस्य मे चापलम्॥
—भक्तिरत्नावली १३।१४

२. ग्रंथ के अन्त में (१३।१६) यह तिथि दी गयी है—
महायज्ञ-शर-प्राण-शशाङ्कगणिते शके।
फाल्गुने शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां सुमंगले॥

इस प्रकार श्रीधर स्वामी का समय वोपदेव तथा विष्णुपुरी के बीच में कहीं होना चाहिये। पूर्वोक्त निःसंदिग्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर इनका आविर्भाव काल १३००–१३५० ई० अर्थात् १४वीं शती का मध्यभाग मानना सर्वथा उचित है।

विशिष्टाद्वैत-टीकाएँ

(२) सुदर्शन सूरि–शुकपक्षीया

श्रीरामानुज के श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शन सूरि विशिष्टाद्वैत मत के विशिष्ट आचार्य हैं। इनका समय १४ श० ईस्वी था। सुनते हैं कि दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के सेनापति ने जब १३६७ ई० में श्रीरंगम् पर आक्रमण किया था तब उस युद्ध मे ये मारे गये थे। इनकी टीका परिमाण में स्वल्प होने पर भी भावप्रकाशन में गम्भीर है।

(३) वीरराघव–भागवत-चंद्रिका

वीरराघव की यह टीका पूर्व टीका की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। ये सुदर्शन सूरि के ही अनुयायी है। समय १४ शतक माना जाता है। रामानुज के मतानुसार भागवत के रहस्यों की जानकारी के लिए यह टीका अनुपम है। ये वत्सगोत्री श्रीशैलगुरु के पुत्र थे, इसका उल्लेख इन्होने स्वयं किया है।

द्वैतमत टीका

(४) विजयध्वज–पदरत्नावली

द्वैत मत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य ने भागवत के रहस्यो के उद्‌घाटनार्थ, 'भागवततात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा था, परन्तु यह वस्तुतः व्याख्या नहीं है। इस मत के अनुकूल प्रसिद्ध टीकाकार हैं **विजयध्वज,** जिन्होने अपनी 'पदरत्नावली' मे भागवत की द्वैतपरक व्याख्या लिखी है। अपनी टीका के आरम्भ में इन्होने आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजयतीर्थ के ग्रन्थ के आधार पर अपने टीकानिर्माण की बात लिखी है[१]। आनंदतीर्थ का तो पूर्वोक्त ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, परन्तु विजयतीर्थ के भागवत-विषयक ग्रन्थ का पता नहीं चलता। पदरत्नावली सुबोध तथा प्रामाणिक है।

वल्लभमत टीका

(५) वल्लभाचार्य–सुबोधिनी

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत के अनुसार अपनी प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी लिखी है। यह समग्र भागवत के ऊपर उपलब्ध नही होती। आरम्भ के कतिपय

१. आनन्दतीर्थ-विजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करि-वर-वन्द्यौ।
तयोः कृतिं स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतं पुराणम् ॥—टीका का आरंभ

स्कन्धों के अतिरिक्त यह संपूर्ण दशम स्कंध के ऊपर है। सुबोधिनी बड़ी ही गम्भीर तथा विवेचनात्मक व्याख्या है। वल्लभाचार्य ने भागवत के स्कंधो का नयी दृष्टि से विभाग कर उसमे नया अर्थ ढूंढ निकाला है। वे कहते हैं कि भगवान् विष्णु का स्पष्ट आदेश पाकर ही उन्होने इस टीका का निर्माण किया। इनके संप्रदाय मे **गिरिधर** महाराज ने भी भागवत पर टीका लिखी है जिसमे स्कंधो के ही विषय का नही, प्रत्युत उनके अध्यायो के विषय का भी बड़ा ही सूक्ष्म विभाजन प्रस्तुत किया गया है। भागवत के आध्यात्मिक अथ समझने मे इससे वडी सहायता मिलती है। अन्य टीकाएँ भी छोटी-मोटी यहाँ उपलब्ध होती हैं।

निम्बार्क मत टीका

(६) शुकदेवाचार्य—सिद्धांतप्रदीप

आचार्य निम्बार्क की लिखी भागवत की कोई व्याख्या नही मिलती। उनके मतानुयायी शुकदेवाचार्य ने भागवत की यह नयी टीका लिखकर अपने सिद्धान्तो का प्रकाशन किया हे। टीका के आरम्भ मे इन्होने अपने प्राचीन आचार्य श्रीहंस भगवान्, सनत्कुमार, देवर्षि नारद तथा निम्बार्काचार्य को नमस्कार किया है। यह टीका तो पूरी भागवत पर है, परन्तु इस मत के अन्य आचार्यो ने भी दशम स्कध के रासलीला आदि प्रसंगो की वडी सरस व्याख्या प्रस्तुत को है।

चैतन्य संप्रदाय

(७) सनातन गोस्वामी—बृहद् वैष्णवतोषिणी

श्रीचैतन्य श्रीधर स्वामी की टीका को अपने मत के लिए भी प्रामाणिक मानते थे, परन्तु उनके अनुयायी गोस्वामियो ने भागवत पर अनेक टीकाओ का निर्माण किया है जिनमे सनातन गोस्वामी की यह टीका प्राचीनतर तथा अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यह केवल दशम स्कन्ध पर ही है।

(८) जीव गोस्वामी—क्रमसंदर्भ

जीव गोस्वामी की यह टीका समस्त भागवत के ऊपर है। व्याख्यान की दृष्टि से बड़ी ही प्रामाणिक तथा तलस्पर्शिनी हे। जीव गोस्वामी भागवत के अनुपम मार्मिक विद्वान् थे और इस पुराण के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने षट् संदर्भ नामक ६ संदर्भो की पृथक् रचना की है। यह क्रमसंदर्भ एक प्रकार उनका सप्तम संदर्भ है। अपने पितृव्य रूप और सनातन की आज्ञा से निर्मित होने के कारण इन्होने इस ग्रन्थ को 'रूपसनातनानुशासनभारतीगर्भ' कहा है[१]।

---

१. क्रमसदर्भ की पुष्पिका इस प्रकार हे—श्रीरूपसनातनानुशासनभारतीगर्भे सप्तसन्दर्भात्मक-श्रीभागवत-सन्दर्भे प्रथमस्कन्धस्य क्रमसन्दर्भः समाप्तः।

(९) विश्वनाथ चक्रवर्ती—सारार्थदर्शिनी

विश्वनाथ चक्रवर्ती चैतन्य संप्रदाय के मान्य आचार्य थे। उन्होने ही भागवत की यह सुबोध टीका निबद्ध की है जो श्रीधर स्वामी, प्रभुचैतन्य तथा उनके गुरु के व्याख्यानो का सार संकलन करने के कारण 'सारार्थदर्शिनी' नाम से विख्यात है।[1] यह टीका है तो लघ्वक्षर परन्तु श्लोको के मर्म समझने मे नितात कृतकार्य है।

इन टीकाकारो के अतिरिक्त भागवत को अन्य मान्य व्याख्यताओ ने भी अपने व्याख्यान-ग्रन्थों से सज्जित किया है। जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व-संदर्भ' (पृष्ठ ६७) मे हनुमद्भाष्य, वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थदीपिका, परमहंसप्रिया तथा शुकहृदय नामक व्याख्याग्रन्थों का स्पष्ट निर्देश किया है जिनमे भावार्थदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ अप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त श्री गङ्गासहाय विद्यावाचस्पति की 'अन्वितार्थप्रकाशिका,' 'वंशीधरी,' 'चूर्णिका' आदि दूसरी टीकाएँ भी उपलब्ध है।

श्रीहरि—हरिभक्तिरसायन

श्रीहरि एक महनीय कवि तथा भक्त हो गये। ये गोदावरी तट निवासी सदाचारी काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। इस टीका का रचना काल है १७५९ शक है। यह दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध पर ही है और है स्वयं पद्यात्मक टीका है। कुल ४९ अध्याय है और विविध छन्दो मे लगभग ५ हजार श्लोक हैं। श्रीहरि का कहना है कि भगवान् का प्रसाद ग्रहण कर ही वे इस ग्रन्थ की रचना मे प्रवृत्त हुए। यह साक्षात् टीका न होकर प्रभावशाली मौलिक ग्रन्थ है जिनमे भागवती लीला का कोमल पदावली मे ललित विन्यास है। इनकी प्रतिभा के प्रकाशक ये पद्य पर्याप्त[2] होगे :—

---

१ श्रीधरस्वामिनां श्रीमत्प्रभूणा श्रीमुखाद् गुरोः।
व्याख्यासु सरग्रहणादियं सारार्थदर्शिनी।

—टीका की पुष्पिका।

२. पूर्वोक्त टीकाओ मे बृहद् वैष्णवतोषिणी को छोड़कर अन्य आठ टीकाओ का एकत्र प्रकाशन श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृन्दावन से सं० १९५८ मे किया था। भागवत का यह सुन्दर संस्करण अब नितान्त दुर्लभ है। हरिभक्ति-रसायन काशी से कभी निकला था। आज यह भी दुर्लभ है। अन्य टीकाएँ व्यंकटेश्वर प्रेस मे छपी है और प्राप्य है।

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलि-
र्ममाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम् ।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना
क्वचित् कण्ठदघ्ना च सा किं तदासीत् ॥

वालकृष्ण भक्तों के चरणरज को मुख मे डालकर भक्तवत्सलता प्रकट कर रहे है—

मय्येव सर्वार्पितभावना ये
मान्या हि ते मे त्विति किन्तु वाच्यम् ।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्या-
दित्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणुः ॥

(२)

देवी-भागवत की टीका

देवी भागवत के टीकाकार **नीलकण्ठ** अपने को शैव वतलाते हैं। इस टीका के अन्तिम श्लोको मे उन्होंने अपना परिचय सामान्य रूप से दिया है। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है :—

मयूरेश्वर (जिन्होंने शिव की विशेष उपासना के द्वारा अपने कुल के लिए
| 'शैव' उपाधि प्राप्त की)
नीलकण्ठ
|
रङ्गनाथ (स्त्रीनाम-लक्ष्मी; इनकी उपाधि कविराजराजिमुकुट उल्लि-
| खित है)
नीलकण्ठ

नीलकण्ठ ने अपने दो गुरुओ का उल्लेख किया है जिनके नाम **काशीनाथ** तथा **श्रीधर** थे। **रत्नजी** नामक किसी व्यक्ति का भी इन्होने निर्देश किया है जिसकी प्रेरणा से इन्होने देवीभागवत की यह व्याख्या लिखी। ये महाराष्ट्र देश के निवासी थे, क्योंकि अपनी टीका (८ स्क०, २४ अ०; २४–२७ श्लो०) में इन्होने मराठी भाषा के अनेक शब्दों का निर्देश किया है। अपने समय का स्पष्ट निर्देश तो इन्होने नही किया है, परन्तु उल्लिखित ग्रंथ तथा ग्रंथकारो के आधार पर इनके समय का पता मिल जाता है। देवीभागवत मे उल्लिखित है— (१) मन्त्रमहोदधि (महीधर की, र० का० १५८९ ई०), (२) गुप्तवती टीका (भास्करराय की, र० का० १७४१ ई०) तथा नागोजी भट्ट (१७–१८ शती) इन संकेतो के साक्ष्य पर नीलकण्ठ का समय १८ शती के मध्यभाग से पूर्ववर्ती नही माना जा सकता।

ये शैव नीलकण्ठ महाभारत के टीकाकार विश्रुत नीलकण्ठ चतुर्धर से नितान्त भिन्न हैं। दोनों का कुल ही भिन्न न था, प्रत्युत आविर्भाव काल भी पृथक् था। महाभारत के टीकाकार का समय १७ शती का उत्तरार्ध है[१] (१६५० ई०–१७०० ई० के आसपास) और इस शैव नीलकण्ठ का समय इससे लगभग पचास-साठ साल पीछे है। ब्रह्मसूत्रों पर श्रीकण्ठभाष्य के प्रणेता नीलकण्ठ भी शैव मतानुयायी थे, क्योकि उन्होने उस भाष्य में शैव सम्प्रदाय के अनुसार ही भाष्य-रचना की है। फलतः ये **शैव नीलकण्ठ** उनके नामधारी इन दोनो व्यक्तियों से भिन्न पृथक् व्यक्ति है।

देवीभागवत की टीका इनका विशद ग्रंथ है। इसमे इनके अन्य ग्रंथ का संकेत मिलता है :—

(१) सप्तशत्यङ्गषट्क व्याख्यान जिसमे सप्तशती के सहायक अपागभूत षट् ग्रन्थो का व्याख्यान है।

(२) शक्तितत्त्वविमर्शिनी।

(३) केनोपनिषद् की टीका चन्द्रिका नामक।

(४) कामकला-रहस्य की व्याख्या।

(५) देवीगीता की टीका।

(६) देवीभागवत-स्थिति अथवा केवल भागवत-स्थिति जिसके देवीभागवत के प्रामाण्य तथा पुराणत्व का विवेचन किया गया है। नीलकण्ठ ने यहाँ श्रीमद्भागवत की अपेक्षा देवीभागवत को ही भागवत पुराण सिद्ध किया है।

(७) कात्यायनीतन्त्र की 'मन्त्रव्याख्यानप्रकाशिका' नामक टीका।

(८) वृहदारण्यक उप० की टीका।

(९) देवीभागवत टीका (तिलकनाम्नी)। यह ग्रन्थ दो संस्करणों मे प्रकाशित है : बम्बई से १८६७ ई० मे तथा कलकत्ते से तीन खण्डो मे १८८७ ई० मे। यही टीका नीलकण्ठ के प्रौढ पाण्डित्य की द्योतिका व्याख्या है। यही टीका अब तक प्रकाशित है तथा यही उनकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है जिसमे उनके इतर ग्रन्थों का संकेत उपलब्ध होता है।

टीका का महत्त्व—नीलकण्ठ तन्त्रशास्त्र के प्रौढ पण्डित तथा श्रद्धालु अनुयायी है। इस टीका मे उन्होने शक्ति को ब्रह्मरूपिणी सिद्ध किया है। अनेक तान्त्रिक विधिविधानो का भी निर्देश तथा उनके प्रामाण्य पर विचार किया है। विभिन्न तन्त्रो के विशिष्ट मतो का स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है। टीका-

---

१. द्रष्टव्य मेरा इतिहास ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (सप्तम सं०, १९६५; काशी) पृष्ठ ९१।

कार की दृष्टि से नीलकण्ठ मे विवेकशक्ति वर्तमान है। उनका कथन है कि देवी-भागवत के द्राविड तथा गौड सम्प्रदाय से दो पाठ मिलते हैं जिनमें उन्होंने गौड सम्प्रदाय को स्वीकार कर टीका लिखी है। इसीलिए उन्होने तृतीय स्कन्ध के द्वितीय अ० के आदिम १० श्लोकों की व्याख्या नही लिखी है, यद्यपि ये श्लोक द्राविड सम्प्रदाय मे मिलते है। इसी प्रकार वैष्णवतन्त्रस्थ आठ अध्यायों (१२।६-१२।१४) को प्रक्षिप्त मानकर टीका नही लिखी। नीलकण्ठ अपने को देवी-भागवत के प्रथम टीकाकार मानते हैं। इसकी दो टीकाओं का उल्लेख हस्तलेखो में मिलता है, यद्यपि उनके समय का पता नही चलता।[१]

(३)

विष्णुपुराण की टीकाएँ

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत के अनन्तर विष्णुपुराण का ही महत्त्व है। इसकी भी अनेक टीकाएँ उल्लिखित तथा उपलब्ध हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) चित्सुख मुनि की टीका (जिसका निर्देश श्रीधरस्वामी ने अपनी टीका मे किया है)।

(२) जगन्नाथ पाठक—स्वभावार्थदीपिका।

(३) नृसिंहभट्ट कृता व्याख्या।

(४) रत्नगर्भ—वैष्णवाकूतचन्द्रिका (प्रकाशित)।

(५) विष्णुचित्त कृता व्याख्या विष्णुचित्ती (प्र०)।

(६) श्रीधरस्वामी—आत्मप्रकाश या स्वप्रकाश नामक व्याख्यान (प्र०)।

(७) सूर्यंकर मिश्र रचित व्याख्या ? (रत्नगर्भ द्वारा उद्धृत)

इन टीकाओ मे से सबसे अधिक प्रख्यात है (१) श्रीधरस्वामी का व्याख्यान। श्रीधरस्वामी की भागवत टीका का विवरण पहले दिया गया है। उनका समय १३००-१३५० ई० प्रमाणो के आधार पर ऊपर निर्णीत है। श्रीधर के समय विष्णुपुराण की टीकाएँ दोषपूर्ण थी, कुछ तो अत्यन्त संक्षिप्त थी और कुछ अत्यन्त विस्तृत थी। फलतः श्रीधर ने मध्यमार्ग का अनुसरण अपनी व्याख्या मे किया है, जो इसी कारण 'मध्यमा' कही गयी है—

श्रीमद्विष्णुपुराणस्य व्याख्या स्वल्पातिविस्तराम्।
प्राचामालोक्य तद्व्याख्या मध्यमेयं विधीयते॥

—आरम्भ का तृतीय श्लोक।

१. ... भाग० १६ (१९४०)

श्रीधर इस पद्य मे किसी टीका की ओर संकेत कर रहे है, यह कहना कठिन है। चित्सुख योगी की व्याख्या का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है और उसे ही अपनी व्याख्या का मार्गप्रदर्शक भी माना है (आरम्भ का प्रथम श्लोक)। उन्होने अपनी टीका को 'विष्णुपुराणसारविवृति' कहा है जिससे टीका के स्वरूप का पर्याप्त निदर्शन हो जाता है। ये भगवान् नृसिंह के उपासक थे। इनके गुरु का नाम परानन्द या परमानन्द था संश्रितश्रीपरमानन्दनृहरिः श्रीधरो यतिः)। भागवत की श्रीधरी के समान यह टीका भी यहीं काशी मे बिन्दुमाधवजी के मन्दिर के समीप ही कहीं लिखी गयी, इसका संकेत टीका के आरम्भिक पद्य मे उपलब्ध है—

> श्रीबिन्दुमाधवं वन्दे परमानन्दविग्रहम्।
> वाचं विश्वेश्वरं गङ्गां पराशरमुखान् मुनीन्॥

(२) **विष्णुचित्त**—श्री वैष्णवमतानुयायी प्रतीत होते है। इनकी व्याख्या श्रीधरी के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है।

(३) **रत्नगर्भ—वैष्णवाकूतचन्द्रिका**—

इस टीका का प्रकाशन गोपाल नारायण ने मुम्बई से १८२४ शक मे पत्रात्मक रूप मे किया है। ग्रन्थ के अन्त मे दिये गये पद्यो से इनके विषय मे सामान्य बातो का ही पता चलता है। इनके गुरु कोई विद्यावाचस्पति थे जिनके वचनो की दीपावली से सन्देहरूपी अन्धकार के दूर करने की घटना का उल्लेख इन्होने किया है। चन्द्राकर मिश्र के पुत्र रतिनाथ मिश्र किसी राजा के सलाहकार थे (क्षोणीन्द्रमन्त्रकृत्)। इन्ही के पुत्र सूर्यङ्कर मिश्र (जो राजा के मन्त्री थे) की प्रार्थना पर इन्होने इस व्याख्या की रचना की है। यह व्याख्या श्रीधरी से अधिक विस्तृत तथा बह्वर्थप्रकाशिका है। इस टीका का अनुशीलन वैष्णव तत्त्वो का भी निःसन्देह प्रकाशक होगा—ऐसी आशा इस व्याख्या के अभिधान से भी की जा सकती है। डा० आउफ्रेक्ट ने सूर्याकर मिश्र को भी व्याख्याकार माना है, परन्तु तथ्य इससे विपरीत है। सूर्याकर की प्रार्थना पर ही इस व्याख्या का प्रणयन हुआ (सूर्याकरेण नृपमन्त्रिवरेण यत्नात् संप्रार्थितो विहितवानहमस्य टीकाम्)।

द्वादश परिच्छेद

पुराण की भाषा और शैली

(क) पुराणों की भाषा

अपने प्रतिपाद्य विषय का यथार्थ निरूपण शब्द के माध्यम द्वारा करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य होता है। अभीष्ट विषय का प्रतिपादन जिस भाषा मे और जिस शैली मे करने से लेखक के भावों की अभिव्यक्ति होती है वह उसी भाषा और उसी शैली को अपनाता है—अपने विचारो के प्रकटीकरण के निमित्त उसी माध्यम का आश्रयण करता है। यही कारण है कि दर्शन ग्रंथों के सूत्र, भाष्य तथा व्याख्या लिखनेवाले ग्रन्थकारों की भाषा दार्शनिक विषयों के समुचित वर्णन के अनुरूप ही उदात्त तथा शास्त्रीय होती है। कोमल विषयो के विन्यासार्थ कवि की भाषा स्वभावतः रससमन्वित तथा माधुर्यमण्डित होती है। पुराण की भाषा का इसी प्रकार अपना विशिष्ट क्षेत्र है। पुराण शब्दप्रधान वेदो से तथा शब्द-अर्थ को गौण मानकर अभिव्यञ्जन शैली को मुख्यता माननेवाले काव्यो से भिन्न तथा पृथक् होता है। **पुराण अर्थप्रधान होता है** अर्थात् अभीष्ट अथ को प्रकट करने पर ही पुराण का विशेष आग्रह है। इसके निमित्त न वह शब्द का प्राधान्य मानता है, और न रस का; प्रत्युत येन-केन-प्रकारेण अर्थ के प्रकाशन पर ही पुराण का समग्र बल है। वह न तो प्रभुसम्मित वेद के समान होता है, न कान्तासम्मिततयोपदेशभाजन काव्य के ही सदृश होता है, प्रत्युत इन दोनो से विलक्षण वह सुहृत्सम्मित वाक्य होता है। जिस प्रकार कोई सुहृद् अपने मित्र की हितचिन्तना से प्रेरित होकर उसे कथा-कहानियो के द्वारा अपने वक्तव्य को हृदयगम कराता है, इतिहास-पुराण भी उसी ढंग से अपना कार्य करता है। कथन-प्रकार के ऊपर ही आग्रह और आस्था रखनेवाले काव्य से विपरीत, पुराण कथन-विषय के ऊपर ही अपना समग्र आग्रह रखता है।

काव्य और इतिहास का परस्पर भेद बतलाते समय पाश्चात्य आलोचको की बातें यहाँ ध्यातव्य हैं। यूनानी आलोचक अरस्तू का कथन है कि कवि और ऐतिहासिक का पार्थक्य केवल पद्य या गद्य मे लिखने के कारण नही है। मुख्य अन्तर यही है कि इतिहास कहता है कि क्या हुआ? काव्य कहता है कि क्या हो सकता है? काव्य इस प्रकार इतिहास की अपेक्षा विशेषेण तत्त्वप्रधान और

उदात्ततर वस्तु है, क्योकि काव्य प्रकट करता है सार्वभौम और सार्वजनीन को, इतिहास प्रकाश करता है विशेष तथा एककालिक को[1]।

पुराण केवल इतिहास न होकर उससे अधिक वस्तु है। तथापि इतिहास के विषय मे ऊपर जो मत प्रकट किया गया है, वह पुराण के विषय मे भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ समझना चाहिए। इस प्रकार काव्य से पार्थक्य रखने के कारण पुराण की वर्णन शैली और भाषा में काव्यगत शैली और भाषा से विभिन्नता होना स्वाभाविक है।

पुराण का विशिष्ट रूप किसी वस्तु के वर्णनमात्र से सिद्ध होता है। प्राचीन कथानको का वर्णन करना तथा उनके माध्यम से श्रोताओ के चित्त को पापात्मक प्रवृत्तिसे हटाकर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना पुराण का मुख्य तात्पर्य है। पुराण का लक्ष्य जन-साधारण के चित्त का आवर्जन कर धर्म की ओर प्रवृत्त कराना है। पुराण इसीलिए सरल-सुबोध भाषा का प्रयोग अपनाता है। पुराण की संस्कृत भाषा सुबोध, व्यावहारिक, चुस्त तथा अल्पाक्षरो मे स्वतात्पर्य को प्रकट करती है। वह विशेष पल्लवन का आश्रयण नही करती; अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही उसका सब शब्द-व्यापार प्रवृत्त होता है। पुराण के साहित्यिक रूप के वैशिष्ट्य आँकते समय इस मूलभूत तथ्य को भुलाया नही जा सकता कि पुराण अनुरञ्जन के साथ शिक्षण करता है। वह पाप-पुण्य मे विशिष्ट फल को दिखलाकर एक से वर्जन और दूसरे के ग्रहण के लिए उपदेश देता है, परन्तु वेद के समान वह आदेश नही देता।

इसी के अनुरूप उसकी भाषा होती है। पुराणो की भाषा व्यावहारिक होती है। फलतः वह पाणिनीय व्याकरण के बन्धन कोअक्षरशः स्वीकार नही करती। पुराण-भाषा की तुलना उस पुण्यसलिला भागीरथी के साथ की जा सकती है जो अपने मूल प्रवाह पर आग्रह रखती हुई भी इतस्ततः आनेवाली जलधाराओ का तिरस्कार नही करती; प्रत्युत वह उन्हें भी अपने मे सम्मिलित कर गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देती है। पौराणिक देववाणी की भी यही विशिष्टता

---

१. The poet and the historian differ not by writing in verse or prose, true the difference is that one ıelates what has happened, the other what may happen. Poetry is therefore a more philosophical and a higher thing than history, for poetry tends to express the universal, history the particular. —Poetics IX. 2. 3.

है। वह अपने को पाणिनीय व्याकरण की गाढ़ शृङ्खला में बाँधना पसन्द नहीं करती, प्रत्युत कुछ उन्मुक्त होकर तद्‌-भिन्न शब्दों तथा शब्दरूपों को भी ग्रहण करने मे संकोच नहीं करती। इसलिए पुराण की भाषा में अपाणिनीय प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इन्हें आर्ष प्रयोग मानने का टीकाकारों का आग्रह है। महर्षि पाणिनि ने 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० १।१।१६) आदि सूत्रों में 'अनार्ष' शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिए किया है। फलतः 'आर्ष' पद का प्रयोग वेद की भाषा के निमित्त मानना ही पाणिनि की सम्मति प्रतीत होती है। पुराण मे आर्ष प्रयोगो की भी सत्ता है जो वैदिक व्याकरण के सर्वथा अनुकूल है। यथा भागवत मे 'भस्मनि हुतम्' के स्थान पर 'भस्मन् हुतम्' (१।१५।२१), 'प्रतिहर्तुम्' के स्थान पर 'प्रतिहर्तवे' (३।५।४७) तथा धीमहि (१।१।१) और 'अभिधीमहि' (८।३।२) आदि प्रयोग निश्चयरूपेण वैदिक प्रक्रिया से सुसंगत आर्ष प्रयोग हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से प्रयोग पाली तथा प्राकृत से मिलते हैं।

पुराणो मे बहुत से अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जो छन्द के अनुरोध से ही उस रूप मे प्रयुक्त हैं। पाणिनीय व्याकरण-सम्मत प्रयोग किये जाने पर छन्द का सर्वथा भंग तथा परिहार हो जाता है। काव्यशिक्षा का तो कथन है कि 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्ग न कारयेत्'। फलतः इस शिक्षा का पूर्निर्वाह करने के लिए ही पुराणो ने अपने को छन्दोभंग से बचाने के लिए ऐसे पदो का प्रयोग किया है। एक और तथ्य भी ध्यातव्य है। पुराणों की रचना का उद्देश्य ही है जन-सामान्य के हृदय तक धर्मशास्त्रीय विषयों को पहुँचाना। उनके समझने लायक भाषा का ही प्रयोग पुराणों मे न्याय्य है। जन-साधारण की भाषा पिछले युगो मे लोकभाषा—पाली तथा प्राकृत थी। फलतः उस भाषा का प्रभाव पुराणो की भाषा पर पड़ना सुतरा नैसर्गिक है। डा० पार्जीटर ने ऐसे ही प्रयोगो को देख कर कहा है कि पुराण मूलतः प्राकृत मे ही लिखे गये थे जिसका संस्कृतीकरण ब्राह्मणो ने पीछे कर दिया, परन्तु स्थान-स्थान पर मूल प्राकृत रूपो का सर्वथा परिहार नहीं हो सका। इस मत का बहुशः प्रामाणिक खण्डन हो चुका है जिसे यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं।[१]

---

१. पार्जीटर के मत के लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ 'ऐन्शियेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' पृ० ५—१४। इसके खण्डन के निमित्त देखिए जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन; १९१४, पृ० १०२८–३० पर डा० कीथ तथा डा० याकोबी के मत। डा० पुसालकर ने भी इसका खण्डन किया है—'स्टडीज इन दी एपिक्स एण्ड दी पुराणज' पृ० २६–३०।

सन्धिसम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

(अ) विवृत्ति

[पाणिनि ने प्रगृह्य-संज्ञक स्थलों में तथा लोप स्थानों मे सन्धि का अभाव स्वीकार किया है। पुराणों में छन्दोभंगभिया अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग हैं जिन्हे लिपिकारो ने च, तु, हि आदि निपातों का प्रयोग कर या पाठभेद से संशोधित कर दिया है।]

(१) पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।

—भाग० १०।१।२०

(२) पूर्ववद् गुरुऋत्विग्भ्यः। —(मत्स्य ६०।६)

(३) पुरतो यदुसहस्य अमोघस्य। —(वामन० के कोशों में)

पुरतो यदुसिहस्य ह्यमोघस्य॥

—(वामन, ६५।४८)

रूप में संशोधित किया गया है।

(४) कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि अहत्वा। —(ब्रह्म० १९९।९)

(५) पुष्करे तु अज दृष्ट्वा। —(पद्म ५।२६।२४१)

(आ) द्विः सन्धि

(एक सन्धि हो जाने पर पुनः शास्त्रीय निषेध होने पर भी सन्धि करना पुराणो में बहुशः उपलब्ध होता है। यह छन्दोभंग-भिया ही है)।

(१) विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।

—(भाग० १२।१२।६४)

(राजन्यः+उदधि=राजन्य+उदधि=राजन्योदधि)

(२) तस्याग्रतो नृपः स्नायात्।

—(अग्नि १८५।१३)

(तस्याग्रतः = तस्याः (देव्याः) अग्रतः। विसर्ग लोप होने पर पुनः सन्धि)

(३) सर्वानन्तफलाः प्रोक्ताः।

—(मत्स्य ७४।४)

(सर्वाः अनन्तफलाः=सर्वा+अनन्त=सर्वानन्त)

सुबन्त में अपाणिनीय प्रयोग

(१) पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः।

—(सप्तशती)

(इन अन्तिम पदो को 'पश्य' का कर्म होना चाहिए। ये द्वितीया में न होकर प्रथमा मे प्रयुक्त हैं। इनपर प्राकृत की छाया है)

(२) गावो वहुगुणा ददुः ।

—(भाग० ३।३।२६)

(यहाँ 'ददुः' के लिए 'गाः' का प्रयोग द्वितीया में होना चाहिए)।

(३) निःशेषान् शूद्रराज्ञस्तु तदा स तु करिष्यति ।

—(मत्स्य ४७।२४७)

('राजाहः सखिभ्यष्टच्' से समासान्त में टच् प्रत्यय होने पर 'शूद्रराजान्' होना चाहिए)।

(४) आयान्तं चण्डिका दृष्ट्वा तत् सैन्यमतिभीषणम् ।

—(सप्तशती ८।८)

('सैन्य' नपुंसक है। फलतः विशेषण को पुंलिंग में न होकर 'आयात्' नपुंसक लिंग में होना चाहिए)।

(५) भर्तव्या रक्षितव्या च भार्या हि पतिना सदा ।

—(मार्क० २१।६८)

('पत्या' के स्थान पर पतिना 'हरिणा' के समान। 'पतिः समास एव' सूत्र का व्यत्यय यहाँ है। पुराणों में 'पति' का रूप 'हरि' के ही समान प्रयुक्त होता है)।

(६) तथैव भर्तारमृते भार्या धर्मादिसाधने ।

—(मार्क० २१।७१)

(ऋते योगे पंचमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग)

(७) चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।

—(भाग० ६।१४।३८)

('दार' शब्द नित्य वहुवचन होता है। अतएव 'दारेषु' होना चाहिए।)

पदव्यत्यय

पदों का व्यत्यय वहुत दृष्टिगोचर होता है पुराणों में। पाणिनि के द्वारा परस्मैपद में निर्दिष्ट धातुओं का आत्मनेपद हो जाता है, तो कहीं आत्मनेपद का परस्मैपद होता है।

(१) न याचतोऽदात् समयेन दायम् ।

(भाग० ३।१।८)

याच् धातु प्रयोग में आत्मनेपदी है। अतः 'याचमानस्य' उचित है। भागवत में याच् का विशुद्ध प्रयोग भी मिलता है—

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदाद् प्रभुः ।

—(भाग० १।१७।३९)

(२) तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।

—(भाग० ३।१।११)

तितिक्षतः=तितिक्षमाणस्य । 'गुप्–तिच्–किद्भ्यः सन्' से नित्य सन् और आत्मनेपद ।

(३) तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ।

—(भाग० ३।१०।२)

('वद्' परस्मैपदी धातु है । अतः 'वदस्व' नहीं)

(४) तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ।

—(भाग० ३।७।७)

(नुद् आत्मनेपदी धातु है जिसका यथार्थ प्रयोग भाग० ३।७।१८ में— तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे) ।

(५) एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।

—(भाग० ३।१२।५१)

'अवेक्षते' आत्मनेपदी है । अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टक-जालमेव (विक्रमांकचरित)। यहाँ आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग)।

(६) तदा वैकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः ।

—(भाग० ३।१६।३४)

('निपततोः' परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद) ।

(७) अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कंटकः ।

—(भाग० ३।१८।२३)

(आत्मनेपद 'अन्वेषणमाण' के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग) ।

(८) कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः ।

—(भाग० ५।१९।५)

(रम धातु नित्य आत्मनेपदी है अतः 'रममाणस्य' होगा शानच् से; शतृ से नहीं) ।

तिङन्त–कृदन्त सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

[पाणिनि के अनुसार भूतकाल सूचक लिङ् तथा लङ् लकार बनाने के लिए स्वरादि धातुओं से पहिले 'आट्' का तथा व्यञ्जनादि धातुओं से पूर्व 'अट्' का आगम होता है। इस सर्वमान्य प्रसिद्ध नियम का व्यत्यय पुराणों में बहुशः मिलता है । इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए मुख्य प्रत्यय 'क्त्वा' ही है, परन्तु उपसर्गपूर्वक धातु के लिए ल्यप् प्रत्यय होता है 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (पा० ७।१।३७) सूत्र के अनुसार । परन्तु पुराणों ने इस नियम

का भी व्यत्यय किया है जिससे कहीं केवल धातु से ल्यप् प्रत्यय और कहीं सोपसर्गक धातु से भी क्त्वा प्रत्यय ही उपलब्ध होता है। सम्भव है यहाँ वैदिक व्याकरण का अनुगमन किया गया है, परन्तु पाणिनि का व्यत्यय तो स्पष्ट ही है।]

(१) घण्टास्वनेन तन्नादमम्बिका चोपवृंहयत्।

—(सप्तशती ८।९)

(यहाँ 'उपवृंहयत्' में भूतकालिक 'अड्' प्रत्यय का अभाव है।)

जनमेजयादीन् चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्।

—(भाग० २।१६।२)

यहाँ 'उत्पादयत्' में अडागम का अभाव है। उदपादयत् यथार्थतः होना चाहिए।

(२) स्तोत्रमुदीरयत्। —(वामन पु०)

('उदीरयत्' में आडागम का अभाव है।

(३) प्रंक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।

—(भाग० ३।२३।४३)

('प्रेक्ष्य' के स्थान पर त्वा का प्रयोग)

(४) वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं
संरोहयित्वा भव-भावनो हरिः॥ —(भाग० १।१०।२

(सोपसर्गक धातु से ल्यप् के स्थान पर त्वा का प्रयोग।)

(५) निवेशयित्वा निज-राज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह॥

—(भाग० १।१०।२)

('निवेश्य' के स्थान पर 'निवेशयित्वा' का प्रयोग। दोनों का प्रयोग एकत्र इसकी लोकप्रियता का सूचक है।)

(६) एवं संचिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।

—(भाग० ३।३।१६)

('स्थापयति' निरुपसर्गक धातु होने मे उससे ल्यप् का प्रयोग अपाणिनीय है। 'स्थापयित्वा' ही पाणिनि-सम्मत निर्दुष्ट प्रयोग है।)

(७) ततः शुक्लाम्बरैः शूर्प वेष्ट्य संपूजयेत् फलैः॥

—(मत्स्य ८१।१८)

(८) तदोङ्कारमयं गृह्य प्रतोदं।

—(मत्स्य १३३।५७)

(९) पूज्य देवं चतुर्मुखः ।

—(वामन ४९।३७)

(१०) सेव्य पांशुं प्रयत्नेन ।

—(वामन ४५।२२)

(इन पद्यांशो मे छन्दोभंग की भीति से निरुपसर्गक धातुओ से ल्यप् का प्रयोग किया गया है जो सर्वथा अपाणिनीय है । जहाँ यह भीति विद्यमान नही है, वहाँ 'त्वा' का समुचित प्रयोग किया गया है ।)

निष्कर्ष—ऊपर कतिपय अपाणिनीय[१] प्रयोगो के उदाहरण भागवत से ही विशेषतः दिये गये हैं । ऐसे पदो का प्रयोग केवल पद्यो मे ही किया गया है जहाँ छन्द के रूप की अभीष्ट रक्षा करना ही प्रधान कारण है । पुराणो के गद्य भाग मे वे ही पद पाणिनीय रूप मे उपन्यस्त है । यथा 'उत्सादयित्वा क्षत्रं तु' (वायु ३।३८०) पद्य मे प्रयुक्त 'उत्सादित्वा'' उत्साद्याखिल क्षत्रजातिम्' (विष्णु० ४।२४।६२) के गद्यभाग मे 'उत्साद्य' रूप मे प्रयुक्त है जो विशुद्ध पाणिनीय है । कही कही प्राकृत व्याकरण का भी प्रभाव लक्षित होता है । लिपिकारो तथा संशोधको ने कही-कही इन प्रयोगो को पाणिनिरीत्या शुद्ध कर दिया है जिसकी कोई आवश्यकता न थी । व्यावहारिक संस्कृत के प्रयोग करने वाले पुराणो के लिए इन अपाणिनीय प्रयोगो की सत्ता भूषण ही है, दूषण नही ।

व्यावहारिक-शब्दौघान् पुराणानि प्रयुञ्जते ।
अपाणिनीयप्रयोगास्तु भूषणं न तु दूषणम् ।।

(ख) पुराणों की शैली

पुराण की भाषा बड़ी ही सुबोध तथा शैली अत्यन्त हृदयग्राहिणी है । पुराण का मुख्य उद्देश्य जनता के हृदय तक वैदिक तत्त्वो को पहुँचाना है । वेद के दुरधिगम होने के हेतु ही पुराण का प्रणयन किया गया था । फलतः पुराण को सुखाधिगम होना—सुखपूर्वक अपने अर्थ के प्रतिपादन करने की योग्यता रखना—नितान्त आवश्यक है । पुराण मे अलङ्कार का विन्यास भी इसी मूल तात्पर्य को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है । यहाँ अलङ्कार काव्यगत शब्द के शोभाधायक न होकर काव्यगत अर्थ के ही भूषणाधायक है । लेखक का अभिप्राय इतना ही है कि उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ बड़ी सरलता से, अनायास रूप मे पाठको के हृदय तक पहुँच जाय । इसके लिए आवश्यक है कि उपमाएँ घरेलू हो अर्थात् लोक-सामान्य मे बहुशः अनुभूत तथ्य के ऊपर ही वे आधारित हो । जिस प्रकार काव्य की उपमा शास्त्रीय विषयो पर प्रायः अव-

१. अन्य अपाणिनीय प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य पुराण पत्रिका ।

—(भाग ४ वर्ष १७६३, पृष्ठ २७७–२९७)

लम्बित होने मे ही अपना गौरव बोध करती है, उस प्रकार की अवस्था पौराणिक उपमा की नही है। पुराण का लेखक अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, अपने आसपास के क्षेत्र मे जो कुछ अपनी इन्द्रियों से अनुभव करता है, उसी को पौराणिक तथ्यो के विशदीकारण के लिए प्रयुक्त करता है। इसका फल निःसन्देह बड़ा ही मनोरम होता है। पुराण के श्रोता तथा पाठक होते हैं सामान्य जन—वह जन जिन्हें हम पामर जन, अशिक्षित जन, असभ्य जन भी कह सकते हैं। उनके ज्ञान का क्षेत्र बड़ा ही संकीर्ण और सीमित होता है। वे उन्ही उपमाओ तथा दृष्टान्तो को समझ सकते हैं जो उनके दैनन्दिन के अनुभव के दायरे के भीतर आती हो। यही कारण है कि पुराण अपने मूल स्वरूप के अनुसार ही इन्ही उपमाओं और दृष्टान्तों को प्रयोग मे लाता है जो सामान्य जनजीवन से सम्बन्ध रखती हैं, जो नित्यप्रति जीवन के अनुभव के भीतर आती हैं तथा जिन्हे समझने मे सामान्य जन को विशेष क्लेश उठाना नही पड़ता। इन तथ्यो को हृदयंगम करने के लिए कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१) संसार अनित्य है। प्राणी यहाँ जनमते हैं, कुछ दिनो तक अपना कार्य करते हैं और फिर मरकर चले जाते हैं। फलतः एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ मिलन क्षणिक है—अस्थायी है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए पद्मपुराण बटोही का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मार्ग पर चलने वाला बटोही पेड़ की छाया मे कुछ देर तक विश्राम करता है और पश्चात् उसे छोड़ कर आगे बढ जाता है। उस पेड़ की छाया का ख्याल ही उसके दिमाग से हट जाता है। यह उपमा कितनी हृदयंगम तथा मर्मस्पर्शी है। दैनन्दिन की सच्ची घटना के ऊपर आश्रित है :—

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेद् तद्वद् भूत-समागमः॥

—पद्म ५।१८।३३८

एक दूसरी उपमा बड़ी मोहिनी है जो इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है। वर्षाकाल का दृश्य है। नदी के वेग से बालू एक स्थान पर इकठ्ठा हो जाता है और फिर उस वेग की गति बदल जाने पर वही बालू वहाँ से हट जाता है। नदी तट का यह दृश्य प्रतिदिन हमारे सामने उपस्थित होकर इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि काल से ही प्राणी संयुक्त होते हैं और काल से ही वियुक्त होते हैं। काल ही कारण है इन समग्र व्यापारो का—

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥

—भाग० ६।१५।३

(२) धर्म में विलम्ब करना घोरतर अपराध है। जीवन के स्थायी होने पर विलम्ब धर्म के आचरण मे किया भी जा सकता है। परन्तु उसके अस्थायी होने से तो विलम्ब करना महान् अपराध है। जीवन निर्भर है श्वास के ऊपर और वह सांस भी एक क्षण के भीतर सैंकड़ों वार आती है और सैंकड़ों वार जाती है। ऐसी चपल वस्तु के ऊपर आश्रित जीवन की चपलता की वात है क्या ? श्वास का यह दृष्टान्त कितना समीपस्थ तथा आवर्जक है। विषय की पुष्टि मे इससे अधिक आवर्जक दृष्टान्त कौन हो सकता है :—

श्वास एव चपल: क्षणमध्ये
यो गतागत-शतानि विधत्ते।
जीवितेऽपि तदधीन-चेतसा
क: समाचरति धर्मविलम्बम् ॥

—पद्म ४।९५।४९

(३) संसार मे वास्तविक सुख कहाँ ? यहाँ तो दु:खो की ही परम्परा सतत प्रवाहित होती है, परन्तु एक दु:ख के वीतते जव दूसरा दु:ख आता है जो मात्रा मे पूर्व दु:ख से किसी प्रकार न्यून नही होता, तव मनुष्य सुख का अनुभव करता है। इस विषय मे उदाहरण है बोझा ढोने वाले का। वह एक कन्धे से अपने वोझ को हटाकर जव दूसरे कन्धे पर रखता है, तब वह समझता है कि मुझे विश्राम मिला, परन्तु वस्तुत: कोई अन्तर नहीं हुआ दोनो स्थितियो मे। सांसारिक सुख का वोझ ढोनेवाले मानवो को भी ठीक यही दशा है। कितना हृदयग्राही है यह उदाहरण एक दु:ख दूसरे दु:ख से शान्त होता है इसे सिद्ध करने मे :—

स्कन्धात् स्कन्धे नयन् भारं विश्रामं मन्यते यथा।
तद्वत् सर्वमिदं लोके दु:खं दु:खेन शाम्यति ॥

(४) कर्म के फल को समझाने के लिए, किसान से वढकर कौन अच्छा उदाहरण हो सकता है। कृषि-प्रधान भारतवर्ष मे कृषक हमारा चिर परिचित वन्धु है। जो वह वोता है वही काटता है। कर्म का सिद्धान्त इसी घरेलू तथ्य पर आश्रित है :—

कृषिकारो यथा देवि ! क्षेत्रे वीजं सुसंस्थित:
यादृशं तु वपत्येव तादृशं फलमश्नुते ॥

—पद्म २।७।९

(५) नीच के व्यवहार के लिए पद्मपुराण की यह उपमा कितनी सुसंगत है। वह नीच प्राय: दु:सह होता है जो किसी दूसरे से धन पाकर गर्म बन

जाता है। धन की ही तो वास्तविक गर्मी होती है। निर्धन तो हमेशा सुस्त, ठंढा और जड़ होता है। इस तथ्य पर आपको विश्वास न हो तो सूरज और बालू के परस्पर व्यवहार को देखिए। सूर्य की गर्मी से तपने से ही शीतल बालू मे गर्मी आ जाती है। परन्तु ऐसे सन्तप्त बालू का ताप सूर्य के ताप से कहीं बढ़कर होता है। कितना सच्चा है यह तथ्य और कितना हृदयंगम है यह दृष्टान्त। सूर्य की गर्मी तो सही जा सकती है, परन्तु बालू की गर्मी तो राही को तड़पा डालती है :—

अन्यस्माल् लब्धोष्मा नीचः प्रायेण दुःसहो भवति।
रविरपि न तपति तादृग् यादृक् तपति वालुकानिकरः॥

—पद्म ६।८।१४

(६) अपना ही निजी घनिष्ठ मित्र जब कष्ट पहुँचाता है तो इसकी शिकायत किससे की जाय? पति का व्यवहार पत्नी के लिए असह्य हो जाय अथवा विपरीत इससे पत्नी का आचरण पति के लिए क्लेशमय संकट उत्पन्न कर दे, तो इसकी शिकायत कौन किसके पास करे? इस घरेलू बात को समझने के लिए श्रीमद्भागवत ने जीभ और दाँतो का उदाहरण दिया है। अपनी ही जीभ—सदा साथ रहने वाली जीभ—जब दाँतो से अपने को काट खाती है, उस समय उत्पन्न वेदना के लिए किस पर क्रोध किया जाय? जीभ भी अपनी और दाँत भी अपने। फिर शिकायत किसकी की जाय? बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है :—

जिह्वा यदा स्व दशति स्वदद्भिः
तद्वेदनायै कतमाय कुप्येत्?

(६) किसी का चित्त किसी अन्य के प्रति प्रथमतः असूया (दूसरों के गुणो मे दोष का आविष्करण) से आविष्ट था। अब यदि सम्पत्ति का आगमन उसके पास हो जाय, तो उसकी चित्तवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके लिए नारदीयपुराण मे एक बड़ी समीचीन उपमा प्रयुक्त की गयी है— भूसे की आग को हवा का मिलना। जिस प्रकार हवा के चलने से भूसे की आग जो पहिले धीरे-धीरे सुलग रही थी अचानक धधक उठती है उसी प्रकार मनुष्य की घृणा भी पहिले से अधिक उद्दीप्त हो जाती है। गाँव का रहने वाला इस उपमा के औचित्य को बड़ी जल्दी समझ सकता है। इसके लिए अन्य उपमा उतनी क्रियाशील नहीं हो सकती :—

असूयाविष्टे मनसि यदि सम्पत् प्रवर्तते।
तुषाग्नि वायुसंयोगमिव जानीहि सुव्रत॥

—नारदीयपुराण १।७।१७

(७) काय की अनित्यता के विषय मे पुराणों में एक युक्ति दी गयी है जो नितान्त हृदयंगम है। वह युक्ति यह है कि प्रातःकाल संस्कृत अन्न (तैयार भोजन) सायंकाल होते-होते नष्ट हो जाता है—सड़ जाता है और खराब हो जाता है। उसी अन्न से तो यह शरीर पुष्ट हुआ है। तब इस शरीर मे नित्यता कैसी ? जिस उपकरण से यह पुष्ट होकर बढ़ता है, वही इस प्रकार नाशशील है—एक दिन भी टिकने वाला नही, तब इस शरीर के विषय मे नित्यता की आशा करना दुराशा नही तो और क्या है ?

यत् प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥
—भागवत माहात्म्य, ५।६१

(८) लौकिक निरीक्षण का दृष्टान्त पुराणो मे बड़ा ही सुन्दर मिलता है। संसार के विषयो का जितनी गम्भीर अनुभूति होती है उसका परिणाम भी उतना ही सार्वभौम तथा सार्वकालिक होता है। ज्ञान दृढ होने पर ही सफल होता है। शिथिल ज्ञान को मुर्दा ही समझना चाहिए। श्रुत-शास्त्र के श्रवण-की सफलता उसके सावधानता से कार्यरूप मे परिणत करने से होती है। प्रमाद से युक्त होने से श्रुत नष्ट हो जाता है। वही दशा होती है मन्त्र की और जप की। सन्देहयुक्त होने से कोई भी मन्त्र फल नही देता और चित्त के व्यग्र होने पर जप से कोई लाभ नही होता। इस वर्णन की यथार्थता का प्रत्येक विज्ञ पुरुष साक्षी है:—

अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः॥
—तत्रैव, ७३ श्लोक।

आध्यात्मिक उपमाएँ

विष्णुपुराण तथा उसी का अनुकरण कर भागवत ने वर्षा तथा शरद् के वर्णन में आध्यात्मिक उपमाओ का प्रयोग किया है जो अपने साहित्यिक सौन्दर्य तथा गम्भीर दार्शनिक चिंतन के निमित्त संस्कृत साहित्य मे अनूठी हैं—अनुपम हैं। वस्तु-तत्त्व को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से पुराण ने ऐसी कमनीय उपमाएँ प्रयुक्त की हैं। विष्णुपुराण के पंचम अश के षष्ठ अध्याय मे ३६ श्लो०—४२ श्लो० तक वर्षा के वर्णन मे ये उपमाएँ पायी जाती है। इसी प्रकार इसी अंश के दशम अध्याय के आदिम १५ श्लोको मे शरद्-वर्णन के अवसर पर इनका प्रयोग तथा आकर्षण दर्शनीय है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवे अध्याय मे वर्षा तथा शरत् का एकत्र वर्णन विष्णु० की अपेक्षा परि-

बृंहितरूप से उपलब्ध होता है जहाँ भागवतकार ने विष्णुपुराण से स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर ऐसी आध्यात्मिक उपमाएँ विन्यस्त की हैं। भागवत का ही अनुसरण कर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस[१] के किष्किन्धा काण्ड मे इन्ही का अक्षरशः अनुवाद कही प्रस्तुत किया है और कही कुछ नवीनता भी प्रदर्शित की है। कतिपय उदाहरण इस विषय के प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) न बबन्धाम्बरे स्थैर्यं विद्युदत्यन्तचञ्चला।
मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता॥

—विष्णु ५।६।४२

दामिनि दमक रह न घन मांही
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं—रामचरितमानस

भागवत मे बिजुली की क्षणिक चमकने की उपमा क्षणिक चित्त कामिनियों के पुरुषो के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से दी गयी है—

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥

—भाग० १०।२०।१७

(२) वर्षाकाल मे नदियो का जल पूरा भर जाने से उन्मार्ग से होकर बहने लगता है जैसे नयी लक्ष्मी को पाकर दुष्ट पुरुषों का चित्त उच्छृङ्खल हो उठता है :—

ऊहुरुन्मार्ग-वाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः।
मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥

—विष्णु ५।६।३८

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई॥

—रा० मा० पृ० २९९

(३) जोरो से पानी पडने से जल की प्रबल धारा से सेतु टूट गये है जैसे पाखण्डियो के असद्वाद से—बौद्धों और नास्तिको के निन्दा वचनों से—कलियुग मे वेदमार्ग टूट जाते है :—

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्-वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥

—भाग० १०।२०।२३

१. द्रष्टव्य रामचरितमानस (काशीराज सं०) किष्किन्धाकाण्ड १४–१७ दोहा तक, पृष्ठ २९९–३०१

(४) वर्षा में घास मनमाने तौर से बढकर रास्ता रोक देती है, यात्रियों को जिसमे मार्गो की सत्ता के विषय मे सन्देह उत्पन्न होता है। इसके लिए उपमान दिया है जैसे द्विजो के द्वारा अभ्यास न की गयी कालहत श्रुतियाँ :—

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना असंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥

—भाग० १०।२०।१६

तुलसीदास ने पूर्वोक्त श्लोको का भाव लेकर यह दोहा लिखा है—

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहि नहि पंथ।
जिमि पापंडवाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रंथ ॥

(५) अब शरत्काल के वर्णन की ओर ध्यान दीजिए।

शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः।
ममत्वं क्षेत्र-पुत्रादि रूढमुच्चैर्यथा वुधाः ॥

(जिस प्रकार क्षेत्र और पुत्रादिको मे बढ़ी हुई ममता को विवेकी जन शनैः-शनैः त्याग देते हैं, वैसे ही जलाशयो का जल धीरे-धीरे अपने तटो को छोड़ने लगा।)

(६) जल को बरसा देने पर उज्ज्वल मूर्ति धारण करनेवाले मेघों की तुलना उन विज्ञानी जनो के साथ की गयी है जो ममता छोड़कर अपने घर का त्याग कर देते हैं :—

उत्सृज्य जल-सर्वस्वं विमलाः सितमूर्तयः।
तत्यजुश्चाम्बरं मेघा गृहं विज्ञानिनो यथा ॥

—विष्णु० ५।१०।४

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्त-किल्विषाः ॥

—भाग० १०।२०।३५

(७) पानी सूखने पर मछली अत्यन्त पीडित हो उठती है। इसकी उपमा दी गयी है उन गृहस्थ पुरुषो से जो पुत्र-क्षेत्र आदि मे लगी ममता से सन्ताप पाते हैं—

अवापुस्तापमत्यर्थं शफर्यः पल्वलोदके।
पुत्रक्षेत्रादिसक्तेन ममत्वेन यथा गृही ॥

विष्णु ५।१०।२

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यजितेन्द्रियः ॥

भाग १०।२०।३८

जलसंकोच विकल भइ मीना ।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन होना ॥

—रामचरितमानस

रूपकाश्रित वर्णन

पुराणो मे रूपक अलंकार का आश्रय लेकर बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है किसी विशिष्ट वस्तु का। यह वर्णन इतना विस्तृत तथा विशद है कि वह विशिष्ट पदार्थ वर्णन के समकाल ही मानसनेत्रो के सामने उपस्थित हो जाता है। ऐसे प्रसग मे 'संसार' के स्वरूप का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। कभी वह समुद्र के साथ और कभी वह अटवी के साथ रूपक-विधया संतुलित कर वर्णित है। भवसागर का यह रूप ब्रह्मपुराण मे (२६।१९-२१) बड़ी स्पष्टता से वर्णित है :—

कष्टेऽस्मिन् दु:खबहुले नि:सारे भवसागरे।
रागग्राहाकुले रौद्रे विषयोदक-सम्प्लवे ॥
इन्द्रियावर्तकलिले दृष्टोर्मिशत-संकुले।
मोहपङ्काविले दुर्गे लोभगम्भीरदुस्तरे॥
निमज्जज्जगदालोक्य निरालम्बमचेतनम्।

ब्रह्म० २६।१९-२१

भवाटवी का बड़ा विशद वर्णन भागवत के पंचम स्कन्ध के १३ तथा १४ अध्यायो मे दिया गया है। १३वें अध्याय मे अटवी का आरोप संसार के ऊपर परम्परित रूपक के द्वारा किया गया है और इस रूपक की विशद व्याख्या, जिसमे रूपक के अंग-प्रत्यंग का स्पष्टीकरण किया गया है, अगले १४ अ० मे दी गयी है। ये दोनो अध्याय काव्य की दृष्टि से भी नितान्त मञ्जुल-मनोहर है। दृष्टान्त की दृष्टि से एक-दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा।
अपुण्य-वृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित् प्रमादाद् गिरिकन्दरे पतन्
वल्ली गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥ १८ ॥

भाग० ५।१३

वाग्धेनु का रूपक भी इसी प्रकार पुराणो मे उपन्यस्त है। वाग् अर्थात् वेदत्रयी का धेनुरूप मे उपन्यास बृहदारण्यक (५।८) मे मूलतः किया गया है। इसी का उपबृंहण मार्कण्डेयपुराण (२९।६–११) मे और स्कन्दपुराण के धर्मारण्य खण्ड (६।५–१० में किया गया है। दोनो स्थानो मे एक ही कल्पना है। अवश्य ही उपबृंहण के अवसर पर कई नयी बातों का उपन्यास धर्मारण्य-वाले रूपक मे किया गया है।[१]

यज्ञवराह के वर्णन मे इस रूपकमयी शैली का प्रयोग पुराणकार ने विभिन्न पुराणों में किया है। वराह अवतार धारण कर नारायण ने वेदों का उद्धार किया, पृथिवी को पाताल से उठाकर स्वस्थान पर प्रतिष्ठित किया जिससे मानवो की लोकयात्रा का साधन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर वराह यज्ञ के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। यह वर्णन मत्स्य (२४८।६७–७४), वायु (६।१६–२३), ब्रह्माण्ड (प्रक्रिया पाद ५।९–२३), ब्रह्मपुराण (२१३।३३–३७), पद्म (सृष्टि खण्ड १६।४५–६१) मे सात समान श्लोको में पाया जाता है जो हरिवंश मे भी उपलब्ध होते हैं (१।४१।२९–३५, ३।३४।३४–४१)। इन श्लोको को विष्णु सहस्रनाम के शाङ्करभाष्य मे 'यज्ञाङ्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर (श्लोक ११७) पर उद्धृत किया गया है। विष्णुपुराण (प्रथम अंश, ४।३२–३५ तथा भागवत (३।१३।३५–३८) मे भी यह रूपक उपलब्ध होता है, परन्तु पूर्वोक्त श्लोको की परम्परा से इन श्लोको की परम्परा भिन्न है। इन श्लोको मे यज्ञ-वराह का बडा ही विशद तथा गम्भीरार्थ प्रतिपादक स्वरूप अभिव्यक्ति पा रहा है।[२]

इसी प्रकार **अधर्मद्रुम** का बड़ा ही परम्परित रूपक उपलब्ध होता है पद्म-पुराण मे (२।११।१६–२२)।

पुराणों मे कालिदास तथा बाणभट्ट की रचनाओ का भी प्रभाव प्रभूत मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। पद्मपुराण मे अभिज्ञान शाकुन्तल के कथानक का प्रभाव तद्वर्णित शाकुन्तलोपाख्यान पर विशेष रूप से पडा है, इसका उल्लेख पूर्व परिच्छेद मे किया गया है। कुमारसम्भव का प्रभाव शिव-पार्वती के कथानक के पौराणिक वर्णनो पर, जो पञ्चम शती के अनन्तर की रचनाएँ है, निःसन्दिग्ध

---

१. दोनों की तुलना के लिए द्रष्टव्य श्री रामशंकर भट्टाचार्य—इतिहास-पुराण का अनुशीलन, पृष्ठ ४६–४८।

२. इस रूपक की विशद व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्र-वाल का एतद्विषयक विस्तृत निबन्ध (पुराणम्, खण्ड ५, सं० २, जुलाई १९६३), पृष्ठ १९९–२३६)।

रूप से पड़ा है। शिवपुराण (८००–९०० ईस्वी) मे वर्णित तत्कथानक के ऊपर कुमारसम्भव के श्लोको की स्पष्ट प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है।

रुद्रसंहिता के पार्वती खण्ड के २२ अ० से लेकर ३३ अ० तक पार्वती की तपस्या, जटिल के साथ संवाद, सप्तर्षि का आगमन तथा उनके उद्योग से शिव द्वारा विवाह की स्वीकृति आदि विषय बड़े विस्तार तथा वैशद्य से वर्णित है। इन अध्यायो के श्लोको पर कुमारसम्भव का शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार का प्रभाव स्पष्टतः अङ्कित है। दोनो स्थानो के तुलनात्मक अध्ययन से इस प्रभाव की अभिव्यक्ति स्पष्ट शब्दों मे होने लगती है। कालिदास की चुभती उक्तियाँ यहाँ निःसन्देह गृहीत कर ली गयी हैं। इस विषय के प्रमापक कतिपय दृष्टान्त ही पर्याप्त होंगे—

उमा का नामकरण—

तपोनिषिद्धा तपसे वनं गन्तुं च मेनया।
हेतुना तेन सोमेति नाम प्राप शिवा तदा॥

—रुद्रसंहिता, पार्वती खण्ड, २२।२५।

अपर्णा का नामहेतु—

आहारे त्यक्तपर्णाऽभूत् यस्माद् हिमवतः सुता।
तेन देवैरपर्णेति कथितो नामतः शिवा॥

—वही, श्लोक ४९।

सखी का उत्तर—

हित्वेन्द्रप्रमुखान् देवान् हरिं ब्रह्माणमेव च।
पतिं पिनाकपाणिं वै प्राप्तुमिच्छति पार्वती॥ ३७॥
इयं सखी मदीया वै वृक्षानारोपयत् पुरा।
तेषु सर्वेषु सजातं फलपुष्पादिकं द्विज॥ ३८॥

× × ×

मनोरथः कुतस्तस्या न फलिष्यति तापस॥ ४०॥

—वही, २६ अ०।

ब्रह्मचारी द्वारा दोनो के वैषम्य का प्रकाश—

वेणी शिरसि ते देव्याः सर्पिणीव विभासिता।
जटाजूटं शिवस्यैव प्रसिद्धं परिचक्षते॥ २६॥
चन्दनं च त्वदीयाङ्गे चिताभस्म शिवस्य च।
क्व दुकूलं त्वदीयं वै शाङ्करं क्व गजाजिनम्॥ २७॥

यदि द्रव्यं भवेत् तस्य कथं स स्यात् दिगम्बरः।
वाहनं च बलीवर्दः सामग्री तस्य कापि न ॥ ३१ ॥
वरेषु ये गुणाः प्रोक्ता नारीणां सुखदायकाः।
तन्मध्ये हि विरूपाक्षे न एकोऽपि गुणः स्मृतः ॥ ३२ ॥
—वही, २७ अ०

शिव द्वारा पार्वती का स्वीकरण :—

अद्य प्रभृति ते दासस्तपोभिः क्रीत एव च।
क्रीतोऽस्मि तव सौन्दर्यात् क्षणमेकं युगायते ॥ ४४ ॥

× × ×

सर्वः श्रमो विनष्टोऽभूत् सत्यास्तु मुनिसत्तमः।
फले जाते श्रमः पूर्वो जन्तोर्नाशमवाप्नुयात् ॥ ५० ॥
—वही २८ अ०

इन पद्यों पर कालिदासीय पद्यो को इतनी स्पष्ट छाया है कि कुमारसम्भव का सामान्य विद्यार्थी भी मूल श्लोको का संकेत अनायासेन समझ सकता है। उसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नही। कालिदास के पद्यों का ऊपर सरल विवरण (पाराफ्रेज) कर दिया गया है।

ब्रह्मपुराण मे शिव-पार्वती के विवाह का बड़ा ही कमनीय वर्णन किया गया है। विशेष बात यह है कि यहाँ अध्याय ३६ मे पार्वती का स्वयंवर बड़े समारोह के साथ वर्णित है और उसी प्रकार शिव-पार्वती का विवाह भी इसी अध्याय मे वर्णित है। इस अवसर पर छहो ऋतुएँ अपने प्राकृतिक वैभव के साथ उपस्थित होती है। इन षट् ऋतुओं का बड़ा ही चमत्कारी तथा साहित्यिक वर्णन पुराणकार की प्रतिभा से सम्पन्न उपलब्ध होता है (श्लोक ७० से लेकर १२४ श्लो० तक) इन पद्यो मे काव्यगत समस्त सौन्दर्य उपस्थित है। इन ५४ पद्यो का यह समुच्चय ऋतुकाव्य की समस्त शोभा से मण्डित और दिव्य आमोद से प्रफुल्लित एक महनीय लघु काव्य ही है।

स्त्रियों की मोहकता के विषय मे यह पुराण (१५२ अ०) बड़ी रुचिर भाषा का प्रयोग कर कह रहा है :—

तावद् धैर्य-निधिर्ज्ञानी मतिमान् विजितेन्द्रियः।
यावन्न कामिनी-नेत्र-वागुराभिर्निबध्यते ॥ ६ ॥
विशेषतो रहःसंस्थां कामिनीमायतेक्षणाम्।
विलोक्य न मनो याति कस्य कामेषु वश्यताम् ॥ ७ ॥

बाणभट्ट अपनी परिसंख्याओं के लिए संस्कृत काव्यजगत् मे नितान्त विश्रुत है। श्लेषविहीन परिसंख्या मे भी चमत्काराधान कम नही होता, परन्तु श्लेष का पुट पाकर परिसंख्या चमक उठती है। काशीखण्ड के राज्यवर्णन के अवसर पर २४ अध्याय मे बड़ी सुन्दर परिसंख्याएँ प्रयुक्त हैं ठीक बाणभट्ट की शैली पर, जिनके ऊपर कादम्बरी की प्रख्यात परिसंख्याओ की अमिट छाप पड़ी है। इस विषय के दो-चार उदाहरण ही पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि के निमित्त यहाँ दिये जाते हैं :—

विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित् ।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥ ९ ॥
तमो-युक्ताः क्षपा यत्र बहुलेषु, न मानवाः ।
रजोजुषः स्त्रियो यत्र, न धर्मबहुला नराः ॥ १० ॥

[यहाँ प्रथम पद्य मे विभ्रम (विलास तथा विशेष भ्रम) तथा 'कुटिल' (टेढामेढा भौतिक अर्थ मे तथा कुमार्ग अन्यत्र) शब्द श्लिष्ट हैं। दूसरे पद्य मे भी तमस् तथा रजस् शब्द श्लिष्ट हैं जिसके दोनो अर्थ सरल हैं। बहुलेषु तथा धर्मबहुला पदों मे 'बहुल' दो विभिन्न अर्थों का प्रतिपादक है—(क) कृष्ण पक्षो मे तथा (ख) धर्म के आधिक्य से सम्पन्न ।]

धनैरनन्धो यत्रास्ति मनो, नैव च भोजनम् ।
अनयः स्यन्दनं यत्र न च वै राजपूरुषः ॥ ११ ॥

[आशय है—जहाँ मन धनो के पाने पर भी अन्धा नही है। गर्व मानव को अन्धा बना देता है, परन्तु वहाँ धन प्राप्ति होने पर भी किसी का मन अभिमान से अन्धा नही था। अनन्धता मन से ही थी, भोजन मे नही। इस पक्ष मे शब्द का अर्थ होगा—भात से रहित अर्थात् भोजन में भात विद्यमान था। जहाँ रथ ही 'अनयस्' (अन्+अयस् = लोहा) लोहा से विहीन था, वहाँ के राजकर्मचारी 'अनय' (नीतिविहीन) नही थे। इस छोटे से अनुष्टुप् मे कितना गम्भीर तात्पर्य भरा हुआ है। श्लेष प्रसन्न-गम्भीर है। परन्तु काव्यगत दोष भी सूक्ष्मेक्षिकया दृष्टिगोचर होता है। भोजन के साथ 'अनन्धः' का प्रयोग 'अन्धस्' शब्द के सकारान्त होने के कारण नितान्त उचित है, परन्तु मनः के साथ सम्बद्ध होने के लिए 'अनन्धं' होना चाहिए 'अन्धः' शब्द के अकारान्त होने के कारण। अतः 'अनन्धः' शब्द का प्रयोग अनुचित है व्याकरणरीत्या]

इभा एव प्रमत्ता वै युद्धं वीच्योर्जलाशये ।
दान-हानिर्गजेष्वेव द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः ॥ १७ ॥
जनेष्वेव हि विहारा हि न कस्यचिदुरःस्थली ।
बाणेषु गुण-विश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा ॥ १८ ॥

यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिण: ।
प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तय: ॥ २१ ॥
—वही, २४ अ०

श्लेष की प्रसन्न-गम्भीरता दर्शनीय है । सभंग श्लेष में ही प्राय: काठिन्य का प्रादुर्भाव होता है, अभंग श्लेष मे काठिन्य स्वल्प रहता है । ऊपर के पद्य मे अभंग श्लेष की ही शोभा विलसित होती है । फलत: ये पद्य काव्यदृष्टया अत्यन्त रुचिर तथा आवर्जक हैं ।

वर्णन में पुराणकार की प्रतिभा खिलती है । कथा का विवरण देने मे सुबोध शैली अपनायी गयी है । कथा के विविध विस्तार क्रम से प्रवाहित होते रहते हैं । पुराणो मे पदार्थों के वर्णन भी बड़े सुन्दर, आलङ्कारिक तथा चमत्कारी हैं । काशी के उद्यान का वर्णन इस विषय मे दृष्टान्तरूप से उपस्थित किया जा सकता है । काशी के उद्यान अपनी सुषमा के लिए चिरकाल से प्राचीनो मे विख्यात थे । ऐसा होना उचित ही है । काशी का नाम ही जो आनन्द-कानन ठहरा । फलत: आनन्द-कानन के उद्यानो की चारुता पुराणों की प्रतिभा का विषय है । २१ श्लोको मे निबद्ध यह उद्यानशोभा-वर्णन मत्स्य-पुराण मे (१७९ अ० २२-२४ श्लो०) तथा लिङ्गपुराण में (पूर्वार्ध ९२।१२-३३) एक ही रूप मे उपलब्ध होता है । विषय के अनुरूप छन्दो का भी यहाँ चुनाव किया गया है । महत्त्वपूर्ण होने से यह पद्यावली परिच्छेद के अन्त परिशिष्ट रूप से उद्धृत है । यहाँ दो-चार दृष्टान्त ही पर्याप्त होगे :—

क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादितं
क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम् ।
क्वचिच्च कारण्डव-नाद-नादितं
क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥ २७ ॥

निविडनिचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं ।
मदमुदित-विहङ्गव्रात-नादाभिरामम् ॥
कुसुमित-तरुशाखा-लीनमत्तद्विरेफं ।
नवकिसलयशोभाशोभितप्रान्तशाखम् ॥ ३१ ॥

शब्दो के नोंक-झोंक के कारण यह वर्णन नितान्त सुभग तथा चित्रोत्पादक है । इसे पढते समय प्रतीत होता है कि यह किसी कमनीय काव्य का रसमय अंश है । इसे पुराण का अंश होने का आभास भी नही होता, परन्तु है यह पुराण का ही अंश ।

पौराणिक सूक्तियां

पुराण मे सुभाषितों तथा सूक्तियों का विशद अस्तित्व है। इन सूक्तियों में दीर्घकाल के अनुभव से जायमान परिणत उपदेश दिये गये हैं, जो नीतिशास्त्र के समान नीरस न होकर सरस-सुबोध हैं और इसीलिए वे श्रोता के हृदय पर गहरी चोट करते है और उसे रुचिरता से प्रभावित करते हैं। इस विषय में कतिपय सुभाषित यहाँ दिये जाते हैं :—

(क) आशा

(१) आशायाश्चैव ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥

—नारदीय, पूर्वार्धं, ११।१५१

आशा भङ्गकरी पुंसामजेया रति-सन्निभा ।
तस्मादाशां त्यजेत् प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥

—वही, ३५।२४

आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहा मदोद्धताः ।
अवमानादिकं दुःखं न जानन्ति कदाप्यहो ॥

—वही, ३५।२७

(ख) सुजन

(२) जडोऽपि याति पूज्यत्वं सत्सङ्गाज्जगतीतले ।
कलामात्रोऽपि शीतांशुः शम्भुना स्वीकृतो यथा ॥

—वही, ८।८

सुजनो न याति वैरं परहितवुद्धिर्विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

—वही, ३७।३५

सत्सङ्गः परमो ब्रह्मन्न लभ्येताकृतात्मनाम् ।
यदि लभ्येत, विज्ञेयं पुण्यं जन्मान्तरार्जितम् ॥

—वही, ४।३५

संगमः खलु साधूनामुभयेषां च संमतः ।
यत्-संभाषणसंप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥

—भाग० ४।२२।१९

(३) संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं वीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥

—वामनपुराण ५४।७

(४) धनक्षये न मुह्यन्ति न हृष्यन्ति धनागमे।
धीराः कार्येषु च तदा भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥

—वही ७७।५०

(५) आपद्भुजगदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा।
वृद्धवाक्यौपधान्येव कुर्वन्ति किल निर्विषम् ॥

—वही ६५।७६

(६) आपज्जल-निमग्नानां ह्रियतां व्यसनोर्मिभिः।
वृद्धवाक्यैर्विना नूनं नैवोत्तारः कथञ्चन ॥

—वही ९५।८३

(७) पण्डिते वापि मूर्खे वा दरिद्रे वा श्रियान्विते।
दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा मृत्योः सर्वत्र तुल्यता ॥

—नारदीय १।७।५९

(८) जीवतः पितरौ यस्य मातुरङ्कगतो यथा।
षष्टिहायनवर्षोऽपि द्विहायनवच्चरेत् ॥

—शान्ति

(९) यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
उत्तरोत्तरवादास्या सा जरा न जरा जरा ॥

—गरुड १०८।२३

(१०) अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥

—वही १०८।२४

(११) यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥

—भागवत ४।२६।१५

(१२) मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥

—वही १।१६।९

(१३) किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥

—वही २।१।१२

(१४) श्रृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥

—वही २।८।४

(१५) यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यन्त्यन्तरितो जनः ॥ १५ ॥
—वही ३।७।१७

(१६) गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्री समानादन्विच्छेन्न तापैरनुभूयते ॥
—वही ४।८।३४

(१७) यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
—वही ७।१४।८

(१८) असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥
—वही ७।१५।१९

(१९) यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्य. स वै वणिक् ।
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥
—वही ७।१०।४-५

(२०) अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥
—भागवत माहात्म्य ५।७३

श्रीमद्भागवत का वैशिष्ट्य

श्रीमद्भागवत का पुराण साहित्य मे अपना अद्वितीय स्थान है। पुराण का एकमात्र समुज्ज्वल प्रतिनिधि यही श्रीमद्भागवत माना जाता है। इसीलिए पुराण के नाम लेते ही भागवत की ही भव्य मूर्ति श्रोताओ के मानस-पटल के सामने झूलने लगती है। संस्कृत के वाङ्मय का भागवत एक अलौकिक रसमय प्रतिनिधि है, वाङ्मय के विविध प्रकारों—वेद, पुराण तथा काव्य—का श्रीमद्भागवत अकेले ही बोधन कराता है अर्थात् यह शब्दप्रधान वेद के समान आज्ञा देता है; अर्थप्रधान पुराण के सामान हित का उपदेश करता है तथा रसप्रधान काव्य के समान यह रसामृत से पाठकों तथा श्रोताओ को मुग्ध बना देता है। अतः एक होने पर भी यह त्रिवृत् है—त्रिगुणों से सम्पन्न है। मुक्ताफल की यह भागवतस्तुति[1] अर्थवाद नही है, तथ्यवाद है:—

---

१. श्री जीव गोस्वामी ने अपने कथन के प्रमाण रूप मे इस पद्य को भी भागवत सन्दर्भ के अन्तर्गत 'तत्त्वसन्दर्भ' मे उद्धृत किया है। द्रष्टव्य तत्त्व-सन्दर्भ पृष्ठ ७४, कलकत्ता, चैतन्य सं० ४३३ मे प्रकाशित।

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद् भागवतं पुनः॥

इस परिच्छेद मे हम भागवत के काव्य स्वरूप से अपने पाठको को परिचित कराना चाहते हैं। रसमय काव्य के सकल लक्षण भागवत मे संपिण्डित होकर एकत्र विद्यमान है। इसके पद्यो मे श्रोताओ के हृदयवर्जन की लोकातीत क्षमता है। त्रिविध रूप की सत्ता इसके काठिन्य का भी कारण है, परन्तु इसके स्तुति-अंशो मे तथा वर्णन-अंश मे विचित्र प्रतिभा का विलास है तथा अमृतमय शब्दों का भव्य विन्यास है।

श्रीमद्भागवत का काव्य-सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता मे अद्भुत चमत्कार है जो सैंकड़ो वर्षो से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भीइस आकर्षण मे किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नही की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियो के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले, मानवहृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमे हृदय-पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कला-पक्ष का अभाव नही है। मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ हैं नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर ने अश्व का विकरालरूप धारण कर श्रीकृष्ण को अपने कौशल का परिचय दिया हैं, वह वर्णन (१०।३७) यथार्थता के कारण पाठको के सामने झूलने लगता है। इसी प्रकार मगध-नरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयङ्कर गदायुद्ध का सातिशय रोमाचकारी चित्रण भागवत मे फड़कती भाषा में किया गया है (१०।७२)। द्वारिकापुरी के वर्णन-प्रसङ्ग मे झरोखो से निकलने वाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ को भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है :—

रत्नप्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनवुद्धय उन्नदन्तः॥

भाग० १०।६९।१२

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी मे कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृङ्गारभूषा को विना समाप्त किये ही झरोखों से

झाँकने वाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन। आलोचकों की दृष्टि मे भागवत का ऋतुवर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशम स्कन्ध के एक समग्र अध्याय मे प्रावृट् तथा शरद ऋतु का यह आध्यात्मिकता-मण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताड़ित होने पर भी किंचिन्मात्र न व्यथित होने वाले पर्वतो की समता उन भगवन्निष्ठ भक्तजनो के साथ दी गयी है जो विपत्तियो के द्वारा ताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नही होते। पवन से ऊंची उठती हुई तरङ्गमाला से युक्त समुद्र नदियो के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयो के संपर्क मे पड़कर क्षुब्ध हो उठता है। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाकी पृथ्वी पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियो के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है, जिस प्रकार शब्द-ब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है :—

> खमशोभत निर्मेघं शरद् विमल-तारकम्।
> सत्त्वयुक्तं यथाचित्तं शब्दब्रह्मार्थ-दर्शनम्॥

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद्-वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है, इसे विशेषरूप से बतलाने की आवश्यकता नही।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश है गोपियो की श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण। गोपियां भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करनेवाली भगन्निष्ठ प्रेमिकाएँ ठहरी। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओ के चित्रण मे कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसङ्ग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा मे कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है वे 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतो का प्राचुर्य दशम स्कन्ध मे उपलब्ध होता है। वेणु-गीत, गोपी-गीत, युगल-गीत, महिषी-गीत आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसङ्ग है जिनमे कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिको के हृदय मे उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवतरस' के महनीय नाम के पुकारते है। कृष्ण के विरह मे व्याकुल महिषी-जनो का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है :—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति राात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदार-लीलेक्षितेन ॥

—१०।९०।१५

हे कुररि ! संसार मे सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे है। परन्तु तुझे नीद नही ? सखी कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह विंध तो नही गया है ?

वेणुगीत (भागवत १०।२१) मे कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय मे एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जङ्गम प्राणियो के ही ऊपर नही है, प्रत्युत स्थावर जगत् मे भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियो का वेणुगीत को आकर्षण कर यह आचरण जितना मधुर है, उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त-लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

—भाग० १०।२१।१५

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरो के द्वारा अपने हृदय मे श्याम-सुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा प्रकट कर रही है। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरङ्गो के हाथो से उनका चरण पकड़कर कमल के फूलो का उपहार चढ़ा रही है और उनका आलिङ्गन कर रही है मानो उनके चरणो पर अपना हृदय ही निछावर कर रही है।

रास-पञ्चाध्यायी—भागवत का हृदय है जिसमे व्यासजी ने कृष्ण और गोपियो के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियो ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावो की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दो मे की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपीगीत का यह पद्य कितना सरस तथा सरल है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि, गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

—१०।२१।९

अर्थात् आपकी कथा अमृत है क्योकि वह संतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियो ने भी देव-भोग्य अमृत को तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरनेवाली है अर्थात् काम्य कर्म का निरास करनेवाली है। श्रवणमात्र से मंगलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होने पूर्व जन्म मे बहुत दान किये है। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

भ्रमरगीत (भाग० १०।४७।१२—२१) भागवत का एक मार्मिक हृदयावर्जक गीति काव्य है जिसकी प्रेरणा प्राप्त कर सैकड़ो भ्रमरगीत तथा उद्धवदूत हिन्दी तथा संस्कृत भाषा मे निबद्ध होकर रसिको का आज भी हृदयावर्जन करते हैं। भ्रमरगीत मे केवल १० ही श्लोक हैं, परन्तु इनके भीतर गम्भीर रस का परिपाक काव्यरसिको के चित्त को बलात् आकृष्ट करता है। इसमे उपालम्भ की भावना ही प्रामुख्येन अभिव्यक्त की गयी है तथा श्रीकृष्ण के ऊपर अकृतज्ञ तथा क्षणभिन्न-सौहृद होने का गम्भीर आरोप लगाया गया है। भ्रमरगीत की गम्भीर मीमासा साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भागवत के टीकाकारो ने बड़ी मार्मिकता के साथ की है। श्रीकृष्ण के ऊपर गम्भीर आरोप के प्रसंग में गोपियाँ कहती हैं—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वांक्षवद् यः
तदलमसितसख्यैः दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

—भाग० १०।४७।१७

[व्याधा के धर्म का अनुसरण करनेवाले राम ने व्याधा के समान कपिराज बाली को मार डाला, अपनी पत्नी सीता के वश मे होकर राम ने काम से आसक्त शूर्पणखा की नाक काटकर कुरूप बना दिया। बलि का सर्वस्व ग्रहण करके भी उसे पाताल मे भेज दिया जिस प्रकार कौआ बलि खाकर बलि देनेवाले को अपने साथियो के साथ घेरकर परेशान किया करता है; बस, हमको कृष्ण से भी क्या ? हमें तो समस्त काली वस्तुओं के साथ मित्रता से कोई भी प्रयोजन नही है। तब कृष्ण के प्रति अनुरक्त तुम लोग क्यो हो ? इसका उत्तर है कि जिसे एक बार भी चसका लग गया है, उसके लिए उसकी चर्चा छोड़ना बड़ा ही कठिन है।]

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्—
सकृददन-विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृह-कुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
वहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्या चरन्ति ॥
—(भाग० १०।४७।१८)

[श्रीकृष्ण कथा की दुस्त्यजता का भाष्य इस रुचिर पद्य में किया गया है। उनके लीलामृत का एक बूँद भी जिन्होने अपने कानो से सेवन किया है, उनके राग-द्वेष आदि द्वन्दो का सर्वथा नाश हो जाता है और वे अपने दीन गृह-कुटुम्ब को छोड़कर स्वयं अकिञ्चन हो जाते हैं। चुन-चुनकर चारा चुंगनेवाली चिड़ियो की तरह वे भी भीख माँगकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे दीन दुनिया से जाते रहते हैं, परन्तु फिर भी कृष्ण की लीलाकथा नही छोड़ते। हमारी भी ऐसी ही दशा है। दुनिया से नाता छोड देना हमारे लिए सहज है, परन्तु उस श्याम सुन्दर से प्रेम का नाता हम छोड़ नही सकती। ठीक ही है—दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।]

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियो से भक्ति-प्रवण भक्तो तथा कवियो को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा देता हुआ चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश मे घटकर नही है।

कृष्णभक्ति कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलाएँ। फलतः उसकी दृष्टि श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियो की अभिव्यक्ति मे कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णवधर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओ का अक्षय स्रोत है; जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य मे प्रगीत मुक्तको के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारुचित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है। भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से कृष्ण-काव्यो की रचना का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिए।

परिशिष्ट

काशी–उद्यान वर्णन

प्रोत्फुल्लनानाविधगुल्मशोभितं लताप्रतानावनतं मनोहरम् ।
विरूढपुष्पैः परित. प्रियङ्गुभि· सुपुष्पितैः कण्टकितैश्च केतकैः ॥२४॥
तमालगुल्मैर्निचितं सुगन्धिभिः सकर्णिकारैर्वकुलैश्च सर्वशः ।
अशोकपुन्नागवरैः सुपुष्पितैर्द्विरेफमालाकुलपुष्पसञ्चयैः ॥२५॥
क्वचित् प्रफुल्लाम्वुजरेणुरूषितैर्विहङ्गमैश्चारुकलप्रणादिभिः ।
विनादितं सारसमण्डनादिभिः प्रमत्तदात्यूहरुतैश्च वल्गुभिः ॥२६॥
क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादित क्वचिच्च कादम्वकदम्वकैर्युतम् ।
क्वचिच्च कारण्डवनादनादित क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥२७॥
मदाकुलाभिस्त्वमराङ्गनाभिर्निषेवितञ्चारु सुगन्धि पुष्पम् ।
क्वचित् सुपुष्पैः सहकारवृक्षैर्लतोपगूढैस्तिलकद्रुमैश्च ॥ २८ ॥
प्रगीतविद्याधरसिद्धचारणं प्रवृत्तनृत्याप्सरसाङ्गणाकुलम् ।
प्रहृष्ट–नानाविध–पक्षिसेवितं प्रमत्तहारीतकुलोपनादितम् ॥ २९ ॥
मृगेन्द्रनादाकुलसत्वमानसैः क्वचित् क्वचित् द्वन्द्वकदम्वकैर्मृगैः ।
प्रफुल्लनानाविधचारुपङ्कजैः सरस्तटाकैरुपशोभितं क्वचित् ॥ ३० ॥

निविडनिचुलनीलं नीलकण्ठाभिराम
मदमुदितविहङ्गव्रातनादाभिरामम् ।
कुसुमिततरुशाखालीनमत्तद्विरेफं
नवकिसलयशोभाशोभितप्रान्तशाखम् ॥ ३१ ॥

क्वचिच्च दन्तिक्षतचारुवीरुध क्वचिल्लतालिङ्गितचारुवृक्षकम् ।
क्वचिद्विलासालसगामिवर्हिण निषेवितं किम्पुरुषव्रजैः क्वचित् ॥ ३२ ॥
पारावतध्वनिविकूजितचारुशृङ्गैरभ्रङ्कषैः सितमनोहरचारुरूपैः ।
आकीर्णपुष्पनिकुरम्वविमुक्तहासैर्विभ्राजितं त्रिदशदेवकुलैरनेकैः ॥ ३३ ॥

फुल्लोत्पलागुरुसहस्रवितानयुक्तै-
स्तोयाशयैस्तमनुशोभितदेवमार्गम् ।
मार्गान्तरागलितपुष्पविचित्रभक्ति-
सम्बद्धगुल्मविटपैर्विहगैरुपेतम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गाग्रैर्नीलपुष्पस्तवकभरनतप्रान्तशाखैरशोकै-
र्मत्तालिव्रातगीतश्रुतिसुखजननैर्भासितान्तर्मनोज्ञैः ।
रात्री चन्द्रस्य भासा कुसुमित–तिलकैरेकतां सम्प्रयातं
छायासुप्तप्रवुद्धस्थितहरिणकुलालुप्तदर्भाङ्कुराग्रम् ॥ ३५ ॥
हंसाना पक्षपातप्रचलितकमलस्वच्छविस्तीर्णतोयम् ।

तोयानां तीरजातप्रविकचकदलीवाटनृत्यन्मयूरम् ।
मायूरैः पक्षचन्द्रैः क्वचिदपि पतितै रञ्जितक्ष्माप्रदेशम् ।
देशे देशे विकीर्णप्रमुदित विलसन् मत्तहारीतवृक्षम् ॥ ३६ ॥

सारङ्गैः क्वचिदपि सेवित-प्रदेश
सच्छन्नं कुसुमचयैः क्वचिद्विचित्रैः ।
हृष्टाभिः क्वचिदपि किन्नराङ्गनाभिः
क्षीवाभिः समधुरगीतवृक्षखण्डम् ॥ ३७ ॥

संसृष्टैः क्वचिदुपलिप्तकीर्णपुष्पै-
रावासैः परिवृतपादपं मुनीनाम् ।
आमूलात् फलनिचितैः क्वचिद्विशालै-
रुत्तुङ्गैः पनसमहीरुहैरुपेतम् ॥ ३८ ॥

फुल्लातिमुक्तकलतागृहसिद्धलीलं
सिद्धाङ्गनाकनकनूपुरनादरम्यम् ।
रम्यप्रियङ्गुतरुमञ्जरिसिक्तभृङ्गं
भृङ्गावलीषु स्खलिताम्बुकदम्बपुष्पम् ॥ ३९ ॥

पुष्पोत्करानिलविघूर्णितपादपाग्र
मग्रेसरो भुवि निपातितवंशगुल्मम् ।
गुल्मान्तरप्रभृतिलीनमृगीसमूहं
संमुह्यता तनुभृतामपवर्गदातृ ॥ ४० ॥

चन्द्रांशुजालधवलैस्तिलकैर्मनोज्ञैः
सिन्दूरकुङ्कुमकुसुम्भनिभैरशोकैः ।
चामीकराभनिचयैरथ कर्णिकारैः
फुल्लारविन्दरचित सुविशालशाखैः ॥ ४१ ॥

क्वचिद् रजतपर्णाभैः क्वचिद्विद्रुमसन्निभैः
क्वचित् काञ्चनसङ्काशैः पुष्पैराचितभूतलम् ॥ ४२ ॥

पुन्नागेषु द्विजगण–विरुतं रक्ताशोकस्तवकभरनमितम् ।
रम्योपान्तं श्रमहरपवनं फुल्लाब्जेषु भ्रमरविलसितम् ॥ ४३ ॥

सकलभुवनभर्ता लोकनाथस्तदानी-
न्तुहिनशिखरिपुत्र्याः सार्द्धमिष्टैर्गणेशैः ।
विविधतरुविशालं मत्तहृष्टान्यपुष्ट-
मुपवनतरुरम्यं दर्शयामास देव्याः ॥ ४४ ॥

(ये श्लोक मत्स्यपुराण अ० १७९ के हैं और ये ही लिङ्गपुराण मे भी उद्धृत हैं ।—पूर्वार्घ, ९२ अ०, १२–३२१ श्लोक)

उपसंहार

भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विकाश मे पुराण का कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। पुराण का गौरव अनेक दृष्टियों से मननीय तथा माननीय हैं जिसमे धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि प्रमुख है। भारतीय धर्म के आधार ग्रन्थ तो वेद ही हैं, परन्तु सामान्य मानवों के लिए वेद को समझना नितान्त दुष्कर कार्य है। एक तो वेद की भाषा ही प्राचीनतम होने से दुरूह है और दूसरे उसमे प्रतिपादित तत्त्व भी कही रूपक शैली मे और कही प्रतीकात्मक शैली मे निवद्ध होने के कारण दुर्बोध हैं। अत एव धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए तथा जनहृदय तक उन्हे पहुँचाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो गम्भीरार्थप्रतिपादक होते हुए भी रोचक हो, जो वेदार्थ का निरूपक होते हुए भी सरल-सुबोध हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति पुराण करता है। इसकी भाषा व्यावहारिक, सरल, सहज तथा बोधगम्य है। शैली रोचक तथा आख्यानमयी है। इसी भाषा की सुबोधता तथा शैली की रुचिरता पर पुराणो की लोकप्रियता आश्रित है। इस प्रकार वेदार्थ को समझने के लिए तथा वेदप्रतिपादित तात्पर्य के यथार्थ निरूपण के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। इसीलिए नारदीयपुराण की यह उक्ति सुसंगत ठहरती है—

> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः[१]॥
>
> —नारदीय २।२४।१७

वेदार्थ से पुराणार्थ की महनीयता के तीन कारण जीवगोस्वामी ने अपने 'तत्त्व सन्दर्भ' के आरम्भ मे प्रदर्शित किये हैं।[२] वैदिक साहित्य की विशालता, वेदार्थ की दुरधिगमता तथा वेदार्थ के निर्णय में मुनियो का भी परस्पर-विरोध

---

१. इतिहासपुराणविचार एव श्रेयान् इदानीन्तनानाम्।
वेदानां दुरूहतया मन्दबुद्धीना कलियुगीयलोकानां
यथार्थविधारणस्य वदतोऽशक्यत्वादित्येवकारसंगतिः।

—तत्त्वसन्दर्भ की टीका पृ० ३९

२. तत्र च वेद शब्दस्य सम्प्रति दुष्पारत्वात् दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थ-निर्णायकाना मुनीनामपि परस्पर-विरोधाद् वेदरूपो वेदार्थनिर्णायकश्च इतिहास-पुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः॥

—तत्त्व सन्दर्भ पृ० १६। (कलकत्ता संस्करण)

होने के कारण वेदार्थ के निर्णय के लिए पुराणो का महत्त्व स्वीकृत किया गया है। पुराण की वाणी मे वेद ही बोलता है, पुराण के अर्थ-निर्णय में वेदार्थ का ही निर्णय स्फुटित होता है। इसीलिए पुराण का धार्मिक महत्त्व आज हमारे लिए बहुत ही विशिष्ट है। वेद ने ईश्वर की कल्पना को प्रतिनिष्ठित रूप दिया परन्तु पुराण ने उस ईश्वर को जनता के हृदय तक पहुँचाया। वैदिक संहिता कर्मकाण्ड का प्रधान गढ़ है, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का प्रमुख प्रतिपादक है! इसके विपरीत, पुराण भक्ति का प्रतिपादक शास्त्र है। फलतः जनता के कल्याण के लिए पुराण की महिमा सर्वतोभावेन ग्रहणीय है। वेद के अर्थ का उपबृंहण पुराण करता है—इस तथ्य की पुष्टि नाना दृष्टियो से ऊपर की गयी है। स्कन्द-पुराण वेद तथा स्मृति से भी पुराण को नवीनार्थ प्रतिपादक होने से अधिक महत्त्व देता है—

> यन्न दृष्टं हि वेदेषु न दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
> उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥
>
> —(प्रभास खण्ड २।९२)

इस प्रकार पुराण का ज्ञान विचक्षणता की कसौटी है। चारो वेदो को, षड् वेदागो को तथा उपनिषदो को जानने वाला व्यक्ति कभी विचक्षण नही माना जा सकता, यदि वह पुराण से अभिज्ञ नहीं होता—

> यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः।
> पुराणं नैव जानाति न च स स्याद् विचक्षणः॥
>
> —ब्रह्माण्ड, प्रक्रि० १।१७०

पुराण की रचना भारतीय दृष्टि से इतिहास की भावना को स्पष्टतः प्रतिपादित करती है। साधारणतः घटनाओं का वर्णन ही इतिहास का मुख्य विषय माना जाता है; पुराण की दृष्टि इससे भिन्न है। पुराण के पञ्च लक्षण का महत्त्व इस विषय मे गम्भीरतया मननीय है। पुराण ही हमारे लिए सच्चे तथा आदर्श इतिहास है। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक मानवो की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जायगी, तब तक उसे अधूरा ही समझना चाहिए। पुराण आरम्भ होता है सृष्टि से और अन्त होता है प्रलय से। और इन दोनो छोरों के बीच मे उत्पन्न होनेवाले राजाओ के वंशो तथा उनमे प्रधानभूत राजाओ के चरित्र का वर्णन भी करता है। इस प्रकार पुराण का रूप ही भारतीय दृष्टि से इतिहास का सच्चा रूप है। आधुनिक विद्वानो ने इतिहासलेखन की शैली मे इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैण्ड के

सुप्रसिद्ध विचारक एच० जी० वेल्स ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'आउटलाइन आफ हिष्ट्री' मे इसी पौराणिक प्रणाली का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहासग्रंथ मे मानवसमाज के इतिहास लिखने से पूर्व सृष्टि के आरम्भ से जीवविकाश का इतिहास लिखा है। मानव-योनि प्राप्त होने से पूर्व जीव को कौन सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकाश कैसे सम्पन्न हुआ—इसका वड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। सृष्टि के आरम्भकाल से मानव के विकास का विवरण देने से ही उनका इतिहास का वर्णन पूर्ण तथा प्रामाणिक माना गया है। समग्र इतिहास लिखने की यही पौराणिक सच्ची प्रणाली है जिसके लिए हम पुराणो के चिर ऋणी रहेगे।

वर्णाश्रमधर्म का पालन भारतीय संस्कृति के संवर्धन का एकमात्र उपाय है। यह भारतीय धर्म से ही चिरकाल से अनुस्यूत नही है, प्रत्युत पूर्णतया वैज्ञानिक भी है। पुराणों ने इस धर्म का वड़ा ही विशद तथा स्वच्छ रूप अंकित किया है। इस विषय मे वे मनुस्मृति तथा महाभारत का पूर्णतया अनुसरण करते हैं। महाभारत मे धर्म के सूक्ष्म विवेचन से भी वे प्रभावित हैं। कलिधर्म के वर्णनावसर पर वे हीन तथा कदर्य आचार का वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा तद्विपरीत **सदाचार** का शुभ्र स्वरूप हमारे सामने रखते हैं। पुराण के अनेक सिद्धान्तो मे इतनी आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है कि उनके लेखक की दिव्य दृष्टि की श्लाघा करते हम तृप्त नही होते। उदाहरणार्थं साम्यवाद का विवेचन यहाँ रखते है। भागवत ने साम्यवाद का जो गूढ़ मन्तव्य एक श्लोक मे सूत्ररूप से रख दिया है, आजकल के प्रगतिवादियो का विशाल साहित्य उसका एक विस्तृत भाष्यमात्र ही है। भागवत का वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है :—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—७।१४।८

स्वत्व की मीमांसा इस पद्य मे की गयी है। जितने से उदर भर जाता है, बस उतने ही धन पर तो प्राणियो का स्वत्व है—अपना अधिकार है। उससे अधिक को जो अपना मानता है, वह चोर है और समाज के सामने दण्ड का भागी है। तात्पर्य यह है कि अपनी कमाई के समस्त राशि पर प्राणी का अधिकार मानना सरासर भूल है। जिससे वह अपनी देह की पुष्टि कर जीवित रहता है उतना ही तो उसका धन है, उसके अधिक तो पराया धन है। भागवत का यह श्लोक अधिकार की सच्ची मीमासा करता है जो नव्य दृष्टि मे भी भव्य प्रतीत होती है। पुराण **सदाचार** के सेवन के लिए आग्रह करता है। सदाचार सज्जनो के द्वारा आचरित व्यवहार—धर्म का एक साक्षात् लक्षण

माना गया है। सदाचार ही तो धर्म के व्यावहारिक रूप को समझने के लिए प्रधान कुञ्जी है (मनु २।१२)। मत्स्यपुराण के ययाति-अष्टक संवाद में इस विषय का बड़ा सारगर्भित तथा प्राणवान् विवेचन किया गया है (अ० ३६, श्लोक ६–१२)। कुवाच्य बोलने की कितनी भर्त्सना की गयी है इस श्लोक में—

> वाक्सायकावदनान्निष्पतन्ति
> यैराहत: शोचति रात्र्यहानि।
> परस्य नो मर्मसु ते पतन्ति
> तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
>
> —मत्स्य० ३६।११

फलतः सामाजिक आदर्श के प्रतिष्ठापन मे पुराणो का बड़ा ही महत्त्वशाली योगदान है।

पुराणो के आख्यान प्रतीकात्मक हैं। उन आख्यानों मे किसी ऐतिहासिक वृत्त का भी संकेत है, परन्तु एतावन्मात्र से आख्यानो का तात्पर्य गतार्थ नही होता। वे एक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य की भी अभिव्यक्ति करते हैं—तत्त्व है नितान्त निगूढ, परन्तु अभिव्यक्ति का प्रकार है नितान्त बोधगम्य। फलतः पौराणिक आख्यानों की गहराई में जाकर उन्हे समझने की आवश्यकता है। एक-दो दृष्टान्तो से पूर्वोक्त कथन का समर्थन तथा पुष्टि की जाती है। दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वंस शिवगणो के द्वारा एक प्रख्यात पौराणिक आख्यान है (भाग० ४।२–७)। दक्ष प्रजापति ने अपने विशाल यज्ञ में शत्रुता से प्रेरित होकर शिव को कोई भाग नही दिया जिससे क्रुद्ध होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को उस यज्ञ मे हवन कर दिया। इसी का दण्ड था यज्ञ-विध्वंस तथा दक्ष का शिरच्छेद। इस साधारण आख्यान के भीतर एक गूढ आध्यात्मिक तत्त्व का महनीय संकेत है। दक्ष जगत् मे नवीन रचना-चातुरी का प्रतीक है। विज्ञान के द्वारा जो नवीन निर्माण हो रहे हैं मानव के आपाततः सौख्य के लिए, दक्ष (= दक्षता) उसी का प्रतीक है। दूसरे शब्दो मे दक्ष भौतिकवाद का प्रतिनिधि है। नयी-नयी सृष्टि के उत्पादक होने के कारण वह प्रजापति है। उधर शिव विश्व के समस्त सामूहिक कल्याण तथा मंगल का प्रतीक है। इसी शिव से दक्ष का विरोध है। भौतिकवाद आध्यात्मिक कल्याण की उपेक्षा कर स्वतः स्वतन्त्र रूप से अभ्युदय चाहता है। शिव का आग्रह है कि दक्ष को उसके सामने नतमस्तक होना चाहिए—आध्यात्मिक समष्टि-कल्याण के सामने भौतिकवाद को झुकना चाहिए। जगत् मे यह संघर्ष महान् अनर्थ का कारण होता है। शिव से विरोध कर दक्ष रह नही सकता—समष्टि-कल्याण की

उपेक्षा कर भौतिकवाद जगत् की सुख-समृद्धि का उत्पादक कभी हो नही सकता। जामाता होने से शिव का पद उदात्त है और श्वशुर होने से दक्ष का पद उससे न्यून है। इस मौलिक तथ्य के विरुद्ध दक्ष विद्रोह करता है और इस घोर अपराध के कारण उसका सिर काटा जाता है और उसके यज्ञ का (जिससे वह संसार का कल्याण करना चाहता है) सद्यः विध्वंस किया जाता है। जब समष्टि-कल्याण के साथ भौतिकवाद का सामञ्जस्य स्थापित होता है, तभी विश्व का कल्याण है। निष्कर्ष है कि अनियन्त्रित भौतिकवाद आध्यात्मिकता को उदरस्थ करने मे किसी प्रकार रुक नही सकता, यदि उसका मस्तक उडा न दिया जाय। विश्व के संतुलन मे शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नही। विश्व को कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने मे शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नही। शिव का वाहन है वृषभ, जो सांकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढ़कर चलते है—इसका तात्त्विक तात्पर्य है कि कल्याण धर्म का आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नही हो सकता। इसलिए भौतिक सुख से सम्पन्न होने पर भी धर्मविहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि मे नितान्त निराधार है—सर्वथा अनुपादेय है। पौराणिक कथा का यही रहस्य है।

भारत के अध्यात्मचिन्तक हमारे मनीषी डंके की चोट से प्रमाणित करते आ रहे है कि अर्थ की उपासना मानव-समाज को परम सौख्य की ओर कथमपि कदापि अग्रसर नही कर सकती—धन से भोगविलास से उत्पन्न क्षणिक आराम की प्राप्ति अवश्य होती है, परन्तु वास्तविक सौख्य की नही। आराम और सुख मे अन्तर होता है। पहला है ऊपरी, तो दूसरा है भीतरी। पहला है क्षणिक तो दूसरा है चिरस्थायी। इस तथ्य का प्रतिपादन **प्रह्लाद का पौराणिक चरित्त** वैशद्येन करता है। हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप मे प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। कथानक के अन्तरंग पर ध्यान दीजिए। 'कशिपु' वैदिक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है कोमल 'शय्या' या मुलायम सेज। **'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः'**—भागवत (२।२।४) की इस प्रख्यात सूक्ति मे कशिपु का तात्पर्य शय्या से ही है। अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेजवाला प्राणी, भोगविलास मे आसक्त मानव, आधुनिक परिभाषा मे पूँजीपति—कैपिटलिस्ट। 'प्रह्लाद' का स्पष्ट अर्थ है—प्रकृष्ट आह्लाद, सातिशय आनन्द। धनी के घर मे ही प्रह्लाद जनमता है। 'हिरण्यकशिपु' के घर प्रह्लाद नही जनमेगा, तो क्या वह दीन-हीन टूटी खाट पर सोनेवाले दरिद्र के घर पैदा होगा? नही कभी नही। पर्वत से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नहीं। पहाड़ो पर घूमने से विलासी धन-कुबेर का आनन्द कभी कम नही होता, प्रत्युत वह बढता है। जल

मे डुवाने से प्रह्लाद मरता नहीं। आज भी समुद्र की सैर सुख उपजाती है। परन्तु हिरण्यकशिपु तथा प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यंभावी है। भोग की भित्ति पर, धन के आधार पर, वास्तव आनन्द टिक नहीं सकता। त्याग के संग मे ही आनन्द चिरस्थायी होता है। जगत् के मूलभूत तत्त्व शक्तिमान् परमेश्वर अथवा निखिल सामर्थ्यमयी शक्ति की उपेक्षा करने से चरम सौख्य की प्राप्ति कथमपि नहीं होती—

> वालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिह !
>
> नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ॥
>
> तप्तस्य तत्–प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
>
> स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥
>
> —(भाग० ७।९।१९)

भगवान् से उपेक्षित प्राणियो के लिए किसी भी रोग का प्रतीकार अकिञ्चित्-कर ही होता है। तात्पर्य यह है कि यही विश्व मे धार्मिक सन्तुलन के प्रतिष्ठापक भगवान् नरसिंह हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर मार डालते हैं और प्रह्लाद की रक्षा करते हैं। इस पौराणिक आख्यान का (जो सच्चा इतिहास भी है) तात्पर्य यही है कि प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान् की सत्ता में—श्रद्धा मानने मे और आध्यात्मिक जीवन-यापन मे ही है, अन्यथा नहीं।

पुराण भुक्ति-मुक्ति का आदर्श मानता है। जीवन मे भुक्ति तथा जीवनोपरान्त मुक्ति—दोनो की प्रतिष्ठा मानव के कल्याणार्थ पुराण का सिद्धान्त है। जीवन-यापन का संतुलित मार्ग पुराण वतलाता है। भागवतकार ने आध्यात्मिक मार्ग की कुंजी इस छोटे से पद्य मे वतलायी है जो पुराणों का निजी जीवन दर्शन है।

> तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
>
> भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ॥
>
> हृद्–वाग्–वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
>
> जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥
>
> —भाग० १०।१४।८

इस रुचिर श्लोक मे मानव की आचरण संहिता के लिए तीन सोपान वतलाये गये हैं :—(क) कर्मों के फल को आसक्तिविहीन होकर भोगना; (ख) भगवान् की अनुकम्पा की प्रतिक्षण प्रतीक्षा; (ग) हृदय से भगवान् का चिन्तन; वाणी द्वारा गुणकीर्तन तथा शरीर द्वारा वन्दन। इन तीनो सोपानों के अभ्यास से प्राणी को उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होती हैं, जैसे पिता की सम्पत्ति पुत्र को दायभाग मे स्वतः प्राप्त हो जाती है। आशय यह है कि ऐसे जीवन विताने-

वाले को मुक्ति भगवान् से दायभाग में प्राप्त होती है अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त होती है। पुराणों की यह चरम शिक्षा है—भगवान् मे विश्वास करते हुए निष्काम कर्म का सम्पादन। पुराण व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देता है। विचार तथा आचार, चिन्तन तथा व्यवहार—इन दोनो का सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन बिताना प्राणी का कर्तव्य है। भक्ति के साथ ज्ञान तथा कर्म की समरसता उत्पन्न कर अपने जीवन मे उसे उतारने पर हमारा जीवन नितान्त सुखमय होगा—इसमे तनिक भी सन्देह नही। यही है पुराण के भुक्ति-मुक्ति का आदर्श और इसी मे है पौराणिकी शिक्षा का चरम अवसान।

विशेषतः कलौ व्यास पुराणश्रवणादृते।
परो धर्मो न पुंसां हि मुक्तिध्यानपरः स्मृतः॥ ३१॥
या गतिः पुण्यशीलानां यज्विनां च तपस्विनाम्।
सा गतिः सहसा तात! पुराणश्रवणात् खलु॥ ३५॥
पापं संक्षीयते नित्यं धर्मश्चैव विवर्धते।
पुराणश्रवणाज्ज्ञानी न संसारं प्रपद्यते॥ ३७॥

अन्यो न दृष्टः सुखदो हि मार्गः
पुराणमार्गो हि सदा वरिष्ठ.।
शास्त्रं विना सर्वमिदं न भाति
सूर्येण हीना इव जीवलोकाः॥ ४१॥

—शिवपुराण (उमासंहिता, १३ अध्याय)

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

तथास्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पुराण-विमर्श

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

पुराणों का विषय-विवेचन

[पुराणो के विषयों का विवेचन दो पुराणो मे विशेष रूप से उपलब्ध होता है—मत्स्य तथा नारदीय में। इसमे मत्य का विवेचन संक्षिप्त होने पर भी सारवान प्रतीत होता है। उसके ऊपर प्राचीनता की छाप स्पष्टतः दीखती है। नारदीय पुराण का वर्णन बहुत ही विस्तृत, विकीर्ण तथा तदपेक्षया अवान्तर-कालीन प्रतीत होता है। दोनो का यहाँ एकत्र संकलन तुलना करने के लिए दिया जा रहा है।]

मत्स्यपुराणम् (अध्याय ५३)

पुराण–संख्यावर्णनम्

मुनय ऊचुः

पुराणसंख्यामाचक्ष्व सूत विस्तरशः क्रमात् ।
दानधर्ममशेषन्तु , यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥

सूत उवाच

इदमेव पुराणेषु पुराणपुरुषस्तदा ।
यदुक्तवान् स विश्वात्मा मनवे तन्निबोधत ॥ २ ॥

मत्स्य उवाच

पुराणं सर्वशास्त्राणा प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ ३ ॥
पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥
निर्दग्धेषु च लोकेपु वाजिरूपेण वै मया ।
अङ्गानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥
मीमासां धर्मशास्त्रञ्च परिगृह्य मया कृतम् ।
मत्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥
अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ।
श्रुत्वा जगाद स मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुखः ॥ ७ ॥
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः ।
कालेनाग्रहण दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥ ८ ॥
व्यासरूपमह कृत्वा संहरामि युगे युगे ।
चतुर्लक्ष्यप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥ ९ ॥
तथाष्टदशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ १० ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्ष सङ्क्षेपेण विशेषितम् ।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥११॥

नामतस्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः।
ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये॥१२॥
ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराण पग्कीर्त्यते।
लिखित्वा तच्च यो दद्याज्जलधेनुसमन्वितम्॥
वैशाखपूर्णिमायाञ्च ब्रह्मलोके महीयते॥१३॥
एतदेव यथा पद्ममभूद्धैरण्मयं जगत्।
तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः॥
पाद्मं तत् पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह कथ्यते॥ १४॥
तत् पुराणञ्च यो दद्यात् सुवर्णकलशान्वितम्।
ज्येष्ठे मासि तिलैर्युक्तमश्वमेधफल लभेत्॥ १५॥
वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः।
यत्प्राह धर्मानखिलान् तद्युक्तं वैष्णवं विदुः॥ १६॥
तदाषाढे च यो दद्यात् घृतधेनुसमन्वितम्।
पौर्णमास्या विपूतात्मा स पद याति वारुणम्॥
त्रयोविंशतिसाहस्र तत्प्रगाण विदुर्बुधाः॥ १७॥
श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत्।
यत्र तद्वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्॥
चतुर्विंशत् सहस्राणि पुराण तदिहोच्यते॥ १८॥
श्रावण्यां श्रावणे मासि गुडधेनुसमन्वितम्।
यो दद्याद् वृषसंयुक्तं ब्राह्मणाय कुटुम्बिने।
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेकं वसेन्नरः॥ १९॥
यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेत तद्भागवतमुच्यते॥ २०॥
सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरोत्तमाः।
तद् वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते॥ २१॥
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम्।
पौर्णमास्यां प्रौष्ठपद्या स याति परमां गतिम्॥
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रचक्षते॥ २२॥
यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाणि च।
पञ्चविंशत् सहस्राणि नारदीय तदुच्यते॥ २३॥
तदिदं पञ्चदश्यान्तु दद्याद्धेनुसमन्वितम्।
परमा सिद्धिमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभाम्॥ २४॥
यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचारणा।
व्याख्याता वै मुनिप्रश्ने मुनिभिर्धर्मचारिभिः॥ २५॥

मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु ।
पुराणं नवसाहस्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते ॥ २६ ॥
प्रतिलिख्य च यो दद्यात् सौवर्णकरिसंयुतम् ।
कार्त्तिक्यां पुण्डरीकस्य यज्ञस्य फलभाग्भवेत् ॥ २७ ॥
यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेय तत् प्रचक्षते ॥ २८ ॥
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमपद्मसमान्वितम् ।
मार्गशीर्ष्यां विधानेन तिलधेनुसमन्वितम् ।
तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥ २९ ॥
यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुख ।
अघोरकल्पवृत्तान्त प्रसङ्गेन जगत्स्थितिम् ।
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥
चतुर्दशसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च ।
भविष्यचरितप्राय भविष्यन्तदिहोच्यते ॥ ३१ ॥
तत्पौषे मासि यो दद्यात् पौर्णमास्या विमत्सरः ।
गुडकुम्भसमायुक्तमग्निष्टोमफलं भवेत् ॥ ३२ ॥
रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
सावर्णिर्नारदाय श्रीकृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ३३ ॥
यत्र ब्रह्मवराहस्य चोदन्त वर्णित मुहुः ।
तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते ॥ ३४ ॥
पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च ।
पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३५ ॥
यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थ प्राह देवो महेश्वर. ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च ॥ ३६ ॥
कल्पान्ते लैङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् ।
तदेकादशसाहस्रं फल्गुन्या यः प्रयच्छति ।
तिलधेनुसमायुक्तं स याति शिवसाम्यताम् ॥ ३७ ॥
महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च ।
विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते ॥ ३८ ॥
मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पस्य मुनिसत्तमाः ।
चतुर्विंशत्सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते ॥ ३९ ॥
काञ्चनं गरुडं कृत्वा तिलधेनुसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां मधौ दद्याद् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
वराहस्य प्रसादेन पदमाप्नोति वैष्णवम ॥ ४० ॥

यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत् पुरुषं वृत्तं चरितैरुपवृंहितम् ॥ ४१ ॥
स्कन्द नाम पुराणञ्च ह्येकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥ ४२ ॥
परिलिख्य च यो तद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैवं पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ॥ ४३ ॥
त्रिविक्रमस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
त्रिवर्गमभ्यधात्तञ्च वामनं परिकीर्तितम् ॥ ४४ ॥
पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।
यः शरद्विषुवे दद्याद् वैष्णवं यात्यसौ पदम् ॥ ४५ ॥
यत्र धर्मार्थकामाना मोक्षस्य च रसातले ।
माहात्म्य क यामास कूर्मरूपी जनार्दनः ॥ ४६ ॥
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ ।
अष्टादशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ॥ ४७ ॥
यो दद्यादयने कूर्म हेमकूर्मसमन्वितम् ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं सम्प्राप्नुयान्नरः ॥ ४८ ॥
श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दनः ।
मत्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम् ॥ ४९ ॥
अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः ।
तन्मात्स्यमिति जानीध्व सहस्राणि चतुर्दश ॥ ५० ॥
विषुवे हेममत्स्येन धेन्वा चैव समन्वितम् ।
यो दद्यात् पृथिवी तेन दत्ता भवति चाखिला ॥ ५१ ॥
यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याऽब्रवीत कृष्णो गारुड तदिहोच्यते ॥ ५२ ॥
तदष्टादशकञ्चैव सहस्राणीह पठ्यते ।
सौवर्णं हंससंयुक्तं यो ददाति पुमानिह ॥
स सिद्धि लभते मुख्यां शिवलोके च संस्थितिम् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मा ब्राह्मणमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः ।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ॥ ५४ ॥
भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तर ।
तद् ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ ५५ ॥
यो दद्यात्तद्व्यतीपाते पीतोर्णायुगसंयुतम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
हेमधेन्वा युतं तच्च ब्रह्मलोकफलप्रदम् ॥ ५६ ॥

चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
मत्पितुर्मम पित्रा च मया तुभ्यं निवेदितम् ॥ ५७ ॥

इहलोकहितार्थाय संक्षिप्तं परमर्षिणा ।
इदमद्यापि देवेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ५८ ॥

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिता ।
पाद्मे पुराणे तत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ॥
तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते ॥ ५९ ॥

नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते ।
नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥ ६० ॥

यत्र साम्वं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम् ।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्वमेतन्मुनिव्रताः ॥ ६१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम् ।
एवमादित्यसंज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ॥ ६२ ॥

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिश्यते ।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ।
पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ॥ ६३ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ६४ ॥

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
ससंहारप्रदानाञ्च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ ६५ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धञ्च यत्फलम् ॥ ६६ ॥

सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥ ६७ ॥

तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते ॥ ६८ ॥

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलञ्चक्रे तदुपबृंहितम् ।
लक्षेणैकेन यत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥

वाल्मीकिना तु यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम् ।
ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥

आहृत्य नारदायैव तेन वाल्मीकये पुनः ।
वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम् ॥
एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्तिताः । ७१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ।
धन्यं यशस्यमायुष्य पुराणानामनुक्रमम् ।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि स याति परमाङ्गतिम् ॥ ७२ ॥

इदं पवित्रं यशसो निधान-मिदं पितॄणामतिवल्लभञ्च ।
इदञ्च देवेष्वमृतायितञ्च नित्यं त्विदं पापहरञ्च पुंसाम् ॥ ७३ ॥
इति श्रीमत्स्यपुराणे पुराणसंख्यावर्णनं नाम

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अष्टादशपुराणानां विषयानुक्रमणिका

(१) ब्रह्मपुराणम्

वेदव्यासप्रणीते महापुराणादि तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च वृहन्नारदीये ४ पा० ९२ अ० उक्ता यथा—

ब्राह्मं पुराणं तत्रादौ सर्वलोकहिताय वै ।
व्यासेन वेदविदुषा समाख्यातं महात्मना ॥
तद्वै सर्वपुराणाग्र्यं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
नानाख्यानेतिहासाढ्यं दशसाहस्रमुच्यते ॥

तत्पूर्वभागे :—

"देवानामसुराणाञ्च यत्रोत्पत्तिः प्रकीर्तिता ।
प्रजापतीनाञ्च तथा दक्षादीना मुनीश्वर ! ॥
ततो लोकेश्वरस्यात्र सूर्यस्य परमात्मनः ।
वंशानुकीर्त्तनं पुण्यं महापातकनाशनम् ॥
तत्रावतारः कथितः परमानन्दरूपिणः ।
श्रीमतो रामचन्द्रस्य चतुर्व्यूहावतारिणः ॥
ततश्च सोमवंशस्य कीर्त्तनं यत्र वर्णितम् ।
कृष्णस्य जगदीशस्य चरितं कल्मषापहम् ॥
द्वीपानाञ्चैव सिन्धूनां वर्षाणाञ्चाप्यशेषतः ।
वर्णनं यत्र पातालस्वर्गाणाञ्च प्रदृश्यते ॥
नरकाणां समाख्यानं सूर्यस्तुतिकथानकम् ।
पार्वत्याश्च तथा जन्म विवाहश्च निगद्यते ॥
दक्षाख्यानं ततः प्रोक्तमेकाम्रक्षेत्रवर्णनम् ।
पूर्वभागोऽयमुदितः पुराणस्यास्य मानद ! ॥"

तदुत्तरभागे :—

अस्योत्तरे विभागे तु पुरुषोत्तमवर्णनम् ।
विस्तरेण समाख्यातं तीर्थयात्राविधानतः ॥
अत्रैव कृष्णचरितं विस्तरात् समुदीरितम् ।
वर्णनं यमलोकस्य पितृश्राद्धविधिस्तथा ॥
वर्णाश्रमाणां धर्माश्च कीर्त्तिता यत्र विस्तरात् ।
विष्णुधर्मयुगाख्यानं प्रलयस्य च वर्णनम् ।

योगानां च समाख्यानं सांख्यानाञ्चाऽपि वर्णनम् ।
ब्रह्मवादसमुद्देशः पुराणस्य च शंसनम् ॥
एतद् ब्रह्मपुराणन्तु भागद्वयसमाचितम् ।
वर्णितं सर्वपापघ्नं सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥

तत्फलश्रुतिः —

सूतशौनकसंवादं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।
लिखित्वैतत्पुराणं यो वैशाख्या हेमसंयुतम् ॥
जलधेनुयुतञ्चापि भक्त्या दद्याद् द्विजातये ।
पौराणिकाय सम्पूज्य वस्त्रभोज्यविभूषणैः ॥
स वसेद् ब्रह्मणो लोके यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि ब्रह्मानुक्रमणी द्विज ॥
सोऽपि सर्वपुराणस्य श्रोतुर्वक्तुः फलं लभेत् ।
शृणोति य. पुराणन्तु ब्राह्मं सर्वं जितेन्द्रियः ॥
हविष्याशी च नियमात् स लभेद् ब्रह्मण. पदम् ।
किमत्र वहुनोक्तेन यद् यदिच्छति मानवः ॥
तत्सर्वं लभते वत्स पुराणस्यास्य कीर्त्तनात् ।

(२) पद्मपुराणम्

तत्स्थविषयाणाम्प्रतिपादनं नारदीयपुराणे उक्तं यथा—

प्रथमे सृष्टिखण्डे :—

"पुलस्त्येन तु भीष्माय सृष्ट्यादिक्रमतो द्विज ।
नानाख्यानेतिहासाद्यैर्यत्रोक्तो धर्मविस्तरः ॥
पुष्करस्य च माहात्म्यं विस्तरेण प्रकीर्तितम् ।
ब्रह्मयज्ञविधानञ्च वेदपाठादिलक्षणम् ॥
दानाना कीर्त्तनं यत्र वृत्तानाञ्च पृथक् पृथक् ।
विवाह. शैलजायाश्च तारकाख्यानकं महत् ॥
माहात्म्यञ्च गवादीना कीर्तितं सर्वपुण्यदम् ।
कालकेयादिदैत्यानां वधो यत्र पृथक् पृथक् ॥
ग्रहाणामर्च्चनं दानं यत्र प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
तत्सृष्टिखण्डमुद्दिष्टं व्यासेन सुमहात्मना ॥

द्वितीये भूमिखण्डे :—

पितृमात्रादिपूज्यत्वे 'शिवशर्मकथा पुरः ।
सुव्रतस्य कथा पश्चात् वृत्रस्य च वधस्तथा ।

पृथोर्वेणस्य चाख्यानं धर्माख्यानं ततः परम् ।
पितृशुश्रूषणाख्यानं नहुषस्य कथा ततः ॥
ययातिचरितञ्चैव गुरुतीर्थनिरूपणम् ।
राज्ञा जैमिनिसंवादो बह्वाश्चर्यकथायुतः ॥
कथा ह्यशोकसुन्दर्या हुण्डदैत्यवधाञ्चिता ।
कामोदकाख्यानकं तत्र विहुण्डवधसंयुतम् ॥
कुञ्जुगस्य च संवादश्च्यवनेन महात्मना ।
सिद्धाख्यानं ततः प्रोक्तं खण्डस्यास्य फलोहनम् ॥
सूतशौनकसंवादं भूमिखण्डमिदं स्मृतम् ।

तृतीये स्वर्गखण्डे :—

"ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुदिता यत्रर्षिभ्यश्च सौतिना ।
सभूमिलोकसंस्थानं तीर्थाख्यानं ततः परम् ॥
नमदोत्पत्तिकथनं तत्तीर्थानां कथा पृथक् ।
कुरुक्षेत्रादितीर्थानां कथाः पुण्याः प्रकीर्तिताः ॥
कालिन्दीपुण्यकथनं काशीमाहात्म्यवर्णनम् ।
गयायाश्चैव माहात्म्यं प्रयागस्य च पुण्यकम् ॥
वर्णाश्रमानुरोधेन कर्मयोगनिरूपणम् ।
व्यासजैमिनिसंवादः पुण्यकर्मकथाचितः ॥
समुद्रमथनाख्यानं व्रताख्यानं ततः परम् ।
ऊर्ज्जपञ्चाहमाहात्म्यं स्तोत्रं सर्वापराधनुत् ॥
एतत्स्वर्गाभिधं विप्र ! सर्वपातकनाशनम् ।"

चतुर्थे पातालखण्डे :—

"रामाश्वमेधे प्रथमं रामराज्याभिषेचनम् ।
अगस्त्याद्यागमश्चैव पौलस्त्यान्वयकीर्त्तनम् ॥
अश्वमेधोपदेशश्च हयचर्या ततः परम् ।
नानाराजकथाः पुण्या जगन्नाथानुवर्णनम् ॥
वृन्दावनस्य माहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
नित्यलीलानुकथनं यत्र कृष्णावतारिणः ॥
माधवस्नानमाहात्म्ये स्नानदानार्चने फलम् ।
धरावराहसंवादो यमब्राह्मणयोः कथा ॥
सवादो राजदूतानां कृष्णस्तोत्रनिरूपणम् ।
शिवशम्भुसमायोगो दधीच्याख्यानकन्ततः ॥
भस्ममाहात्म्यमतुलं शिवमाहात्म्यमुत्तमम् ।

देवरातसुताख्यानं पुराणाञ्च प्रशंसनम् ॥
गौतमाख्यानकं चैव शिवगीता ततः स्मृता ।
कल्पान्तरो रामकथा भारद्वाजाश्रमस्थितौ ॥
पातालखण्डमेतद्धि शृण्वतां ज्ञानिनां सदा ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥

पञ्चमे उत्तरखण्डे .—

पर्वताख्यानकं पूर्वं गौर्यै प्रोक्तं शिवेन वै ।
जालन्धरकथा पश्चात् श्रीशैलाद्यनुकीर्तनम् ॥
सागरस्य कथा पुण्या ततः परमुदारिता ।
गंगाप्रयागकाशीनां गयायाश्चाधिपुण्यकम् ॥
आम्लादिदानमाहात्म्य तन्महाद्वादशीव्रतम् ।
चतुर्विंशैकादशीनां माहात्म्यं पृथगीरितम् ॥
विष्णुधर्मसमाख्यानं विष्णुनामसहस्रकम् ।
कार्तिकव्रतमाहात्म्यं माघस्नानफलन्ततः ॥
जम्बुद्वीपस्य तीर्थाना माहात्म्यं पापनाशनम् ।
साधुमत्याश्च माहात्म्यं नृसिंहोत्पत्तिवर्णनम् ॥
देवशर्मादिकाख्यान गीतामाहात्म्यवर्णने ।
भक्ताख्यानञ्च माहात्म्यं श्रीमद्भागवतस्य ह ॥
इन्द्रप्रस्थस्य माहात्म्यं बहुतीर्थकथाचितम् ।
मन्त्ररत्नाभिधानञ्च त्रिपाद्भृत्यनुवर्णनम् ।
अवतारकथा पुण्या मत्स्यादीनामतः परम् ॥
रामनामशतं दिव्यं तन्माहात्म्यञ्च वाडव ।
परीक्षणञ्च भृगुणा श्रीविष्णोर्वैभवस्य च ।
इत्येतदुत्तरखण्डं पञ्चमं सर्वपुण्यदम् ॥

तत्फलश्रुतिः—

पञ्चखण्डयुतं पाद्मं यः शृणोति नरोत्तमः ।
स लभेद्वैष्णवं धाम भुक्त्वा भोगानिहेप्सितान् ॥
एतद्वै पञ्चपञ्चाशत् सहस्रं पद्मसञ्ज्ञकम् ।
पुराण लेखयित्वा वै ज्यैष्ठ्यां स्वर्णाज्यसंयुतम् ॥
यः प्रदद्यात्सुमतये पुराणज्ञाय मानद ।
स याति वैष्णवं धाम सर्वदेवनमस्कृतः ॥
पद्मानुक्रमणीमेतां यः पठेच्छृणुयात्तथा ।
सोऽपि पद्मपुराणस्य लभेच्छ्रवणजं फलम् ॥"

(३) विष्णुपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये—९४ अध्याये उक्ता यथा—

श्रृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वैष्णवं महत् ।
त्रयोविंशतिसाहस्रं सर्वपातकनाशनम् ॥
यत्रादिभागे निर्दिष्टाः षडंशाः शक्तृजेन ह ।
मैत्रेयायादिमे तत्र पुराणस्यावतारिका ॥

तत्र प्रथमभागस्य प्रथमांशे :—

"आदिकारणसर्गश्च देवादीनाञ्च सम्भवः ।
समुद्रमथानाख्यानं दक्षादीना कथाचयः ॥
ध्रुवस्य चरितं चैव पृथोश्चरित्तमेव च ।
प्राचेतसं तथाख्यानं प्रह्लादस्य कथानकम् ॥
पृथुराज्याधिकाराख्यः प्रथमोंऽश इनीरितः ।

प्रथमभागस्य द्वितीयांशे :—

पातालनरकाख्यानं सप्तसर्गनिरूपणम् ।
सूर्यादिचारकथनं पृथग्लक्षणसंगतम् ॥
चरितं भरतस्याथ मुक्तिमार्गनिदर्शनम् ।
निदाघऋतुसंवादो द्वितीयोंऽश उदाहृतः ॥

प्रथमभागस्य तृतीयांशे :—

"मन्वन्तरसमाख्यानं वेदव्यासावतारकम् ।
नरकोद्धारकं कर्म गदितञ्च ततः परम् ॥
सगरस्यौर्वसंवादे सर्वधर्मनिरूपणम् ।
श्राद्धकल्पं तथोद्दिष्टं वर्णाश्रमनिबन्धने ॥
सदाचारश्च कथितो मायामोहकथा ततः ।
तृतीयोऽशोऽयमुदितः सर्वपापप्रणाशनः ॥"

प्रथमभागस्य चतुर्थांशे :—

"सूर्यवंशकथा पुण्या सोमवंशानुकीर्तनम् ।
चतुर्थेऽशे मुनिश्रेष्ठ नानाराजकथाचितम् ॥"

प्रथमभागस्य पञ्चमांशे :—

"कृष्णावतारसम्प्रश्नो गोकुलीया कथा ततः ।
पूतनादिवधो बाल्ये कौमारेऽघादिहिंसनम् ॥
कैशोरे कंसहननं माथुरं चरितन्तथा ।
ततस्तु यौवने प्रोक्ता लीला द्वारवतीभवा ॥

सर्वदैत्यवधो यत्र विवाहाश्च पृथग्विधाः ।
यत्र स्थित्वा जगन्नाथः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥
भूभारहरण चक्रे परस्वहननादिभिः ।
अष्टावक्रीयमाख्यानं पञ्चमोंऽश इतीरितः ॥"

प्रथमभागस्य षष्ठांशे :—

कलिजं चरितम्प्रोक्तं चातुर्विध्यं लयस्य च ।
ब्रह्मज्ञानसमुद्देशः खाण्डिक्यस्य निरूपितः ॥
केशिध्वजेन चेत्येप षष्ठोंऽशः परिकीर्तितः ।

तस्य द्वितीयभागे :—

अतः परन्तु सूतेन शौनकादिभिरादरात् ।
पृष्टेन चोदिताः शश्वद् विष्णुधर्मोत्तराह्वयाः ॥
नाना धर्मकथाः पुण्या व्रतानि नियमा यमाः ।
धर्मशास्त्रञ्चार्थशास्त्रं वेदान्तं ज्यौतिपन्तथा ॥
वंशाख्यानम्प्रकरणात् स्तोत्राणि मनवस्तथा ।
नाना विद्याश्रयाः प्रोक्ताः सर्वलोकोपकारकाः ।
एतद्विष्णुपुराणं वै सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥"

तत्फलश्रुतिः—

"वाराहकल्पवृत्तान्तं व्यासेन कथितन्त्विह ।
यो नरः पठते भक्त्या यः शृणोति च सादरम् ॥
तावुभौ विष्णुलोकं हि व्रजेताम्भुक्तभोगकौ ।
तल्लिखित्वा च यो दद्यादाषाढ्यां घृतधेनुना ॥
सहितं विष्णुभक्ताय पुराणार्थविदे द्विजः ।
स याति वैष्णवं धाम विमानेनार्कवर्चसा ॥
यश्च विष्णुपुराणस्य समनुक्रमणी द्विज ।
कथयेच्छृणुयाद्वाऽपि स पुराणफलं लभेत् ॥

(४) वायुपुराणम्

"पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ।
महिमान शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥
पुराणेषूत्तमं प्राहु पुराणं वायुनोदितम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण शिवलोकमवाप्नुयात् ॥
यथा शिवस्तथा शैवं पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयसमन्वितम् ॥

चतुर्थं वायुना प्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम् ।
शिवभक्तिसमायोगाच्छैवं तच्चापराख्यया ॥
चतुर्विंशतिसंख्यातं सहस्राणि तु शौनक ।
चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं ॥"

रेवा-माहात्म्यम्—

"शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
तस्मिञ् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत् पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मण्यप्याह मारुतः ।
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ॥

पूर्वभागे—

स्वर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरात् ।
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ॥
गयासुरस्य हननं विस्तराद् यत्र कीर्तितम् ।
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।
दानधर्म्मा राजधर्म्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥
भूमिपातालकव्योमचारिणा यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनाञ्च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥

तदुत्तरभागे—

उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहिताख्या वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥
यो देवः सर्वदेवानां दुर्विज्ञेयः सनातनः ।
स तु सर्वात्मना यस्यास्तीरे तिष्ठति सन्ततम् ॥
इदं ब्रह्मा हरिरिदं साक्षाच्चेदं परो हरः ।
इदं ब्रह्म निराकारं कैवल्यं नर्म्मदाजलम् ॥
ध्रुवं लोकहितार्थाय शिवेन स्वशरीरतः ।
शक्तिः कापि सरिद्रूपा रेवेयमवतारिता ॥
ये वसन्त्युत्तरे कूले रुद्रस्यानुचरा हि ते ।
वसन्ति याम्यतीरे ये लोकं ये यान्ति वैष्णवम् ॥
ओङ्कारेश्वरमारभ्य यावत् पश्चिमसागरम् ।
सङ्गमाः पञ्च च त्रिंशन्नदीनां पापनाशनाः ॥
दशैकमुत्तरे तीरे त्रयोविंशति दक्षिणे ।
पञ्चत्रिंशत्तमः प्रोक्तो रेवासागरसङ्गमः ॥
सङ्गमे सहितान्येवं रेवातीरद्वयेऽपि च ।
चतुःशतानि तीर्थानि प्रसिद्धानि च सन्ति हि ॥

कैलाशसंहितायाम् :—

वाराणसीधाम्नि सूतकर्तृकमुनीनां निकटे प्रणवार्थकथनारम्भः। कैलाशधाम्नि देवीकृता शिवं प्रति प्रणवार्थजिज्ञासा। प्रणवोक्तमन्त्रदीक्षादिकथनम्। प्रणवोद्धारः, विविधपूजा एव न्यासान्तरादिविधिः।

कार्तिकेयं प्रति वामदेवऋषेः प्रणवस्य कृते प्रश्नः। कुमारकर्तृकं वामदेवं प्रति प्रणवोपासनाकथनम्। षड्विधार्थपरिज्ञानम्। विस्तृतप्रणवार्थः कलातन्त्रादिविवर्णकथनम्।

सनत्कुमारसंहितायाम् :—

नैमिषारण्ये सनत्कुमारस्यागमनम्। व्यासादिभिर्मिलनम्। शिवपूजाविषये ऋषीणां प्रश्नः। सनत्कुमारस्य पृथ्व्यादेः संस्थानक्रमप्रभृतीनां कथनम्। प्रकृतितः महदादिक्रमे जगतः सृष्टिः सप्तद्वीपवर्णनञ्च। नरकादिवर्णनम्। ऊर्ध्वलोकयोगमाहात्म्यकथनम्। सविस्तरं रुद्रमाहात्म्यं, पंचमूर्तिकथनम्। रुद्रकीर्तनफलम्। रुद्रस्तवः। सनत्कुमारस्य चरित्रम्, परमसिद्धिश्च। शिवसर्वज्ञादिकथनम् रुद्रलोकब्रह्मलोकविष्णुलोकानां कथनम्। रुद्रस्थानस्य सर्वश्रेष्ठत्वकथनम्। विभीषणमहेश्वरसंवादः। लिङ्गपूजा-शिवनामकीर्तनफलञ्च। स्थानमाहात्म्यकथनम्। ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां मध्ये कस्य ज्येष्ठत्वम् इति व्यासप्रश्ने सनत्कुमारसमुत्तरदानं शिवलिङ्गमाहात्म्यादिकथनञ्च। लिङ्गस्थापनं शिवशक्त्योः पूजनविधिः शिवपूजाया पुष्पनिरूपणम्। अनशनविधिः। शिवप्रीतिकरः धर्मस्य संक्षिप्त उपदेशः। लक्ष्मणाष्टमीव्रतकथनञ्च। अन्नदानमाहात्म्यं भिन्न-भिन्नदानानां प्रशंसा च। विविधधर्मकार्याणामुपदेशः। सविस्तरं नियमफलकथनम्। पार्वत्याः शिवस्य शिरसि चन्द्रधारणे विषभक्षणविषये च प्रश्नः। भस्मप्रशंसा भस्मधारणस्य फलकथनम्। शिवस्य श्मशानवासहेतुः। शिवपूजायाः फलकथनम्। शिवविभूतिकथनम्। शिवस्थाननिर्देशः। प्रणवस्योपासना। प्रणवदेवताकथनम्। ध्यानयोगकथनम्। दुर्वाससः महादेवं प्रति पुनर्ध्यानवर्णनम् तदर्थं काशीवासनिर्देशश्च। वायुनाडिकादिनिरूपणम्। ध्यानविधेः प्रशंसा। प्रणवोपासनानिरूपणम्। शरीरस्य सर्वदेवमयत्वकथनम्। नाडीविस्तारकथनम्। हरपार्वतीसंवादः काशीमाहात्म्यकथनञ्च। मधूकस्योपाख्यानम्। सपुत्रस्य प्रतापमुकुटराज्ञ ओंकारेश्वरदर्शनम्। ओंकारस्तवः। नन्दीश्वरस्य तपस्या। नन्दिनं प्रति शिवस्य वरदानम्। महादेवस्य स्मरणम्। देवानामागमनम्। शिवस्यादेशेन देवाना नन्दिनः गाणपत्याभिषेककरणम्। नन्दिनः स्तवः नन्दिविवाहश्च। नीलकण्ठमाहात्म्यं, स्तोत्रञ्च, त्रिपुरवृत्तान्तम्। देवाना सुखं दृष्ट्वा महादेवस्य

सन्तोषः । त्रिपुरनाशस्योद्योगः । त्रिपुरदाहः । पार्वत्याः प्रश्नः । शिवस्य ब्रह्मणश्च माहात्म्यकीर्तनम् । पाशुपतयोगः । देहस्थनाडीनां विवरणम् । विमलज्ञानेन ईश्वरपदप्राप्तिः । शिवस्थितिलोककथनम् ।

वायवीयसंहितायाम् :—

महादेवकृपया श्रीकृष्णस्य पुत्रलाभकथनम् । वेदादिव्यवस्था । पुराणसंख्याकथनम् । ब्रह्मणो निकटे ऋषीणां शिवतत्त्वकथनम् । ब्रह्मण आदेशेन नैमिषारण्ये यज्ञार्थ गमनम् । नैमिषारण्ये ऋषीन् प्रति वायोः कुशलप्रश्नोक्तिः । शिवतत्त्वम् मायास्वरूपकथनञ्च । शिवस्य कालरूपत्वप्रकटनम् । सविस्तरं कालमानकथनम् । प्रकृतिसृष्टिकथनम् । ब्रह्मकर्तृकवराहरूपे ब्रह्मणि जगद्व्यवस्थापनम् । शिवप्रसादाद् ब्रह्मणः सृष्टिकरणम् ।

ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां परस्परं वशवर्त्तित्वम् । ब्रह्मणश्च महादेवादुत्पत्तिकथनम् । ब्रह्माणं प्रति सृष्टिकरणार्थं रुद्रस्यादेशः । प्रजावृद्ध्यर्थं ब्रह्मणः अर्धनारीश्वरप्रसादनम् । रुद्रकर्तृकस्त्रियाः सृष्टिः मैथुनसृष्टिश्च । दक्षयज्ञकथनम् देव्याश्च देहत्यागः । वीरभद्रनिरूपणम् । काल्याः सृष्टिः । दक्षयज्ञनाशः । वीरभद्रस्य शिवनिकटे देवानयनम् । दक्षस्य छागमुखत्ता च । व्याघ्रं प्रति पार्वत्या अनुग्रहः । शिवसमीपे देव्यागमनम् व्याघ्रस्य सोमन्ददीनामकरणञ्च । देव्याः समीपे शिवकर्तृकम् अग्निष्टोमात्मकविश्वप्रपञ्चकथनम् । त्रिविधशब्दार्थकथनम् । जगतः शब्दरूपित्वकीर्तनम् । महर्षीणां शिवशक्त्योः कीर्तनम् । नास्तिकताविनाशाय तयोर्जन्म । वायुना सविस्तरं शिवतत्त्वकथनम् मुक्त्यर्थं ज्ञानस्य चोपदेशः । पाशुपतयोगे मुक्तिलाभकथनम् । पाशुपतव्रतकथनं भस्ममाहात्म्यकथनञ्च । दुग्धप्राप्त्यर्थमुपमन्योः महादेवस्य प्रसादेन दुग्धसमुद्रप्राप्तिः ।

उत्तरभागे—

श्वेतकल्पे प्रयागे मुनिगणैर्जिज्ञासितं प्रश्नं प्रति सूतस्य वायुकथितशिवमाहात्म्यकथनरूपमुत्तरम् । श्रीकृष्णम्प्रति उपमन्योः पाशुपतज्ञानकथनम् । सुरेन्द्रादिपरीक्षा । ब्रह्मविष्णुप्रभृतिभिः शिवस्वरूपकथनम् । स्त्रीपुरुषात्मक—उमामहेश्वरयोर्जगत्प्रपञ्चकत्वकथनम् । परब्रह्मापरब्रह्मणोरेकत्वकथनम् । महादेवस्य अप्राकृतरूपस्य प्रणवात्मकत्वकथनं प्रणवस्वरूपकथनञ्च । भक्त्यादिद्वारा मानवाना शिवप्राप्तियोग्यता । ब्रह्मादिदेवान् देवीम्प्रति च शिवस्य वेदसारज्ञानोपदेशः । शिवावतारस्य कल्पयोगेश्वरस्य च कथनम् शिवपञ्चाक्षरमन्त्रस्वरूपम् माहात्म्यञ्च । शैवमन्त्रग्रहणस्य कथा । दीक्षाप्रयोगः । षडध्वशुद्धिप्रभृतिकथनम् । शिवनाम्नः शिवमन्त्रस्य च साधनविधिः आचार्यत्वसिद्धेरभिषेकादाना सस्काराणाञ्च

षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यो मुनीश्वर ।
सन्ति चान्यानि रेवायास्तीरयुग्मे पदे पदे ॥
संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।
नर्म्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्त्तितम् ॥

—नारदपुराण

(५) शिवपुराणम्

तत्रस्थविषयाणां प्रतिपादनम्

ज्ञानसंहितायाम् —

ऋषिगणस्य प्रश्नः। ब्रह्मनारदसंवादः ज्योतिर्लिङ्गप्रादुर्भावश्च। ओंकारप्रादुर्भावः, शिवस्यानुग्रहः, विष्णुकृतशिवस्तुतिः। उभयोः कृते शिवस्य वरदानम्। ब्रह्मणो हंसरूपधारणस्य विष्णोः वराहरूपधारणस्य च कारणरूपनिर्देशः, ब्रह्मादीनामुत्पत्तिकथनम्। ऋष्यादीना सृष्टिः। भगवत्याः देहत्यागस्य संक्षेपेण वृत्तान्तकथनम् शिवपूजाविधिश्च। पावमानमन्त्रैः शिवपूजाविधिः। तारकोपाख्यानं, ब्रह्मणः समीपे देवादीनां गमनञ्च। ब्रह्मदेवसंवादः शिवस्य तपोवर्णनञ्च मदनदहनम् पार्वत्याश्च प्रत्यावर्त्तनम्। पार्वत्यास्तपः। पार्वतीतपः समुद्दिश्य देवगणानामृषीणाञ्च शिवसन्निधाने गमनम्, जटिलब्राह्मणवेशे पार्वत्याः सकाशं शिवस्यागमनम्। हरपार्वतीसंवादः। शिवविवाहोद्योगः। शिवविवाहयात्रा। शिवरूपदर्शने मेनकायाः खेदस्तां प्रति भगवत्या ज्ञानोपदेशः। हरपार्वत्योर्विवाहः। कार्तिकेयस्य जन्म देवसेनापतित्वं तारकवधश्च एवं ब्रह्मणो वरेण तारकपुत्राणां त्रिपुरेऽधिष्ठानम्। विष्णुसृष्टौ मुण्डिकर्तृकदैत्यगणानाम्मोहोत्पादनम्। मुण्डिन उपदेशेन दैत्याना धर्मनाशः, दरिद्रताञ्च दृष्ट्वा विष्णुप्रभृतिदेवगणानां शिवस्तवः। विष्णूपदेशेन देवगणानां कोटिशिवमन्त्रजापः शिवस्तवश्च। देवमयरथारोहणे शिवकर्तृकत्रिपुरनाशः। देवगणानां वरलाभश्च। हरिकर्तृक-लिङ्गार्चनफलकथनम्। अधिकारानुसारेण देवेभ्यस्तैजसादिलिङ्गदानम्। शिवपूजाविधिकथनम्। आह्निककर्तव्यशिवपूजाविधिः। षोडशोपचारेण साम्बशिवपूजा। धान्यादिभिः शिवपूजायाः फलविशेषकथनम्। जानकीशापेन केतकीपुष्पेण शिवपूजाया निषेधः रामचरित्रकीर्तनञ्च। चम्पकपुष्पस्य शिवपूजार्थं राज्ञो मोहस्तदुत्पादनपूर्वक कृतदुष्कर्मब्राह्मणचम्पकपुष्पयोश्च नारदस्य शापः। गणेशचरित्रम्। गणेशकर्तृकशिवगणानां पराजयः शिवकर्तृकगणेशशिरश्छेदनञ्च। शिरश्छेदनेन देव्याः क्रोधः महादेवस्य च गणपतेः प्राणदानं गाणपत्यप्रदानञ्च। कार्त्तिकगणेशयोर्विवादः गणेशस्य जयलाभश्च। गणेशस्य विवाहस्तच्छ्रुत्वा कार्त्तिकस्य क्रोधः क्रौञ्चपर्वतगमनञ्च। रुद्राक्षधारणमाहात्म्यकथनम्।

प्रधानज्योतिर्लिङ्गोपलिङ्गानां नामस्थानकथनम् । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्ये गोवत्ससंवादादिः । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्यकथनम् । अत्रीश्वरलिङ्गमाहात्म्यकथनम् । ज्योतिर्लिंगादीना समस्तवस्तूनां ग्राह्यत्वकथनम् शिवलिंगमाहात्म्यकथनञ्च । अश्वकेश्वरवर्णनप्रसंगेऽश्वकमर्दनकथनम् । शिवरात्रिव्रतसंशयहेतुदधीचितनयानां दोषकथनम् । सोमेश्वरकथा ज्योतिर्लिंगोत्पत्तिकथनञ्च । महाकालोंकारेश्वरयोरुत्पत्तिः । केदारेश्वरप्रसङ्गः । भीमशङ्करप्रादुर्भावः । विश्वेश्वरस्य माहात्म्यम् गौरी प्रति शिवस्य काशीमाहात्म्यकथनम् । गोपेश्वरमाहात्म्यकथनम् । काशीमरणान्मोक्षप्राप्तेः शङ्कानिवारणम् । गौतमस्य तपस्या-तत्क्षेत्रकथनञ्च । गणेशपूजन गौतमचरित्रञ्च । गौतमप्रशसा, गंगास्थिति. कुशावर्तमाहात्म्य त्र्यम्बकमाहात्म्यञ्च । रावणस्य तपस्यामाहात्म्यम्, वैद्यनाथस्योत्पत्तिः । रामेश्वरमाहात्म्ये नागेशमाहात्म्यञ्च । घुस्मेश्वरमाहात्म्यञ्च, वराहरूपेण हिरण्याक्षवधः प्रह्लादचरित्रञ्च । प्रह्लादहिरण्यकशिपु प्रस्तावः । हिरण्यकशिपुवधः नृसिंहचरित्रञ्च । नलजन्मान्तरकथा । पाण्डवगणकर्तृकदुर्वाससः प्रीत्युत्पादनम् । व्यासादेशेन इन्द्रकीलपर्वते अर्जुनस्य तप. इन्द्रसमागमश्च । भिल्लरूपस्य शिवस्यागमनञ्च । भिल्लवेषधारिशिवस्य अर्जुनेन सह युद्धम् । अर्जुनस्य वरदानम् । पार्थिवशिवपूजाविधिः । विल्वेश्वरमाहात्म्यम् । विष्णुकर्तृकसहस्रकमलशिवपूजा । शिवकृपया सुदर्शनचक्रलाभः । शिवसहस्रनामवर्णनम् । विष्णुप्रभृतीन् शिवस्य शिवरात्रिव्रतकथनम् । शिवरात्रिव्रतस्योद्यापनविधिः । व्याधस्येतिहास कथनम् । अज्ञानेन कृतस्य शिवरात्रिव्रतस्य प्रशंसा । शिवरात्रिव्रतकरणेन पापिनो वेदनिधेर्मुक्तिः । चतुर्विधमुक्तिवर्णनम् । शिवकर्तृकविष्णुप्रभृतीनामुत्पत्तिकथनम् । एकमात्रभक्तिसाधनेन शिवभक्तेर्लाभकथनम् ।

विद्येश्वरसंहितायाम्—

साध्यसाधननिरूपणम् । मननादिस्वरूपवर्णनम् । श्रवणाद्यशक्तव्यक्तीनां लिङ्गपूजनसाधनकथनम् ब्रह्मविष्ण्वोः युद्धं दृष्ट्वा शिवसमीपे देवतानां गमनम् । ज्योतिर्मयलिङ्गप्रादुर्भावस्तद् दृष्ट्वा ब्रह्मविष्णोर्विवादशान्तिः । भैरवकर्तृकब्रह्मणः शिरश्छेदनम् । ब्रह्माणं प्रति शिवस्यानुग्रहः । ब्रह्मविष्णुकृता शिवपूजा लिंगनिर्माणं लिंगप्रतिष्ठा । लिङ्गपूजायाः नियमकथनम् । शिवतीर्थसेवामाहात्म्यम् । विप्रादिसदाचारस्य नित्यकृत्यता । पञ्चमहायज्ञकथनम् । दिनविशेषे देवपूजायाः कर्तव्यताकथनम् । देशकालादिविशेषे पूजाफलकथनम् । पार्थिवप्रतिमापूजाविधिः । प्रणवमाहात्म्यम् । शिवभक्तपूजाकथनम् । षड्लिंगमाहात्म्यम् । वन्धनमुक्त्योः स्वरूपकथनम् । लिंगक्रमकथनम् ।

कथनम् । शैवादीनामाह्निककर्मकथनम् । अन्तर्याग-बहिर्याग-कथनक्रमश्च । नानाविधानेषु हरपार्वत्योः पूजाविधिः । होमकुण्डानां परिमाणादीनां निर्णयः । मासादिविशेषेषु नैमित्तिकशिवपूजाकथनम् । काम्यशिवपूजा-कथनम् । शिवस्तोत्रम् प्रकारान्तरेण लिङ्गपूजा च । शिवपूजाफले ब्रह्मा-दीना स्वीयस्वीयपदप्राप्तिः । ब्रह्मविष्ण्वोः लिङ्गदर्शनम् । शिवप्रतिष्ठा शिवप्रोक्षणविधिश्च । योगोपदेशः । मुनीनां समीपे शिवचरित्तपूर्वकवायो-रन्तर्धानम् । यज्ञसमाप्तौ ब्रह्मणो निकटे मुनीनामागमनम् । ब्रह्मण आदेशेन सुमेरुपर्वते सनत्कुमारसमीपे मुनीनामागमनम् । नन्दिसमागमः । नन्दि-कर्तृकशिवकथावर्णनम् ।

धर्मसंहितायाम् :—

शिवमाहात्म्यनिरूपणम् । उपमन्योः समीपे श्रीकृष्णस्य शिवमन्त्रे दीक्षाग्रहणम् । रुरुदैत्यवधः । गोपीप्रभृतिरूपमहादेवेन सह अप्सरसां विहारः । उषाऽनिरुद्धयोः समागमः । बाणराज्ञो युद्धादिकथनम् । काल्या-स्तपस्या, आड़ीदैत्यवृत्तान्तः । वीरकस्य नन्दिरूपेण जन्मकारणम् शिवस्य कामाचारो लिङ्गोद्भवकथा च । शक्रादीनां कामकिंकरत्वकथनम् । महात्मनां कालक्षोभः । विश्वामित्रप्रभृतीनां कामवश्यताकथनम् । श्रीरामस्य कामाधीनत्वकथनम् । नित्यनैमित्तिकशिवपूजाविधिः । शङ्कर-क्रियायोगस्तत्फलञ्च । शिवभक्तपूजा तत्फलञ्च । विविधपापकथनम् पापफलानि च । धर्म्मप्रसङ्गः । अन्नदानविधिः । जलदानमाहात्म्यम् । पुराणपाठस्य माहात्म्यम् धर्म्मश्रवणमाहात्म्यञ्च । महादानकथनम् । सुवर्णपृथिवीदानम् । कान्तारहस्तिदानम् । एकदिनस्याराधनेनैव शङ्करस्य कृपा । शिवसहस्रनामवर्णनम् धर्म्मोपदेशस्तुलापुरुषदानञ्च । परशुरामस्य तुलापुरुषदानम् । ब्रह्मणः प्रसङ्गः । नरकादिकीर्त्तनम् । द्वीपादिकथनम् । भारतवर्षादिकथनम् । ग्रहादीना कथा मृत्युञ्जयोद्धारश्च । मन्त्रराज-प्रभावकीर्त्तनम् । पंचब्रह्मकथनं पंचब्रह्मविधानं च । तत्पुरुषविधानम् । अघोरकल्प-वामदेवकल्प-सद्योजातकल्पादिकथनम् । संसारकथा स्त्री-स्वभावादिकथनञ्च । अरुन्धतीदेवाना संवादः । विवाहकथा । मृत्युचिह्नस्य आयुषः प्रमाणम् । कालजयः । छायापुरुषलक्षणम् । धार्मिकाणा गतिर्लिङ्ग-पूजायाः कारण च । विष्णुकृतः शिवस्तवः लिङ्गपूजायाः फलञ्च । सृष्टि-कथनम् । प्रजापतिकृतसृष्टिकथनम् । पृथुराज्ञ पूजायाः कथा । देवदान-वादीनां सृष्टिविस्तारः । आधिपत्यनिर्णयः । पृथुचरित्तवर्णनम् । मन्वन्त-रादिवर्णनम् । संज्ञाछायादीना कथनम् । सूर्यवंशवर्णनम् । सत्यव्रत-सगर-राज्ञोश्च विवरणकथनम् पितृकल्पस्य श्राद्धस्य च कथा, पितृसप्तक-वर्णनम् । मुनीनां जात्यन्तरप्राप्तिः । साधुसङ्गेन मुनिसप्तकस्य सद्गति-लाभः । व्यासपूजा ।

विधानसहितं सम्यक् पुराणं फलदं श्रुतम् ।
तस्माद्विधानयुक्तन्तु पुराणं फलमुत्तमम् ॥

(६) देवीभागवतम्
तत्प्रतिपादितविषयाश्च

प्रथमस्कन्धे—

देवीभागवतस्य महापुराणत्वादिसिद्धान्तनिर्णयः । ग्रन्थारम्भमंगलम्, ऋषीणां पुराणविषयप्रश्नः ग्रन्थसङ्ख्याविषयश्च । ससंख्याक–पुराणाख्या तत्तद्युगीयव्यासानुकथनञ्च । देवी सर्वोत्तमेतिकथनं प्रसङ्गत· शुकजन्म च । देव्या महोत्कर्षः । मधुकैटभयोर्युद्धोद्योग. । ब्रह्मणा मधुकैटभभीतेन पराम्बिकायाः स्तुतिः । आराध्यनिर्णयः । देवीप्रसादान्मधुकैटभयोर्हरिणा वधः । शिवस्य वरदानम् । बुधोत्पत्तिः । पुरूरवस उत्पत्तिः । पुरूरवस उर्वश्याश्चरितम् । शुकस्योत्पत्तिः । शुकवैराग्यम् । शुकायैतत्पुराणोपदेशः । जनकस्य परीक्षार्थं शुकस्य मिथिलागमनम् । शुकाय जनकोपदेशः । शुकस्य विवाहादिकम् । शुकनिर्गमनोत्तरं व्यासकृत्योपवर्णनम् ।

द्वितीयस्कन्धे—

व्यासजन्मवृत्तान्तवर्णनम् । पराशराद्दासकन्योदरे व्यासस्य जन्म । शन्तनो· सत्यवत्या गङ्गया च सह विवाहः वसूनामुत्पत्तिश्च । शन्तुना सत्यवत्या वरणम् । व्यासात् पुत्रत्रयोत्पत्तिः पाण्डवोत्पत्तिश्च । पाण्डवानां कथानकं मृतानां दर्शनञ्च । यदुकुलस्य नाशः उत्तरासूनोर्वृत्तञ्च । रुरुपुरावृत्तकथनपूर्वको गुप्तगृहे राज्ञो वासः । तक्षकद्विजयोः सम्भाषणं तक्षकेण राज्ञो दर्शनञ्च सर्पसत्राय बद्धपरिकरस्य जनमेजयस्यास्तीकेन निवारणम् । आस्तीकस्योद्भवो भागवतमाहात्म्यञ्च ।

तृतीयस्कन्धे :—

भुवनेश्वरीनिर्णयः । विमानेन ब्रह्मादीनां गतिः । विमानस्थैर्हरादिभिर्देवीदर्शनम् । विष्णुना कृतं देवीस्तोत्रं तदूर्ध्वं हरस्तुतिर्ब्रह्मस्तुतिश्च । ब्रह्मणे श्रीदेव्या उपदेशः । तत्त्वनिरूपणम् । गुणानां रूपसंस्थानादि । पुनरपि गुणानां लक्षणमधिकृत्य नारदप्रश्नः । सत्यव्रतकथा । वाग्बीजोच्चारणात् सत्यव्रतस्य सिद्धिलाभः । अम्बायज्ञविधिः । अम्बिकामखस्य विष्णुनानुष्ठानम् । राजप्रश्नोत्तर वैभववर्णनञ्च । युधाजिद्वीरसेनयोर्दौहित्रार्थं युद्धम् । युधाजितः सुदर्शनजिघांसया भरद्वाजाश्रमं प्रति गमनम् । विश्वामित्रकथोत्तरं राजपुत्रस्य कामबीजप्राप्ति. काशीराजस्य स्वसुताविवाहोद्योगः । सुदर्शनेन सह राज्ञां स्वयम्वरागमनम् । राजसंवादनिवृत्तिपूर्वकं कन्याबोधः । राज्ञां कोलाहले कन्यासम्मतस्य राज्ञः स्थानम् ।

सुदर्शनविवाहः सुबाहोः कन्याया विवाहश्च । महारणे शत्रूणां देव्या व्यापादनम् । देवीमहिमा काश्यां दुर्गावासश्च । अंबिकातोषणं तत्पुरे देवीस्थापनञ्च । नवरात्रविधेर्नृपाय व्यासेन कथनम् । कुमारिकाकथनम् । रामायणकथाप्रश्नः । रामशोक । नारदेन व्रतकथनम् ।

चतुर्थस्कन्धे :—

कृष्णावतारप्रश्नः । कर्मणो जन्मादिकरणत्वनिरूपणम् । अदितेः शापकथनम् । अधमजगतः स्थितिः । नारायणकथा । नराग्रजेनोर्वशी-सृष्टिः । अहंकारावर्तनम् । प्रह्लादनारायणयोः समागमः प्रह्लादनारायण-योर्युद्धम् । हरये भृगुणा शापदानम् । शुक्रस्य मन्त्रलाभार्थं गमनं शुक्र-मातुर्वधश्च । भृगुणा शुक्रमातुरुज्जीवनम् । जयन्त्याः शुक्रसेवार्थं प्रेषणम् । शुक्ररूपेण देवानां गुरुणा दैत्यवञ्चना । दैत्यानां शुक्रसम्प्राप्तिः । देवदानव-योर्युद्धशान्तिः । हरेर्नानावताराः । सुराङ्गनानां नारायणाश्रमे गमनम् । दुष्टराजभाराक्रान्ताया मेदिन्या ब्रह्माण प्रात गमनम् । देवैः शक्ति-स्तवनम् । वासुदेवांशावतारकथा । देवक्याः सप्तानां पुत्राणां वधः । देवानामंशावतारणम् । कृष्णजन्मकथनम् । कृष्णकथा । पराशक्तेः सर्वज्ञत्वकथनम् ।

पञ्चमस्कन्धे :—

विष्णोरपेक्षया रुद्रस्य श्रेष्ठत्वम् । देवीमाहात्म्यवर्णनम् महिषोत्पत्ति. । देवेन्द्रेण सह समरोद्योगः । देवानां ससदि विमर्शः । देवसेनापराजयः । देवदानवयुद्धम् । पराभूताना देवाना कैलासगमनम् । जगदम्बायाः पलाश-समिधां ज्वालनयोत्पत्तिकथनम् । देवैर्महायुधैर्देव्यर्चनम् । रक्तदूतसंवाद-कीर्तनम् । महिषासुरसंसदि विमृश्यानाम्नो दूतस्य प्रेषणम् । ताम्रस्याग-मनोत्तरं बाष्कल-दुर्मुखयोः प्रेषणम् । बाष्कलदुर्मुखयोर्वधः । ताम्रचिक्षु-रयोर्देव्या वधः । महारणेऽसिलोमादीनां निधनम् । महिषासुरस्य देव्या संवादः । मंदोदर्याः कथानकम् । महिषस्य वधः । देवैः कृता महादेवीस्तु-तिः अन्तर्धानोत्तरं वृत्तकथनम् । शुम्भासुरकथा । परादेव्याः सुरकार्यार्थं प्रादुर्भावः । कौशिकीतिप्रसिद्धाया देव्या गिरौ प्रादुर्भावः । दूतसंवाद-कीर्तनम् । धूम्रलोचनवधः । चण्डमुण्डयोः श्रीदेव्या सह युद्धम् । रक्तबीज-युद्धम् । रक्तबीधवधः शुम्भस्य युद्धस्य विस्तारः । शुंभस्य युद्धोद्योगः । निशुम्भवधः । शुम्भासुरवधाश्रितकथा । राजवैश्ययोश्चरित्रत्रयं सेवकयो-र्वार्ता । भुवनसुन्दर्या राज्ञे कथनम् । राज्ञे तापसोपदेशः । राजवैश्ययो-र्देव्याः प्रत्यक्षदर्शनम् ।

षष्ठस्कन्धे :—

वृत्रदैत्यवधकथारम्भः । त्रिशिरोवधवर्णनम् । पित्राज्ञया वृत्रस्य तपोर्थं वनगमनम् । वृत्रेण वरगर्वेण पराभूताना देवानां शंकरसमीपे गमनम् ।

देवीस्तुत्या देवैर्वरप्रापणम् । वृत्रदैत्यवधाश्रिता कथा । वासवस्य गुप्तवासो नहुषस्य चेन्द्रपदेऽभिषेकः । नहुषेण प्रार्थितायाः शच्याश्चिन्ता, देवीप्रसादतस्तस्या इन्द्रदर्शनम् । नहुषस्याधःपातः त्रिविधस्य कर्मणो रूपकथनम् । युगोद्भवानां धर्माणां कथनं सदसद्धर्मविनिर्णयश्च । आडीबकमहायुद्धस्य तीर्थयात्राप्रसङ्गत उपवर्णनम् शुनःशेपकथान्ते युद्धस्य स्मरणम् । वसिष्ठस्य मित्रावरुणापत्यत्वविस्तारः । निमेर्देहान्तरे गतिः हैहयानां कथा । हैहयैर्न भार्गवाणां वधः । देवीकृपया भृगुवंशस्तुतिः । हैहयस्य कथा । हरेरश्विन्या जन्म । हयीजातस्य हरेः कथानकम् । एकवीराभिषेचनोर्ध्ववृत्तकथनम् । एकावल्याः कथानकम् । हैहयभूभृतः कालकेतुना महायुद्धम् । विक्षेपशक्तिकथनम् । व्यासेन स्वमोहापपादनम् । नारदेनापि तथाकरणम् । नारदस्य विवाहः । पुनरपि तस्यैव विस्तारः । स्त्रीभावं गतस्य नारदस्य पुनः पुरुषत्वप्राप्तिः । हरिणा महामायाप्रभावकथनम् । भगवतीध्यानादिकम् ।

सप्तमस्कन्धे :—

सूर्यसोमोद्भवानां कथारम्भः । तदन्वयस्य विस्तारः । सुकन्यकायाश्च्यवनाय प्रदानम् । सुकन्यादेवभिषजोः संवादः । रविपुत्रप्रसादजा च्यवनस्य युवावस्था । शर्यातेर्यज्ञकरणम् । तत्राश्विनोः सोमपानम् । तद्वंशकथनम् । ककुत्स्थादीनामुत्पत्तिः । सत्यव्रतकथा । त्रिशङ्कोः कथानकम् । त्रिशङ्कोः स्वर्गवासः । हरिश्चन्द्रे नृपे सति त्रिशङ्कोर्विश्वामित्रेण समागमः । हरिश्चन्द्रकथा । राज्ञः पुत्रोत्सवः । शुनःशेपवधाश्रया कथा । विश्वामित्रेण शुनःशेपस्य मोचनम् । हरिश्चन्द्रेण विश्वामित्रवैरम् । हरिश्चन्द्रस्य राज्यविध्वंसः । नृपस्य दक्षिणादानयत्नः । तत्कृतः शोकः । हरिश्चन्द्रेणात्मविक्रयः । चाण्डालेन हरिश्चन्द्रक्रयः । हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालगृहेऽवस्थानम् । भूभृतः पुत्रभार्याकथा । पत्नीमभिज्ञाय हरिश्चन्द्रस्य शोकः । हरिश्चन्द्रस्य स्वर्गवासः । शताक्षी महिमा । राजवार्तायाः प्रश्नः । गौरीजन्म नानापीठोद्भवश्च । पार्वत्या हिमालयाज्जन्म । आत्मतत्त्वनिरूपणम् । विश्वरूपदर्शनम् । ज्ञानस्य मोक्षार्थत्वम् । मन्त्रसिद्धेः साधनम् । ब्रह्मतत्त्वम् । भक्तिमहिमा । देव्या महोत्सवव्रतानि स्थानानि च । भगवतीपूजनम् । ब्रह्मपूजाविधानम् ।

अष्टमस्कन्धे :—

मनवे देव्या वरदानम् । वराहेण धरोद्धरणम् । मनुवंशवर्णनम् । प्रियव्रतकथानकम् । भूमण्डलस्य विस्तारः । देवावर्णनं देव्युपास्तिश्च । मूलादूर्ध्वमहार्यवर्णनम् । इलावृत्तवर्णनम् । वर्षान्तर्गतसेव्यसेवकत्वकथनम् । तत्र सेव्यसेवकरूपाणां वर्णनम् । वर्षान्तरे क्रमप्राप्ता

सेव्यसेवकता। द्वीपान्तरसमाचारः। शिष्टद्वीपसमाचारः। लोकालोकगिरिव्यवस्था। रवेर्गमनमान्द्यादिप्रकारः। सोमादीनां गत्यनुसारेण विविधं फलम्। ध्रुवमण्डलसंस्थानम्। राहुमण्डलं सूर्यचन्द्रोपरागश्च। तलादेर्वर्णनम्। तलातलस्थितिः। नरकस्वरूपम्। वातकोपपादनम्। शिष्टानां नरकाणा वर्णनम्। देव्याराधनम्।

नवमस्कन्धे :—

सक्षेपेण शक्तिवर्णनम्। पंचप्रकृतिसंभवः देवतादिसृष्टिः। सरस्वतीस्तोत्रपूजादि। धर्मात्मजेन नारदाय सरस्वतीमहास्तोत्रकथनम्। लक्ष्मीगगाभारतीना जन्म पृथ्वीलोके। तासां शापोद्धारप्रकारः। गङ्गादीनां समुत्पत्तिः कलौ वर्त्तनञ्च। शक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गतो भूमिशक्तेः समुत्पत्तिः। धरादेव्या अपराधे कृते सति नरकादिफलप्राप्तिकथनम्। गङ्गोत्पत्तिः। राधाकृष्णाऽङ्गसभवाया गङ्गाया गोलोके समुत्पत्तिः। जाह्नवी नारायणप्रिया जातेति कथनम्। गङ्गाविष्ण्वोः परस्परसम्बन्धकरणम्। तुलस्युपाख्यानप्रश्नः। महालक्ष्म्या राजगृहे जन्म। धर्मध्वजसुतायास्तुलस्याः कथा। शङ्खचूडेन तुलस्याः सङ्गतिः संवादश्च। तयोर्विवाहानन्तरं देवानां वैकुण्ठगमनम्। शङ्खचूडस्य देवैः सह संग्रामः। शङ्खचूडमहेशयोर्युद्धम्। युद्धारम्भ. जनार्दनेन शङ्खचूडस्य कवचहरणम्। तुलसीसंगमवर्णन तन्माहात्म्यञ्च। महामन्त्रसहितं तुलसीपूजनम्। सा वेत्र्याख्यानम्। तस्या राजोदरे जन्म। अध्यात्मप्रश्न'। दानधर्मफलम्। नानादानफलम्। सावित्र्यै मूलशक्तिमहामन्त्रदानम्। पातकाना फलानि। कुण्डेषु ये पतन्ति तेषां लक्षणम्। अवशिष्टाना कुण्डाना कथनम्। पुनरपि शिष्टाना कुण्डानां कथनम्। देवीभक्त्या यमपुरीत्रयनाशकथनम्। कुण्डानां लक्षणम्। देवोमहोत्कर्पः। महालक्ष्म्याख्यानम्। लक्ष्मीजन्मादेर्नारदाय कथनम्। शक्रस्य ब्रह्मलोकं प्रति गमनम्। महालक्ष्म्यर्चनक्रमादि। स्वाहाशक्तेरुपाख्यानम्। स्वधायाः समुपाख्यानम्। दक्षिणाया उपाख्यानम्। षष्ठीदेव्या उपाख्यानम्। मंगलचण्डयाः कथा। मनसायाः कथास्तोत्रादि। सुरभ्याख्यानम्। राधाया दुर्गायाश्च चरित्रम्।

दशमस्कन्धे :—

मनोः स्वायम्भुवस्याख्यानम्। भगवत्या विन्ध्याद्रिगमनम्। विन्ध्येन भानुमार्गनिरोधः। वृषध्वजस्तुतिस्तस्मै वृत्तान्तकथनञ्च। महाविष्णुस्तोत्रम्। अगस्त्येन देवीप्रार्थनातो विन्ध्याद्रेर्वृद्धिकुण्ठनम्। मुनिना विन्ध्यवृद्धिकुण्ठनम्। स्वारोचिषस्य मनोः कथा। चाक्षुषस्य मनोः कथा। सावर्णेर्मनोः कथा। महाकालीचरितम्। महालक्ष्मीमहासरस्वत्योश्चरितम्। नवमादिमनूना चरित्रवर्णनम्।

एकादशस्कन्धे :—

प्रातःकृत्यम् । शौचादिविधिः । स्नानादिविधिः रुद्राक्षधारणमहिमा च । रुद्राक्षाणां वहुविधत्वकथनम् । जपमालाविधानम् । रुद्राक्षमहिमा । एकवक्त्रादि रुद्राक्षाणां वर्णनम् । भूतशुद्धिः । शिरोव्रतविधानम् । गौण-भस्मादिवर्णनम् । तस्य त्रिविधत्वं माहात्म्यञ्च । भस्मधारणविस्तरः । भस्मतो-महिमा । विभूतिधारणमाहात्म्यम् । त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रयोर्महिमा । सन्ध्योपासनम् । सन्ध्यादिकृत्यन् । पूर्णोपचारादिकथनम् । मध्याह्न-संध्याकरणन् । ब्रह्मयज्ञादिकन् । गायत्रीपुरश्चरणम् । वैश्वदेवादिकम् । भोजनान्ते करणीयं तप्तकृच्छ्रादिलक्षणञ्च : काम्यकर्मसंग्रहणं प्रायश्चित्त-विधानञ्च ।

द्वादशस्कन्धे :—

गायत्र्या ऋष्यादिकथनम् । वर्णानां शक्त्यादि । जगन्मातुः कवचन् । गायत्रीहृदयन् । गायत्रीस्तोत्रम् । गायत्रीनामसहस्रम् । दीक्षा-विधिः । केनोपनिषत्कथा । गौतमशापेन ब्राह्मणानामन्यदेवतोपासनश्रद्धा । द्वीपवर्णनम् । पद्मरागादिनिर्मितप्राकारवर्णनम् । चिन्तामणिगृहवर्णनम् । जनमेजयेन देवीमखकरणम् । उपसंहारः पुराणफलदर्शनञ्च ।

(७) भविष्यपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदीयपुराणे ४ पा० १०० अ० उक्ता यथा :—

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणं सर्वसिद्धिदम् ।
भविष्यं भवतः सर्वलोकाभीष्टप्रदायकम् ॥
तत्राहं सर्वदेवानामादिकर्त्ता समुद्यतः ।
सृष्ट्यर्थं यत्र सञ्जातो मनुः स्वायम्भुवः पुरा ॥
स मां प्रणम्य पप्रच्छ धर्मं सर्वार्थसाधकम् ।
अहं तस्मै तदा प्रीतः प्रावोचं धर्मसंहिताम् ॥
पुराणानां यदा व्यासो व्यासञ्चक्रे महामतिः ।
तदा तां संहिता सर्वां पञ्चधा व्यभजन्मुनिः ॥
अघोरकल्पवृत्तान्तनानाश्चर्यकथाचिताम् ।

तत्र प्रथमपर्वणि :—

"तत्रादिमं स्मृतं पर्व ब्राह्मं यत्रास्त्युपक्रमः ।
सूतशौनकसवादे पुराणप्रश्नसक्रमः ॥
आदित्यचरितप्रायः सर्वाख्यानसमाचितः ।
सृष्ट्यादिलक्षणोपेतः शास्त्रसर्वसरूपकः ॥
पुस्तलेखकलेखानां लक्षणञ्च ततः परम् ।
संस्काराणाञ्च सर्वेषां लक्षणञ्चात्र कीर्तितम् ॥

पक्षत्यादितिथीनाञ्च कल्पाः सप्त च कीर्तिताः ।
अष्टमाद्याः शेषकल्पा वैष्णवे पर्वणि स्मृता ॥
शैवे च कामतो भिन्ना सौरे चान्त्यकथाचयः ।
प्रतिसर्गाह्वयं पश्चान्नानाख्यानसमाचितम् ॥
पुराणस्योपसंहारः सहितं पर्व पंचमम् ।
एषु पञ्चसु पूर्वस्मिन् ब्रह्मणो महिमाधिकः ॥

द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमपर्वसु :—

"धर्मे कामे च मोक्षे तु विष्णोश्चापि शिवस्य च ।
द्वितीये च तृतीये च सौरो वर्गचतुष्टये ॥
प्रतिसर्गाह्वयन्त्वन्त्यं प्रोक्तं सर्वं कथाचितम् ।
एतद्भविष्यं निर्दिष्टं पर्वं व्यासेन धीमता ॥
चतुर्दशसहस्रं तु पुराणं परिकीर्तितम् ।
भविष्यं सर्वदेवानां साम्यं यत्र प्रकीर्तितम् ।
गुणाना तारतम्येन सम ब्रह्मेति हि श्रुतिः ॥"

तत्फलश्रुतिः :—

तल्लिखित्वा तु यो दद्यात्पौष्यां विद्वान्विमत्सरः ।
गुडधेनुयुतं हेम वस्त्रमाल्यविभूषणैः ॥
वाचकम्पुस्तकं चापि पूजयित्वा विधानतः ।
गन्धाद्यैर्भोज्यभक्ष्यैश्च कृत्वा नीराजनादिकम् ॥
यो वै जितेन्द्रियो भूत्वा सोपवासः समाहितः ।
अथवा यो नरो भक्त्या कीर्तयेच्छृणुयादपि ॥
स मुक्तः पतकैर्घोरैः प्रयाति ब्रह्मणः पदम् ।
योऽप्यनुक्रमणीमेता भविष्यस्य निरूपिताम् ।
पठेद्वा शृणुयाच्चैतौ भुक्ति मुक्तिञ्च विन्दतः ॥

(८) नारदीयपुराणम्

तद्विषयाश्च :—

"शृणु विप्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं नारदीयकम् ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं वृहच्चित्रकथाश्रयम् ॥ १ ॥

तत्र पूर्वभागे प्रथमपादे :—

"सूत-शौनकसंवादः सृष्टिसंक्षेपवर्णनम् ।
नानाधर्मकथाः पुण्याः प्रवृत्त. समुदाहृताः ।
प्राग्भागे प्रथमे पादे सनकेन महात्मना ॥"

पूर्वभागे द्वितीयपादे :—

'द्वितीये मोक्षधर्माख्ये मोक्षोपायनिरूपणम् ।
वेदाङ्गानाञ्च कथनं शुकोत्पत्तिश्च विस्तरात् ।
सनन्दनेन गदिता नारदाय महात्मने ॥"

पूर्वभागे तृतीयपादे—

महातन्त्रे समुद्दिष्टं पशुपाशविमोक्षणम् ।
मन्त्राणां शोधनं दीक्षा मन्त्रोद्धारश्च पूजनम् ।।
प्रयोगाः कवचं चैव सहस्रं स्तोत्रमेव च ।
गणेशसूर्यविष्णूनां शिवशक्त्योरनुक्रमात् ।
सनत्कुमारमुनिना नारदाय तृतीयके ।।"

पूर्वभागे चतुर्थपादे—

पुराणलक्षणञ्चैव प्रमाणं दानमेव च ।
पृथक् पृथक् समुद्दिष्टं दानकालपुरःसरम् ।।
चैत्रादिसर्वमासेषु तिथीनां च पृथक् पृथक् ।
प्रोक्तम्प्रतिपदादीनां व्रतं सर्वाघनाशनम् ।।
सनातनेन मुनिना नारदाय चतुर्थके ।
पूर्वभागोऽयमुदितो बृहदाख्यानसञ्ज्ञितः ।।"

तदुत्तरभागे—

अस्योत्तरे विभागे तु प्रश्न एकादशीव्रते ।
वशिष्ठेनाय संवादो मान्धातुः परिकीर्तितः ।।
रुक्माङ्गदकथा पुण्या मोहिन्युत्पत्तिकर्म च ।
वसुशापश्च मोहिन्यै पश्चादुद्धरणक्रिया ।।
गंगाकथा पुण्यतमा गयायात्रानुकीर्त्तनम् ।
काश्या माहात्म्यमतुलम्पुरुषोत्तमवर्णनम् ।।
यात्राविधानं क्षेत्रस्य बह्वाख्यानसमन्वितम् ।
प्रयागस्याथ माहात्म्यं कुरुक्षेत्रस्य तत्परम् ।।
हरिद्वारस्य चाख्यानं कामोदाख्यानकन्तथा ।
बदरीतीर्थमाहात्म्यं कामाख्यायास्तथैव च ।
प्रभासस्य च माहात्म्यं पुराणाख्यानकन्तथा ।
गौतमाख्यानकम् पश्चाद् वेदपादस्तवस्ततः ।।
गोकर्णक्षेत्रमाहात्म्यं लक्ष्मणाख्यानकं तथा ।
सेतुमाहात्म्यकथनं नर्मदातीर्थवर्णनम् ।।
अवन्त्याश्चैव माहात्म्यं मथुरायास्ततः परम् ।
वृन्दावनस्य महिमा वसोर्ब्रह्मान्तिके गतिः ।
मोहिनीचरितम् पश्चादेवं वै नारदीयकम् ।।

तत्फलश्रुतिः—

यः शृणोति नरो भक्त्या श्रावयेद्वा समाहितः ।
स याति ब्रह्मणो धाम नात्र कार्या विचारणा ।।

यस्त्वेतदिषपूर्णायां धेनूना सप्तकान्वितम् ।
प्रदद्याद् द्विजवर्याय स लभेन्मोक्षमेव च ॥
यश्चानुक्रमणीमेतां नारदीयस्य वर्णयेत् ।
शृणुयाद्वैकचित्तेन सोऽपि स्वर्गगतिं लभेत् ॥

(९) मार्कण्डेयपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदपुराणे पूर्वभागे ८७ अ० उक्ता यथा :—

"यत्राधिकृत्य शकुनीन् सर्वधर्मनिरूपणम् ।
मार्कण्डेयेन मुनिना जैमिनेः प्राक् समीरितम् ॥
पक्षिणां धर्मसंज्ञानां ततो जन्मनिरूपणम् ।
पूर्वजन्मकथा चैषा विक्रिया च दिवस्पतेः ॥
तीर्थयात्रा बलस्यातो द्रौपदेयकथानकम् ।
हरिश्चन्द्रकथा पुण्या युद्धमाडीबकाभिधम् ॥
पितापुत्रसमाख्यानं दत्तात्रेयकथा ततः ।
हैहयस्याथ चरितं महाख्यानसमान्वितम् ॥
मदालसाकथा प्रोक्ता ह्यलर्कचरितान्विता ।
सृष्टिसंकीर्तनं पुण्यं नवधा परिकीर्तितम् ॥
कल्पान्तकालनिर्देशो यक्ष्मसृष्टिनिरूपणम् ।
रुद्रादिसृष्टिरप्युक्ता द्वीपवर्षानुकीर्त्तनम् ॥
मनूना च कथा नाना कीर्त्तिताः पापहारिकाः ।
तासु दुर्गाकथात्यन्तं पुण्यदा चाष्टमेऽन्तरे ॥
तत्पश्चात्प्रणवोत्पत्तिस्त्रयीतेजःसमुद्भवः ।
मार्त्तण्डस्य च जन्माख्या तन्माहात्म्यसमाचिता ॥
वैवस्वतान्वयश्चापि वत्सप्र्याश्चरितं ततः ।
खनित्रस्य ततः प्रोक्ता कथा पुण्या महात्मनः ॥
अविक्षिच्चरितं चैव किमिच्छव्रतकीर्तनम् ।
नरिष्यन्तस्य चरितमिक्ष्वाकुचरितं ततः ॥
तुलस्याश्चरितं पश्चाद्रामचन्द्रस्य सत्कथा ।
कुशवंशसमाख्यानं सोमवंशानुकीर्तनम् ॥
पुरूरवःकथा पुण्या नहुषस्य कथाद्भुता ।
ययातिचरित पुण्यं यदुवंशानुकीर्तनम् ॥
श्रीकृष्णबालचरितं माथुरं चरितं ततः ।
द्वारकाचरितञ्चाथ कथा सर्वावतारजा ॥
ततः साख्यसमुद्देगः प्रपञ्चासत्त्वकीर्त्तनम् ।
मार्कण्डेयस्य चरितं पुराणश्रवणं फलम् ।

य: शृणोति नरो भक्त्या पुराणमिदमादरात् ।
मार्कण्डेयाभिधं वत्स स लभेत्परमां गतिम् ।।
यस्तु व्याकुरुते चेतच्छैवं स लभते पदम् ।
तत्प्रयच्छेल्लिखित्वा य सौवर्णकरिसंयुतम् ।।
कार्तिक्यां द्विजवर्याय स लभेद् ब्रह्मण: पदम् ।
शृणोति श्रावयेद्वापि यश्चानुक्रमणीमिमाम् ।।
मार्कण्डेयपुराणस्य स लभेद्वाञ्छितम्फलम् ।

(१०) अग्निपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च :—

भगवतोऽवतार:, सृष्टिप्रकार:, विष्णुपूजा, मुद्रादिलक्षणम्, दीक्षा, अभिषेक:, मण्डपलक्षणम्, कुशमार्जनविधि:, पवित्रारोप:, देवतायतनादिनिर्माणप्रकार:, शालग्रामलक्षणपूजे, देवप्रतिष्ठानियामकदीक्षा, देवप्रतिष्ठाविधि:, ब्रह्माण्डस्वरूपं, गङ्गादितीर्थमाहात्म्यं दीपवर्णनम्, ऊद्ध्वाधोलोकवर्णनम्, ज्योतिश्चक्रस्वरूपम् । युद्धजयोपायषट्कर्मविधानम्, यन्त्रमन्त्रौषधप्रकार:, कुब्जिकार्चनविधि:, कोटिहोमविधानम्, ब्रह्मचर्य्यधर्म:, श्राद्धकल्प:, ग्रहयज्ञ:, वैदिकस्मार्त्तकर्म्मणी, प्रायश्चित्तम्, तिथिभेदे व्रतभेद:, वारव्रतनक्षत्रव्रते, मासव्रतम्, दीपदानविधि:, नूतनव्यूहारम्भादि, नरकनिरूपणम्, दानव्रतम्, नाडीचक्रम् । सन्ध्याविधि:, गायत्र्यर्थ:, शिवस्तोत्र, राज्याभिषेक:, राजधर्म्म:, राजाध्येयशास्त्रम्, शुभाशुभशकुनादि, मण्डलादि, रमणदीक्षाविधि:, श्रीरामनति:, रत्नलक्षणम्, धनुर्विद्या, व्यवहारविधि:, देवासुरयोर्युद्धम्, आयुर्वेद:, गजादिचिकित्सा, पूजाप्रकार: । शान्तिविधि:, छन्द शास्त्रम्, साहित्यम्, शिष्टानुशासनम्, सृष्ट्यादिप्रलयवर्णने, शारीरिकरूपम्, नरकवर्णनम्, योग:, ब्रह्मज्ञानम्, पुराणमाहात्म्यञ्च ।

(११) ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये ४ पा० १०१ अ० उक्ता यथा—

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं दशमं तव ।
ब्रह्मवैवर्त्तकं नाम वेदमार्गानुदर्शकम् ।।
सावर्णियत्र भगवान् साक्षाद्देवर्षयेऽतिथि: ।
नारदाय पुराणार्थं प्राह सर्वमलौकिकम् ।।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सार: प्रीतिर्हरौ हरे ।
तयोरभेदसिद्धयर्थं ब्रह्मवैवर्त्तमुत्तमम् ।।
रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तं यन्मयोदितम् ।
शतकोटिपुराणं तत् संक्षिप्य प्राह वेदवित् ।।

प्रायश्चित्तान्यरिष्टानि काशीश्रीशैलवर्णनम् ।
अन्धकाख्यानकं पश्चाद् वाराहचरितं पुनः ॥
नृसिंहचरितं पश्चाज्जलन्धरवधस्ततः ।
शैवं सहस्रनामाथ दक्षयज्ञविनाशनम् ॥
कामस्य दहनं पश्चाद् गिरिजायाः करग्रहः ।
ततो विनायकाख्यानं नृत्याख्यान शिवस्य च ॥
उपमन्युकथा चापि पूर्वभाग इतीरितः ।"

उत्तरभागे :—

विष्णुमाहात्म्यकथनमम्बरीपकथा ततः ।
सनत्कुमारनन्दीशसंवादश्च पुनर्मुने ॥
शिवमाहात्म्यसंयुक्तस्नानयागादिकं ततः ।
सूर्यपूजाविधिश्चैव शिवपूजा च मुक्तिदा ॥
दानानि बहुधोक्तानि श्राद्धप्रकरणन्ततः ।
प्रतिष्ठा तत्र गदिता ततोऽघोरस्य कीर्त्तनम् ॥
व्रजेश्वरी-महाविद्या-गायत्रीमहिमा ततः ।
त्र्यम्बकस्य च माहात्म्यं पुराणश्रवणस्य च ॥
एतस्योपरिभागस्ते लैंगस्य कथितो मया ।
व्यासेन हि निबद्धस्य रुद्रमाहात्म्यसूचिनः ॥
लिखित्वैतत्पुराणन्तु तिलधेनुसमाचितम् ।
फाल्गुन्या पूर्णिमायां यो दद्याद्भक्त्या द्विजायते ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि लैङ्गं पापापहं नरः ।
स भुक्तभोगो लोकेऽस्मिन्नन्ते शिवपुरम्व्रजेत् ॥
लिगानुक्रमणीमेता पठेद्यः शृणुयात्तथा ।
तावुभौ शिवभक्तौ तु लोकद्वितयभोगिनौ ॥
जायेतां गिरिजाभर्त्तु. प्रसादान्नात्र संशयः ।

(१३) वराहपुराणम्

तद्विषयाञ्च नारदीयपुराणे पूर्वभागे वृहदुपाख्याने चतुर्थभागे १०२ अध्याये उक्ता यथा—

श्रीब्रह्मोवाच :—

"शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम् ।
भागद्वययुतं शश्वद्विष्णुमाहात्म्यसूचकम् ॥
मानवस्य तु कल्पस्य प्रसङ्गं मत्कृतं पुरा ।
निवबन्ध पुराणेऽस्मिश्चतुर्व्विशसहस्रके ॥

व्यासो हि विदुषां श्रेष्ठः साक्षान्नारायणो भुवि ।
तत्रादौ गुभसंवादः स्मृतो भूमिवराहयोः ।"

तत्र पूर्वभागे :—

"अथादिकृतवृत्तान्ते रभ्यस्य चरितं ततः ।
दुर्ज्जयाय च तत्पश्चाच्छ्राद्धकल्प उदीरितः ॥
महातपस आख्यानं गौर्य्युत्पत्तिस्ततः परम् ।
विनायकस्य नागानां सेनान्यादित्ययोरपि ॥
गणानाञ्च तथा देव्या धनदस्य वृषस्य च ।
आख्यानं सत्यतपसो व्रताख्यानसमन्वितम् ॥
अगस्त्यगीता तत्पश्चाद्रुद्रगीता प्रकीर्त्तिता ।
महिषासुरविध्वंसे माहात्म्यञ्च त्रिशक्तिजम् ॥
पर्व्वाध्यायस्ततः श्वेतोपाख्यानं गोप्रदानिकम् ।
इत्यादिकृतवृत्तान्तं प्रथमोद्देशनामकम् ॥
भगवद्धर्मके पश्चाद्व्रततीर्थकथानकम् ।
द्वात्रिंशदपराधानां प्रायश्चित्तं शरीरकम् ॥
तीर्थानाञ्चापि सर्व्वेषां माहात्म्यं पृथगीरितम् ।
मथुराया विशेषेण श्राद्धादीना विधिस्ततः ॥
वर्णनं यमलोकस्य ऋषिपुत्रप्रसङ्गतः ।
विपाकः कर्म्मणाञ्चैव विष्णुव्रतनिरूपणम् ॥
गोकर्णस्य च माहात्म्यं कीर्त्तितं पापनाशनम् ।
इत्येष पूर्वभागोऽस्य पुराणस्य निरूपितः ॥

उत्तरभागे :—

उत्तरे प्रविभागे तु पुलस्त्यकुरुराजयोः ।
संवादे सर्वतीर्थानां माहात्म्यं विस्तरात्पृथक् ॥
अशेषधर्मश्चाख्याताः पौष्करं पुण्यपर्व च ।
इत्येवं तव वाराहं प्रोक्तं पापविनाशनम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

पठतां शृण्वताञ्चैव भगवद्भक्तिवर्द्धनम् ।
काञ्चनं गरुडं कृत्वा तिलधेनुसमाचितम् ॥
लिखित्वैतच्च यो दद्याच्चैत्र्यां विप्राय भक्तितः ।
स लभेद्वैष्णव धाम देवर्षिगणवन्दितः ॥
यो वानुक्रमणीमेतां शृणोत्यपि पठत्यपि ।
सोऽपि भक्ति लभेद्विष्णौ संसारोच्छेदकारिणीम् ॥

पुराणकीर्त्तनं तद्वत् क्रियायोगस्तथैव च।
व्रतं नक्षत्रसंख्याकं मार्कण्डशयनं तथा॥
कृष्णाष्टमीव्रतं तद्वद्रोहिणीचन्द्रसंज्ञितम्।
तडागविधिमाहात्म्यं पादपोत्सर्ग एव च॥
सौभाग्यशयनं तद्वदगस्त्यव्रतमेव च।
तथानन्ततृतीया तु रसकल्याणिनो तथा॥
आर्द्रानन्दकरी तद्वद्व्रतं सारस्वतं पुनः।
उपरागाभिषेकश्च सप्तमीस्नपनं पुनः॥
भीमाख्या द्वादशी तद्वदनङ्गशयनं तथा।
अशून्यशयनं तद्वत्तथैवांगारकव्रतम्॥
सप्तमीसप्तकं तद्वद्विशोकद्वादशी तथा।
मेरुप्रदानं दशधा ग्रहशान्तिस्तथैव च॥
ग्रहस्वरूपकथनं तथा शिवचतुर्दशी।
तथा सर्वफलत्यागः सूर्यवारव्रत तथा।
संक्रान्तिस्नपनं तद्वद्विभूतिद्वादशीव्रतम्।
षष्टिव्रतानां माहात्म्य तथा स्नानविधिक्रमः॥
प्रयागस्य तु माहात्म्यं सर्वतीर्थानुकीर्तनम्।
पैलाश्रमफलं तद्वद् द्वीपलोकानुकीर्तनम्॥
तथान्तरिक्षचारश्च ध्रुवमाहात्म्यमेव च।
भवनानि सुरेन्द्राणां त्रिपुरायोधनं तथा॥
पितृपिण्डदमाहात्म्यं मन्वन्तरविनिर्णय.।
वज्राङ्गस्य तु सम्भूतिः तारकोत्पत्तिरेव च॥
तारकासुरमाहात्म्यं ब्रह्मदेवानुकीर्त्तनम्।
पार्वतीसम्भवस्तद्वत् तथा शिवतपोवनम्।
अनङ्गदेहदाहस्तु रतिशोकस्तथैव च।
गौरीतपोवन तद्वद्विश्वनाथप्रसादनम्॥
पार्वतीऋषिसंवादस्तथैवोद्वाहमङ्गलम्।
कुमारसम्भवस्तद्वत् कुमारविजयस्तथा॥
तारकस्य वधो घोरो नरसिंहोपवर्णनम्।
पद्मोद्भवविसर्गस्तु तथैवान्धकघातनम्॥
वाराणस्यास्तु माहात्म्य नर्मदायास्तथैव च।
प्रवरानुक्रमस्तद्वत् पितृनाथानुकोर्त्तनम्॥
ततोभयमुखीदानं दान कृष्णाजिनस्य च।
तथा सावित्र्युपाख्यानं राजधर्मास्तथैत्र च॥

यात्रानिमित्तकथनं स्वप्नमाङ्गल्यकीर्त्तनम् ।
वामनस्य तु माहात्म्यं तथैवादिवराहकम् ।।
क्षीरोदमथनं तद्वत्कालकूटाभिशासनम् ।
प्रासादलक्षणन्तद्वन्मण्डपानान्तु लक्षणम् ।।
पुरुवंशे तु सम्प्रोक्तं भविष्यद्राजवर्णनम् ।
तुलादानादि बहुशो महादानानुकीर्त्तनम् ।।
कल्पानुकीर्त्तनं तद्वद्ग्रन्थानुक्रमणी तथा ।
एतत्पवित्रमायुष्यमेतत्कीर्तिविवर्धनम् ।
एतत्पवित्रं कल्याणं महापापहरं शुभम् ।
अस्मात् पुराणादपि पादमेक पठेत्तु यः सोऽपि विमुक्तपापः ।
नारायणाख्यं पदमेति नूनमनङ्गवद्दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ।।

(१६) कूर्मपुराणम्

व्यासप्रणीतेषु अष्टादशमहापुराणेषु पञ्चदशे पुराणे तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये दर्शिता यथा—

श्रीब्रह्मोवाच :—

"शृणु वत्स ! मरीचेऽद्य पुराणं कूर्म्मसंज्ञितम् ।
लक्ष्मीकल्पानुचरितं यत्र कूर्म्मवपुर्हरिः ।।
धर्म्मार्थकाममोक्षाणा माहात्म्यञ्च पृथक् पृथक् ।
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन प्राहर्षिभ्यो दयाधिकम् ।।
तत्सप्तदशसाहस्रं सचतुःसंहितं शुभम् ।
यत्र ब्राह्मया (सहितया) पुरा प्रोक्ता धर्म्मा नानाविधा मुने ।।
नानाकथाप्रसङ्गेन नृणा सद्गतिदायकाः ।"

तत्पूर्वभागे :—

"तत्र पूर्वविभागे तु पुराणोपक्रमः पुरा ।
लक्ष्मीप्रद्युम्नसंवादः कूर्मर्षिगणसङ्कथा ।।
वर्णाश्रमाचारकथा जगदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
कालसंख्या समासेन लयान्ते स्तवनं विभोः ।।
ततः सङ्क्षेपतः सर्गः शाङ्कर चरितं तथा ।
सहस्रनाम पार्वत्या योगस्य च निरूपणम् ।।
भृगुवंशसमाख्यानं ततः स्वायम्भुवस्य च ।
देवादीनां समुत्पत्तिर्दक्षयज्ञाहतिस्ततः ।।
दक्षसृष्टिकथा पश्चात् कश्यपान्वयकीर्त्तनम् ।
आत्रेयवंशकथनं कृष्णाय चरितं शुभम् ।।

मार्कण्डकृष्णसवादो व्यासपाण्डवसंकथा।
युगधर्म्मानुकथनं व्यासजैमिनिकी कथा ॥
वाराणस्याश्च माहात्म्यं प्रयागस्य ततः परम्।
त्रैलोक्यवर्णनञ्चैव वेदशाखानिरूपणम् ॥"

तदुत्तरभागे :—

उत्तरेऽस्य विभागे तु पुरा गीतेश्वरी ततः।
व्यासगीता ततः प्रोक्ता नाना धर्म्मप्रबोधिनी ॥
नानाविधाना तीर्थानां माहात्म्यञ्च पृथक् ततः।
नानाधर्मप्रकथनं ब्राह्मीयं संहिता स्मृता ॥
अतः परं भगवती संहितार्थनिरूपणे।
कथिता यत्र वर्णानां पृथग् वृत्तिरुदाहृता ॥

तदुत्तरभागे भगवत्याख्यद्वितीयसंहितायाः पञ्चसु पादेषु—

"पादेऽस्याः प्रथमे प्रोक्ता ब्राह्मणानां व्यवस्थितिः।
सदाचारात्मिका वत्स ! भोगसौख्यविवर्द्धिनी ॥
द्वितीये क्षत्रियाणान्तु वृत्तिः सम्यक्प्रकीर्तिता।
यया त्वाश्रितया पापं विधूयेह व्रजेद्दिवम् ॥
तृतीये वैश्यजातीनां वृत्तिरुक्ता चतुर्विधा।
यया चारितया सम्यग् लभते गतिमुत्तमाम् ॥
चतुर्थेऽस्यास्तथा पादे शूद्रवृत्तिरुदाहृता।
यया सन्तुष्यति श्रीशो नृणा श्रेयोविवर्द्धनः ॥
पञ्चमेऽस्यास्ततः पादे वृत्तिः सङ्करजन्मनाम्।
यया चरितयाऽऽप्नोति भाविनीमुत्तमां जनिम् ॥
इत्येषा पञ्चपाद्युक्ता द्वितीया संहिता मुने।
तृतीयात्रोदिता सौरी नृणां कामविधायिनी ॥
बोढा षट्कर्मसिद्धिं सा बोधयन्ती च कामिनाम्।
चतुर्थी वैष्णवी नाम मोक्षदा परिकीर्तिता ॥
चतुष्पदी द्विजातीनां साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी।
ता. क्रमात् षट्चतुर्द्वीपुसहस्राः परिकीर्तिताः ॥

तत्फलश्रुतिः :—

"एतत्कूर्मपुराणन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम्।
पठतां शृण्वतां नृणा सर्वोत्कृष्टगतिप्रदम् ॥
लिखित्वैतत्तु यो भक्त्या हेमकूर्मसमन्वितम्।
ब्राह्मणायायने दद्यात् स याति परमां गतिम् ॥

(१७) स्कन्दपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च

श्रीनारदीयपुराणे पूर्वभागे वृहदुपाख्याने चतुर्थपादे १०४ अध्याये उक्ता यथा—

ब्रह्मोवाच :—

श्रृणु वक्ष्ये मरीचे च पुराणं स्कन्दसंज्ञितम् ।
यस्मिन् प्रतिपद साक्षान्महादेवो व्यवस्थितः ॥
पुराणे शतकोटौ तु यच्छैवं वर्णितं मया ।
लक्षितस्यार्थजातस्य सारो व्यासेन कीर्तितः ॥
स्कन्दाह्वयस्यात्र खण्डाः सप्तैव परिकल्पिताः ॥
एकाशीतिसहस्रन्तु स्कान्दं सर्व्वाघकृन्तनम् ॥
यः श्रृणोति पठेद्वापि स तु साक्षाच्छिवः स्थितः ।
यत्र माहेश्वरा धर्माः षण्मुखेन प्रकाशिताः ।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्ताः सर्वसिद्धिविधायिकाः ॥

तत्र माहेश्वरखण्डे :—

"तस्य माहेश्वरश्चाद्यः खण्ड. पापप्रणाशनः ॥
किञ्चिन्न्यूनार्कसाहस्रो बहुपुण्यो बृहत्कथ ।
सुचरित्रशतैर्युक्तः स्कन्दमाहात्म्यसूचकः ॥
यत्र केदारमाहात्म्ये पुराणोपक्रमः पुरा ।
दक्षयज्ञकथा पश्चाच्छिवलिङ्गार्चने फलम् ॥
समुद्रमथनाख्यानं देवेन्द्रचरितं तत. ।
पार्वत्याः समुपाख्यानं विवाहस्तदनन्तरम् ॥
कुमारोत्पत्तिकथनं ततस्तारकसङ्गर ।
ततः पाशुपताख्यानं चण्डाख्यानसमाचितम् ॥
द्यूतप्रवर्त्तनाख्यान नारदेन समागमः ।
ततः कुमारमाहात्म्ये पञ्चतीर्थकथानकम् ॥
धर्म्मवर्म्मनृपाख्यानं नदीसागरकीर्त्तनम् ।
इन्द्रद्युम्नकथा पश्चान्नाडीजङ्घकथाचिता ॥
प्रादुर्भावस्ततो मह्याः कथा दमनकस्य च ।
महीसागरसंयोगः कुमारेशकथा ततः ॥
ततस्तारकयुद्धञ्च नानाख्यानसमाचितम् ।
वधश्च तारकस्याथ पञ्चलिङ्गनिवेशनम् ॥

द्वीपाख्यानं ततः पुण्यमूर्ध्वलोकव्यवस्थित ।
ब्रह्माण्डस्थितिमानञ्च वर्करेशकथानकम् ।।
महाकालसमुद्भूतिः कथा चास्य महाद्भुता ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं कोटितीर्थं ततः परम् ।।
नानातीर्थसमाख्यानं गुप्तक्षेत्रे प्रकीर्त्तितम् ।
पाण्डवानां कथा पुण्या महाविद्याप्रसाधनम् ।।
तीर्थयात्रासमाप्तिश्च कौमारमिदमद्भुतम् ।
अरुणाचलमाहात्म्ये सनकब्रह्मसंकथा ।।
गौरीतपःसमाख्यानं तत्त तीर्थनिरूपणम् ।
महिषासुरजाख्यानं वधश्चास्य महाद्भुतः ।।
शोणाचले शिवास्थानं नित्यदा परिकीर्त्तितम् ।
इत्येष कथितः स्कान्दे खण्डो माहेश्वरोऽद्भुतः ।।

द्वितीये वैष्णवखण्डे :—

द्वितीयो वैष्णवः खण्डस्तस्याख्यानानि मे शृणु ।
प्रथमं भूमिवाराहं समाख्यानं प्रकीर्त्तितम् ।।
यत्र वोचकृकुध्रस्य माहात्म्यं पापनाशनम् ।
कमलायाः कथा पुण्या श्रीनिवासस्थितिस्ततः ।।
कुलालाख्यानकञ्चात्र सुवर्णमुखरीकथा ।
नानाख्यानसमायुक्ता भारद्वाजकथाद्भुता ।।
मतङ्गाञ्जनसंवादः कीर्त्तितः पापनाशनः ।
पुरुषोत्तममाहात्म्यं कीर्त्तितं चोत्कले ततः ।।
मार्कण्डेयसमाख्यानमम्बरीषस्य भूपते ।
इन्द्रद्युम्नस्य चाख्यानं विद्यापतिकथा शुभा ।।
जैमिनेः समुपाख्यानं नारदस्यापि वाडव ।
नीलकण्ठसमाख्यानं नारसिंहोपवर्णनम् ।।
अश्वमेधकथा राज्ञो ब्रह्मलोकगतिस्तथा ।
रथयात्राविधिः पश्चाज्जन्मस्नानविधिस्तथा ।।
दक्षिणामूर्त्त्युपाख्यानं गुण्डिचाख्यानकं ततः ।
रथरक्षाविधानञ्च शयनोत्सवकीर्त्तनम् ।।
श्वेतोपाख्यानमत्रोक्तं वह्न्युत्सवनिरूपणम् ।
दोलोत्सवो भगवतो व्रतं सांवत्सराभिधम् ।।
पूजा च कामिभिर्विष्णोरुद्दालकनियोगकः ।
मोक्षसाधनमत्रोक्तं नानायोगनिरूपणम् ।।

दशावतारकथनं स्नानादिपरिकीर्तनम् ।
ततो बदरिकायाश्च माहात्म्यं पापनाशनम् ॥
अग्न्यादितीर्थमाहात्म्यं वैनतेयशिलाभवम् ।
कारणं भगवद्वासे तीर्थं कापालमोचनम् ॥
पञ्चधाराभिधं तीर्थं मेरुसंस्थापनं तथा ।
ततः कार्त्तिकमाहात्म्ये माहात्म्यं मदनालसम् ॥
धूम्रकोशसमाख्यान दिनकृत्यानि कार्त्तिके ।
पञ्चभीष्मव्रताख्यानं कीर्त्तिदं भुक्तिमुक्तिदम् ॥
तद्व्रतस्य च माहात्म्ये विधानं स्नानजं तथा ।
पुण्ड्रादिकीर्त्तनञ्चात्र मालाधारणपुण्यकम् ॥
पञ्चामृतस्नानपुण्यं घण्टानादादिजं फलम् ।
नानापुष्पार्च्चनफलं तुलसीदलजम्फलम् ॥
नैवेद्यस्य च माहात्म्यं हरिवासन (र) कीर्तनम् ।
अखण्डैकादशीपुण्यं तथा जागरणस्य च ॥
मत्योत्सवविधानञ्च नाममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
ध्यानादिपुण्यकथनं माहात्म्यं मथुराभवम् ॥
मथुरातीर्थमाहात्म्यं पृथगुक्तं ततः परम् ।
वनानां द्वादशानाञ्च माहात्म्यं कीर्त्तितं ततः ॥
श्रीमद्भागवतस्यात्र माहात्म्यं कीर्त्तितं परम् ।
वज्रशाण्डिल्यसंवादमन्तर्लीलाप्रकाशकम् ॥
ततो माघस्य माहात्म्यं स्नानदानजपोद्भवम् ।
नानाख्यानसमायुक्तं दशाध्याये निरूपितम् ॥
ततो वैशाखमाहात्म्ये शय्यादानादिजम्फलम् ।
जलदानादिविधयः कामाख्यानमतः परम् ॥
श्रुतदेवस्य चरितं व्याधोपाख्यानमद्भुतम् ।
तथाक्षयतृतीयादेर्विशेषात्पुण्यकीर्त्तनम् ।
ततस्त्वयोध्यामाहात्म्ये चक्रब्रह्माह्वतीर्थके ॥
ऋणपापविमोक्षाख्ये तथाधारसहस्रकम् ।
स्वर्गद्वारं चन्द्रहरिधर्म्महर्य्युपवर्णनम् ॥
स्वर्णवृष्टेरुपाख्यानं तिलोदा-सरयूयुतिः ।
सीताकुण्डं गुप्तहरिः सरयूर्घर्घराचयः ॥
गोप्रतारञ्च दुग्धोदं गुरुकुण्डादिपञ्चकम् ।
घोषार्कादीनि तीर्थानि त्रयोदश ततः परम् ॥

गयाकूपस्य माहात्म्यं सर्व्वाघविनिवर्त्तकम् ।
माण्डव्याश्रमपूर्व्वाणि तीर्थानि तदनन्तरम् ॥
अजितादिमानसादितीर्थानि गदितानि च ।
इत्येष वैष्णवः खण्डो द्वितीयः परिकीर्तितः ।

तृतीये ब्रह्मखण्डे :—

"अतः परं ब्रह्मखण्डं मरीचे शृणु पुण्यदम् ।
यत्र वै सेतुमाहात्म्ये फल स्नानेक्षणोद्भवम् ॥
गालवस्य तपश्चर्य्या राक्षसाख्यानकं ततः ।
चक्रतीर्थादिमाहात्म्यं देवीपतनसंयुतम् ॥
वेतालतीर्थमहिमा पापनाशादिकीर्त्तनम् ।
मङ्गलादिकमाहात्म्यं ब्रह्मकुण्डादिवर्णनम् ॥
हनूमत्कुण्डमहिमागस्त्यतीर्थभवम्फलम् ।
रामतीर्थादिकथनं लक्ष्मीतीर्थनिरूपणम् ।
शङ्खादितीर्थमहिमा तथासाध्यामृतादिजः ।
धनुष्कोट्यादिमाहात्म्यं क्षीरकुण्डादिजं तथा ॥
गायत्र्यादिकतीर्थानां माहात्म्यं चात्र कीर्त्तितम् ।
रामनाथस्य महिमा तत्त्वज्ञानोपदेशनम् ॥
यात्राविधानकथनं सेतौ मुक्तिप्रदं नृणाम् ।
धर्म्मारण्यस्य माहात्म्यं ततः परमुदीरितम् ॥
स्थाणुः स्कन्दाय भगवान् यत्र तत्त्वमुपादिशत् ।
धर्म्मारण्यसुसंभूतिस्तत्पुण्यपरिकीर्त्तनम् ॥
कर्म्मसिद्धेः समाख्यानं ऋषिवंशनिरूपणम् ।
अप्सरातीर्थमुख्यानां माहात्म्यं यत्र कीर्त्तनम् ॥
वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्म्मतत्त्वनिरूपणम् ।
देवस्थानविभागश्च वकुलार्ककथा शुभा ॥
छत्रानन्दा तथा शान्ता श्रीमाता च मतङ्गिनी ।
पुण्यदाद्यः समाख्याता यत्र देव्यः समास्थिताः ॥
इन्द्रेश्वरादिमाहात्म्यं द्वारकादिनिरूपणम् ।
लोहासुरसमाख्यानं गङ्गाकूपनिरूपणम् ॥
श्रीरामचरितञ्चैव सत्यमन्दिरवर्णनम् ।
जीर्णोद्धारस्य कथनं शासनप्रतिपादनम् ॥
जातिभेदप्रकथनं स्मृतिधर्म्मनिरूपणम् ।
ततस्तु वैष्णवा धर्म्मा नानाख्यानैरुदीरिताः ॥
चातुर्म्मास्ये ततः पुण्ये सर्वधर्म्मनिरूपणम् ।
दानप्रशंसा तत्पश्चाद् व्रतस्य महिमा ततः ॥

तपसश्चैव पूजायाः सच्छिद्रकथनन्ततः ।
प्रकृतीनां भिदाख्यानं शालग्रामनिरूपणम् ॥
तारकस्य वधोपायो त्र्यक्षार्च्चामहिमा तथा ।
विष्णोः शापश्च वृक्षत्वं पार्व्वत्यनुनयस्ततः ॥
हरस्य ताण्डवं नृत्यं रामनामनिरूपणम् ।
हरस्य लिङ्गपतनं कथा योजिवनस्य च ॥
पार्वतीजन्मचरितं तारकस्य वधोऽद्भुतः ।
प्रणवैश्वर्यकथनं तारकाचरितं पुनः ॥
दक्षयज्ञसमाप्तिश्च द्वादशाक्षररूपणम् ।
ज्ञानयोगसमाख्यानं महिमा द्वादशार्णजः ॥
श्रवणादिकपुण्यञ्च कीर्त्तितं शर्म्मदं नृणाम् ।

तृतीयब्रह्मखण्डस्योत्तरभागे :—

"ततो ब्रह्मोत्तरे भागे शिवस्य महिमाद्भुतः ।
पञ्चाक्षरस्य महिमा गोकर्णमहिमा ततः ॥
शिवरात्रेश्च महिमा प्रदोषव्रतकीर्त्तनम् ।
सोमवारव्रतञ्चापि सीमन्तिन्याः कथानकम् ॥
भद्रायूत्पत्तिकथनं सदाचारनिरूपणम् ।
शिववर्म्मसमुद्देशो भद्रायूद्वाहवर्णनम् ॥
भद्रायुमहिमा चापि भस्ममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
शवराख्यानकञ्चैव उमामाहेश्वरव्रतम् ॥
रुद्राक्षस्य च माहात्म्यं रुद्राध्यायस्य पुण्यकम् ।
श्रवणादिकपुण्यञ्च ब्रह्मखण्डोऽयमीरितः ।"

चतुर्थे काशीखण्डे :—

"अतः परं चतुर्थन्तु काशीखण्डमनुत्तमम् ।
विन्ध्यनारदयोर्यत्र संवादः परिकीर्त्तितः ॥
सत्यलोकप्रभावश्चागस्त्यावासे सुरागमः ।
पतिव्रताचरित्रञ्च तीर्थचर्य्याप्रशंसनम् ॥
ततश्च सप्त पुर्याख्या संयमिन्या निरूपणम् ।
ब्रध्नस्य च तथेन्द्राग्न्योर्लोकाप्तिः शिवशर्म्मणः ॥
अग्नेः समुद्भवश्चैव क्रव्याद्वरुणसम्भवः ।
गन्धवत्यलकापुर्य्योरीश्वर्य्याश्च समुद्भवः ॥
चन्द्रोडुबुधलोकाना कुजेज्यार्कभुवां क्रमात् ।
सप्तर्षीणा ध्रुवस्यापि तपोलोकस्य वर्णनम् ॥

ध्रुवलोककथा पुण्या सत्यलोकनिरीक्षणम् ।
स्कन्दागस्त्यसमालापो मणिकर्णीससुद्भव: ॥
प्रभावश्चापि गङ्गाया गङ्गानामसहस्रकम् ।
वाराणसीप्रशंसा च भैरवाविर्भवस्ततः ॥
दण्डपाणीज्ञानवाप्योरुद्भवः समनन्तरम् ।
ततः कलावत्याख्यानं सदाचारनिरूपणम् ॥
ब्रह्मचारिसमाख्यानं ततः स्त्रीलक्षणानि च ।
कृत्याकृत्यविनिर्देशो ह्यविमुक्तेशवर्णनम् ॥
गृहस्थयोगिनो धर्म्माः कालज्ञानं ततः परम् ।
दिवोदासकथा पुण्या काशीवर्णनमेव च ॥
योगिचर्च्चा च लोलार्कोत्तरशाम्बार्कजा कथा ।
द्रुपदार्कस्य ताक्ष्यख्यारुणार्कस्योदयस्ततः ॥
दशाश्वमेधतीर्थाख्या मन्दराच्च गणागमः ।
पिशाचमोचनाख्यानं गणेशप्रेषणन्तत ॥
मायागणपतेश्चाथ भुवि प्रादुर्भवस्ततः ।
विष्णुमायाप्रपञ्चोऽथ दिवोदासविमोक्षणम् ॥
ततः पञ्चनदोत्पत्तिर्विन्दुमाधवसम्भवः ।
ततो वैष्णवतीर्थाख्या शूलिनः काशिकागमः ॥
जैगीषव्येण सवादो ज्येष्ठे शाखा महेशितुः ।
क्षेत्राख्यानं कन्दुकेशव्याघ्रेश्वरसमुद्भवः ॥
शैलेशरत्नेश्वरयोः कृत्तिवासस्य चोद्भवः ।
देवतानामधिष्ठानं दुर्गासुरपराक्रमः ॥
दुर्गाया विजयश्चाथ ओङ्कारेशस्य वर्णनम् ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं त्रिलोचनसमुद्भवः ॥
केदाराख्या च धर्म्मेशकथा विश्वभुजोद्भवा ।
वीरेश्वरसमाख्यानं गङ्गामाहात्म्यकीर्त्तनम् ॥
विश्वकर्म्मेशमहिमा दक्षयज्ञोद्भवस्तथा ।
सतीशस्यामृतेशादेर्भुजस्तम्भः पराशरेः ॥
क्षेत्रतीर्थकदम्बश्च मुक्तिमण्डपसंकथा ।
विश्वेशविभवश्चाथ ततो यात्रा परिक्रमः ॥

पञ्चमे अवन्तीखण्डे :—

"अतः परं त्ववन्त्याख्यं शृणु खण्डञ्च पञ्चकम् ।
महाकालवनाख्यानं ब्रह्मशीर्षच्छिदा ततः ॥

प्रायश्चित्तविधिश्चाग्नेरुत्पत्तिश्च समागमः ।
देवदीक्षा शिवस्तोत्रं नानापातकनाशनम् ॥
कपालमोचनाख्यानं महाकालवनस्थितिः ।
तीर्थं कलकलेशस्य सर्व्वपापप्रणाशनम् ॥
कुण्डमप्सरसञ्ज्ञञ्च सर्गे रुद्रस्य पुण्यदम् ।
कुटुम्बेशञ्च विद्याध्रमर्कटेश्वरतीर्थकम् ॥
स्वर्गद्वारं चतुःसिन्धुतीर्थं शङ्करवापिका ।
सकरार्क गन्धवती तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥
दशाश्वमेधैकानंशा तीर्थे च हरिसिद्धदम् ।
पिशाचकादियात्रा च हनूमत्कयमेश्वरौ ॥
महाकालेशयात्रा च वल्मीकेश्वरतीर्थकम् ।
शक्रेशमेशोपाख्यानं कुशस्थल्याः प्रदक्षिणम् ॥
अक्रूरमन्दाकिन्यङ्कपादचन्द्रार्कवैभवम् ।
करमेशकुक्कुटेशलड्डुकेशादि तीर्थकम् ॥
मार्कण्डेशं यज्ञवापी सोमेशं नरकान्तकम् ।
केदारेश्वरगमेशसौभाग्येशनरार्ककम् ॥
केशार्क शक्तिभेदञ्च स्वर्णक्षरमुखानि च ।
ओङ्कारेशादितीर्थानि अन्धकस्तुतिकीर्त्तनम् ॥
कालारण्ये लिङ्गसंख्या स्वर्णशृङ्गाभिधानकम् ।
कुशस्थल्या अवन्त्याश्चोज्जयिन्या अभिधानकम् ॥
पद्मावती कुमुद्वत्यमरावतीतिनामकम् ।
विशाला प्रतिकल्पाभिधाने च ज्वरशान्तिकम् ॥
शिप्रास्नानादिकफलं नागोन्मीता शिवस्तुतिः ।
हिरण्याक्षवधाख्यानं तीर्थं सुन्दरकुण्डकम् ॥
नीलगङ्गा पुष्कराख्यं विन्ध्यावासनतीर्थकम् ।
पुरुषोत्तमाधिमासं तत्तीर्थञ्चाघनाशनम् ॥
गोमती वामने कुण्डे विष्णोर्नामसहस्रकम् ।
वीरेश्वरसरः कालभैरवस्य च तीर्थके ॥
महिमा नागपञ्चम्या नृसिंहस्य जयन्तिका ।
कुटुम्बेश्वरयात्रा च देवसाधककीर्त्तनम् ॥
कर्कराजाख्यतीर्थञ्च विघ्नेशादिसुरोहनम् ।
रुद्रकुण्डप्रभृतिषु वहुतीर्थनिरूपणम् ॥
यात्राष्टतीर्थजा पुण्या रेवामाहात्म्यमुच्यते ।
धर्म्मपुण्यस्य वैराग्ये मार्कण्डेयेन सङ्गमः ॥

प्राग्लयानुभवाख्यानम् अमृतापरिकीर्त्तनम् ।
कल्पे कल्पे पृथक् नाम नर्म्मदायाः प्रकीर्त्तितम् ।।
स्तवमार्ष नार्मदञ्च कालरात्रिकथा ततः ।
महादेवस्तुतिः पश्चात् पृथक्कल्पकथाद्भुता ।।
विशल्याख्यानकं पश्चाज्जालेश्वरकथा तथा ।
गौरीव्रतसमाख्यानं त्रिपुरज्वालनन्ततः ।।
देहपातविधानञ्च कावेरीसङ्गमस्ततः ।
दारुतीर्थं ब्रह्मवर्ज्जं यत्रेश्वरकथानकम् ।।
अग्नितीर्थं रवितीर्थं मेघनादं दिदारुकम् ।
देवतीर्थं नर्म्मदेशं कपिलाख्यं करञ्जकम् ।
कुण्डलेशं पिप्पलादं विमलेशञ्च शूलभित् ।।
शचीहरणमाख्यातमन्धकस्य वधस्ततः ।
शूलभेदोद्भवो यत्र दानधर्म्माः पृथग्विधाः ।।
आख्यानं दीर्घतपसऋष्यशृङ्गकथा ततः ।
चित्रसेनकथा पुण्या काशिराजस्य मोक्षणम् ।।
ततो देवशिलाख्यानं शवरी चरिताचितम् ।
व्याधाख्यानं ततः पुण्यं पुष्करिण्यर्कतीर्थकम् ।।
आदित्येश्वरतीर्थञ्च शक्रतीर्थं करोटिकम् ।
कुमारेशमगस्त्येशं च्यवनेशञ्च मातृजम् ।
लोकेशं धनदेशञ्च मङ्गलेशञ्च कामजम् ।।
नागेशञ्चापि गोपारं गौतमं शङ्खचूडजम् ।।
नारदेशं नन्दिकेशं वरुणेश्वरतीर्थकम् ।
दधिस्कन्दादितीर्थानि हनूमन्तेश्वरन्ततः ।।
रामेश्वरादितीर्थानि सोमेशं पिङ्गलेश्वरम् ।
ऋणमोक्षं कपिलेशं पूतिकेशं जलेशयम् ।।
चण्डार्कयमतीर्थञ्च कल्होडीशञ्च नान्दिकम् ।
नारायणञ्च कोटीशं व्यासतीर्थं प्रभासिकम् ।।
नागेशं सङ्कर्षणकं मन्मथेश्वरतीर्थकम् ।
एरण्डीसङ्गम पुण्यं सुवर्णशिलतीर्थकम् ।।
करञ्ज कामहं तीर्थं भाण्डीरं रोहिणीभवम् ।
चक्रतीर्थं धौतपापं स्कान्दमाङ्गिरसाह्वयम् ।।
कोटितीर्थमपोन्याख्यमङ्गाराख्यं त्रिलोचनम् ।
इन्द्रेशं कम्बुकेशञ्च सोमेशं कोहनेशकम् ।।

नार्म्मदं चार्कमाग्नेयं भार्गवेश्वरसत्तमम् ।
ब्राह्मं दैवं च भागेशमादिवाराहणंकवे ॥
रामेशमथ सिद्धेशमाहात्म्यं कङ्कटेश्वरम् ।
शाक्रं सौम्यञ्च नान्देशं तापेशं रु.क्मिणीभवम् ॥
योजनेशं वराहेशं द्वादशी शिवतीर्थके ।
सिद्धेशं मङ्गलेशञ्च लिङ्गवाराहतीर्थकम् ॥
कुण्डेशं श्वेतवाराहं भार्गवेशं रवीश्वरम् ।
शुक्लादीनि च तीर्थानि हूंकारस्वामितीर्थकम् ॥
सङ्गमेशं नारकेशं मोक्ष सार्पञ्च गोपकम् ।
नागं साम्बञ्च सिद्धेशं मार्कण्डाक्रूरतीर्थके ॥
कामोदशूलारोपाख्यो माण्डव्यं गोपकेश्वरम् ।
कपिलेशं पिंगलेशं भूतेशं गागगौतमे ॥
आश्वमेधं भृगुकच्छं केदारेशञ्च पापनुत् ।
कनखलेशं जालेशं शालग्राम वराहकम् ॥
चन्द्रप्रभासमादित्यं श्रीपत्याख्यञ्च हसकम् ।
मूलस्थानञ्च शूलेशमाग्नायाचित्रदैवकम् ॥
शिखीशं कोटितीर्थञ्च दशकन्यं सुवर्णकम् ।
ऋणमोक्षं भारभूतिरत्रास्ते पुंखमुण्डिमम् ॥
आमलेशं कपालेशं शृङ्गेरण्डीभवन्ततः ।
कोटितीर्थं लोटनेशं फलस्तुतिरतः परम् ॥
दृमिजङ्गलमाहात्म्ये रोहिताश्वकथा ततः ।
धुन्धुमारसमाख्यानं वधोपायस्ततोऽस्य च ॥
वधो धुन्धोस्ततः पश्चात् सतश्चित्रवहोद्भवः ।
महिमास्य ततश्चण्डीशप्रभावोरतीश्वरः ॥
केदारेशो लक्षतीर्थं ततो विष्णुपदीभवम् ।
मुखारं च्यवनान्धाख्यं ब्रह्मणश्च सरस्ततः ॥
चक्राख्यं ललिताख्यानं तीर्थञ्च वहुगोमथम् ।
रुद्रावर्त्तञ्च मार्कण्डं तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥
रावणेशं शुद्धपट देवान्धुः प्रेततीर्थकम् ।
जिह्वोदतीर्थसम्भूतिः शिवोद्भेद फलस्तुतिः ॥
एष खण्डो ह्यवन्त्याख्यः शृण्वतां पापनाशनः ।

षष्ठे नागरखण्डे :—

"अतः परं नागराख्यः खण्डः षष्ठोऽभिधीयते ।
लिङ्गोत्पत्तिसमाख्यान हरिश्चन्द्रकथा शुभा ॥

विश्वामित्रस्य माहात्म्यं त्रिशङ्कुस्वर्गतिस्तथा ।
हाटकेश्वरमाहात्म्ये वृत्रासुरवधस्तथा ॥
नागविल शङ्खतीर्थमचलेश्वरवर्णनम् ।
चमत्कारपुराख्यानं चमत्कारकर परम् ॥
गयशीर्ष वालशाख्य वालमण्ड मृगाह्वयम् ।
विष्णुपादञ्च गोकर्ण युगरूप समाश्रयः ।
सिद्धेश्वरं नागसर. सप्तार्षेय ह्यगस्तकम् ॥
भ्रूणगर्त्तनलेशञ्च भीष्मं दुर्वैरमर्ककम् ।
शार्मिष्ठं सोमनाथञ्च दौर्गमानर्जकेश्वरम् ॥
जमदग्निवधाख्यानं नैःक्षत्रियकथानकम् ।
रामह्रद नागपुरं जडलिङ्गञ्च यज्ञभूः ॥
मुण्डीरादि त्रिकार्कञ्च सतीपरिणयस्तथा ।
वालखिल्यञ्च यागेश वालखिल्यञ्च गारुडम् ॥
लक्ष्मीशापः साप्तविश' सोमप्रासादमेव च ।
अम्बावृद्धं पादुकाख्यमाग्नेयं ब्रह्मकुण्डकम् ॥
गोमुखं लोहयष्ट्याख्यमजापालेश्वरो तथा ।
शानैश्चरं राजवापी रामेशो लक्ष्मणेश्वरः ॥
कुशेशाख्यं लवेपाख्यं लिङ्गं सर्व्वोत्तमोत्तमम् ।
अष्टषष्टिसमाख्यानं दमयन्त्यास्त्रिजातकम् ॥
ततोऽम्बारेवती चात्र भट्टिकातीर्थसम्भवम् ।
क्षेमङ्करी च केदारं शुक्लतीर्थं मुखारकम् ॥
सत्यसन्धेश्वराख्यान तथा कर्णोत्पला कथा ।
अटेश्वरं याज्ञवल्क्यं गौर्य्यं गाणेशमेव च ॥
ततो वास्तुपदाख्यानमजागहकथानकम् ।
सौभाग्यान्धकशूलेशं धर्म्मराजकथानकम् ॥
मिष्टाम्रदेश्वराख्यान गाणपत्यत्रयं ततः ।
जावालिचरितञ्चैव मकरेशकथा ततः ॥
कालेश्वर्यन्धकाख्यानं कुण्डमाप्सरसन्तथा ।
पुष्यादित्यं रौहिताश्वं नागरोत्पत्तिकीर्त्तनम् ॥
भार्गवं चरित चैत्र वैश्वामैत्र ततः परम् ।
सारस्वतं पैप्पलाद कंसारीशञ्च पैण्डिकम् ॥
ब्रह्मणो यज्ञचरित सावित्र्याख्यानसंयुतम् ।
रैवतं भर्तृयज्ञाख्यं मुख्यतीर्थनिरीक्षणम् ।
कौरवं हाटकेशाख्यं प्रभासं क्षेत्रकत्रयम् ॥

पौष्करं नैमिषं धार्म्ममरण्यत्रितयं स्मृतम् ।
वाराणसीद्वारकाख्यावन्त्याख्येति पुरीत्रयम् ॥
वृन्दावनं खाण्डवाख्यं मद्रैकाख्यं वनत्रयम् ।
कल्पः शालस्तथा नन्दो ग्रामत्रयमनुत्तमम् ॥
असिशुक्लपितृसञ्ज्ञं तीर्थत्रयमुदाहृतम् ।
श्रयर्वुदौ रैवतश्चैव पर्व्वतत्रयमुत्तमम् ॥
नदीनां त्रितयं गङ्गा नर्मदा च सरस्वती ॥
सार्द्धकोटित्रयफलमेकैकञ्चैषु कीर्तितम् ।
कूपिका शङ्खतीर्थञ्चामरकं बालमण्डनम् ।
हाटकेशक्षेत्रफलप्रदं प्रोक्तं चतुष्टयम् ॥
शाम्बादित्यं श्राद्धकल्पं यौधिष्ठिरमथान्धकम् ।
जलशायि चतुर्म्मास्यमशून्यशयनव्रतम् ॥
मङ्कणेशं शिवरात्रिस्तुलापुरुषदानकम् ।
पृथ्वीदानं वाणकेश कपालमोचनेश्वरम् ॥
पापपिण्डं साप्तलैङ्ग युगमानादिकीर्त्तनम् ।
निम्बेशशाकम्भर्याख्या रुद्रैकादशकीर्त्तनम् ॥
दानमाहात्म्यकथनं द्वादशादित्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष नागरः खण्ड. प्रभासाख्योऽधुनोच्यते ॥

सप्तमे प्रभासखण्डे :—

"सोमेशो यत्र विश्वेशोऽर्कस्थलं पुण्यदं महत् ।
सिद्धेश्वरादिकाख्यानं पृथगत्र प्रकीर्त्तितम् ॥
अग्नितीर्थकपर्द्दीशं केदारेश गत्तिप्रदम् ।
भीमभैरवचण्डीशभास्कराङ्गारकेश्वरा. ॥
वुधेज्यभृगुसौरेन्द्रशिखीशा हरविग्रहाः ।
सिद्धेश्वराद्याः पञ्चान्ये रुद्रास्तत्र व्यवस्थिताः ॥
वरारोहा ह्यजापाला मंगला ललितेश्वरी ।
लक्ष्मीशोऽवाडवेशश्चाधीशः कामेश्वरस्तथा ॥
गौरीशवरुणेशाख्यमुशोपञ्च गणेश्वरम् ।
कुमारेशञ्च शाकल्य शकुलोत्ताङ्कगौतमम् ॥
दैत्यघ्नेशं चक्रतीर्थं सन्निहत्याह्वयन्तथा ।
भूतेशादीनि लिङ्गानि आदिनारायणाह्वयम् ।
ततश्चक्रधराख्यानं शाम्बादित्यकथानकम् ।
कथा कण्टकशोधिन्या महिषघ्न्यास्ततः परम् ॥

कपालीश्वरकोटीशवालब्रह्माह्वसत् कथा ।
नरकेश-सम्वर्त्तेश-निधीश्वरकथा ततः ।
बलभद्रेश्वरस्याथ गंगाया गणपस्य च ॥
जाम्बवत्याख्यसरितः पाण्डुकूपस्य सत्कथा ।
शतमेधलक्षमेधकोटिमेधकथा तथा ॥
दुर्व्वासार्कयदुस्थान-हिरण्यासंगमोत्कथा ।
नगरार्कस्य कृष्णस्य सङ्कर्षणसमुद्रयोः ॥
कुमार्य्याः क्षेत्रपालस्य ब्रह्मेशस्य कथा पृथक् ।
पिंगला संगमेशस्य शकरार्कघटेशयोः ॥
ऋषितीर्थस्य नन्दार्कत्रितकूपस्य कीर्त्तनम् ।
शशोपानस्य पर्णार्कन्यङ्कुमत्योः कथाद्भुता ।
वाराहस्वामिवृत्तान्तं छायालिंगाख्यगुल्फयोः ।
कथा कनकनन्दायाः कुन्तीगगेशयोस्तथा ॥
चमसोद्भेदविदुरत्रिलोकेशकथा ततः ।
मङ्कणेश-त्रैपुरेश पण्डतीर्थ कथा तथा ।
सूर्यप्राचीत्रीक्षणयोरुमानाथकथा तथा ।
भूद्वारशूलस्थलयोश्च्यवनार्केशयोस्तथा ॥
अजापालेशबालार्ककुवेरस्थलजा कथा ।
ऋषितोया कथा पुण्या संगालेश्वरकीर्त्तनम् ॥
नारदादित्यकथनं नारायणनिरूपणम् ।
तप्तकुण्डस्य माहात्म्यं मूलचण्डीशवर्णनम् ॥
चतुर्वक्त्र-गणाध्यक्ष-कलम्बेश्वरयोः कथा ।
गोपालस्वामिबकुलस्वामिनोर्म्मरुतीकथा ॥
क्षेमार्कोन्नतविघ्नेशजलस्वामिकथा तथा ।
कालमेघस्य रुक्मिण्या उर्व्वशीश्वरभद्रयोः ॥
शङ्खावर्तमोक्षतीर्थ-गोष्पदाच्युतसद्मनाम् ।
जालेश्वरस्य हूङ्कारकूपचण्डीशयोः कथा ॥
आशापुरस्थविघ्नेशकलाकुण्डकथाऽद्भुता ।
कपिलेशस्य च कथा जरद्गवशिवस्य च ॥
नलकर्कोटकेश्वरयोर्हाटकेश्वरजा कथा ।
नारदेशमन्त्रभूपा दुर्गकूटगणेशजा ॥
सुपर्णेलाख्यभैरव्योर्मल्लतीर्थभवा कथा ।
कीर्तनं कर्द्दमालस्य गुप्तसोमेश्वरस्य च ॥

बहुस्वर्णगश्रृङ्गेश-कोटीश्वरकथा ततः ।
मार्कण्डेश्वरकोटीश-दामोदरगृहोत्कथा ॥
स्वर्णरेखा ब्रह्मकुण्डं कुन्तीभीमेश्वरौ तथा ।
मृगीकुण्डञ्च सर्वस्व क्षेत्रे वस्त्रापथे स्मृतम् ॥
दुत्रा वल्वेशगंगेशरैवतानां कथाऽद्भुता ।
ततोऽर्व्वुदेश्वभ्रकथा अचलेश्वरकीर्त्तनम् ॥
नागतीस्य च कथा वशिष्ठाश्रमवर्णनम् ।
भद्रं कर्णस्य माहात्म्यं त्रिनेत्रस्य ततः परम् ॥
केदारस्य च माहात्म्यं तीर्थागमनकीर्त्तनम् ।
कोटीश्वररूपतीर्थहृषीकेशकथा ततः ॥
सिद्धेशमुकेश्वरयोर्म्मणिकर्णीशकीर्त्तनम् ।
पङ्गुतीर्थं यमतीर्थ-वाराहतीर्थवर्णनन् ॥
चन्द्रप्रभासपिण्डोद-श्रीमाता-शुक्लतीर्थजम् ।
कात्यायन्याश्च माहात्म्यं तत. पिण्डारकस्य च ॥
ततः कनखलस्याथ चक्रमानुषतीर्थयोः ।
कपिलाग्नितीर्थकथा तथा रक्तानुबन्धजा ॥
गणेशपार्थेश्वरयोर्यात्राया मुद्गलस्य च ।
चण्डीस्थानं नागमवशिरः कुण्डमहेशजा ॥
कामेश्वरस्य मार्कण्डेयोत्पत्तेश्च कथा ततः ।
उद्दालकेश-सिद्धेश-गततीर्थकथा पृथक् ॥
श्रीदेवमातोत्पत्तिश्च-व्यासगौतमतीर्थयोः ।
कुलसन्तारमाहात्म्यं रामकोट्याहतीर्थयोः ॥
चन्द्रोद्भेदेशानश्रृङ्ग-ब्रह्मस्थानोद्भवोहनम् ।
त्रिपुष्कर-रुद्रह्लद गुहेश्वर कथा शुभा ॥
अविमुक्तस्य माहात्म्यमुमामाहेश्वरस्य च ।
महौजसः प्रभावश्च जम्वुतीर्थस्य वर्णनम् ॥
गङ्गाधरमिश्रकयोः कथा चाथ फलश्रुतिः ।
द्वारकायाश्च माहात्म्ये चन्द्रशर्म्मकथानकम् ॥
जागराद्याख्यव्रतञ्च व्रतमेकादशीभवम् ।
महाद्वादशीकाख्यानं प्रह्लादर्षिसमागमः ॥
दुर्व्वासस उपाख्यानं यात्रोपक्रमकीर्त्तनम् ।
गोमत्युत्पत्तिकथनं तस्यां स्नानादिजम्फलम् ॥
चक्रतीर्थस्य माहात्म्यं गोमत्युदधिसङ्गमः ।
सनकादिह्लदाख्यानं नृगतीर्थकथा ततः ॥

गोप्रचारकथा पुण्या गोपीनां द्वारकागमः ।
गोपीसरःसमाख्यानं ब्रह्मतीर्थादिकीर्त्तनम् ॥
पञ्चनद्यागमाख्यान नानाख्यानसमन्वितम् ।
शिवलिङ्गमहातीर्थकृष्णपूजादिकीर्त्तनम् ॥
त्रिविक्रमस्य मूर्त्त्याख्या दुर्वासःकृष्णसंकथा ।
कुशदैत्यवधोऽर्च्चाख्या विशेषार्च्चनजम्फलम् ॥
गोमत्या द्वारकायाञ्च तीर्थगमनकीर्त्तनम् ।
कृष्णमन्दिरसप्रेक्षा द्वारवत्यभिषेचनम् ॥
तत्र तीर्थावासकथा द्वारका पुण्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष सप्तमः प्रोक्त खण्डः प्राभासिको द्विजः ॥
स्कान्दे सर्वोत्तरकथा शिवमाहात्म्यवर्णने ।

तत्फलश्रुतिः —

लिखित्वैतत्तु यो दद्याद्धेमशूलसमाचितम् ॥
माध्यां सत्कृत्य विप्राय स शैवे मोदते पदे ।

(१८) गरुडपुराणम्

गरुडायोक्तं विष्णुना पुराणम् नारदीयपुराणे १०८ अध्याये तद्विषयाश्च । ब्रह्मोवाच —

मरीचे ! शृणुवच्म्यद्य पुराणं गारुड शुभम् ।
गरुडायाब्रवीत्पृष्टो भगवान्गरुडासनः ॥
एकोनविंशसाहस्रं तार्क्ष्यकल्पकथाचितम् ॥

तत्र पूर्वखण्डे :—

पुराणोपक्रमो यत्र सर्गः संक्षेपतस्ततः ।
सूर्यादिपूजनविधिर्दीक्षाविधिरतः परम् ॥
श्र्यादिपूजा ततः पश्चान्नवव्यूहार्च्चनं द्विज ।
पूजाविधानञ्च वैष्णवं तथा पञ्जरन्ततः ॥
योगाध्यायस्ततो विष्णोर्नामसाहस्रकीर्त्तनम् ।
ध्यानं विष्णोस्ततः सूर्यपूजामृत्युञ्जयार्च्चनम् ॥
माला मंत्रा शिवार्च्चाथ गणपूजा ततः परम् ।
गोपालपूजा त्रैलोक्यमोहनं श्रीधरार्च्चनम् ॥
विष्ण्वर्च्चा पञ्चतत्त्वार्च्चा चक्रार्च्चा देवपूजनम् ।
न्यासादि सन्ध्योपास्तिश्च दुर्गार्च्चाथ सुरार्चनम् ॥

पूजा माहेश्वरी चातः पवित्रारोहणार्च्चनम् ।
मूर्तिध्यानं वास्तुमान प्रासादानाञ्च लक्षणम् ॥
प्रतिष्ठा सर्वदेवानां पृथक् पूजाविधानतः ।
योगोऽष्टाङ्गो दानधर्मः प्रायश्चित्तविधिक्रिया ॥
द्वीपेशनरकाख्यानं सूर्यव्यूहश्च ज्यौतिषम् ।
सामुद्रिकं स्वरज्ञान नवरत्नपरीक्षणम् ॥
माहात्म्यमथ तीर्थानां गयामाहात्म्यमुत्तमम् ।
ततो मन्वन्तराख्यानं पृथक्पृथग्विभागशः ॥
पित्राख्यानं वर्णधर्मा द्रव्यशुद्धिः समर्पणम् ।
श्राद्धं विनायकस्यार्चा ग्रहयज्ञस्तथाऽऽश्रमाः ॥
मलहाख्या प्रेताशौचं नीतिसारो व्रतोक्तयः ।
सूर्यवंशः सोमवंशोऽवतारकथनं हरेः ॥
रामायणं हरिवंशो भारताख्यानकन्ततः ।
आयुर्वेदे निदानम्प्राक् चिकित्साद्रव्यजा गुणाः ॥
रोगघ्नं कवचं विष्णोर्गारुडस्त्रैपुरो मनुः ।
प्रश्नचूडामणिश्चान्ते हयायुर्वेदकीर्त्तनम् ॥
ओषधीनामकथनं ततो व्याकरणोहनम् ।
छन्दःशास्त्रं सदाचारस्ततः स्नानविधिः स्मृतः ॥
तर्पणं वैश्वदेवञ्च सन्ध्यापार्वणकर्म च ।
नित्यश्राद्धं सपिण्डाख्यं धर्मसारोऽघनिष्कृतिः ।
प्रतिसङ्क्रम उक्तोऽस्माद् युगधर्मा कृतेः फलम् ।
योगशास्त्रं विष्णुभक्तिर्नमस्कृतिफलं हरेः ॥
माहात्म्यं वैष्णवञ्चाथ नारसिंहस्तवोत्तमम् ।
ज्ञानामृतं गुह्याष्टकं स्तोत्रं विष्णवर्च्चनाह्वयम् ।
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तं ब्रह्मज्ञानात्मक तथा ।
गीतासारः फलोत्कीर्त्ति पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥

उत्तरखण्डे प्रेतकल्पे :—

अथास्यैवोत्तरे खण्डे प्रेतकल्पः पुरोदितः ।
यत्र तार्क्ष्येण संस्पृष्टो भगवानाह वाडवः ॥
धर्मप्रकटनं पूर्वं योनीनां गतिकारणम् ।
दानादिकम्फलञ्चापि प्रोक्तमत्रौर्ध्वदेहिकम् ॥
यमलोकस्य मार्गस्य वर्णनञ्च ततः परम् ।
षोडशश्राद्धफलकं वृत्तानाञ्चात्र वर्णितम् ॥

निष्कृतिर्यगमार्गस्य धर्मराजस्य वैभवम् ।
प्रेतपीडा विनिर्देशः प्रेतचिह्ननिरूपणम् ॥
प्रेताना चरित्ताख्यानं कारणम्प्रेततां प्रति ।
प्रेतकृत्यविचारश्च सपिण्डीकरणोक्तयः ॥
प्रेतत्वमोक्षणाख्यानं दानानि च विमुक्तये ।
आवश्यकोत्तरं दानं प्रेतसौख्यकरं हितम् ॥
शारीरकविनिर्देशो यमलोकस्य वर्णनम् ।
प्रेतत्वोद्धारकथनं कर्मकर्तृविनिर्णयः ॥
मृत्योः पूर्वक्रियाख्यानं पश्चात्कर्मनिरूपणम् ।
मध्यं षोडशक श्राद्धं स्वर्गप्राप्तिक्रियोहनम् ॥
सूतकस्याथ संख्यानं नारायणवलिक्रिया ।
वृषोत्सर्गस्य माहात्म्यं निषिद्धपरिवर्जनम् ॥
अपमृत्युक्रियोक्तिश्च विपाकः कर्मणां नृणाम् ।
कृत्याकृत्यविचारश्च विष्णुध्यानं विमुक्तये ।
स्वर्गतौ विहिताख्यानं स्वर्गसौख्यनिरूपणम् ॥
भूर्लोकवर्णनञ्चैव सप्तधा लोकथवर्णनम् ॥
पञ्चोर्ध्वलोककथनं ब्रह्माण्डस्थितिकीर्त्तनम् ।
ब्रह्माण्डानेकचरितं ब्रह्मजीवनिरूपणम् ॥
आत्यन्तिकलयाख्यानं फलस्तुतिनिरूपणम् ।
इत्येतद् गारुडं नाम पुराणं भुक्तिमुक्तिदम् ।

तत्फलश्रुतिः —

कीर्तित पापशमन पठतां शृण्वता नृणाम् ।
लिखित्वैतत्पुराणन्तु विषुवे यः प्रयच्छति ॥
सौवर्ण हंसयुग्माढ्य विप्राय स दिवं व्रजेत् ।

(१९) ब्रह्माण्डपुराणम्

नारदीयपुराणे ४ पा० १०९ अध्याये उक्ता अस्य विषया.—

शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम् ।
तच्च द्वादशसाहस्र भाविकल्पकथायुतम् ॥
प्रक्रियाख्योऽनुपङ्गाख्य उपोद्घातस्तृतीयकः ।
चतुर्थ उपसंहारः पादाश्चत्वार एव हि ॥
पूर्वपादद्वयं पूर्वो भागोऽत्र समुदाहृतः ।
तृतीयो मध्यमो भागश्चतुर्थस्तूत्तरो मतः ॥

तत्र पूर्वभागे प्रक्रियापादे :—

"आदौ कृत्यसमुद्देशो नैमिषाख्यानकं ततः ॥
हिरण्यगर्भोत्पत्तिश्च लोककल्पनमेव च ।
एष वै प्रथमः पादो द्वितीयं शृणु नारद ॥

पूर्वभागेऽनुषङ्गपादे :—

कल्पमन्वन्तराख्यानं लोकज्ञानं ततः परम् ।
मानससृष्टिकथनं रुद्रप्रसववर्णनम् ॥
महादेवविभूतिश्च ऋषिसर्गस्ततः परम् ।
अग्नीनां विचयश्चाथ कालसद्भाववर्णनम् ॥
प्रियव्रताच्च योद्देशः पृथिव्यायामविस्तरः ।
वर्णनं भारतस्यास्य ततोऽन्येषां निरूपणम् ॥
जम्व्वादिसप्तद्वीपाख्या ततोऽधोलोकवर्णनम् ।
ऊर्ध्वलोकानुकथनं ग्रहचारस्ततः परम् ॥
आदित्यव्यूहकथनं देवग्रहानुकीर्त्तनम् ।
नीलकण्ठाह्वयाख्यानं महादेवस्य वैभवम् ॥
अमावास्यानुकथनं युगतत्त्वनिरूपणम् ।
यज्ञप्रवर्तनञ्चाथ युगयोरन्त्ययोः कृतिः ॥
युगप्रजालक्षणञ्च ऋषिप्रवरवर्णनम् ।
वेदानां व्यसनाख्यानं स्वायम्भुवनिरूपणम् ॥
शेषमन्वन्तराख्यानं पृथिवीदोहनन्ततः ।
चाक्षुषेऽद्यतने सर्गो द्वितीयोऽङ्घ्रिपुरोदले ॥

मध्यभागे उपोद्घातपादे :—

"अथोपोद्घातपादे च सप्तर्षिपरिकीर्त्तनम् ।
राजापत्यचयस्तस्माद्देवादीनां समुद्भवः ॥
ततो जयाभिव्याहारौ मरुदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
काश्यपेयानुकथनं ऋषिवंशनिरूपणम् ॥
पितृकल्पानुकथनं श्राद्धकल्पस्ततः परम् ।
वैवस्वतसमुत्पत्तिस्सृष्टिस्तस्य ततः परम् ॥
मनुपुत्रचयश्चातो गान्धर्वश्च निरूपणम् ।
इक्ष्वाकुवंशकथनं वंशोऽत्रेः सुमहात्मनः ॥
अमावसोराचयश्च रवेश्चरितमद्भुतम् ।
ययातिचरितञ्चाथ यदुवंशनिरूपणम् ॥

कार्तवीर्यस्य चरितं जामदग्न्यं ततः परम् ।
वृष्णिवंशानुकथनं सगरस्याथ सम्भवः ।।
भार्गवस्यानुचरितं तथार्यकवधाश्रयम् ।
सगरस्याथ चरितं भार्गवस्य कथा पुनः ।।
देवासुराहवकथाः कृष्णाविर्भावविवर्णनम् ।
इनस्य च स्तवः पुण्यः शुक्रेण परिकीर्तितः ।।
विष्णुमाहात्म्यकथन वलिवशनिरूपणम् ।
भविष्यराजचरितं सम्प्राप्तेऽथ कलौ युगे ।।
एवमुद्धातपादोऽयं तृतीयो मध्यमे दले ।

उत्तरभागे उपसंहारपादे :—

चतुर्थमुपसंहारं वक्ष्ये खण्डे तथोत्तरे ।।
वैवस्वतान्तराख्यानं विस्तरेण यथातथम् ।
पूर्वमेव समुद्दिष्टं संक्षेपादिह कथ्यते ।।
भविष्याणा मनूनां च चरितं हि ततः परम् ।
कल्पप्रलयनिर्देशः कालमानं ततः परम् ।।
लोकाश्चतुर्दश ततः कथिता मानलक्षणै. ।
वर्णनं नरकाणाञ्च विकर्माचरणैस्ततः ।।
मनोमयपुराख्यानं लयः प्राकृतिकस्ततः ।
शैवस्याथ पुरस्यापि वर्णनञ्च तत परम् ।।
त्रिविधाद् गुणसम्बन्धाज्जन्तूनां कीर्तिता गतिः ।
अनिर्देश्याप्रतर्क्यस्य ब्रह्मण. परमात्मनः ।।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णनं हि ततः परम् ।
इत्येष उपसंहारः पादो वृत्तः सचोत्तरः ।।
चतुष्पादं पुराणान्ते ब्रह्माण्ड समुदाहृतम् ।
अष्टादशमनौपम्यं सारात्सारतरं द्विज ! ।।
ब्रह्माण्डञ्च चतुर्लक्षं पुराणत्वेन पठ्यते ।
तदेव व्यस्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक् ।।
पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद ।
वस्तुद्रष्ट्राथ तेनैव मुनीनां भावितात्मनाम् ।।
मत्तः श्रुत्वा पुराणानि लोकेभ्यः प्रचकाशिरे ।
मुनयो धर्मशीलास्ते दीनानुग्रहकारिण
मया चेद पुराणन्तु वशिष्ठाय पुरोदितम् ।
तेन शक्तिसुतायोक्तं जातूकर्णाय तेन च ।।

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत् प्रभञ्जनमुखोद्गतम् ।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन् प्रावर्त्तयदनुत्तमम् ॥

तत्फलश्रुतिः —

य इदं कीर्तयेद्वत्स ! शृणोति च समाहितः ।
स विधूयेह पापानि याति लोकमनामयम् ॥
लिखित्वैतत् पुराणन्तु स्वर्णसिंहासनस्थितम् ।
पात्रेणाच्छादितं यस्तु ब्राह्मणाय प्रयच्छति ॥
स याति ब्रह्मणो लोकं नात्र कार्या विचारणा ।
मरीचे ! ऽष्टादशैतानि मया प्रोक्तानि यानि ते ॥
पुराणानि तु संक्षेपाच्छ्रोतव्यानि च विस्तरात् ॥
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः ।
कथयेद्वा विधानेन नेह भूयः स जायते ।
सूत्रमेतत्पुराणानां यन्मयोक्तं तवाऽधुना ॥
तन्नित्यं शीलनीयं हि पुराणं फलमिच्छता ।
न दाम्भिकाय पापाय देवगुर्वनुसूयवे ॥
देयं कदापि साधूनां द्वेषिणे न शठाय च ।
शान्तायारागिचित्ताय शुश्रूषाभिरताय च ॥
निर्मत्सराय शुचये देयं सद्वैष्णवाय च ॥

(२०) विष्णुभागवतम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारद पु० ९६ अ० उक्ता यथा—

मरीचे ! शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् ।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम् ॥
तदष्टादशसाहस्रं कीर्त्तितं पापनाशनम् ।
सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः ॥
भगवानेव विप्रेन्द्र ! विश्वरूपी समीरितः ।

तस्य प्रथमस्कन्धे :—

तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमः ।
व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च ॥
पारीक्षितमुपाख्यानमितीदं समुदाहृतम् ।"

द्वितीयस्कन्धे :—

"परीक्षिच्छुकसंवादे सृतिद्वयनिरूपणम् ।
ब्रह्मनारदसंवादेऽवतारचरितामृतम् ॥

पुराणलक्षणञ्चैव सृष्टिकारणसम्भवः ।
द्वितीयोऽयं समुदितः स्कन्धो व्यासेन धीमता ॥"

तृतीयस्कन्धे :—

"चरितं विदुरस्याथ मैत्रेयेणास्य सङ्गमः ।
सृष्टिप्रकरणं पश्चाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
कापिलं सांख्यमप्यत्र तृतीयोऽयमुदाहृतः ।

चतुर्थस्कन्धे :—

"सत्याश्चरितमादौ तु ध्रुवस्य चरितं ततः ।
पृथोः पुण्यसमाख्यानं ततः प्राचीनबर्हिषः ॥
इत्येष तुर्य्यो गदितो विसर्गे स्कन्ध उत्तमः ।"

पञ्चमस्कन्धे :—

"प्रियव्रतस्य चरितं तद्वंश्यानाञ्च पुण्यदम् ।
ब्रह्माण्डान्तर्गतानाञ्च लोकानां वर्णनन्ततः ॥
नरकस्थितिरित्येव संस्थाने पञ्चमो मतः ।

षष्ठस्कन्धे :—

अजामिलस्य चरितं दक्षसृष्टिनिरूपणम् ।
वृत्राख्यानं ततः पश्चान्मरुतां जन्म पुण्यदम् ॥
षष्ठोऽयमुदितः स्कन्धो व्यासेन परिपोषणे ।

सप्तमस्कन्धे :—

"प्रह्लादचरितं पुण्यं वर्णाश्रमनिरूपणम् ।
सप्तमो गदितो वत्स ! वासनाकर्मकीर्त्तने ॥

अष्टमस्कन्धे :—

"गजेन्द्रमोक्षणाख्यानं मन्वन्तरनिरूपणम् ।
समुद्रमथनञ्चैव बलिवैभवबन्धनम् ॥
मत्स्यावतारचरितमष्टमोऽयं प्रकीर्त्तितः ।

नवमस्कन्धे :—

"सूर्यवंशसमाख्यानं सोमवंशनिरूपणम् ।
वंश्यानुचरिते प्रोक्तो नवमोऽयं महामते ॥

दशमस्कन्धे :—

"कृष्णस्य बालचरितं कौमारञ्च व्रजस्थितिः ।
कैशोरं मथुरास्थानं यौवने द्वारकास्थितिः ॥
भूभारहरणञ्चात्र निरोधे दशमः स्मृतः ।

एकादशस्कन्धे :—

"नारदेन तु संवादो वसुदेवस्य कीर्तितः ।
यदोश्च दत्तात्रेयेण श्रीकृष्णेनोद्धवस्य च ॥
यादवानां मिथोऽन्तश्च मुक्तावेकादशः स्मृतः ।

द्वादशस्कन्धे —

"भविष्यकलिनिर्देशो मोक्षो राज्ञः परीक्षितः ।
वेदशाखाप्रणयनं मार्कण्डेयतपः स्मृतम् ॥
सौरी विभूतिरुदिता सात्त्वती च ततः परम् ।
पुराणसंख्याकथनमाश्रये द्वादशो ह्यहम् ॥
इत्येवं कथितं वत्स ! श्रीमद्भागवतं तव ।

तत्फलश्रुति :—

"वक्तुः श्रोतुश्चोपदेष्टुरनुमोदितुरेव च ।
साहाय्यकर्तुर्गदितं भक्तिभुक्तिविमुक्तिदम् ॥
प्रौष्ठपद्यां पूर्णिमायां हेमसिंहसमान्वितम् ।
देयं भागवतायेदं द्विजस्य प्रीतिपूर्वकम् ॥
सम्पूज्य वस्त्रहेमाद्यैर्भगवद्भक्तिमिच्छता ।
सोऽप्यनुक्रमणीमेतां श्रावयेच्छृणुयात्तथा ॥
स पुराणश्रवणजं प्राप्नोति फलमुत्तमम् ।
अष्टादशपुराणानामनुक्रमतोऽवतरणवर्णनं ॥

वायुपुराणे प्रतिपादितम् :—

सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं च यशस्वि च ।
ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने ॥ ५८ ॥
तस्माच्चोशनसा प्राप्त तस्माच्चापि बृहस्पतिः ।
बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम् ॥ ५९ ॥
सविता मृत्यवे प्राह मृत्युश्चेन्द्राय वै पुनः ।
इन्द्रश्चापि वशिष्ठाय सोऽपि सारस्वताय च ॥ ६० ॥
सारस्वतस्त्रिधाम्ने च त्रिधामा च शरद्वते ।
शरद्वतस्त्रिविष्टाय सोऽन्तरिक्षाय दत्तवान् ॥ ६१ ॥
वर्षिणे चान्तरिक्षो वै सोऽपि त्रय्यारुणाय च ।
त्रय्यारुणो धनञ्जये स च प्रादात्कृतञ्जये ॥ ६२ ॥

कृतञ्जयात्तृणंजयो भरद्वाजाय सोऽप्यथ ।
गौतमाय भरद्वाजः सोऽपि निर्यन्तरे पुनः ॥ ६३ ॥

निर्यन्तरस्तु प्रोवाच तथा वाजश्रवाय च ।
स ददौ सोममुष्माय स ददौ तृणविन्दवे ॥ ६४ ॥

तृणविन्दुस्तु दक्षाय दक्षः प्रोवाच शक्तये ।
शक्तेः पराशरश्चापि गर्भस्थः श्रुतवानिदम् ॥ ६५ ॥

पराशराज्जातुकर्णस्तस्माद्द्वैपायनः प्रभुः ।
द्वैपायनात्पुनश्चापि मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ६६ ॥

शांशपायन उवाच :—

मया वै तत्पुनः प्रोक्तं पुत्रायामितबुद्धये ।
इत्येव वाचा ब्रह्मादिगुरुणा समुदाहृतम् ॥

परिशिष्ट २

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. H. H. Wilson's Introduction to the English translation of the Visnupurana, Vol. I. (1864).

2. F. E. Pargiter's :—

1—'Purana texts of the Dynasties of the Kali age' (1913).

2—'Ancient Indian Genealogies' in Sir R. G. Bhandarkar Presentation Volume P. P. 107–113.

3—'Ancient Indian Historical tradition' (Oxford, 1922).

3. W. Kerfel's—

1—Das Purana Pancalaksana (Bonn, 1927).

2—Die Cosmography der inder (1920).

3—Bharatavarsa (Stuttgart, 1931).

4. Vries on 'Purana-studies' in Pavry commemoration Vol. PP. 482–487 (applies Kirfel's Method to the subject of Sraddha in the Brahmanda, Harivansa, Matsya, Padma and Vayu).

5. Harprasad Shastri's descriptive cat. of Mss. at the Asiatic Society of Bengal, Vol. V. Preface PP. LXXIII–CCXXV and his paper on 'Mahapuranas' in J. B. O. R. S. Vol. XV. P. 323–340.

6. Prof. B. C. Majumdar's paper in Sri Asutosh Mookerji Silver Jubilee Vol. III, Orientalia, part 2. PP. 9–30.

7. A. Banerji Shastri's paper on—

'Ancient Indian Historical Tradition' in J. B. O. R. S. Vol. XIII. PP. 62–79 (Supplies a useful corrective to many sweeping assertions of such scholars as Macdonell, Pargiter and others).

8. Cambridge History of India, Vol. I. PP. 296-318,

9. Prof. H. C. Hazra—

1—'Studies in the Puranic record of Hindu rites and customs' (Dacca 1940).

Papers on 'Puranas in the history of Smriti' in Indian Culture, Vol. I. PP. 586-614, Mahapuranas, (In Dacca University studies' Vol. II. PP. 62-69.)

2—Smriti Chapters in Puranas. (I. H. Q. Vol. XI. PP. 108-130).

3—Prepuranic Hindu Society before 200 A. D., (I. H. Q. Vol. XV. PP. 403-431).

4-'Puranic rites and customs influenced by the economic and social views of the sacerdotal class' (in Dacca University studies, Vol. XII. PP. 91-101).

5—Influence of Tantra on Smritinibandhas' (in A. B. O. R. I. Vol. XV. PP. 220-235 and Vol. XVI. PP. 202-211).

6—'The Upapuranas' (in A. B. O. R. I. Vol. XXI. PP. 38-62).

7—'Purana literature as known to Ballalasena' (in J. O. R, Madras, Vol. XII. PP. 67-79).

8—'The Aswamedha, the common source of origin of the Purana Pancalaksana and Mahabharata' (A. B. O. R. I. Vol. 36. 1955. PP. 15-38).

9—"Studies in the Upapuranas" 2 Vols. (Published by the Sanskrit College, Calcutta, 1960-1963).

10. Das Gupta's :—Indian Philosophy, Vol. III. PP. 496-511 on 'Philosophical Speculations of some Puranas.

11. Dr. D. R. Patil's paper on—'Gupta inscriptions and Puranic tradition'. (in Bulletin of D. C. R. I. Vol II. PP. 2-58, comparing passages from Gupta's inscriptions and Puranas).

12. Prof. V. R. Ramchandra Diksita's—

1—'The Purana : A Study' (in I. H. Q. Vol. VIII. PP. 747-67).

2—'Purana Index' in three Volumes (Madras).

13. Dr. A. D. Pusalkar's paper in—'Progress of Indic Studies' (1917–1942) in Silver Jubilee Volume of B. O. R. I. PP. 139–152).

2—'Studies in Epics and Puranas of India' (B. V. Bombay, 1953).

14. Prof. D. R. Mankad's papers on 'Yugas' (in P. O. Vol. VI. Part 3–4. PP. 6–10), on 'Manvantaras' (I. H. Q. Vol. XVIII. PP. 208–230 and B. V. Vol. VI. PP. 6–10).

15. Dr. Ghurye's Presidential address in the second ethnology on Foklore in Pro. of 6th. A. I. O. C. (1937), PP. 911–954.

16. Dr. A. S. Altekar's paper 'Can we Reconstruct Pre-Bharata war history ?' In J. B. H. U. Vol. IV. PP. 183–223 (holding that the various Pre-Bharata war dynasties mentioned in the Puranas are as historical and real as the dynasties of Mauryas and Andhras and the Pauranic Geneologies really refer to kings who figure in the Vedic literature also.)

17. Dr. Jadunath Sinha—

"A History of Indian Philosophy", Vol. I. PP. 125–177 on the Philosophy of the Puranas (1956).

18—Martin Smith—

Two papers on the Ancient Chronology of India in J. A. O. S Vol. 77. No. 2. (April-June 1957) and No. 4. (Dec. 1957). (He follows Pargiter in his texts).

19. C. R. Krishnamacharlu : 'The Cradle of Indian History' (Adyar Library series No. 56; Adyar Library, 1947)—

20. S. L. Katre : 'Avataras of God' (Allahabad University studies, Vol. X., 1934).
21. Annie Besant : 'Avataras'(Adyar Library, Madras 1925).
22. Aurobindo : Vyasa and Valmiki (Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1960).
23. P. V. Kane : History of Dharmashastra(Vol.V.Part II. PP. 815–1002) Poona, 1962.
24. D. C. Sarkar : 'Studies in the Geography of Ancient and Medieaval India' (Motilal Banarasidas, Delhi, 1960).
25. B. C. Law : 'Historical Geography of Ancient India', Paris 1954.
26. V. S. Agrawal : Vaman Purana : A Study (Varanasi 1964).
27. V. S. Agrawal : 'Matsya Purana : A Study' (All India Kashiraj Trust, Ramanagar Fort, Varanasi, 1963).
28. R. G. Bhandarkar : 'A Peep into the Early History of India.' (new edition 1920) pp. 68 ff.
29. F. E. Pargiter : Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. X. 1918, pp. 448 ff.
30. J. N. Farquhar : An Outline of the Religious Literature of India, London, 1920, pp, 136 ff.
31. E. J. Rapson : Cambridge History of India, Vol. I. pp. 296. ff.
32. A. Barth : Religions of India. second edition, London, 1889, pp. 153 ff.
33. Monier Williams : Brahmanism and Hinduism, London, 1891.
34. E. W. Hopkins : Religions of India, Boston, 1895.
35. Sir Charles Elliot : Hinduism and Buddhism, London, 1921, Vol II.
36. Glaspenapp : Der Hinduismus, Munich, 1922.

37. Jacobi : E. R. E. Vol. I. pp. 200 ff. (on the Ages of the world according to the Puranas).

38. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and Minor sects. (Poona, 1960).

39. Grierson : J. R. A. S. 1911, p. 800 ff. (on the date of Bhagavat).

40. Purnendunath Sinha : The Bhagavata Purana (Second edition, Adyar, Madras).

41. M. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I. Calcutta University, 1927. pp. 517–586.

42. R. K. Sharma : Elements of Poetry in the Mahabharata (University of California Press, 1964).

43. Purana (A research bulletin wholly devoted to the study of Puranas. publised by the All-India Kashiraja Trust, Ramanagar Fort, Varanasi, 20 Vols. published 1959–1978 .

44. Dr. Buddha Prakash—Studies in Puranic Geography and Ethnology—Sakadvipa. (Purana Bulletin Vol. III. No. 2, July 1961 ; published by All-India Kashiraj Trust, Ramnagar).

४५. म० म० गोपीनाथ कविराज—
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि (१९६३)
भारतीय संस्कृति और साधना (दो भाग) (१९६४)
प्र० विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

४६. वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण—(एक सास्कृतिक अध्ययन) हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६१।

४७. राहुल साकृत्यायन—मध्य एशिया का इतिहास प्रथम खण्ड—प्र० विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६।

४८. भगवद्दत्त—भारतवर्ष का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), दिल्ली, सं० २००८।
,, —भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय सं०) दिल्ली।

४९. राजबली पाण्डेय—पुराण विषयानुक्रमणी (प्रथम भाग), हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी, १९५७ ई०।

५०. माधवाचार्य शास्त्री—पुराणदिग्दर्शन (तृतीय सं०), देहली, सं० २०१४।

५१. महाभारत की नामानुक्रमणिका—(प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम सं०, २०१६ सं०)।

५२. मधुसूदन ओझा—अत्रिख्यातिः (लखनऊ, १९२६ ई०)।

५३. स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती—श्रीमद्भागवत रहस्य (द्वितीय सं०, बम्बई, १९६३ ई०)।

५४. ज्वालाप्रसाद मिश्र—अष्टादश पुराणदर्पण (प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्ण-दास मुम्बई, सं० १९७६ अधुना अप्राप्य)।

५५. रामशङ्कर भट्टाचार्य—

,, अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी (प्र० भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६१)।

,, गरुडपुराण (भूमिका-विषयानुक्रमणी के साथ) [चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४]।

,, इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, १९३३ ई०।

,, पुराणस्थ वैदिक सामग्री का अनुशीलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५ ई०)।

५६. महाभारत-कोश (प्रथम खण्ड) प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६४ ई०।

५७. मधुसूदन ओझा—पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसङ्गः (जयपुर, सं० २००९)।

५८. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी—पुराणतत्त्वमीमांसा (वाराणसी, १९६१),

,, —अष्टादशपुराण परिचयः (वाराणसी, सं० २०१३)।

५९. भाऊ शास्त्री वझे—काशीतिहासः (काशी, सं० २०११)।

६०. डा० मोतीचन्द्र—काशी का इतिहास (बम्बई, १९६४)।

६१. स्वामी दयानन्द—धर्म विज्ञान (तीन खण्ड, प्रकाशक—भारत धर्म महामण्डल, काशी, १९३९ ई०)।

,, —धर्म कल्पद्रुम (प्र० वही, सात खण्ड)।

६२. दीनानाथ शास्त्री सारस्वत—सनातनधर्मालोक (८ भाग, दिल्ली, १९६०–६५)।

६३. पं० नकछेदराम द्विवेदी—सनातन धर्मोद्धारः (सानुवाद चार खण्ड; प्र० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)।

६४. बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरी प्रचारणी सभा, काशी)।

,, —आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ (प्र० नन्दकिशोर एण्ड सन्स, काशी, १९६३)।

,, —भारतीय दर्शन (शारदा मन्दिर, काशी, नवम सं०, १९७७)।

,, —भारतीय दर्शनसार (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली)!

,, —भारतीय वाङ्मय मे श्रीराधा (प्र०, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३)।

६५. राय गोविन्दचन्द्र—
प्राचीन भारत मे लक्ष्मी प्रतिमा (हिन्दी प्रचारक, काशी, सन् १९६४)।

६६. अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि—पुराणरहस्यम् (काशी)।

६७. कालूराम शास्त्री—पुराणवर्म (कानपुर)।

६८. डा० सम्पूर्णानन्द—
हिन्दू देवपरिवार का विकास (प्रयाग, १९६३)।

६९. डा० कपिलदेव—
मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद (चौखम्वा, काशी, १९६१)।

७०. डा० कामिल बुल्के—
राम कथा (हिन्दी परिषद्, प्रयाग, द्वि० सं०, १९६४)।

७१. पं० बदरीनाथ शुक्ल—
मार्कण्डेयपुराण : एक अध्ययन (चौखम्वा, काशी, १९६० ।

Publications of the All-India Kashiraja Trust Critical editions and translations :

72. Vamana Purana—Edited by A. S. Gupta
73. Kurma Purana—Edited by A. S. Gupta.
74. Vamana Purana with Hindi Translation.
75. ,, ,, ,, English Translation.
76. Kurma Purana with Hindi Translation.
77. ,, ,, ,, English Translation.
78. Devi Mahatmya—Text and English Translation by Dr. V. S. Agrawala.
79. पद्मपुराण स्वर्गखण्ड—सम्पादक—डा० अशोक चैटर्जी।

Studies

80. Garuda Purana—A Study. By N. Gangadharan.

81. Narada Purana—A Study. By K. Damodaran Nanbiar.

82. Nıtı Section of Puranartha Sangraha—By Dr. V. Raghawan.

83. Vyasa Prashasti—Compiled and edited by Dr. V. Raghavan.

84. Gıeater Ramayan—By Dr. V. Raghawan.

85. विष्णुपुराणस्य विषयानुक्रमणी—By P. Madhawacharya.

86. Bıihaspati Sanhita of the Garuda Purana. By Dr. L. Sterubach.

87. Manavadharmashastıa I–III and Bhavisya Purana. By Dr. L. Steıubach.

८८. अग्निपुराणम् (बृहत् भूमिका के साथ) सम्पादक—आचार्य वलदेव उपाध्याय, चौखम्भा कार्यालय, वाराणसी।

८९. कालिकापुराणम् (बृहद् विमर्शात्मक प्रस्तावना से मण्डित) सं०—आचार्य वलदेव उपाध्याय, चौखम्भा कार्यालय, वाराणसी।

९०. कल्किपुराणम्—स०–डा० अशोक चैटर्जी, पकाशक—अनुसन्धान संस्थान, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७२।

९१. वैष्णव सम्प्रदायो का साहित्य और सिद्धान्त—लेखक–आचार्य वलदेव उपाध्याय, प्र०–चौखम्भा कार्यालय, वाराणसी, १९७८।

९२. पुराणपर्यालोचनम् (१–२ भाग)—लेखक पण्डित श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, प्रकाशक–चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७७।

९३. काशी वैभव—लेखक–सुकुल, प्रकाशक–विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७७।

९४. पुराणानुशीलन लेखक म० म० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, प्रकाशक विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७०।

९५. वामनपुराण का एक सांस्कृतिक अध्ययन—लेखिका–डा० मालती त्रिपाठी, वाराणसी (नाना समस्याओ का समाधान, धार्मिक, भौगोलिक तथा आर्थिक विषयो का गम्भीर अध्ययन; महत्त्वपूर्ण शोधप्रवन्ध; अप्रकाशित)।